प्रज्ञा

९.१

भारतेन्दु स्मृति अंक

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका
अंक 31 (भाग 2) एवं 32 (भाग 1)
वर्ष 1986

नियम

(1) 'प्रज्ञा' जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व ।

(2) सभी प्रकार का शुल्क संपादक 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें ।

(3) पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रथम अंक के लिए 20 जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए 20 नवम्बर तक संपादक-मंडल के पास पहुंच जाना चाहिए ।

(4) लेख फुलस्केप कागज पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यतः 10 पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए । लेखकों को उनके लेख के प्रतिमुद्रण की 25 प्रतियाँ दी जायेंगी ।

[1] The 'Prajna,' shall so far as possible, be published twice a year : one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.

[2] All subscriptions should be sent to the Editor, "Prajna". B. H. U. Journal, Varanasi–221005.

[3] Articles intended for publication in this Journal by B. H. U. scholars should be submitted to the Editorial Board before July 20 for the first issue and Novemmber 20 for the next issue.

[4] Arit'cles should ordrnarily by type-written on foolscap paper on one side only and should not ordinarily cover more than 10 pages. Authors contributing original articles to the Journal are entitled to receive 25 off-prints.

*****

प्रज्ञा

भारतेन्दु स्मृति अंक

BANARAS HINDU UNIVERSITY

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक 31 (भाग 2) एवं 32 (भाग 1)

वर्ष 1986

सम्पादक मण्डल 'प्रज्ञा'
डॉ० देवेन्द्र कुमार राय (प्रधान सम्पादक)
डॉ० हरि बल्लभ नेमा
डॉ० शिवप्रसाद सिंह
डॉ० जी० बी० मोहन तम्पी
डॉ० उषा किरण मेहरा
डॉ० हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव
डॉ अबरार अहमद
डॉ० रवीन्द्र नाथ मिश्र
डॉ० राम मोहन पाण्डेय (सम्पादक)

भारतेन्दु स्मृति अंक

परामर्श मंडल
डॉ० शिव प्रसाद सिंह
श्री ओमप्रकाश टण्डन
डॉ० तरुण कुमार विश्वास
डॉ० सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव

प्रधान सम्पादक
डॉ० त्रिभुवन सिंह

सम्पादक
डॉ० राम मोहन पाण्डेय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक

महामना पं० मदन मोहन मालवीय

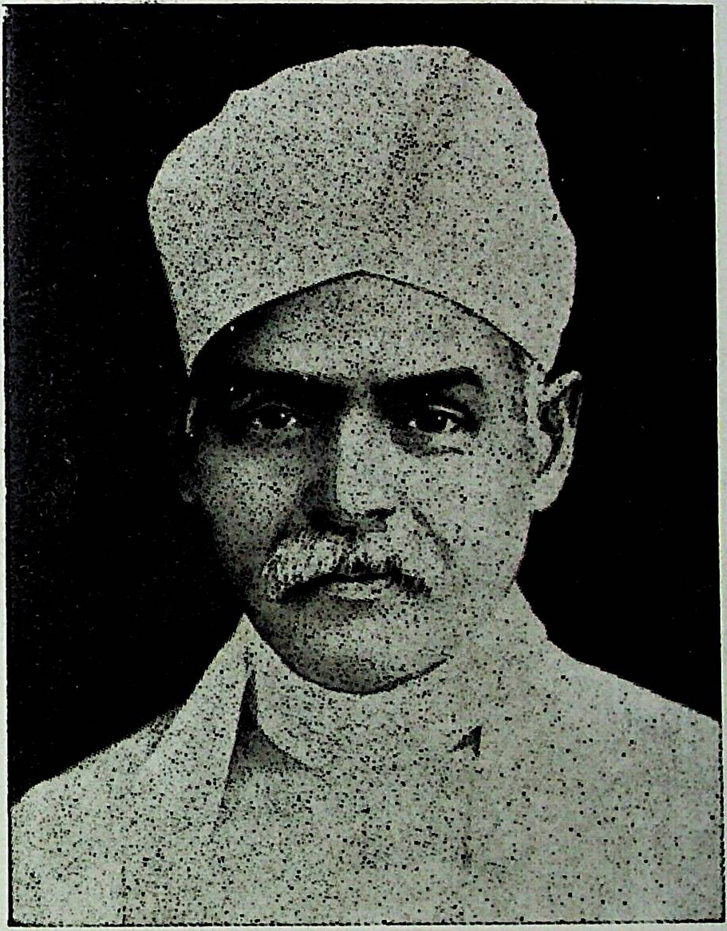

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

आविर्भाव: वि० सं० १९१८ पौष कृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)
तिरोधान: वि० सं० २००३ मार्गशीर्ष कृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

विश्व विभूति 'महामना' पं० मदन मोहन मालवीय जी
के सपादशती के अवसर पर प्रकाशित
नव जागरण एवं युवा चेतना के प्रतीक भारतेन्दु
का 'स्मृति अंक'

आज के उस तरुण वर्ग को
जो जीवन का राजमार्ग छोड़कर
द्वेष और कुंठा की अंधी गलियों में भटक गया है

सप्रेम

कुलपति
VICE-CHANCELLOR

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००५
Banaras Hindu University
VARANASI-221005

हिन्दी साहित्य के गौरव भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के शताब्दि वर्ष के अवसर पर हमने उन्हें अपनी प्रणत श्रद्धा निवेदित करने का जो सारस्वत प्रयास किया वह 'प्रज्ञा' के विशेषांक के रूप में प्रकाशित होकर 'बहुजन हिताय' आप के सामने है। पहले भी समय-समय पर 'प्रज्ञा' के कई महत्त्वपूर्ण विशेषांक प्रकाशित हुए हैं। महामना की एक सौ पचीसवीं जयन्ती के अवसर पर राष्ट्रीय चेतना के अग्रदूत और 'निज भाषा' के पोषक भारतेन्दु का स्मरण अधिक प्रासंगिक और समीचीन है। इन दोनों राष्ट्र विभूतियों की गौरवगाथा इतिहास की अक्षय धरोहर है।

हिन्दी जगत के क्षितिज पर भारतेन्दु का उदय आलोकपर्व सदृश शीतल-स्निग्ध-समुज्ज्वल होते हुए भी अपनी प्रखरता में अद्वितीय है। यद्यपि इनकी लोकयात्रा की अवधि बहुत अल्प रही, पर उस सीमित अन्तराल में भी देश प्रेम से अभिभूत हो इन्होंने जातीय चेतना जाग्रत करने एवं भाषा और साहित्य के उत्थान के लिए जो कुछ किया उससे नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रतिष्ठित हुए। बहु आयामी व्यक्तित्व के धनी भारतेन्दु ने अपने समय के रचनाकारों का मार्ग प्रदर्शन किया और युग प्रवर्तक कहलाये। हिन्दी गद्य के विकास में भारतेन्दु युग का अप्रतिम योगदान रहा है। इन तथ्यों का विशद् विवेचन प्रस्तुत स्मृति अंक का वैशिष्ट्य है। हमारा उद्देश्य मात्र उस कुशल शिल्पी एवं राष्ट्र विभूति का साम्प्रतिक संदर्भ में श्रद्धया स्मरण है।

भारतेन्दु का स्मरण मात्र अतीत का चिंतन न होकर वर्तमान का संवर्द्धन भी है। हम संकट और संत्रास के जिस काल से गुजर रहे हैं उसमें आशा के संबल रूप में ऐसे महापुरूष के कार्यकलापों का चिंतन हमारे कर्तव्यबोध को समृद्ध तथा प्रखर कर सकेगा ऐसा हमारा विश्वास है।

रघुनाथ प्रसाद रस्तोगी

अपने देश में अपनी भाषा का भरोसा

हर काल में भारतीय विद्या को प्रातिभ द्युति से समृद्ध कर काशी अपने 'ज्ञान खानि' का प्रमाण देती रही है। हिन्दी साहित्य को अपने शीतल-स्निग्ध आलोक से मण्डित करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र काशी के ही अप्रतिम विद्यारत्न थे। बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी भारतेन्दु का जन्म विशिष्ट श्रीमन्त कुल में हुआ था, किन्तु उनकी दृष्टि ऐश्वर्य और वैभव की ऊँची चहारदीवारी लाँघकर देश-दशा पर निबद्ध हुई, जो पराधीनता की अशुभ छाया से दबकर श्रीहीन हो गयी थी। 'भारत दुर्दशा' देखकर उनका चित्त उन्मथित हो उठा था और उन्होंने इस 'दुर्दशा-मोचन' के लिए साहित्य की विविध सरणियों-विधाओं के माध्यम से नव जागरण का शंखनाद किया। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि उनके द्वारा जगायी गयी राष्ट्रीय चेतना की लहर आगे चलकर हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के लिए भी पाथेय सिद्ध हो सकी।

जन-जन में देश-प्रेम जगाने में उन्होंने अपने आपको उत्सर्ग कर दिया। अपने समय की अधोगति का उन्होंने अचूक दृष्टि से निदान किया था। समग्र परिदृश्य पर उनकी दृष्टि निबद्ध थी। उन्होंने देखा था कि शासक वर्ग की विदेशी सभ्यता के चाकचिक्य से मोहबिद्ध होकर तथाकथित शिक्षितों का एक वर्ग जातीय संस्कार से विच्छिन्न हो गया है। पुरानी पण्डिताई का बोझ ढोने वाला देश का दूसरा वर्ग पुरा-प्रसंग की सीमा लाँघने को तैयार नहीं था, पवित्रता कातर उसका मन विद्या के प्रकाश को ही अपनी गतिहीनता एवं पुराणप्रियता के मोह से म्लान कर रहा था। आम आदमी का बड़ा वर्ग साम्राज्यशाही की मार से इतना घायल हो चुका था कि अपनी नैसर्गिक ऊर्जा से बेखबर होकर दिशा-हारा बन गया था। भारतेन्दु की संवेदना के सामने ये विकट प्रत्यूह थे। साम्राज्यशाही की चुनौती का दरेरा अलग था। इन्हीं प्रतिकूल परिस्थितियों में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक भूमिका पूरी की। और, इतिहास को यह स्वीकार करना पड़ा कि "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी को नयी लोक भूमि पर लाये और उसके साहित्य में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त बने।" समग्र जातीय जागरण के लिए लोक शिल्प को अपनाना और संवाद की सहज स्थिति पैदा करना भारतेन्दु ने जरूरी समझा था। लोक हृदय में जातीय स्फूर्ति जगाने के लिए लोक कंठ और लोकमंच से जुड़ना जरूरी था। भारतेन्दु और उनके मण्डल के रचनाकारों की प्रज्ञा इसी विवेक से निर्दिष्ट थी।

अपने समय के संस्कृति सचेत रचनाकारों का भारतेन्दु नेतृत्व कर रहे थे। उनके प्रभा मण्डल की द्युति से सभी अभिभूत थे और वही सभी के प्रेरणा स्रोत भी थे।

सामाजिक, सांस्कृतिक आवोहवा का व्यवस्थित संचालन 'तदीय समाज' और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हो रहा था। वंगाल के 'हिन्दू मेला' और भारतेन्दु के 'तदीय समाज' ने राजनीति के मंच से शुरू होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन के वहुत पहले 'स्वदेशी' की हाँक लगाई थी। देशवासियों को संवोधित करते हुए भारतेन्दु ने कहा था "जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही वातचीत करो, परेदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रक्खो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।" यह स्वत्व सजगता भारतेन्दु और उनके समय के सभी रचनाकारों की मुख्य शक्ति थी जिसके वल पर उन्होंने साम्राज्यशाही के अभिशाप का मुकावला किया और अपनी अनेकमुखी साधना से दुर्वल हो रहे भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आधारों को वहुत ही उचित समय पर अपेक्षित सहारा प्रदान किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु और उनके कृती मण्डल के सांस्कृतिक अवदान का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विछिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता। काल की गति वे देखते थे। सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे पर पश्चिम की एक-एक वात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन के संधि-स्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु।"

दुर्भाग्यवश आजादी पाने के साथ ही समृद्ध संस्कृति परम्परा वाला देश विदेशी अंधड़ की गिफ्त में आ गया और परिणामतः आज उपभोक्ता संस्कृति के उद्दाम लीला विलास के आंतक से संस्कृति की रोशनी के समक्ष भयंकर संकट उत्पन्न हो गया है। देश प्रीति का दारिद्रय और संक्रामक व्याधि के रूप में फैलने वाली अंचल-निष्ठा आज भारत के सामने सवसे वड़ी चुनौती है। पराधीनता के लम्वे इतिहास को वदलने और नया सवेरा लाने में मातृभूमि के कण-कण से प्यार करने वाले असंख्य सपूतों के वलिदान और उत्सर्ग से प्राप्त स्वतन्त्रता की यह दुर्गति देखकर प्रत्येक राष्ट्रभक्त का मन अवसाद से भर उठता है। सम्प्रति राष्ट्र हित में आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा देने वाला चेतना का वह स्फुलिंग राख के ढेर में दव गया है। पुरानी पीढ़ी या तो संचय का भोग कर रही है या इसे नियति का खेल मानकर अपनी असमर्थता पर पश्चाताप।

इस तिमिराच्छन्न अशुभ घड़ी में 'प्रशस्त पुण्य-पंथ' के अरुणोदय का मार्ग साहित्य ही दिखला सकता है। जातीय संकट के हर काल में साहित्य ने "कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सव कहँ हित होई॥" के रूप में अपनी भूमिका विधिवत पूरी की है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्मरण उस पंथ के संधान का ही एक कृती प्रयत्न है जो वर्तमान अधोगति से देश का उद्धार कर सके। देश की साम्प्रतिक विपथगामी यात्रा को टोकने की सारस्वत चिन्ता ही 'प्रज्ञा' के इस विशेषांक की मूल प्रेरणा है।

भारतेन्दु पुण्यशती के अवसर पर उस युग पुरुष के प्रति श्रद्धा निवेदित करने हेतु हिन्दी विभाग एवं भारत कला भवन के संयुक्त तत्त्वावधान में बृहद् षट दिवसीय गोष्ठी का आयोजन किया गया था। प्रस्तुत भारतेन्दु स्मृति अंक गोष्ठी में सम्मिलित देश के जाने-माने हिन्दी के शीर्षस्थ विद्वानों, शोधार्थियों एवं मित्रों के स्नेह-सद्भाव का प्रतिफल है। हम सभी के प्रति विनयावनत हैं।

विशेषांक के लिए प्राप्त सामग्री में विषयगत विविधता होते हुए भी अनायास राष्ट्रीय नव-जागरण ही मूल चेतना का उत्स बन गया है। शोधार्थियों के लाभ की दृष्टि से एक ही विषय पर अलग-अलग विद्वानों के विचार प्रकाशित करने में भी हमने संकोच नहीं किया है। समय से वांछित सामग्री उपलब्ध न हो पाने के चलते भारतेन्दु से सम्बद्ध कुछ विषय, हम जिनका समावेश इस अंक में करना चाहते थे; अछूते रह गये हैं। समय की नियत मर्यादा के भीतर अंक प्रकाशन की योजना को वरीयता देते हुए हम इसके लिए क्षमा चाहते हैं। फिर भी, हमारा ऐसा विश्वास है कि जो कुछ आपके सामने इस अंक के रूप में प्रस्तुत है वह भारतेन्दु के अवदान को रेखांकित करने में पूर्णतः सक्षम है।

हमारे कुलपति प्रो० रघुनाथ प्रसादजी रस्तोगी की अहेतुकी कृपा इस सम्पूर्ण आयोजन का सम्बल रही है। जब उन्हें 'भारतेन्दु स्मृति अंक' की प्रकाशन विषयक सूचना दी गयी तो स्वास्थ्य अनुकूल न रहने पर भी, उन्होंने चिकित्सकीय परामर्श की उपेक्षा करते हुए उद्बोधन के दो शब्द लिखकर न केवल प्रस्तुत अंक को गौरव मंडित किया, अपितु हमें भी स्नेहसिक्त कर भविष्य के लिए अपार उत्साह प्रदान किया। हम उनके प्रति शब्दों में अपनी कृतज्ञता व्यक्त नहीं कर पा रहे हैं : "प्रेम भरा मन निज गति छूँछा"

हमारे कुलाधिपति डॉ० विभूति नारायण सिंह जी विश्वविद्यालय के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण क्रियाकलापों में, जब भी उन्हें स्मरण किया जाता है, अवश्य सहयोग प्रदान करते हैं। विश्वविद्यालय के प्रति उनकी अप्रतिम नैसर्गिक निष्ठा है। वे अपनी सीमा के भीतर इसकी श्री-समृद्धि के प्रति सतत् जागरूक रहते हैं। इस अर्थ में, यदि उन्हें कभी कुछ कड़वा भी कहना पड़े तो नहीं चूकते। कदाचित् इसके बिना 'चतुर रखवारे' की भूमिका पूरी नहीं हो पाती।

एक अनन्य हिन्दी प्रेमी के रूप में इस सारस्वत यज्ञ के प्रति आपने जिस आत्मीय भूमिका का निर्वाह किया वह अनिर्वचनीय है। स्वतन्त्रता के चालीस वर्षों के बाद भी आज राष्ट्रभाषा हिन्दी की जो उपेक्षा है, उसकी प्रतिष्ठा के लिए सन्नद्ध अपने कुलाधिपति डॉ० विभूतिनारायण सिंह जी का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

इस कार्यक्रम के प्रेरक, संचालक, व्यवस्थापक एवं समन्वयक वर्तमान हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो० त्रिभुवन सिंह जी एवं भारत कला भवन के विशेष कार्याधिकारी श्री ओमप्रकाश जी

टंडन रहे हैं। इनमें 'को बड़ छोट कहत अपराधू' दोनों ही अपनी-अपनी मर्यादा में अद्वितीय हैं। "सौरज धीरज" के इन दो पहियों के बिना इस प्रकार के समृद्ध आयोजन की परिकल्पना ही संभव न थी। सम्पूर्ण आयोजन के कर्णधार के रूप में इनके प्रति कुछ भी कहना अपनी प्रशंसा स्वयं करना है।

परामर्श मण्डल के सम्मानित सदस्यों के स्नेह-सहयोग के बिना यह दायित्व कथमपि पूर्ण नहीं हो सकता था। हम सभी के प्रति कृतज्ञ हैं। इस सम्बन्ध में प्राप्त सहयोग के लिए भारत कला भवन के श्री लक्ष्मीदत्त व्यास का स्मरण भी आवश्यक हैं। अपने दायित्वबोध के प्रति सतत् सचेष्ट व्यास जी प्रशंसा के पात्र हैं। प्रकाशन विषयक किञ्चित त्रुटियों के बावजूद सीमा प्रेस के व्यवस्थापक अपने सहयोग सद्भाव के लिए बधाई के पात्र हैं।

—राम मोहन पाण्डेय

मालवीय जयन्ती
25 दिसम्बर 1987
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और भारतीय नवजागरण

खड़ी बोली हिन्दी के पुरस्कर्ता कवि, नाटककार, आलोचक और संगठनकर्त्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अल्पायु में ही अनेक साहित्य-विधाओं में स्वयं रचना की और श्रेष्ठ साहित्यकार की प्रतिष्ठा प्राप्त की । इसके साथ ही 'भारतेन्दु-मण्डल' का गठन कर उसकी सहायता से उन्होंने कविता, नाटक, निबन्ध, कथा-साहित्य, आलोचना और पत्रकारिता के क्षेत्र में भी नेतृत्व का कार्य किया । भारतेन्दु-मण्डल से संबद्ध साहित्यकार न केवल साहित्य-रसिक थे, बल्कि उच्चकोटि के रचनाकार भी थे । उन्होंने हिन्दी-साहित्य के विकास के लिए भारतेन्दु द्वारा निर्धारित रणनीति के साथ लेखन और प्रचार का भी कार्य किया । यह तथ्य इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि उन दिनों यह साहित्यिक कार्यक्रम भाषा-आंदोलन और राष्ट्रीय नवजागरण की चेतना से भी पूरी तरह संबद्ध हुआ । यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भारतेन्दु और उनके मण्डल के लोग जिस कार्यक्रम से जुड़े हुए थे वह हिन्दी की साहित्यिक रूढ़ियों के साथ ही विदेशी सत्ता की अलगाववादी षडयंत्र नीति के विरुद्ध एक सचेत एवं सक्रिय संघर्ष था । आगे चलकर भारतेन्दु की भाषा नीति ही कांग्रेस की भाषा नीति के रूप में विकसित हुई और धर्म के नाम पर उर्दू-हिन्दी अथवा मिलावटी हिन्दी का जो सरकारी प्रयत्न चल रहा था उसे भी भारतेन्दु की योजना ने प्रभावशाली ढंग से ध्वस्त किया । इस तरह भारतेन्दु की साहित्यिक-साधना भारतीय साहित्य के इतिहास में एक ऐसी ऐतिहासिक घटना है जो भारतीय नवजागरण के अनेक आयामों से जुड़ी हुई है ।

भारतेन्दु ने रीतिकालीन कविता की शृंगारिकता को तराशते हुए काव्य-कला को छन्द-कौशल तथा भक्तिपूर्ण सांस्कृतिक रागात्मकता से संबद्ध किया । इसके साथ ही उन्होंने यह अनुभव किया कि सारे माधुर्य के बावजूद साहित्यिक लेखन तथा वैचारिक-विनिमय के लिए ब्रजभाषा अपनी प्रासंगिकता खो रही है । गद्य और पद्य दोनों के लिए खड़ीबोली हिन्दी का विकासकरण अत्यधिक आवश्यक है इसलिए रसिक एवं समर्थ ब्रजभाषा कवि होते हुए भी भारतेन्दु ने स्वयं खड़ीबोली में कविताएँ लिखी और अपने समकालीन अनेक कवियों को ब्रजभाषा के समानान्तर खड़ीबोली को काव्य समर्थ भाषा बनाने के लिए प्रेरित किया । भारतेन्दु काल में गद्य के क्षेत्र में हिन्दी की स्थिति बहुत आरम्भिक थी जिसे भारतेन्दु ने समर्थ माध्यम के रूप में विकसित करने का बहुआयामी प्रयत्न किया । भारतेन्दु-युगीन नाटक, निबन्ध और एक सीमा तक आलोचनाएँ गद्य-साहित्य की न केवल कोश वृद्धि करती हैं, बल्कि एक विकसित होती हुई भाषा का प्रतिमान भी निर्मित करती हैं ।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भारतेन्दु ने और उनके सहयोगियों ने महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य किये । साहित्य और भाषा की दिशा में उनके प्रयत्न जितने सार्थक और महत्वपूर्ण हैं; उतने

हों वे समाजसुधार, जातीय-जागृति एवं एक बृहत्तर संगठित समाज की रचना की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इसी संदर्भ में यह बता देना आवश्यक है कि भारतेन्दु ने साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक नाटकों के द्वारा एक ऐसे रंगमंच की भी स्थापना की जिसे हिन्दी का स्वतन्त्र रंगमंच कहा जा सकता है। भारतेन्दु द्वारा विकसित रंगमंच संस्कृत एवं प्राकृत रंगमंचों की प्राचीन रूढ़ियों से भी अलग होता है और विदेशी प्रभाव में विकसित रंग-विधान से भी अपनी अलग पहचान रखता है। वस्तुतः लोक-नाट्यों की जीवित परम्परा को भारतेन्दु ने आभिजात्य रंगमंच से जोड़ने का ही स्मरणीय नहीं हैं, बल्कि वह आधुनिक हिन्दी रंगमंच को एक स्थायी और निश्चित आधार देने के लिए भी उल्लेखनीय है। अभिनय, वेश-भूषा, संवाद अर्थात् संपूर्ण नृत्य की दृष्टि से भारतेन्दु की मंच कल्पना पूनर्मूल्यांकन और पुनर्प्रस्तुतीकरण की अपेक्षा रखती है।

कविता को जनप्रिय बनाने के लिए भारतेन्दु ने सामन्ती कवि-दरबारों से अलग कवि गोष्ठियों को स्वरूप प्रदान किया जिससे कविता प्रशंसा-पाठ की सीमाओं का अतिक्रमण कर साहित्यिक-संवाद का माध्यम बनी। उसके साथ ही समस्यापूर्ति की परम्परा के द्वारा उन्होंने काव्याभ्यास को आशुकवित्व से जोड़कर एक कवितामय साहित्य-संसार का भी निर्माण किया। जन-काव्य को भी उन्होंने कहीं-न-कहीं से प्रोत्साहित किया और 'बनारसी बोली' की कविताओं को कलात्मक मनोरंजन के रूप में विकसित करने का श्रेय प्राप्त किया। 'भँड़उवा-काव्य' या तेगअली का 'बदमाश-दर्पण' हास-विनोद से भरी हुई रंजनात्मक जन-कविता के श्रेष्ठ उदाहरण हैं जिनसे सामान्य जन की काव्य-रुचियाँ तृप्त हुआ करती थीं। इस प्रकार भारतेन्दु जन एवं अभिजात-जन के बीच एक सेतु का कार्य करते रहे। साहित्यिक-संगीत और शास्त्रीय नृत्य से भी भारतेन्दु की रुचियों का सीधा सम्बन्ध था। अतः उनके स्मरण से बनारसी संगीत की वे सारी दिशाएं स्मरण हो आती हैं जिनका विकास कत्थक, मिरासी, रामजना, ख़ान और अन्य प्रकार के बनारसी संगीत-परिवार परम्परा के रूप में करते रहे हैं। इस प्रकार भारतेन्दु ने साहित्य, भाषा, नाटक, संगीत, नृत्य और वाद्य सभी क्षेत्रों में कार्य कर एक सांस्कृतिक-पुरुष की प्रतिष्ठा प्राप्त की थी जो अपनी संपूर्णता में भारतीय जन-जागरण की आधार शिला थी।

भारत ही नहीं अपितु संसार के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। समाज, राजनीति, साहित्य और संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में हमें काल के इस भाग में बहुआयामी परिवर्तनाकांक्षी शक्तियों की क्रियाशीलता दृष्टिगोचर होती है। टालस्टाय, डारविन, मार्क्स, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती और रामकृष्ण परमहंस जैसी महानतम् विभूतियों ने इसी कालखण्ड में अपना त्याग और तपस्यामय जीवन बिताया था। इन्हीं विभूतियों के योग्य समानधर्मा के रूप में हम हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को विद्यमान पाते हैं। हिन्दी-साहित्य का यह कालखण्ड उचित ही इस मनीषी के नाम पर 'भारतेन्दुयुग' के नाम से अभिहित किया जाता है। भारतेन्दु और उनके दृढ़ संकल्प के धनी कर्मठ सहयोगियों ने भाषा, साहित्य

एवं संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में अत्यन्त उल्लेखनीय क्रांति की। उनकी यह क्रांति १९ वीं शताब्दी के नवजागरण से व्यापक रूपों में गहन स्तरों पर जुड़ी हुई है।

यह नवजागरण योरप के 'रिनेसाँ' के आलोक में ही प्रायः देखा गया है, किन्तु अपने स्वरूप एवं प्रवृत्ति —दोनों ही में यह उससे पर्याप्त भिन्नता रखता है। फ्रांसीसी, भाषा का यह शब्द 'रिनेसाँ' जर्मनी में अपनी राष्ट्रीय परिस्थितियों के आधार पर "पीरियड ऑफ रिफार्मेशन" तथा इटली में 'चिक्वेचेंतो' नाम से प्रचलित रहा है। भारतीय भाषाओं में 'रिनेसाँ' को पुनरुत्थान, पुनर्जागरण, प्रबोधन, नवोत्थान और समाज-सुधार आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। इसमें पुनरुत्थान और पुनर्जागरण तो निश्चित रूप से भारतीय इतिहास की तत्कालीन परिस्थितियों से किसी प्रकार भी मेल नहीं खाते। वर्त्तमान के सत्य को अनादृत करके भूतकाल की मृत स्थितियों को दुहराने के प्रयत्न को ही 'पुनर्जागरणवाद' या 'रिवाइवलिज्म' कहा जाता है अतः इन शब्दों के प्रयोग को उचित ठहराना समीचीन नहीं जान पड़ता। प्रबोधन और नवोत्थान आदि की अपेक्षा भी नवजागरण का ही प्रयोग अधिक उपयुक्त और सुसंगत जान पड़ता है, अतः १९ वीं शताब्दी के इस व्यापक जन-जागरण के नाम से ही अभिहित करेंगे। यहीं पर यूरोपियन रिनेसाँ और भारतीय नवजागरण के संदर्भ में भी कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। यूरोपियन, रिनेसाँ किसी एक देश-विशेष के भीतर फैलकर उसके गहनतर सूक्ष्म स्तरों को उद्‌बोधित कर सका था। उसका उद्भव और विकास विभिन्न सांस्कृतिक स्रोतों से सम्बद्ध रहा है। इसके विपरीत यह भारतीय नवजागरण अपनी ही भूमि से संपृक्त रहकर विकसित हुआ था। उसके प्रेरणा-स्रोत कहीं विदेश में स्थित न होकर यहीं के इतिहास और समसामयिक परिस्थितियों में विकसित और निर्मित हुए थे। इस संदर्भ में हम इसे यूरोपियन 'इन्लाईटमेंट' के अधिक निकट पाते हैं।

हिन्दी-साहित्य में इस नवजागरण के पुरस्कर्त्ता और संदेशवाहक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी हैं। देश की विभिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक परम्पराओं तथा परिस्थितियों का गहन अनुशीलन और अवगाहन करने के उपरान्त उन्होंने दृढ़ संकल्प के साथ इस नवजागरण का महामंत्र भारतीय जनता तक पहुँचाया था। उनके द्वारा भारतीय संस्कृति का महान उदात्त स्वर हिन्दी-भाषा और साहित्य के माध्यम से चतुर्दिक गूंज उठा। इस दृष्टि से भारतेन्दु और उनके सहयोगी भक्तिकालीन भारतीय लोक-जागरण के सच्चे उत्तराधिकारी सिद्ध हुए।

भारतेन्दु-युग के ठीक पूर्व 1857 ई० का प्रथम स्वाधीनता-संग्राम लड़ा गया था। इस संग्राम के बाद भारतवर्ष का शासन कम्पनी के हाथों से निकलकर सीधे इंग्लैंड की रानी विक्टोरिया के हाथों में चला गया। भारतीय जनता को नाना प्रकार के आश्वासन देनेवाला उनका घोषणापत्र प्रकाशित हुआ, पर शीघ्र ही उस घोषणापत्र की वास्तविकता दमन, महामारी, दुर्भिक्ष, अकाल और टैक्स के माध्यम से लोगों पर व्यक्त हो गई। जनता की इसी दयनीय परिस्थिति और संकटग्रस्त मनः स्थिति का आकलन भारतेन्दुयुगीन

साहित्य की प्रमुख विशेषता है। देश की दशा सुधारने के लिए स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार की व्यवस्था की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुये भारतेन्दु ने सन् 1874 की 'कविवचन सुधा' में अपना यह प्रतिज्ञा पत्र प्रकाशित करवाया था, —"हमलोग सर्वान्तरयामी सब स्थल से वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं, और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहनेंगे और जो कपड़ा कि पहले से मोल ले चुके हैं और आज की मिति तक हमारे पास है, उनको तो जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी न पहिरेंगे। हिन्दुस्तान ही का वना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको वहुत ही क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश-हितैषी इस उपाय की वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।"

इसी प्रकार सामाजिक अथवा राजनैतिक संघर्ष के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति की सक्रिय प्रतिरोध की धारणा का अनुसरण करते हुए भारतेन्दु ने अपने बलिया वाले प्रसिद्ध व्याख्यान में कहा था—"हम इससे बढ़कर क्या कहेंकि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी उसका सत्यानाश करोगे, उसी तरह इस समय जो-जो वातें तुम्हारे उन्नति पथ में काँटा हो, उनकी जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मत डरो। जवतक सौ-दो-सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जाति से वाहर न निकाल दिये जायेंगे, दरिद्र न हो जायेंगे, कैद न होंगे वरंच जान से न मार दिए जायेंगे तबतक कोई भी देश न सुधरेगा।"

भारतेन्दु बाबू के इस शूरतापूर्ण आवाहन में नवजागरण के आलोक में प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रशस्त धारा जो 'नानृतं जयति सत्य मामैः' से मुखरित हुई थी, 'युद्धस्वभारत' तथा 'जीवन पावन पीछे धरती-एक बार कालहु सन लरहिं' तक पुष्ट होती चली आई है, जो आज भी अपनी पूरी उदात्तता के साथ गूंज रही है। देश-दशा की चिन्ता के भीतर से निःसृत भारतेन्दु के समर्थ सहयोगी श्री प्रतापनारायण मिश्र के निम्नलिखित दोहे में भी स्वतन्त्रता का यही महामंत्र गूंज रहा है :—

सब तजि गहो, स्वतंत्रता नहीं चुप लातै खाव।
राजै करै सो है पासा परै सो दाँव॥

भारतेन्दुयुगीन साहित्य में व्याप्त देशभक्ति की भावना के साथ-साथ ही हम यत्र-तत्र राजभक्ति का स्वर भी मुखरित हुआ पाते हैं। यहां पर इस द्वैत स्थिति को भी समझ लेना आवश्यक है। भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों के साहित्य का अनुशीलन करने पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि राजभक्ति उसका प्रधान स्वर नहीं है। देशभक्ति के साथ किसी प्रकार का सामंजस्य बिठाने हेतु भी वह नहीं लाया गया है। यत्र-तत्र उसकी अनुगूंज सुनाई देने का एक मात्र कारण यही है कि क्रूर औपनिवेशिक दासता के उस युग

में राजभक्ति के परदे में ही देशभक्ति को प्रकट कर पाना सम्भव था। गदर के सम्बन्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था—

कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जल बल नासी।
जिन भय सिरन हिलाय सकत कहुँ भारत वासी॥

इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजों के आतंक के कारण उनके दमन, शोषण, तथा अत्याचार आदि के विषय पर उपर्युक्त ढंग से ही लेखनी उठाई जा सकती है। इसी प्रकार जब भारतेन्दु ने लिखा कि—

अंगरेज राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥

ऐसी स्थिति में भारतेन्दु, अंग्रेजी-राज्य की प्रशंसा नहीं कर रहे थे, बल्कि वे उसके माध्यम से अंग्रेजी-राज्य के शोषण चक्र का ही पर्दाफाश कर रहे थे। इस लेखन-कौशल के अतिरिक्त उनके पास जन-भावनाओं के उद्घाटन का अन्य कोई दूसरा मार्ग न था। भारतेन्दु युगीन नवजागरण की अन्य विशेषता जन-सुलभ-साहित्य विधाओं का आविष्कार एवं परिष्कार है। इस सन्दर्भ में हमें प्रथमतः उनकी भाषा पर ध्यान देना चाहिए। कविता में उस समय ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा थी। फिर भी भारतेन्दु ने ब्रजभाषा को उचित आदर और सम्मान देते हुए भी खड़ी बोली के प्रसार की आवश्यकता को पहचानकर उसके विकास का मार्ग विभिन्न प्रकार से प्रशस्त किया। इसके समानान्तर ही उन्होंने, मुकरी, लावनी और प्रहसनों आदि के माध्यम से सरलतम रूप में भावों–विचारों को अभिव्यक्त करने के अपने प्रयत्नों द्वारा साहित्य को साधारण मानव की पहुँच के भीतर कर दिया। जो नवीन आकांक्षाएँ, भावनाएँ जनमानस के भीतर घुमड़ रही थीं उन्हें अत्यन्त सहज रूप में सरलता से अभिव्यक्ति प्रदान करने का कार्य भारतेन्दु द्वारा ही संभव हुआ। इस सन्दर्भ में भारतेन्दु ने मई की 'कविवचन सुधा' में लिखा था,—"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोचा रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाशित हैं, किन्तु वे जन-साधारण को दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेत मैंने सोचा है कि जातीय-संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश गाँव-गाँव साधारण लोगों में प्रचार की जाय। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक·.......... होगा·........।'

इस प्रकार हम देखते है कि नवजागरण का उज्ज्वल आलोक भारतेन्दु-युगीन साहित्य के माध्यम से सभी दिशाओं में फैल रहा था। कविता, निबन्ध, नाटक, उपन्यास, पत्र और व्याख्यान आदि सभी विधाओं के द्वारा उन्होंने जन-जागृति का महान संदेश प्रसारित किया। परम्परा के नाम पर समाज और साहित्य में परिव्याप्त रूढ़ियों का उन्मूलन भारतेन्दु द्वारा

पूरी हढ़ता के साथ किया गया और इसी के समानान्तर स्वस्थ परम्पराओं की रक्षा और विकास का कार्य भी सम्पन्न हुआ।

कविता के क्षेत्र से समस्यापूर्ति और नायिका भेद की अस्वस्थ परम्परा को निर्मूल करके भारतेन्दु ने सामाजिक विकास की आवश्यकता के अनुरूप नई काव्य-शैलियों और रूपों का प्रयोग आरम्भ किया जो भारतेन्दु युगीन साहित्य का एक महत्वपूर्ण अवदान है। यद्यपि भारतेन्दु बाबू की ब्रजभाषा कविताओं में जो एक अद्भुत आत्मीयता और स्वाभाविकता है, जो आत्मविभोर कर देनेवाली गेयता है; वह उनकी खड़ी बोली की रचनाओं में नहीं मिलती, किन्तु युग एवं समाज की आवश्यकता को पहचान कर उन्होंने कविर्मनीषी की सहज भविष्य संधानिनी दृष्टि का परिचय दिया। जिस प्रकार अन्यान्य बातों में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी के योग्य पितामह प्रमाणित हुए हैं वैसे ही आधुनिक हिन्दी-कविता के क्षेत्र में भी उनका स्थान अक्षुण्ण है। "सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकन सों, हरिश्चन्द नकद दमाद अभिमानी के'—तत्कालीन कविता में एक बिल्कुल नवीन स्वर था और 'कहेंगे सबै नैननि नीर भरि-भरि, पाछे प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जायेगी', में आधुनिक हिन्दी-गीति (लिरिक) काव्य का मूल उत्स छिपा हुआ है। नाटकों में आये हुए अनेक गीत संगीत के क्षेत्र में बिल्कुल नई बन्दिश और नये अलंकरण-विधान का परिचय देते हैं। इससे भिन्न उनकी मुकरियों में जो भाषा है वह एकदम नये भाव-बोध का परिचय देती है। उनमें व्यंग्य का जो सतेज पैनापन है वह परवर्ती हिन्दी-व्यंग्य-काव्य का सहज ही दृढ़ आधार बन गया।

निबन्ध-रचना के क्षेत्र में भारतेन्दु-युग में हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक श्रीवृद्धि हुई। हिन्दी गद्य के ओज और शक्ति दोनों का परिचय प्रथम बार इस युग के निबन्धों के माध्यम से ही प्राप्त होता है। भाषा का प्रवाह, व्यंजना-वक्रता, गूढ़ातिगूढ़ विषयों का सहज प्रकटीकरण, उत्फुल्लता, जिन्दादिली आदि का स्वाभाविक समावेश इन निबन्धों की प्रमुख विशेषता है! इसके अतिरिक्त ध्यान रखने की बात यह भी है कि निबन्धों की यह विधा हिन्दी की अपनी उपज थी। बंगला में नाटक, उपन्यास कविता आदि के लिए आदर्श मिल सकते थे किन्तु निबन्ध के लिए वहाँ भी कोई स्थिर मान्य ढाँचा नहीं था। इस दिशा में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने अत्यन्त अल्प समय में अपनी कठिन साधना द्वारा असम्भव को सम्भव कर दिखाया। उनके निबन्धों को पढ़ने से पाठक के हृदय पर एक अत्यन्त उदार और स्वाधीन चेतना की छाप पड़ती है! इन निबन्धों को एक उपयोगी माध्यम बनाकर उस युग के लेखकों ने युगीन समस्याओं को सहज जीवन्त रूप में अपने पाठकों के सामने प्रस्तुत कर दिया। इनमें हास्य और व्यंग्य के प्रचुर उपयोग द्वारा गम्भीर से गम्भीर विषय को भी अकृत्रिम ढंग से पाठक से हँसते-बोलते प्रकट कर दिया गया है। आधुनिक हिन्दी निबन्धों के विकास और प्रसार में भारतेन्दु-युगीन निबन्ध का महत्वपूर्ण योगदान है।

पत्र और पत्रकारिता के क्षेत्र में भी भारतेन्दु-युगीन नवजागरण की झलक चतुर्दिक दिखायी देती है। इसके पूर्व हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की भी कोई जीवित परम्परा न थी।

लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि इन लेखकों के प्रयत्न द्वारा एकाएक उत्तर भारत में न जाने कितने नगरों से पत्रों की एक बाढ़ सी आ गयी। इनमें से कुछ थोड़े समय चलकर ही बन्द हो गये और कुछ दीर्घकाल तक हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा करते रहे। प्रयाग का हिन्दी प्रदीप, काशी के 'बनारस अखबार, सुधाकर, कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, मोहन चन्द्रिका, काशी पत्रिका, भारत जीवन, आर्यमित्र, सरस्वती विलास, तिमिरनाशक, वैष्णव पत्रिका, पीयूष-प्रवाह' आदि तथा कलकत्ते का 'हिन्दी बंगवासी, आर्यावर्त्त, उचितवक्ता, भारत मित्र' का हिन्दी पत्रकारिता के विकास में अपूर्व महत्व है। कालाकांकर का 'हिन्दोस्थान' हिन्दी भाषा और नवीन विचारों के संवाहक के रूप में सर्वदा स्मरणीय रहेगा। लखनऊ से दिनकर प्रकाश, रसिक-पंच, काव्यामृत वर्षिणी, भारत-भानु आदि पत्र निकले। इनके अतिरिक्त राधाचरण गोस्वामी के 'भारतेन्दु' और प्रतापनारायण मिश्र के 'ब्राह्मण' पत्र का महत्व सर्वविदित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पत्र और पत्रकारिता के क्षेत्र में भी भारतेन्दु युग में व्यापक महत्व का कार्य सम्पन्न किया गया।

प्रायः सभी विद्वानों ने किसी न किसी रूप में यह स्वीकार किया है कि भारतेन्दु ने अपने साहित्य से जो समझौता एवं संघर्ष का मार्ग प्रशस्त किया वही आगे चलकर संघर्ष की ओर बढ़ा, जिसका तिलक और गाँधी ने राजनैतिक नेतृत्व किया और उनमें से आज भी ऐसी अनेक समस्याएँ वर्त्तमान हैं जो संघर्ष की प्रतीक्षा कर रही हैं। भारतेन्दु अपने देश में अपनी भाषा चलाना चाहते थे। विशिष्ट संस्कार, अपनी पहचान, स्वतन्त्र अभिव्यक्ति, नवीन अर्थ का संप्रेषण और नया सामाजिक संगठन आदि उनके आदर्श थे। उनके 'निजभाषा' में एक अखण्ड राष्ट्रीयता की प्रस्तावना को सहज ही देखा जा सकता है। उन्होंने इस्लाम का इतिहास, मुहम्मद, फातिमा, अली और उस्मान आदि का जीवन चरित लिखा तथा कुरानशरीफ का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त यथास्थान हिन्दू-मुस्लिम एकता की बातें उनके साहित्य में सुलभ हैं जो उनकी दूरगामी दृष्टि की परिचायक हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय जागरण को यदि उस समय नेतृत्व न प्रदान किया होता तो जन-जागरण का कार्य सम्पन्न करने में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को कई और वर्ष देने पड़ते।

आधुनिक रचनाकारों के जिस यथार्थ-वोध को हम आज अत्यधिक महत्व देते हैं उनके सूत्र भारतेन्दु की रचनाओं में सहज ही ढूंढे जा सकते हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की कविता के यथार्थ का प्रारम्भिक परिचय भारतेन्दु की कविताओं में मिलता है। अन्त समय तक आते-आते भारतेन्दु ने खड़ी वोली की रचनाओं की प्रचुरता की ओर जो आग्रह दिखलाया उससे उनके खड़ीवोली के प्रति प्रेम का अच्छा परिचय मिल जाता हैं जिसकी सफल परिणति हिन्दी-साहित्य के आधुनिक विकास को सामने रखकर देखा जा सकता है। व्यापारिक परिवार में भारतेन्दु अपने घर के राजा थे। उस समम सरकार दो होते थे,—एक मन्दिरों में स्थापित मूर्ति और दूसरे समाज के सामन्त। अकाल, शोषण, पीड़ा, सामा-

जिक कुरीतियाँ और अंगरेजी लूट देखकर ही भारतेन्दु सामन्त विरोधी बन बैठे थे, अन्यथा उनका अपना निजी वातावरण ऐसा नहीं था कि वे सामन्त विरोधी होते। उनकी यह विरोधी वृत्ति तत्कालीन नवजागरण का ही परिणाम थी। भारतेन्दु की लड़ाई केवल किसी एक मोर्चे पर नहीं थी, बल्कि अनेक मोर्चे पर थी। उनके तीन रूप स्पष्टतः उभर कर हमारे सामने आते दिखलाई पड़ते हैं—एक कम्पनी सरकार के भारतेन्दु, दूसरा वल्लभाचार्य के भारतेन्दु और तीसरा जनता की पीड़ा-वेदना के भारतेन्दु। यदि हम तटस्थ दृष्टि से भारतेन्दु के तीनों रूपों का अध्ययन करें तो हमें उनकी वास्तविक नवजागरण दृष्टि का परिचय मिल सकता है। उन्होंने जन-जीवन में विद्यमान काव्य और कलारूपों का भी विविध प्रयोग किया है। जिसकी प्रेरणा उन्हें भक्ति-साहित्य से मिली थी। इसी प्रकार जनता में लोकप्रिय रंगमंच, पहेली, पंचतंत्र की शैली और कचहरिया शैली का भी उन्होंने उपयोग किया है जिससे जनता तक पहुँचने की उनकी आकांक्षा का सहज ही परिचय मिल जाता है। भारतेन्दु के साहित्य में मुक्ति की चेतना दिखलाई पड़ती है जिसने उनके काव्य को समग्र दृष्टि से प्रभावित किया। यूरोप में इसी समय छन्द टूटे थे पर भारतेन्दु ने हिन्दी छन्द परम्परा को नहीं तोड़ा और लोक छन्दों की ओर मुड़कर उन्हें पकड़ा। भारतेन्दु का जीवन उनके साहित्य से भिन्न नहीं था। साहित्य ही उनकी जिन्दगी थी। उन्होंने आधुनिक भारत निर्मित्त करने के लिए, आधुनिकता का सन्देश देने के लिए तथा आधुनिक साहित्य लिखने के लिए जीवन जिया। उनके नाटकों में लोकसंग्रह का भाव भरा हुआ है जिसके द्वारा परम्परा और प्रयोग दोनों पर उनकी दृष्टि गई। उन्हें रंगमंच की कोई विरासत नहीं मिली थी जैसी कि विरासत परवर्ती नाटककार प्रसाद को मिली। दोनों में कलाकार का अन्तर स्पष्ट लक्षित होता है। प्रसाद के कलाकार पर दार्शनिक हावी हो जाता है और भारतेन्दु का कलाकार अन्त तक कलाकार ही वना रहता है। समग्र दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि भारतेन्दु ने जिस प्रकार के साहित्य की सृष्टि की; हिन्दी में दूसरे रचनाकारों से वह संभव न हुई।

भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु की सबसे बड़ी देन है—हँसमुख भाषा। उन्होंने भाषा को ऐसी संरचना दी कि साहित्य में उसके सामर्थ्य के नये आयाम खुले। उन्होंने सौन्दर्य और माधुर्य के साथ सामयिक ईमानदारी की आवश्यकता से भाषा में एक नया सौष्ठव भरने का प्रयास किया। हिन्दी भाषा और साहित्य की जितनी चिन्ता भारतेन्दु को थी, उतनी ही चिन्ता उनके मित्रों को भी थी। वे लोग सारे देश की जनता को एक भाषा में बाँधना चाहते थे। उनके इस प्रयत्न के प्रभाव से संस्कृत के पंडित और आचार्य भी हिन्दी की ओर मुड़े। भारतेन्दु ने एक व्यावहारिक राष्ट्रवादी की भाँति हिन्दू जाति और हिन्दी या 'निज-भाषा' की प्रशस्ति की। उन्होंने अपना शिल्प-विधान भी लोक शिल्प से लिया। आंचलिक शब्दों का भी उन्होंने जमकर प्रयोग किया और उनके द्वारा ग्राम-कविता को भी पर्याप्त महत्व मिला। उनकी साहित्य-चेतना को इतिहास की चेतना के साथ जोड़ देने की आवश्यकता है। उनकी जनचेतना और लोकचेतना को हमें आज की स्थिति में और आगे बढ़ाने

की आवश्यकता है। राष्ट्रीयता और हिन्दी भाषा भारतेन्दु की देन नहीं, वल्कि उपलब्धि है। आज भारत की एकता के लिए हिन्दी आवश्यक है जिसकी आवश्यकता का अनुभव भारतेन्दु ने 'निजभाषा उन्नति अहै' के रूप में बहुत पहले ही कर लिया था। भारतेन्दु का हर नाटक नुक्कड़-नाटक लगता है जिसे वे अपने समय के हर प्रश्न के साथ जोड़ते हैं। भारतेन्दु ने विहारी की तरह रचना में दूसरों का नहीं, वल्कि अपना प्रेम अभिव्यंजित किया है। उनका यही स्वाभाविक प्रेम उनके जीवन की वास्तविक पहचान है। सामन्ती संस्कृति से निकलकर जन संस्कृति की ओर की उनकी यह यात्रा बड़ी कठिन है जिसे उन्होंने सार्थकता प्रदान की। भारतेन्दु हिन्दी, भारत और काशी की एक लम्वी परम्परा की सुदृढ़ कड़ी हैं। वे परम्परा से जुड़े हैं। उनका एकाएक आकस्मिक उद्भव नहीं हुआ है, यह जानकर ही हम उनका मूल्यांकन कर सकते हैं। मूल्यांकन की इसी शृंखला में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग और भारत कला भवन के संयुक्त तत्त्वावधान में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पुण्यशती के अवसर पर भारतवर्ष के अधिकारी विद्वानों का ऐतिहासिक समारोह हुआ जिसमें उपर्युक्त निष्कर्ष सामने आये।

'प्रज्ञा' के प्रस्तुत अंक में संगृहीत निवन्धों के माध्यम से भारतेन्दु-साहित्य पर प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करने का जो अवसर मिला है उसकी पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में भी जान लेना आवश्यक है। भारत कला भवन और हिन्दी-विभाग के संयुक्त तत्वावधान में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पुण्यशती एक साहित्यिक समारोह के रूप में मनाने की योजना का सूत्रपात 6 जनवरी सन् 1985 ई० को हुआ। तत्कालीन कुलपति डॉ० इकबाल नारायण ने इस योजना को अत्यधिक पसन्द कर प्रोत्साहित किया और परिणाम स्वरुप 11 जनवरी 1985 ई० को इसका शुभारम्भ उ० प्र० हिन्दी संस्थान के तत्कालीन उपाध्यक्ष डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' के ओजस्वी और प्रभावपूर्ण भाषण से हुआ। भारत कला भवन के प्रेक्षागृह में सम्पन्न इस समारोह की अध्यक्षता डॉ० इकबाल नारायण ने की और मुख्य अतिथि के रूप में विश्वविद्यालय के कुलाधिपति भूतपूर्व काशी नरेश डॉ० विभूतिनारायण सिंह ने प्रस्तावित आगे के कार्यक्रमों को गरिमापूर्वक सम्पन्न करने का आग्रह किया। इस अवसर पर भारत कला भवन की ओर से भारतेन्दु के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाली एक दुर्लभ प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया।

6 जनवरी सन् 1985 को संकल्प के रूप में जो योजना बनी थी उसकी वास्तविक परिणति का आरम्भ 6 जनवरी 1986 को हुआ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की सहायता से छह दिवसीय संगोष्ठियों और विविध कार्यक्रमों का जो आयोजन हुआ उसकी एक ऐतिहासिक पहचान बन गई है। 6 जनवरी 1986 को अपराह्न में महीयसी महादेवी वर्मा ने (जो अब हमारे बीच नहीं रहीं) समारोह का उद्घाटन किया जिसमें मुख्य अतिथि के रूप में प्रसिद्ध कथाकार जैनेन्द्र कुमार की उपस्थिति उल्लेखनीय रही। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुण्यशती समारोह के सभी मुख्य कार्यक्रम भारत कला-भवन के प्रांगण, सभागार एवं मालवीय भवन के प्रेक्षागृह में आयोजित किए

गंए। सभी आयोजन एवं कार्यक्रम जीवन्त एवं पूर्ण संगठित तथा व्यवस्थित और गरिमापूर्ण थे। सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अतिरिक्त विचार गोष्ठियों के सभी आयोजनों में कुल 98 विद्वानों और विचारकों ने भाग लिया। विविध संगीत, भरत नाट्यम, हिन्दी कवि-दरवार तथा चन्द्रावली नाटिका के प्रस्तुतीकरण जैसे श्रेष्ठ सांस्कृतिक कार्यक्रम भी इस अवसर पर आयोजित किए गये। समारोह के समापन तक विश्वविद्यालय का परिसर आयोजन की सफलता से गूंजता रहा। ठाकुर जयदेव सिंह (जो अव नहीं रहे) के समापन भाषण—"सन्तों और मजदूरों ने हिन्दी का बड़ा उपकार किया है। सव जगह हिन्दी को पहुँचाया। सन्तवल और श्रमिकवल हिन्दी को वराबर मिलता रहा है, पर अभी तक राज- भाषा को राजवल नहीं मिला"—का स्वर आज भी विश्वविद्यालय परिसर में अनुगूंजित हैं।

साहित्यिक अनुष्ठानों का कीर्त्तिमान स्थापित करने में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अपनी एक अलग पहचान रही है। मानस-चतुश्शती और सूर-पंचशती जैसे ऐतिहासिक समारोहों के क्रम में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुण्यशती समारोह भी अपनी निजी पहचान बनाने में सफल रहा। इस क्रम में तुलसी: संदर्भ और समीक्षा तथा सूर : संदर्भ और समीक्षा का प्रकाशन विश्वविद्यालय की गौरवशाली परम्परा के अनुकूल रहा है। 'जातीय साहित्य की परम्परा और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' शीर्षक के आलोक में हुई, 'राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,' 'जातीय साहित्य की परम्परा और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,' 'आधुनिकता और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,' 'हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,' 'भारतेन्दुयुगीन हिन्दी पत्रकारिता,' 'भाषा और लिपि का स्वरूप तथा भारतेन्दु-युग,' 'भारतेन्दु-युगीन साहित्य मूल्यांकन और मूल्यांकन,' 'भारतेन्दु: युवकों की दृष्टि में' तथा समापन गोष्ठियों में प्रस्तुत निवन्धों एवं विचार विमर्शों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया, साथ ही साथ यह भी अनुभव किया गया कि इस दुर्लभ प्रकाशन सामग्री को किस प्रकार निःशुल्क छात्रों तक पहुँचाया जाय, जो आवश्यक है। अर्थ की समस्या मुँह बाये खड़ी थी कि सहसा 'प्रज्ञा' के सम्पादक डॉ० राममोहन पाण्डेय ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर दिया। प्रज्ञा के विशेषांक के रूप में संगोष्ठी-सामग्री को प्रकाशित करने का प्रस्ताव कर उन्होंने आनेवाले अर्थ-संकट का जहाँ एक ओर समाधान प्रस्तुत किया; वहीं दूसरी ओर विश्वविद्यालय-परिवार के सदस्यों तक इसे निःशुल्क पहुँचाने के संकल्प को भी पूरा कर दिया।

राष्ट्रीय महत्त्व के इस समारोह को सफल बनाने में विश्वविद्यालय परिवार के शिक्षण; गैरशिक्षण कर्मचारियों और छात्रों का अपूर्व सहयोग मिला। नगर के विशिष्ट नागरिकों ने भी अपनी उपस्थिति एवं सद्भावनाओं से इसे महिमा मंडित किया। हिन्दी विभाग के सहयोगी मित्रों और शोध छात्रों का तो यह कार्यक्रम ही था अतः जिस निष्ठा एवं दायित्व पूर्ण ढंग से सबने इसे सफलता के शिखर पर पहुँचाया उसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है। भारत कला भवन के अधिकारियों एवं कर्मचारियों ने रात दिन एक कर जो

भारतेन्दु पुण्यशती समारोह को सफलता प्रदान की उसकी जितनी भी प्रसंसा की जाय थोड़ी है। सबके बीच केन्द्रवर्ती व्यक्तित्व विशेष कार्याधिकारी श्री ओ॰ पी॰ टण्डन का था जो समारोह की शक्ति के रूप में सदैव चैतन्य रहा, अन्यथा न तो समारोह को मिली गरिमा मिलती और न तो यह पुस्तक आपके पास तक पहुँच पाती। प्रज्ञा के सम्पादक डॉ॰ राममोहन पाण्डेय ने 'प्रज्ञा' का विशेषांक निकालकर प्रस्तुत सामग्री के प्रकाशन में हमारी जो सहायता की है उसके लिए मैं व्यक्तिगत रूप से उनका आभारी हूँ। पुस्तक को मैं जिस रूप में प्रस्तुत करना चाहता था नहीं कर सका, इसका मुझे दुःख है। महत्वपूर्ण विद्वानों के भाषण जो टेप किये गये थे वे टंकित नहीं किये जा सके और कुछ लोगों के महत्त्वपूर्ण निबन्ध समय से नहीं प्राप्त हो सके, जिससे इस पुस्तक में उनका अभाव खटकता रहेगा। ऐसे निबन्धों को न छाप पाने के कारण निबन्ध लेखकों और पाठकों दोनों से हो क्षमा प्रार्थी हूँ। टेप से लिखे गये भाषणों के लिए मैं श्री लक्ष्मी दत्त व्यास का विशेष रुप से आभारी हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ रघुनाथ प्रसाद रस्तोगी और कुलाधिपति भूतपूर्व काशी नरेश डॉ॰ विभूतिनारायण सिंह के प्रति मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अपनी उपस्थिति से न केवल समारोह को गरिमा ही प्रदान की वल्कि हिन्दी के विकास के लिए कई महत्वपूर्ण घोषणायें भी कीं।

त्रुटियों के प्रति अपनी जिम्मेदारी स्वीकार करते हुए बड़े संकोच पूर्वक प्रस्तुत अंक आप के हाथों में सौंप रहा हूँ। इसे अपना प्यार दें।

—त्रिभुवन सिंह

अनुक्रम

पृष्ठ

* हिन्दी साहित्य के आदि शंकराचार्य भारतेन्दु
श्रीमती महादेवी वर्मा 1

* भारतेन्दु हिन्दी साहित्य के वसन्त
ठाकुर जयदेव सिंह 5

* भारतेन्दु-युग की संक्रान्तिकालीन मानसिकता और भारतेन्दु
केसरी कुमार 11

* नवजागरण और राष्ट्रधर्मी भारतेन्दु
रामविनोद सिंह 39

* भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके निबन्ध
कुमुदप्रभा श्रीवास्तव 49

* भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य की वस्तुगत लोकोन्मुखता
राजेन्द्र कुमार वर्मा 59

* राष्ट्रीयता और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
वचनदेव कुमार 73

* भारतेन्दु की भाषा चेतना
महेन्द्रनाथ दूबे 79

* आधुनिकता और कवि भारतेन्दु
जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव 89

* भारतेन्दु की सार्थकता (आधुनिकता और भारतीयता के द्वन्द्व के विशेष संदर्भ में)
परमानन्द श्रीवास्तव 99

* राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
इन्दु बाली 107

* राष्ट्रीयता और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
इन्दिरा जोशी 110

* भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावना
राममूर्ति त्रिपाठी 129

* भारतेन्दु हरिचन्द्र और आधुनिक बोध का संघर्ष
विजेन्द्र नारायण सिंह 137

* आधुनिकता और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
मैथिली प्रसाद भारद्वाज 149

* राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
उदयभानु सिंह 163

* पुनर्जागरण और भारतेन्दु की पत्रकारिता
सूर्यप्रकाश दीक्षित 175

* राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
नज़ीर मुहम्मद 183

* राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु के निबन्ध
कुँवरपाल सिंह 189

* राष्ट्रीयता और भारतेन्दु
तपेश्वरनाथ 199

* हटो या पिटो (कंकड़स्तोत्र सन्दर्भ : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)
विजयबहादुर सिंह 209

* आधुनिकतावाद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
रामकली सर्राफ 219

* राष्ट्रीय नवजागरण एवं भारतेन्दु
सरला शुक्ल 227

* भारतेंदु की खड़ी बोली की कविताएँ
विष्णुकांत शास्त्री 229

* भारतेन्दु एवं भारतेन्दुयुगीन भाषा चिन्तन का महत्व
सुधाकर सिंह 253

* भारतेन्दुकालीन व्रजभाषा कविता
विष्णुदत्त राकेश 261

* खड़ीबोली हिन्दी काव्यभाषा की मूल चेतना तथा भारतेन्दु-युग
योगेन्द्रप्रताप सिंह 275

* भारतेन्दु की काव्य-भाषा
सियाराम तिवारी 285

* भारतेन्दु का नाट्यादर्श
नर्वदेश्वर राय 301

* भारतेन्दु की नाट्यकला
भोलाशंकर व्यास 311

* भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पत्रकारिता
धीरेन्द्रनाथ सिंह 317

* भारतेन्दु की भाषा चेतना
रामचन्द्र तिवारी 323

* भाषा-चेतना और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
त्रिलोचन पाण्डेय 333

* भारतेन्दुयुगीन नवजागरण की प्रगतिशील कड़ी
आनन्द नारायण पाण्डेय 339

* भारतेन्दु की भाषा और शिक्षा विषयक नीति
पृथ्वीपाल पाण्डेय 349

* नाटककार भारतेन्दु की रंगमंचीय अभिज्ञा और प्रतिज्ञा
डॉ० ओम् अवस्थी 357

* हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु
बशिष्ठ नारायण त्रिपाठी 381

* भारतेन्दु के अनूदित नाटक : मौलिकता और उद्देश्य
सन्तराम वैश्य 385

* भारतेन्दु की कारयित्री प्रतिभा
मंगला प्रसाद 393

* भारतेन्दु की प्रेम-रस साधना
जनार्दन उपाध्याय 395

* भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाषा-चेतना और उसकी सार्थकता
श्रीनिवास पाण्डेय 405

* भारतेन्दु में जनवादी प्रवृत्तियाँ
राजीव सिंह 411

* हिन्दी ग़ज़ल और भारतेन्दु
अरुण कुमार 415

* भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण
महेन्द्रनाथ राय 423

* ब्रजभाषा कविताएँ और भारतेन्दुयुगीन उपलब्धियाँ
पूर्णमासी राय 429

* सच्चे राष्ट्रनेता और जागरुक चितक भारतेन्दु
जया सिंह 437

* भारतेन्दु की काव्यभाषा चेतना
पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु 441

* भारतेन्दु की नव निर्माण दृष्टि
राजकुमार गुप्त 453

* भारतेन्दुयुगीन मलयालम साहित्य
एन० रामन नायर 463

* कहानी रह जायेगी
हेमन्त शर्मा 471

* श्री भारतेन्दु कृत 'भगवद्भक्ति तोषिणी' पत्रिका
गिरीशचंद्र चौधरी 487

* भारतेन्दु वाङ्मय की मूलचेतना
सूर्यनारायण द्विबेदी 493

* भारतेन्दु का विश्वपरिवेश
मोहन लाल तिवारी 500

काव्यांजलि

* भारतेन्दु गीतिः
शिवदत्त चतुर्वेदी 507

* भारतेन्दु प्रशस्ति
जगदीश गुप्त 511

* भारतेन्दु
केदारनाथ कोमल 512

* भारतेन्दु के नाम एक पाती
भानुशंकर मेहता 513

* आवरणसज्जा—कृष्ण कुमार उपाध्याय

●

---

* मुद्रक : सीमा प्रेस, ईश्वरगंगी, वाराणसी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

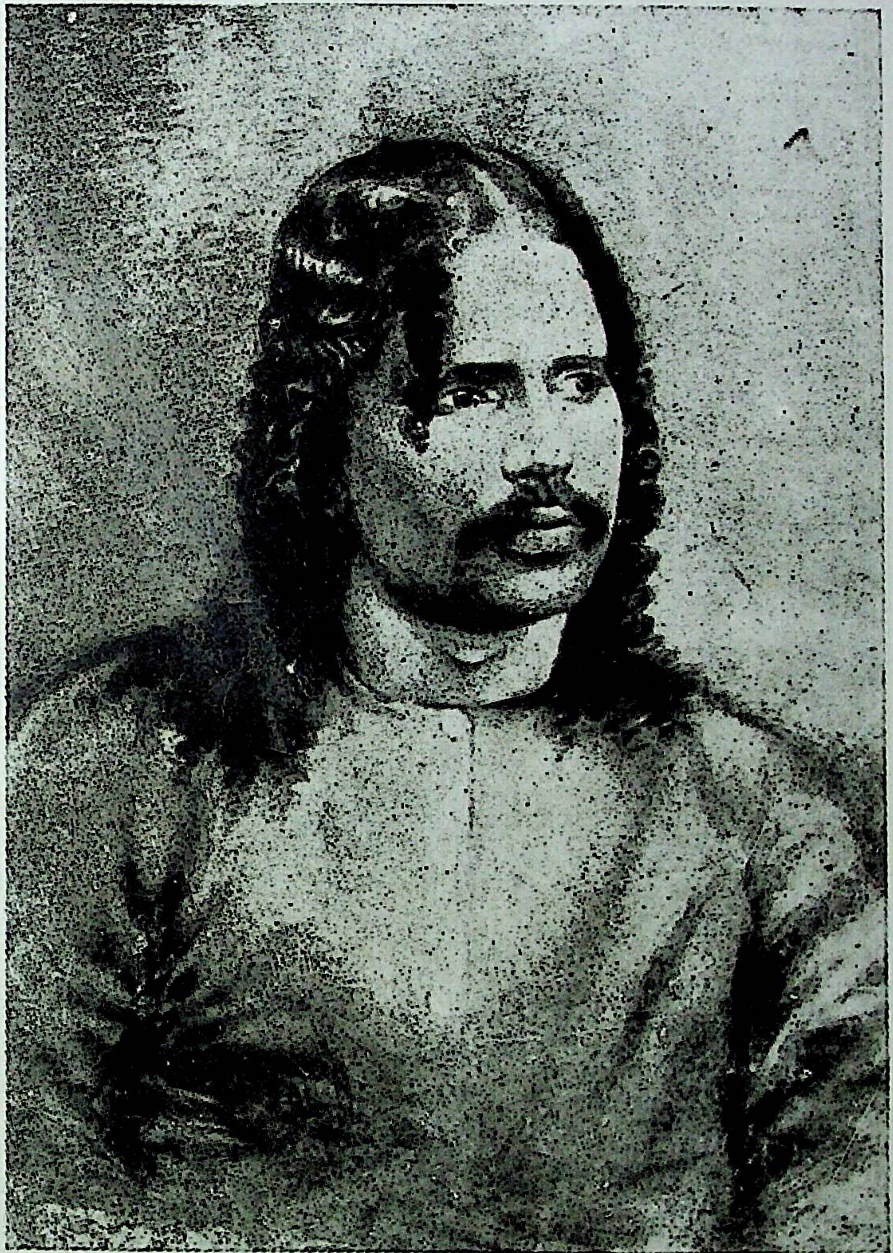

आविर्भाव : ऋषिपंचमी ९ सितम्बर, १८५० ई० **तिरोधान** : ६ जनवरी १८८५ ई०

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर ।
जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु स्मृति अंक

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल ।।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हिन्दी साहित्य के आदि शंकराचार्य भारतेन्दु

सुश्री महादेवी वर्मा

आज हम हिन्दी के युगप्रवर्तक लेखक एवं साहित्यकार की पुण्यतिथि मनाने के लिए एकत्र हैं। यह हमारी श्रद्धा है, श्रद्धांजलि है, और इसको मनाकर हम पवित्र होते हैं। हम यह मानते हैं कि हम उनके उत्तराधिकारी हैं। आज कुछ ऐसा ही अवसर है।

जो कुछ शंकराचार्य ने धर्म की दृष्टि से किया, जो दयानन्द ने आर्यवाणी के लिए किया, जो विवेकानन्द ने दर्शन के लिए किया, वही भारतेन्दु ने हिन्दी-साहित्य के लिए किया। सम्मिलित रूप में सब कुछ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य में है। इतना काम किसी ने एक साथ नहीं किया। इतना कम जीवन का समय किसी को नहीं मिला। …………लेकिन देखा ये है कि जिन्हें बड़े काम करने होते हैं, वे थोड़े जीवन में ही कर लेते हैं। उनके लिए सौ वर्ष, दो सौ वर्ष अपेक्षित नहीं होते और साहित्यकार तो अमर होता है, शरीर से नहीं, शरीर तो जाता ही है, परन्तु जब शरीर चला जाता है तब उसकी रचना उसका काम करने लगती है, और करती रहती है। …………आज कालिदास की रचना काम करती है, तुलसीदास की रचना काम करती है। …………सूरदास की रचना काम करती है, इसी तरह भारतेन्दुजी की रचना काम करती है। ये सभी हमारे बीच हैं।

गंगा का महत्त्व है, परन्तु उसका महत्त्व अधिक है, जो ब्रह्मा के कमण्डल के बन्दीगृह से चली आई और शिव की जटा में स्वच्छन्द विचरण करने लगी और तब भगीरथ उसे धरती पर ले आये। धरती पर जो गंगा है और सब जगह वह भागीरथी है। पहाड़ में भागीरथी कहने से गंगा, समझते हैं। तो जिसने लाया गंगा को, …………वह उससे भी बड़ा है। हो सकता है ……………कमण्डल में ही बन्द रहती वह? विष्णु के चरण से उत्पन्न हुई, और शिव की जटा में ही घूमती रहती…………… तो आपको गंगा कहाँ मिलती? इसी तरह साहित्यकार लाता है। …………सारी नदियाँ अपना मीठा जल लेकर समुद्र में गिरती हैं।……………समुद्र उनका पानी लेकर एक बादल बना के ऊपर भेजता है ……………और वह बरसता है, तो हर बीज अंकुरित हो जाता है।………अब यह कहना कि कौन बथुआ होगा और कौन खाली दूब हो जायेगी, ………ये भी उस पर निर्भर करता है। चाहे भारतेन्दु ले आये। अब आज की भाषा का प्रश्न? और निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल, बिन

दिनांक 6-1-86 को भारतेन्दु पुण्यशती समारोह पर दिया गया उद्घाटन भाषण।

निज भाषा ज्ञान के मिटै न हिय को सूल। ………तब कहाँ होते हैं ? आज हम अपनी राष्ट्रभाषा को आदर देने में लज्जित होते हैं और विदेशी भाषा को महान् मानते हैं। उसमें वोलते हैं तो समझते हैं कि हम वड़े महान् हैं। उस समय ये कल्पना तब नहीं थी ………… " वापू नहीं आये थे, ………उस समय की वात हैं। ऐसा व्यक्ति जो यथार्थ, आदर्श और सारी समस्याओं को एक साथ ले कर चला हो मुझे तो मिलता ही नहीं, ………इतिहास में कहाँ हैं ? किस जगह है ? ………मैं नहीं जानती। मुझे कोई नहीं मिला कि जिसके पास हिन्दी की पत्रकारिता पहली हो, व्यंग्य पहला हो। सव धारदार वढ़िया व्यंग्य है, …………और परिस्थितियाँ देखी आपने ? ………… अंधेर नगरी चौपट राजा। …………आज सव अंधेर नगरी है। उस समय उन्होंने जो व्यंग्य लिखा, वह कैसा था ? और यथार्थ कैसा था ? पै धन विदेश चलि जात, यहै अतिख्वारी। आज उसे सोचिये कि इतने वरस पहले कैसे हरिश्चन्द्र ने ये सव समझ लिया ? कुछ भी ऐसा नहीं है जो उन्होंने नहीं देखा, नहीं समझा और तुरन्त कार्य नहीं किया। हम लोग तो लिखते हैं न …………फिर रख दी लेखनी, फिर लिख दिया। ……… फिर ये नाराज होगा, फिर वो नाराज होगा ' फिर यह लाभ नहीं होगा, फिर वो लाभ भी नहीं होगा। उस शक्ति को…………जिसने इतना वड़ा तप किया, उन्होंने सव कुछ दे डाला। अपनी भाषा के लिए, साहित्य के लिए, जीवन के लिए। गाँव-गाँव में गये वो, ………और आज आप क्या करेंगे ? एक नाटक करना हो तो फ्रन्ट पेज में आ जाते हैं, उस समय वो गाँव-गाँव में गये तथा जो कुरीतियां थीं, उनके सम्वन्ध में व्यंग्य किया अभिनय किया। अभिनेता वो वड़े अच्छे थे। ……आज क्या हो रहा है ? ……। उतना नहीं कर सकते हम। उनका इतना वड़ा अवदान है, रस का समुद्र है, और विना अहंकार के है। और वो व्यंग्य सिकता भी है, वालू भी है। उनका जीवन सोचकर हमें जल की याद आती है। जल अन्तः सलिला है,………ऊपर से वालू विछा है तो मैंने पूछा नदी कहां है ? उन लोगों ने कहा कि नदी इसके नीचे है। नियम उलटा हो गया। वालू नीचे जाता है, जल ऊपर आ जाता है। ऊपर रेत विछी है, नीचे अनन्त जल है। निरा जल एकदम आ जाता है, ऐसा कोई व्यक्ति, कोई साहित्यकार हो सकता है, ……सव नहीं होते। जो आदर्श को, आकाश को, धरती पर उतार लाये और धरती को आकाश पर पहुंचा दे ऐसा व्यक्ति है कहाँ ? नियमों को छोड़कर आविर्भाव हुआ है उनका। जो उनकी कवितायें है, ………कितना रस का समुद्र उमड़ता है उनमें। ………जो याथार्थ है। यथार्थ की भूमि को कविता देती है, नहीं तो………हम या तो पंखवाले ऊपर उड़ते रहते है और………या पैर वाले हैं तो नीचे वैठे रहते हैं। ऊपर नहीं उड़ते तो उनको दोनों को मिला दिया उन्होंने। आप वोलिये की आप नीचे उतरिये क्योंकि धरातल तो नीचे है ? मुक्त रहे मन और धरती पर उतर आये। मैं ये नहीं समझ पाती हूँ कि कोई युनिवर्सिटी उनकी च.र्ट नहीं रखती। ऐसे वड़े कवि को आप कैसी उपेक्षा से देखते हैं। आप को तो रखना चाहिए………। हरेक विद्यार्थी आज जाने कि आदर्श कैसे देखा जाता है, आदर्श का क्या अर्थ होता है ?

सुन्दर स्वप्न जो नहीं देखता है, वह उतारेगा क्या ? सुन्दर स्वप्न भी चाहिए, लेकिन जो खाली सुन्दर स्वप्न देखता है, उतारता नहीं धरती पर …………उसका सपना व्यर्थ है ।

शोध करना दूसरी बात है और आप उसकी इच्छा रखेंगे । ध्यान दूसरी तरफ होगा और आज के लिखने वाले को बहुत कुछ मिलेगा । जब हमको मिलता है, जो आकाश में उड़ते हैं, तब तो आज का लिखने वाला तो व्यंग्य भी लिखता है, फूहड़ भाषा भी लिखता है और गाली भी । आप देखिये कैसी भाषा हैं, कितना सहज है और धारवाली है कि अँग्रेज भी सोचते होंगे कि क्या लिखता है । हर विषय पर उनकी लेखनी चली है और हर विषय को उन्होंने नये ढंग से रखा है । ऐसा बहुत कम होता है । नदियाँ तो समुद्र में गिर जाती हैं लेकिन समुद्र लौटा नहीं सकता है, बादल ही बनाता है । साहित्यकार वास्तव में जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं, उनको स्वीकार भी करता है । नयी बनाये देता है जो कि उसकी विशेषता है । ……तो मैं तो यही कहूँगी कि उनका साहित्य तो मैंने सुना है । उनके साहित्य को इकट्ठा करेगें, उनका साहित्य छपवा देगें । वो दूसरी बात थी कि एक महान् ग्रन्थ छपवा दें । कौन सा हमारा साहित्य रखा है ऐसा जिसको हममें से कोई पढ़े । अब एक मोटा सा ग्रन्थ निकाल दिये । उससे इतना लाभ नहीं है । आज जो रखा है यहां पर ……………आप देखिये…………इनको पहुंचा दें आप ।………। हर एक विद्यार्थी तक पहुंचा दें, और वो तब होगा जब उस पर बार-बार विचार विनिमय होगा, तब उससे हमें मिलेगा । …………ऐसे नहीं मिलेगा । इस कठिनाई से, तप से ही मिलेगा । भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने देखा । ……पत्रों के सम्बन्ध में देखा, समाज के सम्बन्ध में जो कहा और साहित्य की सब विधाओं के सम्बन्ध में जो कहा । विद्यार्थी हमारा नहीं जानेगा तो क्या होता है और साहित्य को श्रद्धांजलि कैसे दी जाती है—बताइये ? क्या करेंगे हम ? पिण्डदान ।………देगें बस जैसे आज करता हैं, पितर पक्ष में । आज ऐसा कोई साहित्यकार नहीं होता जो ऐसा चाहता हो कि उसके बाद आगे वाले ये सब करें । उसे सब बदल देता है, मन की ऋतु को बदल देता है । ऋतु का बदलना तब होता है जब हम बार-बार बैठें । आज आपने इतनी प्रदर्शनी देखी……कल भूल जायेगें । ये तो तब होगा जब आप अध्ययन के लिए करेंगे कि उन्होंने क्या कहा और कितने कम समय में कहा । ……और ये गद्य उन्होंने तब आरम्भ किया जब ब्रजभाषा रस का समुद्र थी तो उस रस के समुद्र के सामने खड़ी बोली को खड़ा करना कितना कठिन कार्य था……। आगे जो प्रवृत्तियां हैं उनको किसी ने बढ़ाया किसी ने घटाया । उनके बाद आने वालों ने, लेकिन समग्रता में जो है, वह हरिश्चन्द्र के पास है और जनता जो नाम देती है वह असली नाम होता है । जैसे भारतेन्दु नाम जनता ने दिया तो सूर्य चाहे जितनी भी किरणें फैलाता है, उतने गिनिये । यह नाम किसने दिया ?………………जनता ने । किसी ने नहीं गिना, … ……लेकिन चन्द्रमा की सोलह किरणों को हम जानते हैं, सोलहों को हम जानते हैं, अब एक है और अन्त में सोलह जिसने भारतेन्दु नाम दिया उसने जीवन को ऐसी चाँदनी दी जो आलोक भी देती है ………और जो स्निग्ध है, शान्त है, प्यास भी बुझा देती है,

स्वच्छ है तो मैं ये समझती हूँ कि ये नाम वड़ा सार्थक है। इससे सुन्दर नाम मिलता नहीं …………और दिया जनता ने………जिसे आज हम भारतेन्दु कहने से समझ जाते हैं कि भारतेन्दु श्री हरिश्चंद्र चन्द्र है। आज तो मेरा सौभाग्य है कि मैं आपके वीच में वैठकर अपनी श्रद्धांजलि देकर उन्हें याद करती हूँ। मैंने वार-वार कहा कि समग्र साहित्यकार को देखना है एक जगह तो भारतेन्दु को देखिये। जो वांध नहीं है, सम्प्रदाय में नहीं है, कोई आदर्शवादी है, कोई यथार्थवादी है, कोई-कोई वादी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सर्ववादी है। कुछ नहीं है ऐसा जो उन्होंने नहीं देखा, जिनके वारे में नहीं कहा और हमको जो दे गये हैं, वह तो अनन्त आलोक है। …………तो भाई देखिये………दीपक को कि जव सूर्यास्त होता है तो वड़े-वड़े पहाड़ भी उसकी जगह नहीं लेते हैं और असीम समुद्र भी नहीं लेता। लेता है तो मिट्टी का दीया।………क्योंकि आलोक है उसके पास। ……वड़े नहीं देंगे…………छोटा दूंगा। मिट्टी का दीपक हो, सोने का हो, चाँदी का हो, ……मूल्य किसी का नहीं…………, मूल्य केवल ज्योति का है। ………तो अगर आप उनसे लेते हैं, कुछ…………तो वहीं उत्तराधिकार है जो आज अंधकार को किसी ने आलोक नहीं दिया। उनका उत्तराधिकार आलोक का उत्तराधिकार है। हम लोगों ने मिलकर उनको नमन दिया, उन्हें स्मरण किया और ऐसे पूर्वज को याद करना तीर्थ है। हम पुण्यतीर्थ के रहने वाले हैं, काशी के निवासी आप लोग हैं, मैं प्रयाग की निवासी हूँ इसलिए हम लोग तीर्थ के यात्री हैं, तीर्थ के निवासी हैं, हमने तो पर्वस्नान किया और अपने उस अग्रज को प्रणाम किया।

और मैं समझती हूँ कि इसके वाद ऐसी लिखेंगे………इस विश्वविद्यालय में, जिसमें वार-बार समग्र-साहित्य को देखा जाय, समझा जाय। विद्वान देखते समझते वहुत हैं, करते कुछ नहीं हैं, विद्वता में आपकी क्रिया नहीं है, उसमें वुद्धि की केवल प्रेरणा है और साहित्यकार कविता क्या करेंगे, जो पढ़ना लिखना जानते ही नहीं……वास्तव में साहित्य विद्वता नहीं है ………। वहाँ पर जानना नहीं है केवल करना भी है; उसका साथ। अनुभूति के साथ क्रिया भी मिली रहती है। वुद्धि हमारी सत्य है, खोजें सत्य को……। भावना हमारी सुन्दर है…………सौन्दर्य है और कर्म शिव है। यदि तीनों मिल जायें तो हम पूर्ण हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सन्देश भी तभी पूर्ण है। आपको प्रणाम देती हूँ।

भारतेन्दु : हिन्दी साहित्य के वसंत

ठाकुर जयदेव सिंह

सच बात तो यह है कि भारतेन्दु जी हमारे साहित्य के क्षेत्र में वसन्त के समान आये और फिर क्या था–सिहर सिहर उठता सुमनसुधा–उनके कर कमलों ने आशा का बीज बोया। उनके पद प्रक्षेप में उत्साह और उनकी वाणी में वह मन्त्र था जो उन्होंने लिखा था कि–'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल। बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।' सूल शब्द कितना व्यंजक है, वहाँ पर हृदय की पीड़ा नहीं जाती बिना भाषा के। मैंने एक कहानी पढ़ी थी कि एक तोता किसी ने पाल रखा था। पिंजड़े में वह तोता बन्द था। वह राम नाम उच्चारण करता था परन्तु उसके हृदय की पीड़ा व्यक्त हुई, जब उसने दूसरे तोते को देखा और राम नाम भी भूल गया। टाँय–टाँय जो उसकी अपनी भाषा थी वही वह बोलने लगा। जब यहाँ पर अंग्रेजों ने पदार्पण किया, भाषा के मसले पर मैकाले ने कहा कि शिक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से होनी चाहिए। उसने अपने डिस्पैच में अन्त में लिखा कि यदि हम अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देगें तो यहाँ के लोग विज्ञान इत्यादि तो जान जायेगें, परन्तु नाम मात्र के यहां के देशवासी रह जायेगें। वह अपने विचार में अंग्रेज हो जायेगें। तो विचार का और भाषा का इतना सुन्दर समन्वित सम्बन्ध है। आज कितने वर्ष हो गये यह विश्वविद्यालय खुले हुए, पर कितने दार्शनिक और चिन्तक इस देश में हुए, उँगलियों पर आप गिन सकते हैं। तो असल बात यह है कि हममें जो वह चिन्तन नहीं होता, उसका कारण यह है कि हमारी शिक्षा विदेशी भाषा के द्वारा होती है। जितनी स्वाभाविकता से वह अपनी भाषा में होती है उतनी विदेशी भाषा में नहीं। मैं समझता हूँ कि यह भारतेन्दु जी का बहुत बड़ा प्रतिदान था। राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण के विषय में तो आप ने सुना ही है कि राष्ट्रीय चेतना का जागरण उन्होंने कितने सुन्दर ढंग से किया। उनकी भाषा में तीव्र प्रहार की क्षमता थी। इसके अतिरिक्त मैंने तो देखा है कि और लोग जो होते हैं वो अपने मूल चिन्तन में मूल भाषा तो कहते हैं,···पर······अनुवाद में भी भारतेन्दु जैसा व्यक्ति मैंने नहीं देखा। एक श्लोक मैंने संस्कृत में पढ़ा था (मूल श्लोक संस्कृत में था) जब मैंने भारतेन्दु का अनुवाद पढ़ा तो मूल श्लोक मुझे भूल गया। इतना सुन्दर अनुवाद था वह। अनुवाद में था—मित्र जा रहा है बाहर, उसकी बिदाई में क्या कहना है। मूल तो उसका संस्कृत में था पर अनुवाद भारतेन्दु जी का यों था। 'रोकहुं जो तो अमंगल होय, औ प्रेम नसै जो कहूं प्रभु जाइये। यदि मैं रोकता हूं तो जाते समय रोकना अमंगलकारी होता है, जो मैं यह कहूं कि आप जाइये जरूर जाइये तो प्रेम का तकाजा ये हैं कि कुछ न कुछ तो हम अपने प्रेम को व्यक्त करें। वह भी नहीं कह सकते। जो कछू जाहु न तो प्रभुता, जो कछू न कहीं तो सनेह नसाइये। जो कुछ न कहूं तो स्नेह का विनाश होता है।

दिनांक 11–1–86 को भारतेन्दु पुण्यशती समारोह पर दिया गया समापन भाषण।

और जो ये कहूं कि मैं आप के विना जीवित नहीं रह सकता तो इसका विश्वास कौन करेगा।

इतना सफल, इतना सुन्दर, इतना शोभन अनुवाद हुआ कि मूल मुझे भूल गया। मूल मैंने संस्कृत में पढ़ा था। जिस क्षेत्र में उन्होंने कलम उठायी, उस क्षेत्र में वह अद्वितीय, अनुपम सिद्ध हुए। भारतीय संगीत में भी वो बहुत तीक्ष्ण थे। उनके घर में भारतीय संगीतकारों का जमावड़ा होता रहता था। यही कारण है कि उनमें उनकी भाषा में, उनके अनुवाद में, उनके नाटकों में, जितनी संगीतमयता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। मुझे स्मरण है कि 1925 में कानपुर में इंडियन नेशनल कांग्रेस की बैठक हो रही थी। पं० विषणु दिगम्बर पोलुसकर वहां गये और राष्ट्र गान करने के लिए उनके सामने माइक रखा गया। उन्होंने कहा हटाओ माइक। लोगों ने कहा महाराज पच्चीस हजार श्रोतागण हैं कैसे आपकी आवाज पहुंचेगी। उन्होंने कहा पच्चीस हजार नहीं पचास हजार लोगों तक मेरी आवाज पहुंचेगी। उन्होंने भारतेन्दु जी का एक पद लिया। भारत हमारा देश है इसके लिए हम कुछ न कुछ कर जायेंगे। गान प्रारम्भ किया और धैवत के मध्यम स्वर को उन्होंने ऊंचा किया। उनके जो शिष्यगंण थे, साथ में वो विचारे किसी तरह से रोते गाते स्थायी तक तो चले अन्तरा में सब चुप। मैं जा करके विल्कुल पीछे वैठा और टन-टन उनकी आवाज आ रही थी। यह सच है कि यह अद्भुत है किन्तु यह अद्भुत है कि यह सच है। यह मैंने अपने कानों से सुना। पंडित जी ने मुझे बताया कि 'भारतेन्दु' जी के पद से उन्हें इतनी प्रेरणा आयी कि वो इतने जोर से गा सके। तो भारतेन्दु जी की विशेषतायें हमारे साहित्य के लिए बहुत भारी हैं, इसमें तृण मात्र सन्देह नहीं है। मैं साधुवाद देता हूं कला भवन को, हिन्दी विभाग को, जो इन दोनों ने मिलकर एक सप्ताह तक भारतेन्दु जी के विषय में संगोष्ठियों का आयोजन किया। परन्तु आज हमें यह सोचना है कि भारतेन्दु जी के विषय में संगोष्ठियों का आयोजन यों किया जाय। परन्तु आज हमें यह भी सोचना है कि भारतेन्दु जी जिसका बीजारोपण कर गये हैं, उसको हम कहाँ तक बढ़ा सकते हैं। हमारा कर्तव्य क्या है? भारत की सबसे भारी समस्या रही सम्पर्क भाषा की। हिन्दी विरोध दक्षिण वालों के हृदय में है, इसकी कोई सीमा नहीं। वे अंग्रेजी को अपनाना चाहते हैं फिर भी हिन्दी को न अपनाना चाहें, यह एक बड़ी भारी समस्या है, कोई हिन्दी बोलने वाला ये दावा नहीं करता कि हमारी भाषा सर्वोत्तम है लेकिन एक सम्पर्क भाषा तो होनी चाहिए। हम मराठी में, बंगला में, गुजराती में तमिल में और अन्य भाषाओं में विचार करते हैं, लिखते हैं परन्तु यदि हम उसमें कोई सोध करते हैं और उस शोध को हम अपनी भाषा में लिखते हैं तो उस शोध का लाभ देश के अन्य लोगों को कैसे होगा? जब तक कि एक सम्पर्क भाषा में अनुवाद न हो। रूस इतना बड़ा देश है चौदह-पन्द्रह भाषायें हैं, पर सम्पर्क भाषा रसियन है तो सम्पर्क भाषा की अधिक आवश्यकता है। वह किस रूप में हो, ये विवादास्पद है। हमारे यहां नेताओं ने ये समझा कि न तो वो संस्कृत हो, न फारसी हो और हिन्दुस्तानी। एक नयी भाषा खड़ी की जिसमें टेक्स्ट बुक भी छपने लगी जिसमें बेगम सीता और बादशाह राम ये शब्द हमको मिले।

अब आप देखिये सीता के साथ बेगम शब्द लगाना कितना अन्याय है। भाषा सरकार नहीं बनाती। किसी देश का शासन नहीं बनाता, प्रशासक नहीं बनाता। बनाता है लेखक और वक्ता। जब मैं आकाशवाणी में था तब वहां यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि हमारे न्यूज किस भाषा में कहे जायें। डा० केसकर चले गये थे, डा० राजगोपालाचारी मंत्री होकर आये थे, उन्होने कहा कि न तो संस्कृत हो और न फारसी हो। परिणाम यह हुआ कि जब राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन का स्वर्गवास हुआ तो आल इण्डिया रेडियों से यह प्रसारित हुआ कि राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन चल वसे। अब आप देखिये चल वसे में क्या व्यंज.ना है। स्वर्गवास संस्कृत हो जाता था, कहना नहीं चाहते थे तो उन्होंने कहां चल बसे। परन्तु चल वसे की ध्वनि क्या है हिन्दी में आप सभी जानते हैं। तो इस प्रकार से भाषा यदि प्रशासन अपने हाथ में ले तो वह इसे वना नहीं सकता। भाषा यदि राजनीति से प्रेरित होगी तो चौपट हो जायेगी। हम जब भारत के ऊपर सोचते हैं तो हमारे सामने उत्तर प्रदेश,विहार और मध्य प्रदेश यही रहता है। हम यह नहीं सोचते कि भारत इससे कहीं विशाल है। केवल उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और विहार के जो मुसलमान हैं, निःसन्देह उनके लिए थोड़ी वहुत कठिनाइयाँ हैं, परन्तु गुजराती, बंगाली, मलयालम का मुसलमान संस्कृत कहीं अधिक समझता है, उर्दू या फारसी की अपेक्षा। मैं जब वहाँ आकाशवाणी में था तब निरीक्षण के समय यह समस्या उठ खड़ी होती थी कि मैं किस भाषा में बोलूँ। जो स्टाफ आर्टिस्ट होते थे वो विचारे हिन्दी जानते नहीं थे, जो अंग्रेजी जानते थे वो हिन्दी नहीं समझते थे। तो मैंने संस्कृत गर्भित हिन्दी में वोलना प्रारम्भ किया और सब लोगों ने आकर कहा कि अस्सी प्रतिशत आपके भाषण को मैंने समझ लिया। हमारी सारी संस्कृति संस्कृत में है और मैं समझता हूँ कि संस्कृत गर्भित भाषा ही हिन्दुस्तान की सम्पर्क भाषा होगी। एक तो भाषा का उसके साथ लिपि का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। आपको स्मरण होगा कि द्वितीय विश्व संग्राम के पहले रूसी एक विशेष लिपि में लिखी जाती थी, जर्मन ग्राथिक लिपि में लिखी जाती थी और कई एक भाषायें रोमन में लिखी जातीं थीं। द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद सवने मिलकर यह निर्णय लिया कि हम सब भाषाओं को रोमन लिपि में लिखेंगे। फ्रेंच हो या जर्मन हो सबको रोमन में लिखेगें। आज कितने नवयुवक हैं जो ग्राथिक में छपी हुई पुस्तक को पढ़ नहीं पाते। सारे यूरोप की लिपि एक हो गयी है। लिपि ही नहीं संगीत में भी उन्होंने तय किया कि 240 आरम्भक स्वर होगा सारे संगीत के लिए। चाहे आस्ट्रेलिया हो या अमेरिका अथवा यूरोपसब जगह एक। पर हाय रे अभागा देश भारत। अपने लिपि में ऐसे चिपके रहते हैं कि जो संस्कृत के पास नागरी लिपि है वह भी नहीं छोड़ना चाहते। कलकत्ता हाईकोर्ट के जस्टिस शारदा चरण मित्र ने 1907 में देवनागर नामक एक पत्र निकाला था। तमिल, तेलगू, भाषा की कहानी उसकी लिपि देवनागरी कर देते थे। उनका यह मानना था कि यदि भारत में एक लिपि हो जाय तो आधी समस्या अपने आप दूर हो जाय। परन्तु लोगों ने इतना विरोध किया कि बेचारे को अपना पत्र वन्द करना पड़ा। इस देश की यह दशा है। बंगला, गुजराती आप देखेगें कितना निकट है देवनागरी के, जिसका कोई ठिकाना

नहीं। परन्तु फिर भी हम वंगला को वंगला लिपि में लिखना चाहते हैं, देवनागरी में नहीं। ह्वीलर की दुकानों पर गालिव, मीर की नागरी लिपि में जो पुस्तके मिलती हैं वह अरवी उर्दू में नहीं। उर्दू कहीं अधिक निकट आ सकती थी हिन्दी के यदि नागरी लिपि अपना लेते। पता नहीं धर्म का सम्वन्ध रख छोड़ा है या क्या वात है अरवी में लिखेंगे वो उर्दू। वो इतनी कठिन लिपि है कि जो उर्दू का अभ्यस्त है, वह भी ठीक से नहीं पढ़ पाता। तो भाषा के साथ देवनागरी लिपि का सम्वन्ध भी जुड़ा हुआ है। मैं समझता हूँ कि यदि हम एक लिपि को अपनायें ……….। परन्तु इस देश में अपना सकते हैं या नहीं? हमें लगता है कि ये डेमोक्रेसी नाम की जो चिड़िया है, इसके रहते हुए यह नहीं हो सकता। आप देखें कि तुर्की में कमाल पाशा ने क्या किया? अरवी लिपि को एकदम से निकाल दिया और रोमन लिपि लाया। परन्तु यहाँ तो हर एक में राजनीति घुस जाती है, इस लिए लिपि भी एक नहीं हो पाती। परन्तु मैं समझता हूँ कि यदि हम लोग यह निर्णय लें और यदि प्रयत्न करें कि लिपि कम से कम एक हो जाय तो हम समझते हैं कि आधी समस्या हमारी नाश हुई। अव रह गया हिन्दी का प्रचार। कठिनाई यह है कि विश्वविद्यालयों ने यह सोच रखा है कि आलोचनात्मक साहित्य ही सव कुछ है। सृजनात्मक साहित्य के वहुत ही कम अधिकारी होते हैं। तुलसी को कोई पढ़ता है, तुलसी एक अध्ययन सभी पढ़ते है। कवीर एक अध्ययन का अध्ययन करते हैं। कवीर दर्जे पर पहुंचाने में दो का भारी योगदान रहा है। सन्तों का और मजदूरों का। मैं मद्रास गया था (1972 में) डा० राघवन ने कथा काल क्षेपण का आयोजन किया था। जैसे यहां कीर्तन होता है वैसे ही वहाँ होता है कथा कालक्षेपण। कथा कालक्षेपण का कथाकार वोलता था तमिल में परन्तु था सन्तों का पद। कवीर के, नानक के, मीरा के। हिन्दुस्तानी राग में बीच में गाता था। कितना सुन्दर समन्वय हुआ। हमारे जो मजदूर थे वो चारों ओर जा जा कर यहाँ तक कि मारीसस में भी हिन्दी का सन्देश उन्होंने पहुंचा दिया। राजवल इसको प्राप्त नहीं था. परन्तु सन्त वल, श्रमिक वल हमारे हिन्दी को प्राप्त था। हिन्दी सन्देश यदि पुनः हमें पहुंचाना है तो सन्त वल का आश्रय लेना होगा, श्रमिक वल का आश्रय लेना होगा। दूसरी वात यह है कि कोई भी भाषा जव तक कि उसमें सामयिक चिन्तन विज्ञान, राजनीति, इतिहास आदि विषयों पर गम्भीर और लेख नहीं। समृद्ध नहीं मानी जा सकती। हम हिन्दी में जो कुछ भी लिखते विचार हैं कहानी, उपन्यास, या कविता इनके लेखक वहुत कम हैं और लेखक से भी कम है इसके पाठक। मैं इण्टरमीडिएट वोर्ड का सदस्य था। उस दौरान रास्ते में एक दुकान पड़ती थी पुस्तकों की नाम था [द वुक्स]। उसका स्वामी था वंगाली। उसके यहाँ जव मैंने देखा तो तीन हजार पुस्तके वंगाली की थीं और लगभग दो ढाई सौ हिन्दी की। मैंने कहा-मुखर्जी वावू, इतनी पुस्तकें इलाहावाद में यहाँ, हिन्दी की, दो ढाई सौ और वंगला की तीन हजार। तो उसने कहा आइये वैठिये वताता हूँ। बंगला की एक पुस्तक देश-विदेश यात्रा की पुस्तक थी उसकी मैं तीन हजार प्रतियाँ वेच चुका हूँ और हिन्दी की मैं क्या कहूँ जो विश्वविद्यालय के अध्यापक भी आते हैं वो भी हमसे बंगला की ही पुस्तके मांगते हैं हिन्दी की नहीं। यह दशा हो गयी है। मैं हिन्दी संस्थान का सदस्य

था। कुछ दिनों बाद देखा कि हमारी सरकार ने बहुत खर्च करके सोलह भिन्न भिन्न गम्भीर विषयों पर ग्रन्थ लिखवाये और सोलह लाख के ग्रन्थ उनके गोदाम में पड़े रहे। उनका कोई पाठक नहीं। सच बात तो यह है कि हिन्दी में आज पाठक से लेखक अधिक हो गये हैं। जो कोई शोध करता है वह चाहता है कि मेरा शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो जाय, वह प्रकाशित हो गया, परन्तु उसका कोई पाठक नहीं। हमको एक नया रास्ता बनाना पड़ेगा। हिन्दी पढ़ता कौन है ? मैंने प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का अनुवाद हिन्दी में भी किया और अंग्रेजी में भी। अंग्रेजी का जो ग्रन्थ था उसके चार संस्करण हो गये हिन्दी का ग्रन्थ बारह वर्ष बाद जाकर अब समाप्त हुआ है। कोई पढ़ने वाला नहीं। और पढ़ता है कौन ? महिलायें जो हिन्दी जानती हैं वो पढ़ती हैं धर्मयुग जिसका नाम मैंने दिया युगधर्म। साहित्य नहीं पढ़तीं। तो कैसे उन्नति होगी ? हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं। सम्पर्क-भाषा बनाना चाहते हैं और बोलते क्या हैं, यहाँ की जो विधान सभायें होती थीं उनमें अँग्रेजी में भाषण होते थे। स्वराज्य हुआ तो ये घोषणा हुई कि सभी भाषण हिन्दी में होगें। मैं भी पास लेकर गया। एक साहब उसे उन्होंने कहा-पार्लियामेंट्री सेक्रेट्री टू द मिनिस्ट्री आफ एजूकेशन ने एक आइडिया दिया है। मैं घबराया कि ये बर्बर भाषा कौन सी है ये हिन्दी है या अंग्रेजी या क्या है ? साधारण बोल चाल में हम स्वयं कहते है सनडे को स्टेशन पर सी आफ करने जा रहे हैं। क्या यही भाषा बनेगी, भारत की राष्ट्रभाषा। सोचने की बात है हँसने की बात नहीं। मैं जापान जा रहा था। मेरे दाहिने तरफ एक मित्र बैठे थे और बायीं तरफ एक रूसी बैठा था जो हिन्दी जानता था। हमारे मित्र ने कहा हमारे फादर की डेथ हो गयी। रूसी ने हमारे कान में कहा आप की भाषा में फादर और डेथ के लिए शब्द नहीं है क्या ? यह दशा है। जो सन्देश भारतेन्दु जी दे गये। तो उसका हमने कितना पालन किया ? ये दशा है हमारी। न हम अंग्रेजी बोल सकते हैं और न हिन्दी बोल सकते हैं। धोबी के कुत्ते हो गये हैं न घर के न घाट के। अंग्रेजी में यदि भाषण हो तो पन्द्रह मिनट में जो कुछ भी उसके पास है सब खतम। पन्द्रह के आगे नहीं बोल सकते हैं और हिन्दी ? हिन्दी तो बोल ही नहीं सकते। सारे विचार जो हैं वो अँग्रेजी के उन्हें हिन्दी में व्यक्त करें। वो सम्भव नहीं है। वो अँग्रेजी शब्दों को भी बीच में लाते है। तो क्या भाषा बनेगी ? कौन सी राष्ट्र भाषा होगी ? क्या यही राष्ट्रीय भाषा होगी ? यहाँ तक कि नये उपन्यासों में भी मैंने देखा है कि अंग्रेजी के शब्द आने लग गये हैं। इस पर आप लोग विचार करें। भारतेन्दु जी के प्रति यदि हमको अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करनी है तो सबसे भारी श्रद्धांजलि यही होगी कि हम इसको (अंग्रेजी) छोड़कर के हिन्दी अपनायें।

●

भारतेन्दु-युग की संक्रांतिकालीन मानसिकता और भारतेन्दु

केसरी कुमार

भारतेन्दु के रचनाकाल या वास्तविक नैतृत्वकाल को एक प्रभामंडल देकर, जैसा इतिहास में शायद ही हुआ है, उनके जन्मवर्ष से आरम्भ कर तथा उनके मृत्युवर्ष में मरणोत्तर अस्थितात्त्विक संवेग के पन्द्रह और वर्ष जोड़कर 1850 ई० से 1900 ई० तक की एक पूरी अर्द्ध शताब्दी को भारतेन्दु-युग का अभिधेय हम देते हैं और फिर भी अप्रांसंगिक नहीं होते तो इसलिये कि भारतेन्दु व्यक्ति की उपाधि से अधिक एक कालखण्ड की चेतना का नाम है।

इतिहास चेतना का प्रवाह है। उसका कोई कालखण्ड, अपनी पहचान का स्वरूप रखकर भी, प्रकार या वर्ग की शक्ल में ऐतिहासिक प्रक्रिया से तोड़कर देखा नहीं जा सकता। भारतेन्दु भी धारा से अलग अपने अंजलि-परीक्षण की सुविधा नहीं देते। कवि-व्यक्ति के रूप में भारतेन्दु की तुलना, हिन्दी क्षेत्र के ही अधिक प्रौढ़ कविताई करनेवाले तत्कालीन गालिब और अकबर इलाहाबादी से नहीं जा सकती। किन्तु जब कविता के चरितार्थ होने की बात होगी; जब देश और युग की चेतना, सांस्कृतिक पुनर्रचना तथा उसे उजागर करने में साहित्य की भूमिका और निष्ठा की बात होगी तब गालिब ही नहीं, अकबर भी बेनकाब होंगे और जिन्दा रचनाकार के रूप में भारतेन्दु ही अभिषेकनीय ठहरेंगे। उनकी बात तो छोड़ ही दें जो पूरे परिवर्तन को एक औपनिवेशिक दिमाग से देख रहे थे और एक उपनिवेश के हाथ से निकल जाने की मानसिकता में ऐसे आराम के साधनों के छूट जाने पर दुःख प्रकट कर रहे थे तथा जिनकी दृष्टि के किरण-पथ से आम आदमी और मध्य युग के पहले की भारतीय परम्परा दोनों दूर रहे।

धारा का रचनाकार कहने से भारतेन्दु के कृती व्यक्तित्व की अस्मिता नहीं घटती क्योंकि वे धारा भी हैं और भगीरथ भी, न ही उनकी देन की पहचान मलिन होती है बल्कि देन और उपलब्धि को घोरमट्ठा करके और उपलब्धि को देन और देन को उपलब्धि; जैसे राष्ट्रीयता को उनकी देन जो दरअसल उनकी उपलब्धि थी और हिन्दी को अखिल भारतीय स्वरूप देने और बालखिल्य से उबारकर जनविधाओं को जातीय सवाद के अमोध अस्त्र के रूप में विकसित कर लेने के उनके दिशानिर्देशक उपक्रम को उनकी उपलब्धि, जो उनकी वास्तविक देन है, बताकर यानी भारतेन्दु के कृतित्व के चित्र को उल्टा टांगकर उन्हें पुरस्कृत या दण्डित करने का जो अपराध हो रहा है उसकी रोक थाम होगी। 'उपधर्म छूटे स्तत्व निज भारत गहे, कर दुःख बहे' भारतेन्दु के नाटक के भरतवाक्य की इस पंक्ति के आधार पर हमारे विद्वान यहाँ तक कह देते हैं कि भारतेन्दु ने अपने नाटकों में करबन्दी आन्दोलन का शंख फूंका था जबकि करबन्दी की बात परवर्ती

संगठनात्मक आन्दोलन के दौरान भी बहुत बाद 1905 में आयी। ऐसे अर्थ की संगति लगाने में अध्येताओं को शब्दों से अधिक अपने राग की ओर झुकना पड़ता है और इस झुकाव में 'कर' शब्द के श्लेषभेदी हाथ पकड़कर, 'भारत अपनी भुजाओं के बल अपना स्वत्वाधिकार पाये'—तनकर यह कहने के साहस वाले अर्थ तक पहुंच नहीं पाते, जो भारतेन्दु के अवदान की जमीन है। [एक घटना सुना हूं। भारत सरकार द्वारा जो आपातकाल लागू किया गया था उसमें जीवित लेखक तो दंडित हुये ही, स्वर्गीय भी बच नहीं पाये, भारतेन्दु भी नहीं। घटना, संक्षेप में, यह है।

इमरजेन्सी के दौरान पटना की एक नाट्य संस्था, कला संगम, ने भारतेन्दु-जयन्ती के अवसर पर भारतेन्दु के 'अंधेर नगरी चौपट राजा' के मंचन के लिये जिला मजिस्ट्रेट के पास आवेदन किया किन्तु मंचन की अनुमति नहीं दी गई। सो, जैसे तैसे, अभिनय के बिना ही, मेडिकल एसोशियेसन हॉल में विलम्बित भारतेन्दु-जयन्ती 26 अक्टूबर 1975 ई० को मनायी गई। अनेक वक्ताओं ने सरकारी नीति की दबी ज़ुबान और संयमी भाषा में आलोचना भी की। वक्ताओं में स्व० फणीश्वरनाथ रेणु भी थे। वे खुलकर और हाथ पटक-पटक कर कह रहे थे—'ऐसा ज़ुलुम। अंग्रेजी शासन में भी इस प्रहसन का मंचन बन्द नहीं किया गया था।' और संयोग ऐसा हुआ कि जिस समय रेणु जी बोल रहे थे, ठीक उसी समय आकाशवाणी के पटना-केन्द्र से रविवार के बाल-मंडली-कार्यक्रम में 'अंधेर नगरी' का प्रसारण हो रहा था। नियति का यह व्यंग्य कितना कुछ कह जाता है?

भारतेन्दु एक ऐसे काल-शिल्पी तो थे ही जिनमें हिन्दी साहित्य पहली बार जीवन की अर्थनीति की अभिव्यक्ति का माध्यम बना था और साहित्यिक लालित्य ने अनिवार्यता का रस पीकर युग की मेधा को आकृष्ट किया था, भारतेन्दु भारतीय पुनर्जागरण के एक स्तम्भ और काग्रेस-पूर्व-काल के एक उभरते हुये राजनेता भी थे। जब वे सात साल के थे तब 1857 वाली आजादी की पहली क्रान्ति हुई और जिस साल उनका देहावसान हुआ उस साल, 1885 ई० में, कांग्रेस का जन्म हुआ। इन दो पड़ावों के बीच होनेवाली बन्धन-मोचन की क्रान्ति-यात्रा में, जिसमें क्रान्ति सशस्त्र गुप्त क्रान्ति और संगठनात्मक आन्दोलन के तीन दौरों से गुजरी, एक युवक नेता के रूप में भारतेन्दु की क्या भूमिका रही, इसकी खोज की ओर शोध-कर्त्ताओं का ध्यान नहीं गया है।

मुझे एक किरण मिली है श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' (एक उगता हुआ राष्ट्र) में। 26 जुलाई 1876 ई० को स्थापित 'इण्डियन एसोशियेशन' के संगठन के क्रम में अपने भारत-भ्रमण का उल्लेख करते हुए वे पृष्ठ 88 में लिखते हैं ——————'मैं उत्तर भारत के विभिन्न विचारों के सभी नेताओं से मिला जो उस पीढ़ी के थे जो अब गुजर चुकी है। सैयद अहमद, पंडित अयोध्यानाथ, पंडित विश्वम्भर नाथ, राजा अमीर हुसैन (महमुदाबाद) बाबू ऐश्वर्य नारायण सिंह, बनारस के बाबू हरिश्चन्दर और बाबू रामकाली चौधरी[1]। ये ऐसे पुरुष थे जिन पर किसी भी कौम को गर्व होगा। इन लोगों के स्वभाव, बौद्धिक क्षमता और नागरिक चेतना में परस्पर अन्तर था किन्तु वे सभी अपने देश को प्यार करते थे, और उनकी सेवा के लिए आतुर थे।'[2]

हम हिन्दी के विद्वानों और शोध-कत्ताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं।

इस काल-खंड को पुनर्जागरण-काल या नवजागरण-काल भी कहा गया है पर श्री मानवेन्द्रनाथ राय (1937 ई० का पूना भाषण) की इस आपत्ति का बिना समाधान किये हुए कि भारत में कभी भी रिनाँसा नहीं हुआ। युरोप में 17वीं शताब्दी में जैसी वैचारिक क्रान्ति हुई वैसी भारत में कभी नहीं हुई। हमारे आन्दोलनों के बौद्धिक नेता देश की पुरानी परम्पराओं को सभी बुराइयों की दवा मानकर संतुष्ट रहे जबकि हम अतीत की स्मृति पर जीवित नहीं रह सकते और हमें अपने को अतीत के मोह से मुक्त करना पड़ेगा। इस पुनर्जागरण को ब्रिटिश शासन द्वारा अग्रसरित 'पुनर्जागृति' और हिन्दी को युरोप द्वारा 'आविष्कृत' तथा 'सम्पूर्ण भारतवर्ष में हिन्दुओं की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत कहना जैसा डॉ० अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन ने कहा है, एकदम झूठ है। अधिक सत्य यह है कि जागरण शासन से टकराव में आया और शासन की भूमिका इस जागरण को अवरूद्ध करने में रही। 13 वीं शताब्दी से देश परतंत्रता झेलता रहा, वीर पुरुष-नारियों के रहते हुए हारता रहा। आक्रमणकारी देश के खिलाफ देशी लोगों की फौज बनाते रहे। समवेत होकर समूचे देश ने कभी लोहा नहीं लिया देश की भावना जगी ही नहीं। यह भावना पहली बार जगी हमारे इस आलोच्य काल में। भारत की खोज इस काल की नाभकीय खोज है और हिन्दी भारत की एकता की खोज है।[3] ये दो ऐसे लक्षण हैं जो इस काल के लिये पुनर्जागरण-काल के अभिधेय को चरितार्थ करते हैं। किन्तु तत्कालीन सम्पूर्ण नवीन अवबोध को युरोपीय संस्कृति की प्रतिक्रिया कहना और सम्पूर्ण अवरोध के लिये शासन को दायी मानना ऐतिहासिक विकास के कारणत्व की जटिल प्रक्रिया को, जिसमें 'विकास की परम्पराएँ और नियम होते हैं, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और मनोवैज्ञानिक तत्व होते हैं, काल और स्थान से सम्बद्ध आकस्मिकताएँ और ऐसी क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ होती हैं जो सामान्यतः संस्कृति-मात्र और विशेषतः किसी लेखक की, किसी रचना के निर्माण को निर्धारित करती है,' अति सरलीकृत करके पेश करना है। युरोपीय संस्कृति से आघातित हुए हम अवश्य किन्तु अतीत के गर्व से भरी ऐसी मनोदशा में जिसमें उसका बाह्य रूप ही प्रत्यक्ष रहा और तब यह प्रतिक्रिया हुई कि योरोपीय सभ्यता भौतिक है, हमारी सभ्यता आध्यात्मिक है; अतः अधिक श्रेष्ठ है, और हम अपनी श्रेष्ठता में आत्मतोष पाते रहे। फलतः उसकी वैज्ञानिक चिंतन पद्धति का लाभ नहीं उठा सके। समीकरण भी सिद्ध न हुआ। रविवर्मा (जं. 1848) के चित्र पाश्चात्य यथार्थवादी तकनीक लिए रहे, गम्भीर काव्यात्मकता की कीमत पर।

परिवर्तन शाश्वत यथार्थ होकर भी एक असमाधेय तत्व है क्योंकि दिशा विशेष में ही परिवर्तन क्यों होता है, इसका समुचित उत्तर प्रभावी व्यक्तित्व के अवतरण, नूतन वर्ग के उदय, घटनात्मक आघात, थकान और स्वचालन (auto mafisation) आदि के किसी भी एक सिद्धान्त से नहीं मिलता और एक ऐसी आव्वाक्षिकी की, जो यथास्थिति कारणत्व के विभिन्न पक्षों पर अपेक्षित बल देती चले, आवश्यकता बनी रहती है, न केवल

परिवर्तन की व्याख्या के लिये वरन् परिवर्तन के क्रमावरोध की अवस्था में प्रवेश के लिये भी, जिसका प्रचलित नाम संक्रान्ति है।

वैसे तो प्रत्येक युग अपने छोरों पर संक्रमण का सातन्य और पीढ़ियों का संघर्षण लिये होता है पर कभी-कभी ऐसा अन्तराल भी आता है जब पीढ़ियों का संवाद बन्द हो जाता है या ऐसा सन्धिकाल भी आता है जब पीढ़ियाँ गलबाही दिये होती हैं, एक ही परिवार के उन सदस्यों की तरह जिनमें दादा चमरौंधा, बाप डिलेवाल और बेटा न्यूकट पहने होता है।

भारतेन्दु-काल इसी अन्तिम प्रकार का संक्रान्तिकाल था, जिसमें शासन बदल गया, था, समाज पुराना था; परिस्थितियाँ बदल गयी थीं, अभ्यास के औजार पुराने थे; कथ्य बदल चला था, मुहावरे पुराने थे। यह हिन्दी का भारतेन्दु-युग अंग्रेजी का विक्टोरिया-काल, मराठी का विष्णुशास्त्री चिपलूनकर काल और बंगला का बंकिम-युग था जिसमें 1882 ई० में आनन्दमठ के अन्तर्गत लिखे गये और भवानन्द नामक पात्र द्वारा गाये गये नये राष्ट्रगीत बन्देमातरम् में आद्याशक्ति के रूप में ही भारतमाता का स्मरण किया गया और जब इसका अंग्रेजी अनुवाद हुआ तब भी अनुवादक ने 'रामशर्मा' के छद्म नाम से ही अनुवाद किया। 'साधना' में इस गीत की भर्त्सना की गई इसलिये कि इसकी भाषा दोगली है, संस्कृत-बंगला की बेमेल खिचड़ी। वर्षों तक व्यंग्य के तीर छूटते रहे। 1908 ई० में श्री एस० एम० मित्रा ने 'इण्डियन प्रोब्लेम' में लिखा कि 'बंकिमचन्द्र कम्पोज्ड इट इन ए फिट ऑफ पैट्रियोटिक एक्साइटमेंट आफ्टर ए गुड हार्टी डिनर, व्हिच ही आलवेज इन्ज्वायड'।

भारतेन्दु काल की सबसे बड़ी ऐतिहासिक घटना 1857 की वह महाक्रान्ति है जिसके बाद सोंच के तरीके और रण की नीति में स्पष्ट बदलाव आया, किन्तु उसकी पदचाप तत्कालीन हिन्दी साहित्य में सुनाई नहीं पड़ती-इस सामान्य धारणा का, इसमें निहित चिंता के कारण, समादर करते हुये भी, हम अपना मत इसके विरोध में देते हैं।

झाँसी से राँची और मेरठ से देवघर तक फैली विभिन्न लोकभाषाओं के बेशुमार गीतों और लोक विधाओं में उस क्रान्ति की जो अनुगूंज मड़राती रही उस पर कान देने मात्र से इस धारणा का क्षरण होने लगता है। हम अपने प्रान्त की बात कहें तो बाबू कुँवर सिंह के साथ इतिहास ने न्याय नहीं किया किन्तु उसका भरपूर बदला चुकाया लोक-मानस ने, जिसके आचरण, बोल और गीतों में वे छाये रहे, छाये रहे और जिसके चिंतन और जिह्वा से वे कभी उतरे ही नहीं। कुंवर सिंह से अनुप्राणित-अभिभूत जन मानस कुंवर सिंह को किस प्रकार जीता रहा है यह जानना हो तो भोजपुर के इलाके से गुजरिये जहाँ बाबू साहब की अनेक उक्तियाँ मुहावरा बन गई हैं। आज भी बड़े बूढ़े संकट-संघर्ष में मन मसोसनेवाला यह मुहावरा कहते मिलेंगे कि 'लड़ाई आइल बाकी बुढ़ारी में'। आप अनायास कहीं कबड्डी खेल रहे लड़कों के बोल सुनेंगे —

चल कबड्डी आरा,
जहाँ कुंवर सिंह मरदाना ।

कहीं चिक्का खेलते चरवाहों से सुनेंगे—————

बाँस से फराठी, बाबू कुंवर सिंह के लाठी,
झनाझन तरुआर, झनाझन तरुआर ।

यदि होली का मौसम हो तो कहीं नौजवान दल गा रहा होगा———

बा ू कुंवर सिंह तेगबा बहादुर
बंगला में उड़ेला अबीर

और कहीं वयस्कों की टोल गाती मिलेगी—————

बाबू कुंवर सिंह तोहरे राज बिनु अब न रंगाइब केसरिया ।
इतते अइले घेर फिरंगी, उतते कुंवर दुहुं भाई ।
गोला बारूद के चले पिचकारी बिचवा में होत लड़ाई ।
बाबू कुंवर सिंह तोहरे राज बिन अब न रंगाइब केसरिया ।।

होली की तरह चैती, कजरी, बिरहा, पँवारा सबने कुंवर सिंह—अमर सिंह को अपना लाड़ला नायक बनाया । भोजपुर का एक प्रसिद्ध बिरहा है————

बबुआ वोहि दिन लेली दादा तरुअरिया हो ना ।
बबुआ धनवा धरम अवरू गइया पर ना ।
बबुआ विधवा वो राड़ि के विरितिया पर ना ।
बबुआ भाई और बहिनियां के इजतिया पर ना ।
बबुआ बाप अवरू दादा के किरतिया पर ना ।
बबुआ वोहि दिन दादा लेलीं तरुअरिया हो ना ।
बबुआ मरले मराठा जूझत सिखवा हो ना ।
बबुआ पेशवा के पूतवा गुलमवा हो ना ।
बबुआ दिल्लीपति भइले कंगलवा हो ना ।
बबुआ मंगलो पर मिले नाहिं भिखिया हो ना ।
बबुआ वोहि दिन दादा लेलीं तरुअरिया हो ना ।
बबुआ बिछिया बिचइली जाई दिन तोपवा हो ना ।
बबुआ जंग खाई गइले बन्दुकवा हो ना ।
बबुआ हँसुआ गढ़ईले तरूअरिया हो ना ।
बबुआ तेजी देले लाठी भोजपुरिया हो ना ।
बबुआ वोहि दिन दादा ले लीं तरूअरिया हो ना ।
बबुआ असी हो बरीस के उमरिया हो ना ।

बबुआ थर-थर काँपे जेकर मुड़िया हो ना ।
बबुआ बगुला के पाँख अईसन केसिया हो ना ।
बबुआ गिरि गईल जाई दिन बतीसिया हो ना ।
बबुआ वोहि दिन दादा लें लीं तरुअरिया हो ना ।

पँवारा गाने वालों ने तो बाबू साहब को एक विषय ही बना लिया है। एक पँवारा उद्धत कर रहा हूँ जो जगदीशपुर की पंवरिया टोली के खुदादीन मियां का है———

भोजपुर माँ इक बाबू हैं। कुँवर सिंह वाके नाम।
बड़े सूरमा बाबू हैं। बड़े कड़वा बाबू हैं।
अंग्रेज का अदब माने ना। साहब का हुकुम माने ना।
लाली आँख हैं। कड़ी कड़ी मोछ हैं।
लिख परवाना भेजे हैं। सुन हवलदार मेरी बात।
मैं अँग्रेज से विगड़ा हूँ। सुन हवलदार मेरी बात।
मैं अँग्रेज से विगड़ा हूँ। मेरी मदद पर आओ काम।

इन लोक कवियों के अतिरिक्त बाबू कुंवर सिंह के राजकवि रामकवि (कुँवर विलास के लेखक) और बाबू दयाल सिंह के राजकवि शिवकवि ने कुंवर सिंह-अमर सिंह की वीरता, 1857 की लड़ाई तथा अभियान और आधिपत्य के अनेकों चित्र दिये हैं——

जैसे मृगराज गजराजन के झुण्डन में , प्रवल प्रचण्ड सुण्ड खण्डन उदण्ड हैं।
जैसे बाज लपकि लपेट केलवान दल, दलमलि डारति प्रचारति विहण्ड हैं।
कहैं शिव कवि जैसे गरूड़ गरव गहि, अहिकल दण्डि दण्डि मेहत घमण्ड हैं।
वैसे ही अमर सिंह कीरति अमर मण्डि, फौज फिरंगानी की करि सुखण्डखण्ड हैं।।

* *

कवि के सुरंग - तंग , चढ़े जब रंग पर,
अंग - अंग आनन्द उमंग रंग भरिगो।
सन्मुख समर विलोकि रणधीर वीर,
फौज फिरंगानी की सुमेरिसो कतरिगो।
कहे " शिव " कवि डाँटि डाँटि कप्तानन को
काटि काटि ककरी सौ, कुम्हेर से निकारिगो।
हाथ मीच हाकिम कहत शाह लंदन सो,
हाय हाय आफत अमर सिंह करिगो।।

* *

गरजत शतघनी घन तरजत फनीन्द फन
चारो ओर वन्दी मोर करे शोर करखा

चमक कृपान की दामनी दमक चारू,
छर्रा की फुहार-भट्ट दादुर हिय हरखा।
कहैं शिव कवि वान गोलन की बूंद छरी,
निजकर कोऊ कहीं परत न परखा।
उदित उज्जैन वीर वाबू श्री अमर सिंह,
भादो मास भयानक मचाई रण वरखा॥

इन्हें राजकवि की प्रशास्ति कहकर टाल देना इसलिए कठिन है कि राज के बाहर के स्वतंत्र कवि भी इसी तेवर में कविता कर गये हैं।

हास्य रसावतार पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के पितामह के भ्राता पं० गोपाल चतुर्वेदी की कविता का एक उदाहरण काफी है—

जोर सों जमान जंग गाढ़ रण अंग ढंग काढ़े हैं कृपान खींच मारते कड़ाक दै।
मुदगर और परसपुंज भुसुंड केसेवीर लिये तोड़ते तड़ाक किला साहबी सड़ाक दै।
कहत गोपाललाल गोरा गर्द माही मिले पावते न पार वीर धावते धड़ाक दै।
क्षत्रिण में क्षत्रपति नामी शुभ कुंवर सिंह इंका दै विजय को हाल आवते झड़ाक दै।

कवि तोफाराम ने वीवीगंज की लड़ाई पर अनेक कविता लिखे हैं—

एक-एक पेड़ पीछे एक-एक वीर ज्वान
नेजा संगीन खाड़ा गहे झिपि बइठल नू।
दन-दन गोली चले धाँय-धाँय तोप
झम्म-झम्म पानी पड़े मेघ घहरि लौका लौकल नू।
भैल घमसान फिरंगी सेना आगे बढ़लि
मार संगीन सुरू होखल नेजा चमकल नू।
वनि आई रंग जव वीर कुंवर गरजल जव
विजुरी अस तरूआरि चमचमाइलरजल नू।
खपाखप छूरी चललि छपाछप मूड़ि कटलि
टहकैत सोनित नदी के धार बहलि नू।
चमकल उजैनी नेजा तीखा दुधारी तेगा
वीर सिरोमनि कुंवर सेना ललकारल नू।
इन्द्र डरे भाग गइल जमराज दौड़ आइल
खप्पर लै डाकिनी नाचै नाच लागलि नू।
झूमत कुंवर बांका वैसे रन बीच जैसे
कोधित सिंह दहड़त हाथी दल पइठल नू।

भोजपुरी के कवियों का तो यही स्वाभाविक स्वर रहा वल्कि यही उसकी पहचान वन गया—

ले ली हों कृपाण जव राजा कुंवर सिंह
दाहिना अलंग भुज फरकत वा फर फर।
सात सौ सेना के समेटि के समीप कैली
जेतना फिरंगी सब वात पूछत डर्र डर्र।
सखासत कहत हथियारन के तैयारी देखि
कूटनन के घर के कपाट लागे ढर्र ढर्र।
चढ़ि के तुरंग रन धूम अव उज्जैन वंश
देखि के सरूप ओकर डर कँपि धर्र धर्र।।

चन्द्रमौलि मिश्र "उदवन्त प्रकाश" (18 वीं शती) में जगदीशपुर का जो विवरण आया है या राम कवि के "कुंवर विलाल" (19 वीं शती) में कुँवर सिंह द्वारा संस्थापित पंचमंदिर का जो वर्णन हुआ है—

पूरव दिसि श्री जगन्नाथ स्थायी छवि सोहैं
पश्चिम राधाश्याम–रास मण्डल मन मह मोहैं
उत्तर सीतानाह तिलक राजत छवि साजै
दक्खिन शंकर व्याल सहित मृगराज विराजैं।
कवि "राम" कहैं कौनों कहों मन लागे वह जापते।
नर एक बार चित्त दै भखै छूट–जाहिं त्रय तापते।।

उसके लिये तो इतिहास को भी कृतज्ञ होना चाहिये क्योंकि उसकी भेंट इनके ठूह से ही हो सकी है।

क्रान्तिकालीन इन कवियों का एक और महत्व है। ये कवितायें हिन्दी साहित्येतिहास में रीतिकाल और आधुनिक काल के वीच की कड़ी प्रस्तुत करती हैं जो अन्यत्र इस प्रकार शायद ही सुलभ होती है। उद्वन्त प्रकाश में वंशावली और नगर वर्णन के साथ-साथ शृंगार वर्णन भी है जवकि "कुंवर विलास" और परवर्ती रचनाओं तक आते-आते स्थिति वदल जाती है तथा इस क्रम में समय के उन झटकों और आघातों का भी एहसास होता है जिसने काव्य-यात्रा के रास्ते को वदल दिया। विहार के लिए तो इन कवियों की महत्ता की इयत्ता नहीं है क्योंकि अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों का समय हमारे साहित्येतिहास में विहारी कवियों की रचनाओं से लगभग शून्य दिखलाया जाता रहा है। तत्कालिन इतिहास के नवनिर्माण के लिए तीलियाँ प्रस्तुत करनेवाली, पराभव काल में जनमनोवल को ऊँचा रखनेवाली तथा हिन्दी काव्य-यात्रा के मोह का भेद वतानेवाली इन कविताओं के अध्ययन तथा इन जैसी अन्य रचनाओं के संग्रह की समुचित व्यवस्था

होनी चाहिए। विहार में रामगढ़ के विद्रोही राजा मुकुन्द सिंह के निर्वासन (1772) से ले लेकर तमाड़ विद्रोह (1789–95) काल–क्रान्ति (1731), संथाल–क्रान्ति (1853) और अन्ततः 1857 की महाक्रान्ति तक विद्रोह का एक लम्बा सिलसिला रहा है और इनसे सम्बद्ध असंख्य लोक-गीत हैं जिनमें सेकुछ 'मुण्डा एण्ड देयर कन्ट्री' तथा 'उरांव एण्ड देयर कन्ट्री' में संग्रहीत भी हुए हैं। जैसे ग्रियर्सन ने 'इण्डियन एन्टिक्वरी' में राजभक्ति' के तत्कालीन लोकगीत संग्रहीत किये हैं वैसे राजद्रोह के तत्कालीन लोकगीत भी संग्रहीत होने चाहिए। तभी उस काल के लोकमानस के ताप का पता चलेगा।

वहादुर शाह 'जफ़र' को विद्रोहियों ने अपना दिल्ली–सम्राट घोषित किया था और फलस्वरूप उन्हें शेष जीवन वतन से दूर वर्मा के एक कैदखाने में काटना पड़ा। 'जफर' की भी कुछ ही पंक्तियों में तत्कालीन दमन के कुछ संकेत मिलते हैं—

ए रिआय–ए हिन्द तवत हुई,
कहूं क्या–क्या उनपे जफा हुई।
जिसे देखा हाकिमे–वक्त ने,
कहा—ये भी काविले–दार हैं।

पर वे भी आक्रोश के नहीं, आत्ममंथन वल्कि आत्मपीड़न और हताशा के ही कवि रहे, अवश्य वेपनाह।

पड़ी अपनी बुराइयों पर, जो नजर,
तो निगाह में कोई बुरा न रहा।
....

जो किसी के काम न आ सका वह एक मुश्त गुबार हूं।

भारतेन्दु ने सिर्फ दो पंक्तियों में सिपाही विद्रोह का उल्लेख किया है———

कठिन सिपाही-द्रोह अनल जा जल-बल नासी।
जिनभय सिर न हिलाइ सकत कहुं भारतवासी॥

और ये पंक्तियां 1882 ई० में मिस्र पर होनेवाली अंग्रेजों की विजय के अवसर पर लिखी गयी हैं। इससे यह तो सम्पुष्ट होता है कि जिसे सिपाही विद्रोह कहते हैं वह एक कठिन समर था। और उसे क्रूरतापूर्वक दवाया गया और इस क्रम में इतना नृशंस दमन हुआ कि लम्बे शोषण, ऐतिहासिक कुचक्र, दैवी दर्विपाक के मारे हुये भयातंकित भारतीय अर्से तक सिर उठाने की स्थिति में न रहे। पर दरअसल ये पंक्तियां तथ्य से अधिक उस काल की मानसिकता और 1857 की क्रांति के प्रति उसके दृष्टिकोण का द्योतन करती हैं। यह सच है कि इसके बाद खुला युद्ध नहीं हुआ। तोपों से लैस सेना से असंगठित और नेतृत्वहीन (शहीद नेताओं के वाद) जन शक्ति का लोहा लेना कठिन था। किन्तु जिस

छापामार पद्धति का चमत्कार कुँवर सिंह और उनके साथियों ने अनेक युद्धों में सफलतापूर्वक दिखाया था उससे भी शायद उत्प्रेरित हो क्रान्ति का दूसरा दौर चला-गुप्त सशस्त्र क्रान्ति का। वहावी (1863-66) और कूका विद्रोह (1970) हुए। 1871 ई० में कलकत्ता में चीफ जस्टिश जाँन नॅक्स्टन को और अण्डमान में लार्ड मेयो को मार डाला गया। 1884 में प्रसिद्ध अलीपुर बम केस हुआ और क्रान्तिकारियों के खिलाफ पैरवी करनेवाले वकील आशुतोष विश्वास की हत्या की गयी। इस बीच क्रान्ति का तीसरा दौर चला-संगठनात्मक आन्दोलन का। 1876 में इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना हुई और 1885 में राष्ट्रीय क्रांग्रेस की। इन संस्थाओं के संगठन के पीछे जो मानसिकता काम कर रही थी, वही उस काल की प्रतिनिधि मानसिकता है जिसमें सोचने का तरीका बदल गया है और सीधे टकराव से बचकर संवाद, संगठन और सुधार से शक्ति-संचय का नया सिलसिला शुरू हुआ है। तत्कालीन लेखकों में भारतेन्दु ने ही "खुशी" नामक लेख में इस मानसिकता और इसकी रणनीति को सर्वाधिक साहस के साथ स्पष्ट किया है—

"बरदास्त सिर्फ दुश्मन की ताकत घटाकर हिकमते अमली से उस पर गालिब आने का मौका पाने के लिए है न कि हमेशा के लिए गुलामी अख्तियार करने के लिए।"

पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 1857 की क्रान्ति के सम्बन्ध में जो पंक्तियाँ लिखी हैं, कि—

दुष्ट समुझि अपने भाइन कहँ साथ न दीन्हीं।
भोजन बिन विद्रोहिन कर दल निरबल कीन्हीं।।

ये पंक्तियाँ भी तथ्य से अधिक मानसिकता के संदर्भ में प्रासंगिक हैं।

पूरी क्रान्ति के दौरान किसी विद्रोही के किसी भद्र के साथ बदतमीजी या किसी औरत के साथ छेड़खानी करने का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। वे जहाँ जाते स्थानीय जनता उनका स्वागत करती, रसद जुटाती, नदी पार करने के लिए नाव तैयार रखती, उनके लिए खुफियागिरी करती। लालकमल और रोटी बाँटनेवाले संदेशवाहक, अधिकांशः ग्रामीण नौजवान थे। कुँवर सिंह के जगदीशपुर में अन्न का इतना बड़ा भंडार हो गया था कि दस हजार आदमी छह महीने खाते। विद्रोहियों को प्रबल जनसमर्थन मिला था। ये न दुष्ट थे, न किसी ने इन्हें सामान्य अर्थ में दुष्ट समझा। यह कितनी गर्वीली बात है कि आरा विजय के अवसर पर बाबू कुँवर सिंह ने शहर के नागरिक किस्तानों की पूरी संरक्षा का इन्तजाम किया और कम्पनी सरकार की ओर से लड़ रहे सिक्खों के प्रति, हिन्दुस्तानी समझकर नरमी बरती। विद्रोहियों में शूरता और चरित्र की कमी न थी। 14 जुलाई 57 को पीर अली खां (एक साहित्यिक विद्रोही) समेत 16 व्यक्तियों को पटना में खुले आम फाँसी पर लटका दिया गया। आलेख बताते हैं कि फांसी पर चढ़ने वालों के चेहरों

पर शहादत की खामोश-पवित्र आभा थी। गिरफ्तारी के समय पीर अली ने कहा था—"आप मुझे क्या और सैकड़ों लोगों को भी फाँसी दे दें, पर उससे आपका मतलब पूरा नहीं होगा। एक-एक शहीद के बदले सौ-सौ दूसरे शहीद उठ खड़े होंगे।" कुँवर सिंह के प्रधान सेनापति हरिकिशन सिंह को जगदीशपुर चौराहे पर जब फाँसी दी गई, उसके चाचा की आँखों में आँसू उमड़ आये। उन्हें विह्वल होते देख उस शूर ने कहा—"चाचा जी, आपकी आखों में आँसू क्यों? हम तो आपके कुल का नाम सदा के लिये ऊँचा करने जा रहे हैं।" बाबू साहब के पास न तो जान देकर लड़नेवालों की कमी थी, न ही ईमानदार व्यवस्थापकों की, न अन्न और सवारी की। कमी थी तो गोली-बारूद और अच्छी किस्म की तोप बन्दूकों की जिनकी खोज में बाबू साहब निकले थे और जिनकी आपूर्ति राजाओं—जमीदारों द्वारा नहीं हो सकी और इसी कमी के कारण इस क्रान्ति के पावों के नीचे से सफलता की जमीन खिसक गयी। अगर यह आपूर्ति हो गयी होती तो जगदीशपुर के 'लाल दरवाजा' से चला यह महावीर दिल्ली के लाल किले पर असंदिग्ध रूप से विजय-ध्वजा फहराता और भारत का लोक संम्राट होता। पर ऐसा नहीं हुआ। लूटे-छीने हथियारों और अपर्याप्त सामरिक साधनों से विदोही लड़ते रहे और अन्ततः लड़खड़ा गये। नेताओं के शहीद होने के बाद पूरा संगठन बिखर गया। क्रान्ति विपथगा हो गई। पटना—आरा मार्ग पर जितने पेड़ थे उन सभी पेड़ों पर विद्रोहियों और उनसे अधिक निर्दोष ग्रामीणों को, जो भी निशानों में आये, भून-भून कर पके फलों की तरह लटका दिया गया। जवाहरलाल नेहरू ने उत्तर प्रदेश में होनेवाले अत्याचारों का भी ऐसा ही विवरण दिया है। छोटानागपुर में झाड़ी की आड़ में प्रसव कर रही औरत और जंगल में बेर चुनकर खा रहे बच्चों को भी गीली का शिकार बनाया गया। बड़ा आतंक फैला: गाँव के गाँव जंगलों में जा छिपे। इसे भोजपुरी में 'आरा का पराद्द' कहते हैं—आरा का महाभिनिष्क्रमण। रोहिणी (देवघर) में 12 जुलाई को विद्रोह करनेवाले तीन विद्रोहियों को हाथी की पांठ से ढकेलकर अमानुषिक ढंग से फाँसी दी गई। 'हिस्ट्री ऑफ दी इण्डियन म्युटिनी' के लेखक फारेस्ट के अनुसार ही बाबू कुँवर सिंह के गढ़ में जो पचास रक्षक तैनात थे, उन्होंने जान दे दी पर गढ़ नहीं छोड़ा। उन्हें मारकर उनके शवों को उनकी नीली वर्दी के सहारे महल की खूँटियों पर टांग दिया गया। इस प्रकार दुष्ट तो वे अंग्रेज थे जो सभ्यता का ढ़ोग और चरम असभ्यता का कार्यकलाप कर रहे थे। इनकी दुष्टता, दमनचक्र, सरकार परस्त सामन्तों की लोलुप्ता आदि ने, क्रान्ति का दायित्व लेने वाले नेतृत्व के अभाव में, जन मनोबल को तोड़ा था। तब विद्रोही बिराने में भटकते रहें। अपने भी पराये हो गये। कुँवर सिंह के एक वृद्ध सेनानी बाबू निशान सिंह जब रोग जर्जर होकर घर लौटे-तो घर के लोग आसन्न विपत्ति से काँप उठे। निशान सिंह जंगल में वापस लौट गये। बीमारी की हालत में जंगल में पकड़े गये और तोप के मुँह पर बैठाकर उड़ा दिये गये।

यदि उपर्युक्त पंक्तियों का सतही अर्थ भी किया जाय तो उसके आधार पर भारतेन्दु-मंडल को क्रान्ति-विमुख घोषित करना, जैसा इधर कुछ पल्लवग्राही शोधकर्त्ता, अपनी

प्रगतिशीलता के जोश में, करते रहे हैं, उल्टी गंगा बहाना है। यदि भारतेन्दु मंडल की कोई कोटि बनती है तो उसका सही नाम बुद्धिजीवी विद्रोही–कोटि होगा। यहाँ हम स्मरण दिला दें कि इन शोधकर्त्ताओं का आविष्कार भी मौलिक नहीं है। इनके पहले यह काम कुछ अंग्रेज अन्वेषक कर गये हैं। जार्ज ग्रियर्सन ने 1888 ई० में हिन्दी पत्रकारिता की पीठ थपथपाते हुये लिखा था—" यहाँ मैं इतना कह देना चाहता हूं कि बंगला पत्रकारिता को कलंकित करनेवाले राजद्रोही कटुभाषी समसामयिकों की तुलना में हिन्दी समाचार पत्र नियमतः और सामान्यतः कहीं अधिक अच्छे हैं। यह शरारत, दुरभिसंधि और सरासर झूठ से भरा हुआ बयान था। "कविवचन सुधा" पर होनेवाले प्रहार का साक्ष्य ही इसे झुठला देने के लिए काफी है। काश। इस दुष्ट वैदुष्य का उत्तर देने को भारतेन्दु जीवित होते जिन्होंने दिल्ली दरबार का विवरण देते हुये लिखा था कि वायसराय ने 'एड्रेस' करने के पहले 'दोनों हाथों से हिन्दुस्तानी रीति पर' सबको कई बार 'सलाम' किया 'जिससे हमलोगों की छाती दूनी हो गई, पर पायोनियर सरीखे समाचार पत्रों के संपादकों को बहुत बुरा लगा, जिनकी समझ में वायसराय का हिन्दुस्तानी तरह पर सलाम करना बड़ी हेठाई और लज्जा की बात थी। खैर, यह तो अंग्रेजी अखबारवालों की मामूली बातें हैं।" (दिल्ली दरबार दर्पण) हमें तो गर्व होना चाहिये कि विपरीत परिस्थतियों में रहकर भी इस मंडल के लेखकों ने उन दृष्टिरुग्ण तथाकथित इतिहासकारों को पूर्वाशित नहीं किया जो हाल-हाल तक 1857 की महाक्रान्ति के चलतू कारण और फालतू समीकरण उपस्थित करते रहे हैं और जिन्हें यह कहने में भी संकोच नहीं हुआ कि 1857 की गदर स्वार्थी जमींदारों और मुट्ठी भर सिपाहियों का विद्रोह था। अच्छा हुआ कि यह विफल हो गया। यदि सफल होता तो भारत के विकास की सुई सौ साल पीछे चली जाती।" जैसे, गुलामी विकास की एक आवश्यक शर्त हो। भारतेन्दु को क्लेश है कि राजद्रोह का वह कठिन समर इस झटके से गिरा कि भारतवासियों का तत्काल सम्भलना कठिन हो गया है और वे जीवनभर झटका खाये भारतवासियों को संभालकर फिर से खड़ा करने में लगे रहे। उनके समस्त साहित्यिक और सामाजिक क्रिया कलाप का यही प्रेरक किन्दु है। इस दायित्व को जिस संवेदना और आत्मनिषेध बल्कि आत्माहुति के साथ उन्होंने निबाहा वह अखिल भारतीय वाङ्मय में अद्वितीय और ईर्ष्येय है।

'काम रंज से रहा चैन दम भर न पाया हमने।
दोनों जहाँ के ऐश को खाक में मिलाया हमने॥'

उनके दो ही विषय हैं—हिन्द और हिन्दी। पं० प्रताप नारायण मिश्र को- जो परवशता से तिलमिलाकर कहीं अगिया वेताल हो जाते हैं (तब तजि गहो स्वतन्त्रता, नहिं चुप लाते खाव), कचोट है कि यह राजविद्रोह हिन्दुस्तानियों के ही अपेक्षित सहयोग न मिलने से कमजोर हुआ। जो हो, यह घटना तो भारतेन्दु के बचपन में ही जब वे सात साल के थे, घट चुकीं। जब उन्होंने लेखनी पकड़ी तब तो सिर्फ उसकी पीड़ा ही सामने थी जिसे भारतेन्दु मंडल का सदस्य यों अनुभव करता है—

'निज दुख व्यथा कथा नहिं, कहिबे पावत कोउ मुँह खोलि।'

इस व्यथा-कथा की अभिव्यक्ति की खोज ही भारतेन्दु की रचना प्रक्रिया निर्धारित करती है। 1857 के प्रेस एक्ट के वाद 1876 में वह वर्नेकुलर प्रेस एक्ट बन गया था जिसे तरह देने की गरज से वंगला अमृत वाजार पत्रिका रातोंरात वंगला से अंग्रेजी में छपने लगी। सच ही यह आक्रोश का नहीं, युक्तियों का समय था। तर्कहीन पावन्दियों और दमन का वहाना ढूँढ़ रही अंधेर गर्दी की इस घड़ी में, प्रत्यक्ष टकराव को यथा-उचित आमंत्रण न देते हुए, अभिव्यक्ति को लक्ष्यवेधी वनाने की दिशा में संधान की उत्कट धुन है भारतेन्दु में। इस धुन में वे अभिव्यक्ति की नई से नई जमीन तोड़ते और रचना-विधा के नये से नये वीज वोते रहे हैं। भिन्न विषयों पर भिन्न प्रकार से आक्रमण करते हैं। कहीं पात्रोक्ति से, कहीं श्लेष से, कहीं व्यंग्य को हास्यावृत करके लक्ष्यवेध करते हैं।

स्वाधीन चेतना और जातीय गरिमा की उनमें गहरी अनुभूति है। भारतभूमि की पराधीनता उन्हें भीतर से मथ देती है—

तुम दुखिया बहु दिनन की, सदा अन्य आधीन।

'नीलदेवी' में सूर्यदेव देवता से कातर स्वर में पूछता है—क्या भारत का स्वाधीनता सूर्य फिर न उदय होगा?' नीलदेवी' के पागल का प्रलाप रचना-सजग लेखक की मानसिक छटपटाहट है—'हमारा देश–हम राजा हम रानी। मार मार मार। तलवार तलवार। टूट गई। टूटी से मार। ढेले से मार। हाथ से मार। मुक्का जूता लात लाठी सोंटा पत्थर–पानी से मार। हम राजा हमारा देश हमारा भेस हमारा पेड़ पत्ता कपड़ा–लत्ता–छाता–जूता सब हमारा। ले चला ले चला। मार मार मार।' 'नीलदेवी' में तो 1857 की छापामार रणशैली और परवर्ती गुप्त सशस्त्र क्रान्ति-नीति का प्रयोग करते हुए नीलदेवी के रूप में लक्ष्मीवाई को एक नई भूमिका भी दी गयी है।

पर यह तो भारतेन्दु का सपना है, मनोराज। मातृभूमि उसका आधान लेने की स्थिति में नहीं है। भारतेन्दु को पता है कि 'कौमियत, वेतकल्लुफी आजादी, मुस्तैदी, दिलेरी, सिपहगिरी, तहजीब की कैद, दुरंदेशी, औरतों की लियाकत और इरादे, ऐसी वहुत सी बाते हैं जिनसे हम महरूम हैं।' (खुशी)। लार्ड मेयो ने काशी में जो लेबी का दरबार किया वह भारतेन्दु की नजर में 'कठपुतली का तमाशा या बन्दरों का नाच' था और उन्हें अपने नगर के लोगों के आचरण पर खास अफसोस था कि बनारसवालों को न इस बात का ध्यान कभी रहा है और न रहेगा। ये वेचारे तो मोम की नाक हैं चाहे जिधर कर दो, हाय–पश्चिमोत्तर देशवासी कब कायरपन छोड़ेंगे? (लेवी प्राणलेवी)।

भारतेन्दु को गाँव की चारित्रिक दृढ़ता पर अधिक भरोसा है। उसे सामयिक चेतना से संपृक्त और उद्‌बुद्ध करने के लिये वे स्वदेशीधारा के समकालीन विचारकों द्वारा

सुझाये गये उन्नति के उपायों को एक नया आयाम देनेवाले एक और उपाय–'सब देश की भाषाओं में, सारे देश के गाँव—गाँव में', हर साधारण ग्रहीता तक पहुँचा दिये जाने वाले "जातीय संगीत"—की बात करते हैं।

कुल मिलाकर भारतेन्दुकाल भारत का एक दुविधाग्रस्त संक्रान्तिकाल है–पुरानी और नयी दुनियाँ का संघात-काल। परस्पर संशय से भरी हुई अंगड़ाई का काल। स्वर समवेत नहीं, फलतः जागरण का अभियान प्रभावी नहीं हो रहा। समय दोरसा, समाज दोरंगा। भारतेन्दु के ही शब्द हैं—

> भारत में एहि समय भई सब कुछ विनहिं प्रभाव हो दुईरंगी।
> आधे पुरान पुरानहि माने आधे भये क्रिस्तान हो दुईरंगी ॥
> ... ...
>
> होई एक मत भाई सबै अब, छोड़हु चाल कुचाअ हो दुईरंगी ॥

वैसे, विश्व के लिहाज से यह एक अभूतपूर्व संक्रान्ति–काल है जब विदेश में साम्यवाद के प्रवर्त्तक कार्लमार्क्स और काम को सर्वोपरि मानने वाले सिग्मण्ड फ्रायड दोनों अवतरित होते हैं। भूख और सेक्स के दर्शन आमने-सामने। मैडम ब्लावात्स्की तथा कर्नल आल्कट द्वारा थियोसोफी का विभावन प्रकाशित होता है और डार्विन का ऑरजिन आफ स्पेसीज का सिद्धान्त भी।

स्वदेश में गंगा–से शीतल गोखले हैं, तो ज्वालामुखी–से तिलक भी। अद्वितीय संत रामकृष्ण परमहंस हैं। आर्य संस्कृति और वैदिक धर्म के पुनः प्रतिष्ठापक ऋषि दयानन्द हैं तो रावणत्व का संवेदनापूर्वक पुनर्मूल्यांकन करने वाले माइकल मधुसूदन दत्त भी। किन्तु भारत की स्थिति अधन्य इस अर्थ में रही कि इस समय यदि युरोपीय शरीर में भारतीय आत्मा लिए ह्यूम हैं तो भारतीय शरीर में युरोपीय आत्मावाले अनेक सितारे हिन्द भी। हिन्दी को भारतीय एकता का मंगलसूत्र माननेवाले केशवचन्द्रसेन, हिन्दी के जरिये भारतीय एक्य साधनेवालों को "भारतबन्धु" कहनेवाले बंकिमचन्द्र और हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनानेवाले दयानन्द हैं तो संस्कृत घोखते–घोखते भारतीयों की रीढ़ टेढ़ी हो गई है, ऐसा मानकर अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए आन्दोलन करनेवाले ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी हैं। (दिलचस्प बात है कि माइकेल मधुसूदनदत्त और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर दोनों से भारतेन्दु का घनिष्ठ सम्बन्ध था। माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपनी एक पुस्तक (रत्नावली) भारतेन्दु को समर्पित की थी और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की माता जो भारतेन्दु की देखरेख में काशी सेवन करती थीं)

सामाजिक–धार्मिक सुधार के अभियान तो तेजी से चले पर अलग-अलग शिविरों में। 1875 में दयानन्द बम्बई में आर्य समाज की स्थापना करते हैं। ठीक उसी साल सर सैयद अहमद अलीगढ़ में मोहमडन एङ्गली ओरिएन्टल कालेज खोलते हैं और दूसरे साल (1876) मिर्जा गुलाम अलीकादयानी इस्लाम शुरू करते हैं। उधर फोर्ट विलियम

कॉलेज में लेखन की भाषा को लेकर एक जहरीले विवाद का सूत्रपात किया गया। 1860 और 1880 के बीच दो स्वयंभू भाषाविशारद एफ० एच० ग्राऊज और ग्राहमवेली ने हिन्दी और उर्दू के पक्ष विपक्ष में लिख-लिखकर भाषा के सवाल को स्थायी तौर पर एक साम्प्रदायिक सवाल बना दिया। तदनंतर ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते हुए एक ही सांस में कई झूठी बातें कह दीं कि हिन्दी यूरोपीय लोगों द्वारा आविष्कृत तथा उन्हीं द्वारा हिन्दी नाम से पुकारी गई भाषा है और यह सम्पूर्ण भारतवर्ष में हिन्दुओं की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर ली गयी है। इस प्रकार भाषा के साम्प्रदायिक बँटवारे का षड़यंत्र भी, जो हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर किये रहा और जिसके कारण अन्ततः देश बँट ही गया, इस काल में आरंभ होकर अपना जहर फैलाने लगा है। हिन्दू मुस्लिम दंगे भी शुरू हुए—1882 में सलेम में, 1884 में दिल्ली में, 1893 में बम्बई में। 1885 के प्रथम कांग्रेस-अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित तो नहीं हुआ, पर आ तो गया ही कि उसमें हिन्दू-मुसलमान का पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व हो।

तब जनमत जैसी कोई चीज न थी। शताब्दियों की गुलामी और शोषण ने निम्न स्तर पर जनमानस को जड़ कर रखा था। सामान्य जन घाघ और भड्डरी के सहारे कृषि कर रहे थे, लोक गीतों के सहारे श्रम कर रहे थे और धर्म एव संत-भक्तों की वाणियों के ससारे अपने नैतिक चरित्र को बचाकर नियति से जूझ रहे थे। नयी महाजनी सभ्यता का जाल फैल रहा था। ऊपर के स्तर पर एक अलगाववादी मनोवृत्ति जन्म ले चुकी थी। काल की ऐसी मानसिकता में, मुक्ति के लिए विकल थोड़े से बुद्धिजीवियों का व्यवस्था से सीधे टकराव या उग्र राजनीति की बात करना अप्रासंगिक था। जनजागरण और एकता तत्काल आवश्यक थे। इसी पृष्ठभूमि में 26 जुलाई 1876 को इण्डियन एसोसियेशन नामक एक राजनैतिक संस्था खड़ी हुई जिनके तीन हेतु थे —— —

१—एक प्रबल जनमत का निर्माण,
२—सामान्य राजनैतिक हितों के आधार पर एक मंच का गठन तथा
३—हिन्दू मुस्लिम एक्य।

भारतेन्दु इसी सोच के अभियान को साहित्यिक स्वर दे रहे थे और तत्कालीन रचनाकारों में उन्हीं का स्वर सबसे ऊँचा, साफ और अग्रणी था। जिस साल इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना हुई उस साल अर्थात 1876 ई० में भारतेन्दु 'भारत दुर्दशा' लिख चुके होते हैं और जैसा हम पहले बता चुके हैं, श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एसोसियेशन के प्रसंग में भारतेन्दु से सम्पर्क और परामर्श भी करते हैं। वैसे, भारत को विषय बनाकर बंगला में 'भारतमाता' (1873 : ले० किरणचन्द्र वंद्योपाध्याय), "भारत अधीन' (1874 : ले० कुंजबिहारी वसु (तथा ' भारत दुःखिनी') 1875 : ले० हाराणचन्द्र घोष) जैसे नाटक इसके सदयः पहले लिखे गये किन्तु वे अतिभावुकतापूर्ण अश्रुवर्षी नाटक थे, सामाजिक चेतना और सामयिक यथार्थ से रहित। बंगला में अंग्रेजों को विषय बनाकर 1859 में दीनबन्धु मित्र द्वारा एक सनसनीखेज नाटक 'नीलदपर्ण लिखा गया, नील उपजानेवाले

स्थानीय कृषकों पर होनेवाले नील-साहबों के अत्याचारों को लेकर, जिसमें ग्रामीण भारतीय पात्र पराजय और हीन भावना त्यागकर अपने सम्मान की रक्षा करते हैं। आवेश और आत्महत्या का सिलसिला तो यहाँ भी है किन्तु प्रतिरोध ने इसे युगान्तरकारी बनाया है। माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा किये गये इसके अंग्रेजी रूपान्तर के प्रकाशक एवं मुद्रक को न्यायालय से मिलनेवाली सजा ने इसकी तत्काल ख्याति वढ़ाई। पुनर्जागरण के क्रम में इसका उल्लेख जाने-अनजाने होता रहा है। उदाहरण के लिये पं० जवाहरलाल नेहरू इतिहास की झलक देते हुए इसका उल्लेख करना तो नहीं भूलते पर यह भूल जाते हैं कि यह नाटक है,–'एक बंगाली कविता निकली थी जिसने वड़ीसनसनी पैदा कर दी थी। इसका नाम था नील दर्पण'। अतिप्रभावी होने पर भी स्थानीय व्यथा का संवाहक यह नाटक समूचे राष्ट्र की कथा नहीं हो सका। अतः भारत का प्रथम राष्ट्रीय नाटक होने का गौरव अपने प्रतिपाद्य के कारण भारतेन्दुकृत 'भारत दुर्दशा' को ही प्राप्त होता है। उसके मंगलाचरण में मलेच्छाचार के विनाश के लिये कृष्ण के खड़गहस्त कल्कि अवतार की वंदना और प्रथम वाक्य में ही यह अपील की गई है–भारत के भाइयों, दुःख में एक हो। इसमें भारत शिथिल अंग दिखलाया गया है पर उसके माथे पर अर्द्ध करीट भी है'। यानी परिस्थितियों की मार से देश मरणासन्न हो गया है पर उसकी स्वत्व-चेतना निःशेष नहीं हुई है। भारत भाग्य मरता है पर इस विश्वासपूर्ण आकांक्षा के साथ कि उसका पुनर्जन्म भारत में, गंगा-यमुना की भूमि में होगा। उसका अंतिम संदेश है–जागो जागो रे भाई।

इस नाटक में भारत–दुर्दैव को आधा क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी वेश में उपस्थित किया गया है। इस तथा इस तरह के अन्यान्य उल्लेखों से छोटे–बड़े सभी आलोचक भ्रमित होते हैं और भारतेन्दु को हिन्दू राष्ट्रीयता को पक्षधर कहकर इस अल्पजीवी महामानव के प्रति अन्याय करते रहे हैं। यहाँ क्रिस्तानी और मुसलमानी कहने से धार्मिक सम्प्रदायों का नहीं, शासन वर्गों का तात्पर्य होता है। 'वादशाह दर्पण' की भूमिका में भारतेन्दु का स्पष्टीकरण है—'वागवाँ आया गुलिस्ताँ में कि सैयाद आया। जो कोई आया मेरी जान को जल्लाद आया। क्या मुसलमान क्या अंगेज भारतवर्ष को सभी जीता···। मुसलमानी राज्य हैजे का रोग है और अँग्रेजी क्षयी का। ······ अँग्रेजो ने मुसलमानों के कठिन दंड से छुड़ाया और यद्यपि अनेक प्रकार से हमारा धन ले गये किन्तु पेट भरने की भी भीख माँगने की विद्या भी सिखा गये।' भारतेन्दु आजादी पर छपट्टा मारनेवाले इन संयादों के खिलाद हैं। "हिन्दू" की अवधारणा तो भारतेन्दु की इतनी व्यापक है कि उसमें हिन्द के सभी निवासी आ जाते हैं। उनके प्रख्यात वलिया भापण के शब्द हैं—'जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मरहट्ठा, पंजावी, मद्रासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मण, मुसलमान सव एक का हाथ पकड़ो।' एकता को वे समय की वड़ी आवश्यकता मानते हैं और भाईचारे का नारा देते हैं। 'हिन्दू, जैन, मुसलमान सव आपस में मिलिये। ···छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। घर में आग लगे तब जिठानी–दयौरानी को आपस में डाह छोड़कर एक साथ वह आग वुझानी चाहिये।'

वे अंग्रेजों के शासन को मध्ययुगीन शासन से भी बुरा मानते हैं। 'मुसलमानों के काल में शत सहस्र वड़े-वड़े दोष थे किन्तु दो गुण थे। प्रथम तो यह कि उन सवों ने अपना घर यहीं बनाया था, इससे यहाँ की लक्ष्मी यहीं रहती थी। दूसरे वीच-वीच में जव कोई आग्रही मुसलमान वादशाह उत्पन्न होते थे तो हिन्दुओं का रक्त भी उष्ण हो जाता था। ... ... इनकी शासन प्रणाली में हमलोगों का धन और वीरता निःशेष होती जाती है।' (वादशाह दर्पण भूमिका)

भारतेन्दु ने स्थिति का जायजा इस प्रकार लिखा है——देश पराधीन है, गुलाम जाति के सारे दुर्गुण उसमें आ गये हैं। शासन धूर्त है, धार्मिक उदारता की छलना से वह राजनैतिक प्रतिक्रिया की संभावनाओं की धार को मंद कर रहा है। अंग्रेजी शिक्षा के नाम पर गुलामी का दीर्घकालीन पट्टा लिखा जा रहा है। आर्थिक शोषण लूट की सीमा तक पहुंच गया है। अमले इस लूट के शरीक हैं। 'हाकिमेच्छा' की कानून है। आर्थिक विपिन्नता ने सामान्य आदमी को तोड़कर रख दिया है। विदेशी वस्तुओं से वाजार पट रहा है। हिन्दुस्तानी व्यापार नष्ट हो चुके हैं। महाजन और नया मध्यवर्ग नई समस्याएं लेकर आ धसके हैं।

भारतेन्दु अँग्रेजी शासन की जोंकनीति की कटुतम भर्त्सना करते हैं और उसके शिकार आम आदमी को वाहर और भीतर की परमुखापेक्षिता से वचाने, उसे आत्मनिर्भर, प्रासंगिक एवं धीर बनाने के निमित्त स्वदेशी वस्तु और स्वदेशी भाषा का संकल्प उपस्थित करते हैं———'परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो।'

भारतेन्दु का निश्चित मत था कि राष्ट्र राष्ट्रभाषा के विना परिभाषित नहीं होता। स्वाधीनता, स्वदेश और स्वभाषा एक ही तत्व के अनिवार्य अंग हैं। स्वभाषा में ही स्वदेश और उसकी स्वाधीनता एवं विकास की चेतना पकड़ाई देती है। स्वभाषा नहीं तो वह चेतना भी नहीं, स्वदेश प्रेम जिसका परिणाम होता है। आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि ज्यों-ज्यों राष्ट्रभाषा के प्रति लापरवाही बरती जा रही है त्यों-त्यों राष्ट्रीयता का ताप भी उतरता जा रहा है और अलगाव की प्रवृत्ति पनपती जा रही है। आश्चर्य है, कि आज से बहुत पहले (1877 में) भारतेन्दु ने इस सत्य को इतनी दृढ़ता से पकड़ा था और एक महावाक्य कहा था—'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'। भाषा के प्रसंग में हा उन्होंने देशवासियों से पूछा था—'कव लौ दुःख सहिहैं सवै, रहिहौं बने गुलाम?' उनकी दृष्टि साफ थी कि सब उन्नति का मूल स्वतंत्रता है और उसका चैतन्य निज भाषा में ही हृदयंगम होता है। अतः भाषा-मुक्ति के विना गुलामी से मुक्ति संभव नहीं।

हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दी की खोज भारत की एकता की खोज है। उस खोज के क्रम में 1826 ई० में, जव राजा राम मोहन राय ने कलकत्ता से 'बंगदत्त' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला तो उसमें बंगला आदि के अतिरिक्त हिन्दी की रचनाओं को भी स्थान दिया। 1875 में ब्रह्मसमाज के प्रकाण्ड नेता केशवचन्द्रसेन ने अपने पत्र 'सुलभ

समाचार में लिखा कि "यदि एक भाषा के न होने के कारण भारत में एकता नहीं होती है तो और चारा ही क्या है ? तब सारे भारतवर्ष को एक ही भाषा का व्यवहार करना ही एक मात्र उपाय है । इसी हिन्दी को यदि भारतवर्ष की एकमात्र भाषा स्वीकार कर लिया जाय तो सहज में कहीं यह एकता सम्पन्न हो सकती है ।" इसी खोज में गुजराती ऋषि दयानन्द 'सत्यार्थ प्रकाश' संस्कृत में या गुजराती में न लिखकर हिन्दी में लिखते हैं और उसे ही देश में और विदेश में, आर्य समाज के विद्यालयों में, शिक्षा का माध्यम बना कर राष्ट्रभाषा का प्रथम चरण, अपने स्तर पर, पूरा करते हैं ।

भारतेन्दु राष्ट्रभाषा के प्रति अपने दायित्व का दिशा–निर्देशक निर्वाह दो स्तरों पर करते हैं, जनता के स्तर पर भाषा बोध जगाकर[4] तथा लेखकीय स्तर पर हिन्दी साहित्य को राष्ट्रभाषा के अनुरूप सर्वाङ्गीण बनाते चलकर, भारतीय वाङ्मय और हिन्दी साहित्य की महान परम्परांओं को समेटते और उसके मुँह को वर्तमान की ओर खोलते हुए तथा अभिव्यक्ति को समस्त भारत के लिये संवेद्य बनाते हुए ।

भारतेन्दु की रचनाओं में देशप्रेम और राजभक्ति दोनों को देखकर सभी खेमों के आलोचक उन्हें अन्तर्विरोधों के रचनाकार कहते रहे हैं । कुछ इस अन्तर्विरोध को युग का सामान्य चरित्र या विवशता कहकर समाधान कर लेते हैं और कुछ इसे इनके लोहू में (एक राजभक्त वणिक परिवार में उत्पन्न होने के संस्कार के कारण) में देखते हैं । वैसे, विषय के आधार पर उन्हें दोनों दुनियाँ का लाभ लेनेवाले एक ऐसे साहित्यिक सौदागर के रूप में पेश करने की सुविधा तो है ही जिनकी झोली में देशभक्ति और राजभक्ति ही क्यों, वैराग्य और शृंगार, छायावाद और जनवाद सब एक साथ मिल जायेंगे, बल्कि हर जमाने की हर चीज का नमूना ।

ऐसे समाधान हमें संतुष्ट नहीं करते । भारतेन्दु साधक थे, न कि सौदागर । घर जोड़ने की माया उन्हें नहीं आई फूँकते-फूँकते फकीर हो गये । तेल के अभाव में इत्र का दीया जलाकर लिखनेवाला हिन्दी का कवि रूमानी हो सकता है पर सौदागर तो कभी नहीं ।

पारिवारिक संस्कार का समाधान भी अतिसरलीकृत है । यह सही है कि भारतेन्दु के प्रमातामह राय गिरधरलाल काशीस्थ दिल्ली के शाहजादों के मुख्य दीवान थे और 1857 के विद्रोह में अँग्रेजों को भारतेन्दु के पैतृक गृह में पनाह मिली थी । भारतेन्दु को 1870 में आनरेरी मजिस्ट्रेट भी बनाया गया । पर यह भी ध्यातव्य है कि उन्होंने उस पद से त्यागपत्र (1774) दे दिया था । उनकी राजभक्ति को शासन ने बराबर सन्देह से देखा और वे उसके कोपभाजन भी बने । आर्थिक दबाव डालने की गरज से सरकार ने 'कवि वचन सुधा' और 'बंगला बोधिनी' की खरीद बन्द कर दी थी । उनकी रचनाओं के भीतर से भी यह सिद्ध नहीं होता कि उनके व्यक्तित्व में राजभक्ति के खानदानी संस्कार के वैसे निशान थे, जैसे भगवद्भक्ति और विद्याव्यसन के । प्रत्युत स्थिति यह है कि—

भारतेन्दु में राजभक्ति औपचारिक अवसरों पर व्यक्त किया जानेवाला शिष्टाचार भर है। रानी विक्टोरिया के पति के स्वर्गवासी होने पर लिखित 'स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन अंतर्लापिका' (1861) ड्यूक एडिनवरा के भारत-आगमन पर लिखित 'श्री राज-कुमार-सुस्वागत-पत्र' (1869), उनके काशी आगमन पर प्रकाशित सुमनोऽञ्जलिः (1870), प्रिंस ऑफ वेल्स के टाइँफायड से पीड़ित होने पर लिखित कविता (1871), ड्यूक के बिवाह के अवसर पर लिखी गई "मुँह दिखावनी' (1874), प्रिंस ऑफ वेल्स की भारत-यात्रा पर रचित 'श्री राजकुमार सुभागमन वर्णन' (1875) प्रिंस ऑफ वेल्स के काशी आगमन पर अग्रसारित 'मानसोपायन' एवं मनोमुकुलमाला '(1877) तथा वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट को समाप्त कर तथा भारत में स्वायत शासन (स्थानिक स्वराज्य के रूप में जिसका तब स्वागत हुआ था) प्रणाली का प्रचलन कर भारतीयों का मन जीत लेने वाले बड़े लार्ड रिपन की भारत से विदाई पर प्रणीत 'रिप्नाष्टक' ऐसी ही कविताएं हैं।

ये सभी कविताएँ आयासलब्ध शब्दक्रीड़ा भर हैं। इनमें संवेदना-जैसी कोई चीच नहीं, महज कौतुक, जैसे अवसर-याचित औपचारिकता का निर्वाह मात्र करता हुआ कवि प्रस्तुत के व्याज से किसी अप्रस्तुत के लिये कविता का उस्तरा पजा रहा हो, बुद्धि का जंग छुड़ा रहा हो। स्वर्गीय एल्वर्ट को श्रद्धांजलि अर्पित करने वाली कविता भी शोक काव्य के विपरीत एक दिमागी पहेली है जिसमें अलं, अव, अर, अत इत्यादि क्रम से छत्तीस प्रश्न पूछे गये हैं और सबका एक ही उत्तर निकलता है—अलवरत। 'मनोमुकुलमाला' देवनागरी, रोमन और फारसी लिपि में लिखित वर्णों की उच्चारणध्वनि से बनी, इंगलैंडी-पारसीक-वर्ण-चित्रिता' (कवि शब्द) क्या विचित्रता है जिसकी रही सही कमी को इसी कड़ी में लिखी गई कविता 'अंकमयी', अंकों में अंग-निपेक्ष कर पूरा कर देती है। बस, रिपन के प्रति एक हद तक कवि संवेदनशील है (और इसके कारण भी ऊपर कहे जा चुके हैं) और इसीलिए, 'रिप्नाकष्ट' की भाषा एक हद तक संवेदना बोनेवाली भाषा है। कुल मिलाकर इन कविताओं में कवि के प्राणों की अनुगूँज नहीं है।

प्रथम अफगान युद्ध छिड़ने पर लिखी गयी कविता 'भारत वीरत्व' (1878) अफगान युद्ध के समाप्त होने पर लिखीं गई कविता 'विजयवल्लरी' (1881) तथा भारतीय सेना की मिश्र-विजय के उपलक्ष्य में लिखी गई कविता 'विजयिनी विजय वैजन्ती' की गणना भी राजभक्ति की कविताओं में की जाती रही है। किन्तु इनमें भी जो भावोच्छ्वास है, वह राजभक्ति विषयक नहीं है। कवि का भावोन्मेष वहीं होता है जहाँ उस भारतीय सैनिकों के बहाने भारत के अद्वितीय शौर्य और प्राचीन गौरव के गान का अवसर मिलता है। यही नहीं, मौका मिलने पर यथार्थ का ढेला फेंकने में भी वे नहीं चूकते। 'भारत वीरत्व' में वे कह ही देते हैं कि प्राणप्रण से लड़नेवाले इन कीर्तिलब्ध शुरों के बाबूजद भारतीयों को जड़ शासन 'डिसलायल' कहता है। 'विजय वल्लरी' की प्रतिक्रिया तो और आक्रामक है———अफगान युद्ध में भारत को फँसाकर तबाह कर दिया गया है (कवि

भारत जर्जर भयो काबुल युद्ध अकाल)। मरने के लिये हैं भारतीय सिपाही (ये तो केवल मरन हित) और यश लूटने के लिये अँग्रेज (सुजस मिलै अँग्रेज को)। उनका रोजगार बढ़े हमारा शोक बढ़े (बढ़ै बृटिश वाणिज्य पै हमकौं केवल सोक) 'विजयिनी विजय वैजयन्ती, में विदेशी शासक के लिये लड़ने वाले वेतनभोगी सिपाहियों को वीर कहना भी उन्हें झूठ और कष्टकर लगता है— — —

क्यों वहरावत झूठ मोहिं और वढ़ावत सोक।
अव भारत में नाहिं वे रहे वीर जो लोग ॥

अंतिम दिनों की एक कविता है 'जातीय संगीत' (1884) जिसकी पहली पंक्ति है— 'प्रभु रच्छहु दयाल महरानी।' इस कविता को लेकर भी भ्रम हो सकता है कि भारतेन्दु तो अंतिम सांस तक राजभक्ति के गीत गाते रहे किन्तु यह भ्रम होना नहीं चाहिये क्योंकि यह रचना मौलिक नहीं, अनूदित है। स्मरणीय है कि 1883 में इग्लैंड में बनी नेशनल एन्थेम सोइसटी ने इग्लैंड के जातीय गीत, 'गॉड सेव द किंग' के भारत की बीस भाषाओं में, अनुवाद करने का संकल्प किया। इस संकल्प के तहत उपर्युक्त गीत का अनुवाद संस्कृत में मैक्समूलर से, वंगला में सुरेन्द्र मोहन से और हिन्दी में भारतेन्दु से कराया गया था।

इस प्रकार भारतेन्दु की कोई भी रचना ऐसी नहीं है जिससे बाबू श्यामसुन्दर दास का यह कथन समर्थित हो कि 'उनका देशानुराग, जातीय प्रेम आदि बाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप थे, उसे उन्होंने जीवन प्रवाह के भीतर से नहीं देखा था ('हिन्दी साहित्य') बल्कि उलटे यह प्रमाणित होता है कि भारतेन्दु के भीतर बहनेवाली सहज धारा तो राष्ट्रीय चेतनावाली है, परिस्थितिवश उसमें राजभक्ति के कुछ भँवर भी पड़ गये हैं। वे परिस्थितियाँ क्या थीं जिनके कारण भारतेन्दु को राजभक्ति का स्वांग करना पड़ा और जिनके बीच उनका युग एक उदार नीति लिये रहा? इसका एक उत्तर ऊपर दिया जा चुका है कि सन्तावन के विद्रोह के बाद होनेवाले नृशंस दमन, भ्रष्ट नौकरशाही आर्थिक शोषण, करों, दुर्भिक्ष एवं महामारी की मार, गृह उद्योगों के पतन, पतनशील सामतशाही, पद-पदवी-लोलुप जमात, सम्प्रदायवाद और भाषावाद के उदय तथा जन संगठन के अभाव के कारण खुली चुनौती की स्थिति नहीं बन पा रही थी।

दूसरे 57 की क्रान्ति के बाद इस्ट इण्डिया कम्पनी का वह शासन समाप्त हो गया जिसे ब्रिटिश संसद के एक सदस्य जॉन ब्राइट ने 'पाप की एक शताब्दी' कहा है। इग्लैंड की महारानी विक्टोरिया भारत की साम्राज्ञी घोषित हुई। दिल्ली दरबार हुआ। महारानी ने शासन की ओर से धार्मिक स्वतंत्रता, उदारता और वत्सलता की घोषणा की। इस घोषणापत्र का भी उच्चवर्गों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। कुछ ने तो इसे भारत का मैगना चार्टा कहा। ब्राह्मणों ने माथे पर वेद रखकर जुलूस निकाला और हाथ में जनेऊ लेकर, उर्द्धबाहु होकर, कहा-महारानी चिरजीवी हो।

मुसलमानी सल्तनत के धार्मिक उन्माद के शिकार, उसकी घोर विलासिता के भारवाह तथा अमलों, तस्करों और लुटेरों से असुरक्षित सामान्य लोग भी नये शासन में, जो पूर्ववर्ती की तुलना में वहुत अधिक अनुशासित और व्यवस्थित था, थोड़ी राहत पा गये थे।

रेल (1854), तार (1851), डाक, सड़क आदि का भी इस काल में विकास हुआ। वैंटिक के समय कृषि सवन्धी कुछ सुधार हुए। कर्नल कूटले और फिर हेनरी कॉटन ने नहरें वनवायीं। इन सवका सामान्य जनता पर चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ा, इतना कि इन पर लोक गीत लिखे जाने लगे।[5]

जव लार्ड रिपन ने 1882 में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट को और दूसरे साल प्रेस एक्ट को रद्द कर दिया और उसी साल स्थानीय स्वायत शासन एक्ट (लोकल सेल्फ गवर्न्मेन्ट एक्ट) लागू करके शासन में भारतीय प्रतिनिधित्व का सिलसिला शुरू कर दिया तव तो सरकार के कटु आलोचक भी थोड़ी देर के लिये मुग्ध-सम्मोहित हो गये।

1857 में ही वम्वई, मद्रास और कलकत्ता में विश्वविद्यालय खड़े किये गये, इस नीयत से कि भारतीय नौजवानों की अतिरिक्त ऊर्जा, नयी शिक्षा प्रणाली की चकाचौंध में फँस कर व्यस्त रहे, विद्रोह की दृष्टि और दिशा पकड़ने का अवसर न पाये तथा देखते न देखते काले साहवों की एक नयी पीढ़ी तैयार हो जाय। तव भारतेन्दु और दयानन्द जैसे थोड़े ही लोगों ने इस खतरे को देखा था और कालान्तर में गाँधी जी ने इस षड़यंत्र को फोड़ने के लिये सरकारी स्कूल कालेजों से वाहर निकल आने के लिये नवयुवकों का आह्वान किया था और उसके लिये राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना की थी। पर भारतेन्दु और दयानन्द के वावजूद नयी अँग्रेजी शिक्षा का मोहन तो चल ही गया था और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक इन विश्वविद्यालयों में पढ़ने जानेवालों की संख्या चालीस हजार हो गयी थी। 1869 में स्वेज मार्ग के खुल जाने से भारत और युरोप के बीच की दूरी भी कम हो गई थी। भारतीय व्यापार और संस्कृति दोनों पर इसका असर पड़ा। संक्रान्ति और सघन हुई।

ऐसे संक्रान्तिकाल में विखरी तीलियों को एकत्र करके स्वदेशी पुनर्निमाण की एक योजना वनाना, विखरी आवाजों को समवेत करना, धार्मिक उदारता और अनुशासन से तन्द्रिलजनमानस में इस सत्य की प्रतिष्ठा करके कि स्वत्ववंचित उदारता एक प्रवंचना है, अपहृत स्वत्व से ध्यान हटानेवाली छलना, उसकी तंद्रा भंग करना तथा उसे आत्म-निरीक्षण के लिये प्रेरित करना, चरित्रविहीन शिक्षा में निहित नियति से शिक्षार्थियों को अवगत करना, भाषा नीति का भेद खोलना और अन्ततः अन्तिम निदान के रूप में स्वाधीनता को पेश करना उस समय ही महान चुनौतियाँ थीं।

नवजागरण युग की वागी धारा के लेखकों और नेताओं ने इन चुनौतियों को युक्तिपूर्वक स्वीकार किया था, मधुवेष्ठित शासन के दंश को मधुमुखी विषकन्या-जैसी रचनाओं में उजागर करके, सगठनात्मक आन्दोलन द्वारा जनमत तैयार करके, शासन के धनपक्ष

को स्वीकार करते हुए, उसके बहुलांशी ऋण पक्ष की परतें उघार कर शासन से मोहपाश में आवद्ध मानस का मोहभंग करके। इस तथ्य को हृदयंगम न करनेवाले ही यह कहते सुने जाते हैं कि भारतेन्दु-समेत उस काल के लेखकों में चारित्रिक अन्तर्विरोध है। अकबर इलाहाबादी ने सोच की ऐसी ही मानसिकता में यह शेर लिखा होगा कि—

कौम के गम में डिनर खाते है हुक्काम के साथ।
रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ॥

और इसी मानसिकता में कुछ बाद 1908 में युरोप की हवा में साँस लेते हुये लन्दन के 'इण्डियन प्रोब्लेम' में श्री एस० के० मित्र ने बंकिम ब.बू के राष्ट्रगीत 'बन्देमातरम्' के प्रसंग में, उनका चरित्र हनन करते हुये लिखा था कि बंकिमचन्द्र ने इसकी रचना डटकर मनपसन्द सुस्वादु भोजन, जिसका आनन्द वे बराबर लेते थे, कर लेने के बाद जातीय आवेश के दौरे में की थी।

यों 'बन्देमातरम्' के सहारे भी हम उस समय का सही हाल जान सकते हैं। 'आनन्दमठ' 1882 में लिखा गया। किन्तु 1905 तक बन्देमातरम् का नाम लेना खतरे से खाली न था। उसी साल कांग्रेस में सीधी कारवाई करने, कर न देने का प्रस्ताव आया और तिलक ने बन्देमातरम् का गायन करवाना चाहा। मुश्किल से आरम्भिक कुछ पंक्तियों का पाठ कर लेने पर सहमति हुई। 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में इसका गायन श्री हेमचन्द्र बंदोपाध्याय ने और तदन्तर एक वार गुरुदेव ने किया। काँग्रेस के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में श्री उमेशचन्द्र बनर्जी ने ब्रिटिश शासन के प्रति शुभाकांक्षा के दो शब्द भी कहे थे।

बनारस अधिवेशन में भारत यात्रा पर प्रिंस आँफ वेल्स के स्वागत का प्रस्ताव आया। लाल, वाल, पाल ने इसका विरोध किया। तब बेकार टकराव मोल न लेने का आग्रह करते हुए गोखले ने तिलक के पाँवों पर अपनी पगड़ी रख दी थी।

ये विभक्त व्यक्तित्व वाले, मुखौटा बदलते रहने वाले लोग नहीं थे। देश के तपे-तपाये सपूत थे। पर वह समय ही ऐसा था जिसमें खुले टकराव की स्थिति नहीं बनती थी और आगे जाने का एक मात्र रास्ता कानून को तरह देते हुए तैयारी करते रहने का था। स्वत्व की बात तो चल पड़ी थी, सम्बन्ध-विच्छेद का समय नहीं आया था। (सम्बन्ध-विच्छेद की बात तो पचास वर्षों बाद 1936 में आयी।)

भारतेन्दु की मानसिकता की यही प्रकृत भूमि है। भारतेन्दु 'स्वत्व' की बात तो 1875 में ही करते हैं। ('सत्य हरिश्चन्द्र' में) पर इस 'स्वत्व' को 'प्रजा का स्वत्व' ('भारत दुर्दशा' 1976) कहते रहने की सावधानी भी बरतते हैं। (क्या यह तथ्य ही में उन्नतभाल नहीं करता कि 'भारत दुर्दशा' 'आनन्द मठ' के छह साल पहले ही लिखा जा चुका था?)

भारतेन्दु शासन पर आक्रमण करने की एक युक्ति निकाल लेते हैं। वे महारानी विक्टोरिया या राजवंश के प्रति तो शुभकांक्षा प्रकट करते हैं पर ऐसा करके वे शासनतंत्र और उसकी नीतियों की धज्जियाँ उड़ा देने में संकोच नहीं करते। यह भारतेन्दु की रण-नीति है। स्वस्तिश्री में राजभक्ति, शेष मजमून में राजद्रोह—यह भारतेन्दु के लेखन की अपनी पहचान है।

भारतेन्दु की इस छद्मवेशी राजभक्ति को शासन ने तो सन्देह की दृष्टि से देखा ही, स्वयं भारतेन्दु भी इस सन्देह को पुष्ट करते गये। ज्यों-ज्यों उनका स्वप्नभंग हुआ त्यों-त्यों वे अधिक आक्रामक होते गये।

1881 में उन्हें थोड़ा विश्वास रहता है कि लिवरल दल पिछली गलतियों से सबक लेगा———'पिछली चूक सुधारि अवै करिहै भारत-हित'। किन्तु उनका स्वप्न-भंग होता है। 1884 में वे लिखते हैं कि 'यद्यपि लिवरल दल से हमलोगों ने वहुत सी आशा वाँध रक्खी है पर वह आशा ऐसी है जैसे रोग असाध्य हो जाने पर विषवटी की आशा' ('वादशाह दर्पण' की भूमिका) मोहभंग की आक्रामक मुद्रा में पहले भी उन्होंने सुप्रसिद्ध वलिया भाषण में कहा था कि———

'जो लोग अपने को देश हितैषी लगाते हों वह अपने सुख को होम करके, अपने धन और मान का वलिदान करके, कमर कसके उठो। देखा-देखी थोड़े दिन में सव हो जायेगा। ······जब तक सौ दो सौ मनुष्य वदनाम न होंगे, जात से वाहर न निकाले जायेंगे, दरिद्र न हो जायेंगे, कैद न होंगे वरंच जान से मारे न जायेंगे तव तक कोई देश भी न सुधरेगा।'

ऐसे थे हमारे भारतेन्दु जिनके माध्यम से पुनर्जागरण के आरम्भिक दिनों में हिन्दी ने राष्ट्रभाषा और राष्ट्रसाहित्य की ऐतिहासिक भूमिका शान से निभाई और अपनी स्मरणीय पहचान वनाई।

सामाजिक–सांस्कृतिक–साहित्यिक संक्रान्ति सूर्य के, एक राशि से दूसरी राशि में, प्रवेश-जैसा नियमित और सुनिश्चित नहीं होती। वह एक विचार-व्यवस्था से दूसरी विचार-व्यवस्था की यात्रा की मध्यवर्ती स्थिति होने के कारण, मिश्रित स्वभाव की क्रिया–प्रतिक्रिया की, त्याग और ग्रहण की, अस्वीकृति पुनरीक्षण और संतुलन के अन्वेषण की, परंपरासक्ति और अभ्यास के विरुद्ध संघर्ष की और इस क्रम में विरोधाभासों, सिसंगतियां एवं अन्तर्विरोधों की एक द्वन्द्वात्मक, जटिल और अन्ततः एक प्रयोगधर्मी प्रक्रिया है।

वैसे तो प्रयोगधर्मिता भारतेन्दु के व्यक्तित्व की सर्वातिशायी प्रवृत्ति है जिसे हम उनकी कृतियों में वहाँ भी देख सकते हैं जहाँ वे चारण शैली को 'विजयनी विजय वैजयन्ती' में आजमाते हैं या जहाँ कवीर के साथ वैराग्यमूलक भावयात्रा करते हैं (साँझ सवेरे पंछी सव क्या कहते हैं, कुछ तेरा है) या जहाँ सूरदास

की सी तन्मयाशक्ति और स्वरविधान (जैसे चन्द्रावली में: सखी ये नैना बहुत बुरे नैया वह छबि नाहिन भूले) की ऐसी साधना करते हैं कि कुछ आलोचक, जिनके लिए बाबू शिवनन्दन सहाय जी ने "उलूक" शब्द का व्यवहार किया था यह कहने लगे थे कि यह सब सूरदास का नकल है या जहाँ तुलसी की "विनय पत्रिका" की ध्वनि (नवल नील मेघवरन्, दरसन त्रय ताप हरन), मीरा के दुःख दर्शन (मरम की पीर न जानत कोय - चन्द्रावली), रसखान के समर्पण (ब्रज के लतापता मोहि कीजै) के सहयात्री होते हैं क्योंकि वे इस पूरी यात्रा में असामयिक नहीं होते और अनुसन्धान के मुख को वर्तमान की ओर किये रहते हैं—

1. नहिं ईश्वरता अँटकी वेद में
तुम तो अगम अनादि अगोचर सो कैसे मतभेद में।

2. जैन को नास्तिक भाखै कौन?
परम धरम जो दया अहिंसा सोई आचरत जैन।

भारतेन्दु में (जैसे प्रेम माधुरी में) पद्माकर, देव और विहारी का श्रृंगार ही क्यों चंचल प्रेम की पर पीड़क प्रवृत्ति भी मिल जाती है। पर इसके साथ ही उनमें प्रेम का कुछ ऐसा नशा, विरह की वेचैनी, जान देने की तड़प, मजनूपन, व्यथा को एक मूल्य देने तथा उसे एक निधि के रूप में सँजाने की प्रवृत्ति, भावों के प्राकृतिक घुघट और आध्यात्मिक परिवेष्ठन है कि वे घनानन्द, बोधा, द्विजदेव की पाँत में छायावाद के निकटतम पूर्व पुरुष भी माने जाते हैं।

जैसे भारतेन्दु की सर्वतोमुखी प्रतिभा हिन्दी की रचनात्मक चेतना के हर क्षेत्र के यथार्थ से परिचित भर नहीं बल्कि अनुभव के स्तर पर सम्पर्कित होकर उसके आहत अंकों का उपचार करने और रचना की नयी जमीन, औजार और पद्धति की तलाश करने का उपक्रम कर रही है। ऐसा उन्होंने किया भी। हर क्षेत्र में उन्हें कुछ करना और कहना था। पैरोडी (बन्दर सभा) और फीचर (रामलीला) के तो वे जनक ही थे और एक बौद्धिक दृष्टिकोण लिये रहने के कारण आरम्भिक आधुनिक भी थे। नाटक और रंगमंच पर, रीति प्रकरण पर (स्वकीया, परकीया, गणिका के साथ कन्यका और कुलटा को भी नायिका-भेद में सम्मिलित कर तथा रीतिशास्त्र को गद्य में विवेचन करने की प्रणाली का आरम्भ कर) रस-सिद्धान्त पर (वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनन्द जैसे नये रस-भेद करके जिन्हें पं० ताराचन्द तर्करत्न ने आभारपूर्वक अपने ग्रन्थ में सम्मिलित किया था) उन्होंने कुछ नया कहा भी। नाटकों के लिये गद्य-पद्य की और काव्य के लिये भी एक समीचीन भाषा की खोज करने में भी वे लगे थे और यहीं भारती की आधुनिक वीणा के निर्माता के रूप में वे नमस्य तो होते ही हैं, वे हिन्दी के भावी स्वरूप को जैसे पूर्वाचित करके उसे समस्त भारतीय भाषाओं के फूलों को अपने में गूँथनेवाला सूत्र वनाकर तथा उसे नये अर्थ एवं नये परिवेश देकर उसकी सन्निकट राष्ट्रीय भूमिका के लिये तैयार करने का ऐतिहासिक कार्य भी करते हैं।

भारतेन्दु के सामने मुख्यतः पाँच प्रकार के छन्द थे, संस्कृत परम्परा के, ब्रजभाषा के, उर्दू शैली के, प्रान्तीय भाषाओं के और ग्राम गीतों के। वैसे भारतेन्दु ने विजया राधिका, दोहा आदि छंदों को लेकर भी कुछ प्रयोग किये। यहाँ हम उन्हीं छन्दों की चर्चा करेंगे जिनमें खड़ी बोली का आग्रह है। तो, भारतेन्दु ने एक ऐसा छंद रचा जिसमें टेक तो राधिका छंद की है और बाद के चरण की मात्रायें भी 23 हैं किन्तु टेक की पंक्तियों में यति दस और 12 मात्राओं पर हैं।

भारतेन्दु के कवित सवैयों में खड़ी बोली का वह आग्रह नहीं दीखता। शायद वे भी, कुछ परवर्ती कवियों की तरह उन्हें हिन्दी के औरस छंद न मानते हों। हाँ दोहे के आधार पर भारतेन्दु ने 23 मात्राओं का जो छन्द बनाया था और जिसे डॉ॰ भगीरथ मिश्र ने दोहक की संज्ञा दी है उसमें खड़ी बोली का नया प्रयोग अवश्य है—

एक दिन भवन अकेला, दुपहर बैठा मान।

वस्तुतः दोहक भारतेन्दु के समस्त छंद के लिए एक सामूहिक नाम होने योग्य है क्योंकि, उनमें हर अभिव्यक्ति के स्रोतों का दोहन ही हुआ है।

भारतेन्दु ने रसा नाम से कुछ शेर और कुछ गजलें लिखीं। किन्तु इन शेरों और गजलों में भाव भंगिमा और तर्ज-ए-बयाँ, कवायद और वज्न सबकुछ फसीह उर्दू के आ गये। फलस्वरूप यह प्रयोग हिन्दी के लिये अप्रयोजनीय और अन-अनुकरणीय होकर रह गया।

हाँ, भारतेन्दु ने "रेखता" को हिन्दी के करीब लाया। उसमें ब्रजभाषा, खड़ी बोली और उर्दू की जो त्रिवेणी बही है उसे उस काल की हिन्दुस्तानी कह लीजिये।

"तरजीहबन्द" नामक छंद में उन्होंने उर्दू (गजल) और हिन्दी (दोहा) छंदों का मेलकर, गजल की टेक और दोहे की अन्तरा लेकर उर्दू और ब्रजभाषा के संयोग से खड़ी बोली में एक काव्य शैली का परीक्षात्मक रूप उपस्थित किया, हालाँकि वह शैली भी बेमेल खिचड़ी बनकर रह गई, विकास की सूचना न दे पायी।

पर इतना स्पष्ट है कि खड़ी बोली की काव्योपयोगिता को उन्होंने अनेक क्षेत्रों, शैलियों और छंदों में ढूंढा था।

भारतेन्दु ने अमीर खुसरो की तरह कुछ मुकरियां लिखी हैं। इन मुकरियों की भाषा खड़ी बोली हैं, ब्रजभाषा का पुट लिये हुए। परन्तु अमीर खुसरो की मुकरियां जहाँ मनोः विनोद का साधन मात्र थी वहाँ भारतेन्दु की मुकरियाँ समसामयिक और व्यंग्यात्मक हैं। भारतेन्दु ने इन्हें कोरे मनोरंजन के क्षेत्र से उठाकर जीवन की धरती पर लाया, सामयिक जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, फरेब के घट को फोड़ने का अनिवार्य उपाय बताया और इस प्रकार उस स्थल को ढूंढ निकाला जहाँ पहुंचकर खड़ी बोली कविता की

आत्मा ध्वनित हो सके। इन दृष्टि से वह प्रयोग फलप्रद हुआ और शायद वही उनकी लोकप्रियता का रहस्य भी छिपा है।

भारतेन्दु ने मुकरी में जो प्रयोग किया, ठीक उसका उलटा प्रयोग किया मर्सिया में। यदि नये युग के अनुरूप बनाने के लिये मुकरी को एक भव्यतर लोक में प्रतिष्ठित किया तो उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए मर्सिया को जरा ढंग से पटका भी।

भारतेन्दु में छंद मर्सिया का है, भाव मर्सिया का नहीं। लक्ष्य शोक प्रकाशन नहीं बल्कि परिहास है। इसलिये उन्होंने निम्न कोटि का मर्सिया लिया है जिसमें बार-बार हाय-हाय किया जाता है और संयोग देखिये कि सामयिक स्वर विपर्यय वाला यह हाय-हाय पद व्यवस्था विरोधी नारे का एक दीर्घजीवी अंश बन गया जिसे हम आजकल उन नारों में सुनते ही रहते हैं जिनमें हाय-हाय का अर्थ मुर्दाबाद है।

और, बड़ी दिलचस्प बात है कि इस उलटा-पलटी में "पैरोडी" नामक एक नये साहित्यांग का आविर्भाव हो गया और प्राचीन उदाहरण के अभाव में नये साहित्यांग का जन्म देने का श्रेय भारतेन्दु को ही मिलेगा।

भारतेन्दु ने खड़ी बोली में बंगला के पयार छंद का प्रयोग किया है। इसकी भाषा विशेष प्रकार की है। उसमें शब्दों का प्राधान्य है। ब्रजभाषा का संस्कार गया तो नहीं है किन्तु भाषा ब्रजडगर से आगे तत्समता के पथ पर आ चली है।

भारतेन्दु ने लावनी तथा अन्यान्य ग्राम गीतों को लेकर भाषा सम्बन्धी प्रयोग किये। यहाँ भाषा को रोजमर्रे और मुहावरेदार बनाने की चेष्टा है।

स्मरणीय है कि ऐसी ही मुहवरेदानी द्विवेदी युग की अगली पीढ़ी की भाषा की सबसे स्पष्ट पहचान बनी।

गीत की जो परम्परा रीतिकाल में टूट गई थी, भारतेन्दु ने न केवल उसका पुनरूद्धार किया वरन उसमें सामयिक चेतना और नई भाषा-सामर्थ्य भी भरी। कजरी, होली, आदि लोक छंदों में नवोन्मेषी सामायिक प्रवृत्ति और खड़ी बोली के स्वर संधान भारतेन्दु के जातीय काव्य-तेवर को उजागर करते हैं।

बंगला गान, संस्कृत कजरी-बावनी इत्यादि शौकिया रचनाएँ हैं। इसी प्रकार, मान-लीला, फूलबुझौवल, रंगचित्र, मनोनुकूल मालां, चतुरंग, अथ अंकमयी, राजराजेश्वरी स्तुति आदि में शब्द वैचित्रय है, परिश्रम है, प्रयोग नहीं, हार्दिकता भी नहीं। ये कवि की विश्रांति के क्षणों के विराम-साधन हैं, जैसे रविबाबू के चित्र। जैसे पाँव से गंगा पार करने का विज्ञापन उनके व्यावहारिक जीवन का विवोद था वैसे ही ये सब उनके साहित्यिक जीवन के विनोद थे।

संदर्भ

1. ज्ञातव्य है कि बाबू रामकाली चौधरी कांग्रेस के आरम्भिक अधिवेशनों में बनारस के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुये। यदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जीवित रहते तो अवश्य वे ही हिन्दी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते।

2. I came in contact with all the leaders of thought in Nothern India, belonging to a generation that has now passed away. Sir Syed Ahmed, Pandit Ayodhya nath, Pandit Bishambhernath, Raja Ameer Hussain of Mahmudabad, Babu Aishwarya Narayan Singh, Babu Harishchander and Babu Ramkali chaudhary of Benares.

3. हेमचन्द्र द्वारा संकलित एक पद में "बाप की भूमडी" के लिये सब कुछ उत्सर्ग कर देने का भाव तो आया है, किन्तु वहाँ बाप की भूमड़ी का अर्थ पिता का राज्य है, न कि स्वदेश (भारत)।

4. यह प्रतिभाषित करके कि भाषा की एकता राष्ट्र की एकता का अमोघ साधन है, भाषा की एकता से ही भारतवासी एक हृदय और एकमत होंगे—

> "इक भाषा, इक जीव, इक मति सब घर के लोग।
> तबै बनत है सबन सों मिटत मूढ़ता सोग॥"

और जन सामान्य के लिए अँग्रेजी शिक्षा के खतरे का खुलासा करके कि इस रास्ते जाने से भाषा कंठस्थ करने में ही जवानी बीत जायेगी और ज्ञान का दरवाजा खटखटाने के पहले ही सामान्य वर्ग का शिक्षार्थी न घर का रहेगा, न घाट का—

> "सो तो केवल पढ़न में गई जवानी बीति।
> तब आगे का करि सकत होइ बिरध गहि नीति॥"

5. ग्रियर्सन द्वारा संगृहीत और "इण्डियन एन्टिक्वरी" में प्रकाशित गीतों की कुछ पंक्तियाँ—

क— फिरंगी, तेरो राज सदा सुन्दर रहियो।
तैंने रुपिया चलाये, चेहरासाही,
तैंने सड़क पर रेल चलाई,
... ...
तेरी रैयत ये सुख पाई॥ फिरंगी

ख— फिरंगी तैंने अच्छे अच्छे नल लगवाये।
....
ताल खोदा, तलैया खोदाई, वामे गोला गारवाये।
जमुना काटि के पानी मँगवाये, दोहरा पेंच लगाये॥ फिरंगी

ग— राजा फिरंगी रेल चलाई, छिन में आती जाती है।
धिग ही दिल्ली, धिग् ही आगरा, धिग् ही भरतपुर जाती है।

नवजागरण और राष्ट्रधर्मी 'भारतेन्दु'

राम विनोद सिंह

भारत के अतीत की खोज एवं सांस्कृतिक वैभव का समीक्षात्मक विश्लेषण हमारे ज्ञान की खोज का ऐसा अनूठा स्रोत रहा है जिसने भारतवर्ष के वर्तमान सांस्कृतिक नव-जागरण को प्रोत्साहित और प्रोत्भासित किया है। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक ऐसी अवस्था आती है जब वह अपने समय के अन्तर्विरोधों से टकराता हुआ किसी नयी दिशा का अन्वेषण करना चाहता है। इस अन्वेषण की जिज्ञासा को सम्यक् मार्ग प्रशस्त करने वाले बहुत से प्रभावशाली व्यक्तित्व उत्पन्न होते हैं। भारतवर्ष के जीवन में भी एक ऐसी अवस्था आयी थी जब उसने कई सामाजिक सुधार के आन्दोलनों को संचालित करने वाले महापुरुषों को जन्म दिया था और इन महापुरुषों ने भारतीय जीवन की जड़ता को तोड़ने में सराहनीय कार्य किया है। किसी समाज में ठहराव तब आता है जब वह समाज नयी चेतना की गति और प्रज्ञा को स्वीकारने से कतराता है तथा अपनी रूढ़ियों की छत के नीचे ही पड़ा रहना चाहता है। कालान्तर में ऐसा समाज अपनी बीमार मानसिकता का परीक्षण करता है और ऐसी स्थिति में उसके भीतर नयी खोज या परिवर्तन की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यह जाहिर सत्य है कि वर्तमान का निर्माण अतीत के अन्दर से होता है। अतीत की भाव-सम्पदा वर्तमान को अधिक संवेदनशील बना पाती है। अतः भारतीय नव-जागरण की गति और दिशा को समझने के लिए अतीत की सांस्कृतिक विपुलता को समझना आवश्यक है।

राना डे का विश्वास है कि सच्चा समाज-सुधारक साफ स्लेट पर कुछ नहीं लिखता। वह या तो अधूरे वाक्यों को पूरा करता है या फिर वह वाक्य के स्थान पर नया वाक्य लिख जाता है किन्तु प्रत्येक अवस्था में पुराने वाक्य ही नये वाक्य के जनक होते हैं। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान की जन्मकुण्डली अतीत की ग्रह-दशाओं के अनुसार ही बनती है। विवेकानन्द ने भारतीय संस्कृति को गौरवशाली कहा था तथा उनका विश्वास था वर्तमान को नियोजित करने के लिए अतीत की ओर देखना आवश्यक होता है। पीछे छूटे हुए इन शाश्वत स्रोतों में गोते लगाने से ही नये मूल्य की खोज संभव है। पीछे देखने के बाद ही आगे देखना सार्थक और संगत होता है। अतीत के जीवन-मूल्य सर्वथा विलोपित नहीं होते, बल्कि नये जीवन मूल्यों की संरचना में उनका योगदान होता है। प्रत्येक समाज का जीवन-मूल्य परिवर्तनशील होता है लेकिन इस परिवर्तन की गति पुराने मूल्यों को संशोधित करती है, प्रतिस्थापित नहीं। संशोधन क्रमिक विकासोन्मुख क्रिया है जिसमें गति और परिवर्तन शामिल है। समाज को नियंत्रित और विकासोन्मुख बनाने में

सामाजिक मूल्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। नव-जागरण भी नये सामाजिक मूल्यों के अन्वेषण और जीवन-रोधी मूल्यों को संशोधित करने का प्रयास है।

भारतीय नव-जागरण ने हमारे सामाजिक जीवन को नये ढंग से समायोजित करने की चेष्टा की है। इसीलिए नव-जागरण नयी चेतना की तलाश और जड़ता के विरुद्ध संघर्ष है। इसके स्वरूप और निर्माण की परिस्थितियों को रेखांकित करने का कार्य वहुत कठिन नहीं है। डॉ० काली किंकर दत्त की स्थापना है कि नव-जागरण; दूसरे क्षेत्रों की तरह प्राचीन तथा अर्वाचीन, पश्चिम एवं पूरव के सिम्मश्रण का प्रतिफल है।[1] डॉ० दत्त ने भारतीय नव-जागरण को सांस्कृतिक जागरण से जोड़कर देखा है। इसके विपरीत इस नव जागरण को आर्थिक दृष्टि से जोड़कर देखने के कारण डॉ० वच्चन सिंह का अभिमत है 'पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आधारित होता है, पूर्वपूँजीवादी समाज में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए कोई स्थान नहां होता। व्यक्ति जन्म और लिंग के आधार पर एक विशेष सामाजिक व्यवस्था का अंश हो जाता है। पर नया पूँजीवादी समाज इन वन्धनों से मुक्त होकर ही विकसित हो सकता। भारतीय पुनर्जागरण के मूल में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का विशेष महत्व है।[2]" डॉ० दत्त ने भारतीय नव-जागरण के मूल में सांस्कृतिक जागरण को प्रेरक तत्त्व के रूप में, देखा। डॉ० वच्चन सिंह आर्थिक दवाव से विस्तार पाते हुए अर्थ-तन्त्र के चक्रवात को ही इसकी मूल प्रेरणा मानते हैं। नव-जागरण की चेतना में अर्थवाद का योगदान होता है लेकिन कोई भी नव-जागरण सांस्कृतिक जागरण के अभाव में या तो घटित नहीं हो पाता, या अधूरा रह जाता है। भारतीय नव-जागरण केवल पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता का विस्तार नहीं है, वल्कि इसके मूल में सांस्कृतिक जागरण की तीव्रता भी है। 1857 की क्रान्ति इसका साक्ष्य है कि भारतीय मानस सामाजिक जीवन में वदलाव एवं गुलामी के जीवन से मुक्त होने के लिए व्यग्र था।

1857 का जन-संघर्ष स्वतन्त्रता की पहली दस्तक थी जिसमें सामंतों का योगदान ऋणात्मक था, लेकिन डॉ० वच्चन सिंह का कहना है कि 'यह स्वतन्त्रता का संघर्ष तो था पर इसके मूल में न तो राष्ट्रीय चेतना थी और न राजनीतिक जागरण' सन् 1957 अपने अन्तर्विरोधी स्वरूप के कारण आधुनिक युग का प्रारम्भिक विन्दु माना जायेगा। सन् सत्तावन दो विरोधी ताकतों की टकराहट थी --सामंतवादी और पूँजीवादी।[3] इस कथन में परस्पर विरोधी वातें हैं। किसी भी देश का स्वतत्रता संग्राम जनता की चेतना के संकल्प का गोलवद्ध स्वरूप होता है। इनमें राजनीतिक चेतना शक्ति और गति प्रदान करती है। इसलिए सन् सत्तावन का संग्राम अगर स्वतंत्रता संग्राम था तो उसमें राजनीतिक जागृति का होना अनिवार्य है। दूसरी वात कि सन् संतावन तक आकर पूँजीवादी ताकतें अधिक मजवूत हो गयी थीं और सामंतवाद की क्षीण होती हुई ताकत इसके साथ टकराव करने योग्य नहीं रह गयी थीं। अतः सन् सत्तावन का संघर्ष जन चेतना और मुक्तिकामी मानस का सामूहिक संघर्ष है जो राजनीतिक जागृति की आधार शिला पर खड़ा है। डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है कि "इस स्वाधीनता-संग्राम की

पहली विशेषता यह है कि यह सारे देश की एकता को ध्यान में रखकर चलाया गया। राष्ट्रीय एकता का यह उद्देश्य भारतीय सेना के नेताओं ने अपने सामने रखा था, सामतों ने नहीं। इसलिए जो नवाब स्वतन्त्र बादशाह बन बैठे थे, उन्हें भारतीय सेना के नेतृत्व ने दिल्ली के मातहत करार दिया और इसी शर्त पर उनके साथ संयुक्त मोर्चा बनाया। अपने विघटन-काल में भारतीय सामन्तवाद राष्ट्रीय एकता की पहचान खो चुका था। अलग-अलग बादशाहों, नवाबों और राजाओं की सत्ता कायम करने के बदले सभी सामन्तों को एक ही झंडे के नीचे संगठित करने का प्रयत्न एक सामंत-विरोधी कार्य था।"[4] डॉ० शर्मा ने इस संघर्ष को जातीय संग्राम भी माना है, क्योंकि मुक्तिकामी मानस का निर्माण जन-जागरण का परिणाम होता है। डॉ० शर्मा के शब्दों में "1857 का सग्राम हमारा जातीय संग्राम है और वह भारत का राष्ट्रीय संग्राम भी है। इसका असर सारे देश पर हुआ, हिन्दी भाषी प्रदेश पर सबसे ज्यादा हुआ ?"[5]

नव-जागरण भारतीय मुक्ति-कामी मानस के निरन्तर गहराते हुए स्वरूप का परिणाम है। इसमें बाह्य या पाश्चात्य प्रभाव का भी योगदान रहा है। पश्चिम के विद्वान संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि सांस्कृतिक चिन्तन के क्षेत्र में नया आकर्षण उत्पन्न हो गया। अंग्रेजी विद्वानों ने संस्कृत ग्रन्थों के सहारे भारतीय संस्कृति को समझने का प्रयास किया। ये सभी विद्वानों ने किसी न किसी संस्था के माध्यम से सांस्कृतिक उपादानों को समझने का प्रयत्न किया है। इस संस्थाओं में कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी का भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में विशेष योगदान रहा है। इसकी स्थापना का श्रेय भाषाविद सर विलियम जोन्स को है। उन्होंने श्रेराय साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया था। इस संस्था का एक उद्देय यह था कि वह एशिया के इतिहास, प्राचीन कला विज्ञान और साहित्य का अनुशीलन करके उसका जन-व्यापी प्रसार-प्रचार करने की व्यवस्था करे। इसीलिए उसने पाण्डुलिपियों के संग्रह और सुरक्षा पर ध्यान दिया। रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा ने एक दूसरे रूप से सांस्कृतिक नव जागरण को प्रोत्साहित करने की चेष्टा की। इसने सामाजिक समिश्रण तथा आत्म प्रवाह के क्षेत्र में सराहनीय कार्य सम्पादित किया।

पाश्चात्य विद्वानों में एच० एच० विल्सन का नाम श्रद्धा से लिया जाना चाहिए। उन्होंने हिन्दू जाति के इतिहास और सांस्कृतिक बोध की महत्ता के सम्बन्ध में कहा कि मानव जाति के इतिहास को उसकी समग्रता में समझने के लिए हिन्दूजाति के इतिहास और साहित्य-ज्ञान को देखने की आवश्यकता है। इनकी दृष्टि में इसके अभाव में मानव जाति की सांस्कृतिक अवधारणा की समझ संभव नहीं है। एच० एच० विल्सन की इस मान्यता का तात्कालिक प्रभाव चाहे नहीं भी लसिप्त होता हो, लेकिन इसका दूरगामी प्रभाव तो पड़ा ही है। कहा जा सकता है कि जर्मनी के विद्वानों में भारतीय साहित्य के अध्ययन की जैसी व्यापक चेष्टायें दिखलायी पड़ती हैं, उसका कारण एच०एच० विल्सन की मान्यता ही है। दूसरी ओर पाश्चात्य प्रभाव ने भारतीय मानस को भौतिकता की ओर भी आकर्षित किया।

आधुनिक भौतिक प्रसाधनों तथा सुविधाओं के प्रति भारतीय मानस में नयी लहर उमड़ती हुई दिखलाई पड़ती है। भौतिक सुविधा की प्राप्ति मानव की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। अंग्रेजों ने इस नैसर्गिक प्रवृत्ति को अधिक तीखा एवं धारदार बनाने में सफलता प्राप्त की। इसका व्यापक प्रभाव यह हुआ कि भारत का एक बड़ा वर्ग अपनी प्राचीन संस्कृति एवं आचार-संहिता से विलग होकर पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता की परिधि में आवद्ध हो गया। स्पष्ट है कि इस समय भारत में दो प्रकार के मानस तैयार हो गये। पहला वह वर्ग था जो भारतीय जीवन पद्धति में पाश्चात्य प्रभाव को अस्वीकार करके भी नयी चेतना के निर्माण के लिए इच्छुक था। दूसरा वर्ग वह था जो भारतीय संस्कृति की सात्विकता को नवयुग के लिए अभिशाप मानता था। वह पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता का पक्षधर हो गया था। इन दोनों प्रवृत्तियों ने भारतीय नव-जागरण को प्रोत्साहित एवं उत्तेजित किया। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भारतीय समाज में नव-जागरण, वस्तुतः भौतिक शक्तियों और धार्मिक अनुष्ठानों के अन्तर्विरोध से उत्पन्न हुआ है। इसलिए इसका वास्तविक चरित्र राष्ट्रीय और उसका आन्तरिक चिन्तन मानवतावादी एवं राष्ट्रवादी है।

नव जागरण की राष्ट्रवादी चेतना का प्रमुख कारण यह था कि भारतीय मानस ने अनुभव किया कि अंग्रेजों ने सामन्तवादी व्यवस्था के समापन के व्याज से एक अधिक शोषक और जहरीली सामन्तवादी व्यवस्था को पोषित करने की व्यापक भूमि बनायी है। इसलिए शासन की दृष्टि से अंग्रेज सुधार की जगह वड़ा कैदखाना वनाना चाहते हैं। भारत के एक वर्ग ने अंग्रेजों के इस घातक प्रयास और चालाकी को समझा है। अतः उस वर्ग ने भारतीय संस्कृति और धार्मिक प्रचलनों का सहारा लेकर अंग्रेजों की विस्तारवादी चेष्टा के विरुद्ध जनता को गोलवद्ध करने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में व्यक्तिवाद का अवसान और सामूहिक भाव का उदय होता है। लेकिन भारतीय नव-जागरण की निजी विशेषता है कि व्यक्तिवाद के समानान्तर सामूहिक भाव की शक्ति भी मजबूत होती गयी। इस अन्तर्विरोध का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों के विकासोन्मुख प्रयत्नों को मजबूत सहयोग ब्रह्मसमाज जैसी संस्थाओं ने भी दिया। इस संस्था ने आयोगिककरण की प्रक्रिया को सार्थक और संगत घोषित नहीं किया, वल्कि उसने इस प्रक्रिया को गतिशील वनाने की आवश्यकता पर भी वल दिया। इसलिए ब्रह्मसमाज का मूल भाव गुणात्मक था, ऋणात्मक नहीं।

नव-जागरणवादी स्वर से प्रभावित साहित्य अपनी प्रवृत्ति में मूलतः राष्ट्रधर्मा होता है। सच्ची वात यह है कि लेखन जैसा और जितना समाजधर्मी होता है, उतना और वैसा ही राष्ट्रधर्मी भी होता है। समाज के विस्तार से राष्ट्र का निर्माण होता है। राष्ट्र की अखंडता, सानुपातिक तथा शृंखलित विकास प्रक्रिया, गुणात्मक मूल्यों का निर्माण, युवा-शक्ति को गोलवद्ध करने की चेष्टा जैसी क्रिया ही राष्ट्र चेतना कहलाती है। इसीलिए राष्ट्रीय चेतना से वँधा हुआ होना किसी भी यथार्थवादी लेखन की नियति होती है।

कभी लेखन व्यवस्था का सहयोगी बन जाता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रवादी भावना की उपेक्षा होती है। ठीक इसके विपरीत कभी लेखन व्यवस्था का विरोधी होकर यथार्थ की अवहेलना कर देता है। दोनों प्रकार के लेखन में न पाटने वाला अन्तराल होता है। राष्ट्रवादी लेखन झेलता है, व्यवस्थावादी लेखन भोगता है। यही कारण है कि व्यवस्था से सर्वथा जुड़ा हुआ लेखन कुछ तात्कालीक उत्तेजना उत्पन्न कर समाप्त हो जाता है। अतः लेखन का मूल स्वभाव राष्ट्रवादी होता है। इसी प्रकार प्रत्येक यथार्थवादी लेखन राष्ट्रवादी नहीं होता, लेकिन हर राष्ट्रवादी लेखन यथार्थवादी होता है। यथार्थ के स्पष्टतः दो स्वरूप होते हैं। एक तो वह, जो समाज में घटित होता है। दूसरा वह, जो लेखकीय मानस में अवतरित हो जाता है। अपनी निजता में दोनों प्रकार के यथार्थ लेखन के लिए उपयोगी नहीं होते, क्योंकि दोनों प्रकार के यथार्थ अतिशयता से पीड़ित होते हैं। अतः दोनों का समाहारक स्वरूप ही रचनात्मक यथार्थ है, जो लेखन को समृद्ध और उपयोगी बना पाता है।

समाज के बदलते हुए मूल्य को गंभीरता से ग्रहण करने में लेखन कभी झिझकता है और कभी उसको सारी अतिशयता के साथ स्वीकारता है। स्वीकार और इनकार की ऐसी प्रतिबद्धता लेखन के विकास की समस्त संभावना को निरस्त कर देती है। जाहिर है कि हर स्थिति में लेखन को समाज के नजदीक नहीं जाना चाहिए, बल्कि समाज को ही लेखन के निकट आने का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। जब लेखन समाज का सहधर्मी बनकर जिन्दा रहना चाहता है, तब वह मायावी यथार्थ की सृष्टि करता है। इसके विपरीत जब लेखन के परिपार्श्व में समाज परिक्रमा करता है, तब लेखन अपनी पहचान के साथ सामाजिक यथार्थ को सम्प्रेषित करता है। लेखन की अपनी पहचान का सीधा अर्थ होता है—रचना में भावी समाज का प्रस्ताव देना।

हमारे ख्याल में जिसको सम्पूर्ण यथार्थ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है रचना में वह कभी दिखलाई नहीं पड़ता। उसके स्वरूप को ठोस बना कर प्रस्तुत करना हवा में तीर चलाकर शिकार करने के प्रायास जैसा है। वह पानी में तैरने वाली मछली की तरह होता है जिसके एक ही अंश को देखा जा सकता है, यानी यथार्थ अधखुली आँख की तरह। दरअसल यथार्थ का बोध भाषा से होता है दूसरे शब्दों में सम्यक् सम्प्रेषण क्षमता से यथार्थ को अभिव्यक्त किया जाना है और उसके माध्यम से ही उसकी पहचान बनती है। अतः भाषा यथार्थ को देखने की आँख है। लेखक की दृष्टि जितनी प्रखर एवं संवेदनशील होगी, वह यथार्थ की पकड़ में उतना ही सफल होगा। दृष्टि की प्रखरता का तात्पर्य है कि वह सम्वेदना तथा भाषिक संरचना की दृष्टि से सम्पन्न हो।

भारतेन्दु प्रखर सम्वेदना के राष्ट्रवादी लेखक हैं। राष्ट्रवादी लेखक राष्ट्र की उन्नति और उस उन्नति के अवरोधक तत्व की भर्त्सना करने में अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य लगाता है। राष्ट्र के समक्ष व्यक्ति या किसी वर्ग के कोई महत्व को ऐसा लेखक नहीं स्वीकारता है। साम्राज्यवाद के विस्तार से भारत की राष्ट्रवादी चेतना नष्ट हो गयी थी।

इस चेतना को शक्तिशाली और समाज को गोलबद्ध करना सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक कार्य था। भारतेन्दु पराजित मानसिकता को उद्‌बोधित करने के लिए कहते हैं :—

डूबत भारत नाथ वेगि जागो अब जागो।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहूँ दिसि सों लागो ।।[6]

कवि की नजर में भारत की पराजित मानसिकता का प्रधान कारण आलस्य पूर्ण व्यवहार या कर्मशीलता के प्रति उपेक्षा का भाव है। भारतेन्दु ने भारतीय जीवन को सम्पूर्णता में समझा था। उन्हो ने समझा था कि भारतवर्ष की सांस्कृतिक सम्पन्नता और आर्थिक विपन्नता को एक साथ जोड़कर देखना होगा। इसलिए उनकी कविता का अन्तः करण आर्थिक विपन्नता से उत्पन्न अन्तर्विरोधों से बना है तथा वाह्य विधान पर भक्ति भाव का लेप लगा हुआ है। वे सांस्कृतिक उद्‌बोधन और आर्थिक विकास के मार्ग को अवरुद्ध करने वाली धार्मिक प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं :—

धिक्-धिक ऐसे धरम जो, हिंसा करत विधान।
धिक्-धिक् ऐसे स्वर्ग जो बध करि मिलत महान ।।[7]

जाहिर है कि धार्मिक विधान मानवीयता को नियन्त्रित करने वाला साधन है और इस साधन के माध्यम से सांस्कृतिक चिन्तन का विशाल संसार रचा जाता है। लेकिन जब साधन अतिशय महत्व अर्जित कर लेता है, तब साध्य की आहुति हो जाती है। इसलिए असंतुलित धार्मिक अनुष्ठानों और हिंसामूलक आचरणों का विरोध भारतेन्दु करते हैं। कोई भी राष्ट्रवादी लेखक आर्थिक सम्पन्नता और सांस्कृतिक चेतना को एकात्मक रूप से देखना पसन्द करता है क्योंकि आर्थिक विपन्नता की अतिशयता में सांस्कृतिक समृद्धि की सारी चेष्टायें संज्ञाहीन हो जाती हैं। इसी प्रकार सांस्कृतिक स्थिरता के अभाव में आर्थिक सम्पन्नता स्वेच्छाचारी बनकर सम्पूर्ण मानवीयता को नष्ट करती हैं।

भारतेन्दु दासता को सबसे बड़ा अभिशाप मानते थे। इसलिए भारत की स्वतंत्रता उनके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। किन्तु वे प्रतिक्रियावादी लेखक नहीं थे। अतः अंग्रेजों की शोषक नीति के वे विरोधी थे और सुधारमूलक नीति के समर्थक। भारतीय नवजागरण की आन्तरिक शक्ति जन-मानस में थी। लेकिन अंग्रेजों के सुधारमूलक कार्यों से यह शक्ति अधिक सम्पन्न हो रही थी। भारत में एक नयी चेतना और शक्ति उत्पन्न होने लगी थी। इसलिए भारतेन्दु अंग्रेजों की सुधार नीति को सबल समर्थन देने में संकोच नहीं करते हैं।

वृटिश सुखासित भूमि में आनन्द उमगे जात।
सबै कहत जय आज क्यों यह नहीं जान्यों जात ।।[8]

इसके विपरीत अंग्रेजों की शोषण–नीति, विलासिता, दमनकारी प्रवृत्ति, कठोरता, अमानवीय व्यवहार, सदाशयहीन एवं आत्मीयहीन आचरण पर व्यंग्य करने में वे कभी

पीछे नहीं हटते हैं। विकासशीलता को आधार बनाकर भारतवर्ष के सांस्कृतिक और आर्थिक संतुलन को नष्ट करने की अंग्रेजों की दृष्टता का विरोध करते हुए वे कहते हैं :—

भीतर–भीतर सब रस चूसै।
हँसि–हँसि के तन–मन–धन मूसैं ॥
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि साजन नहीं अंगरेज ॥[9]

सत्तावन में साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध भारतीय मानस ने क्रान्ति की पहली दस्तक दी। इसके कुछ समय बाद यानी 1875 में प्रिंस आव वेल्स का भारत में आगमन हुआ। इस आगमन को व्यवस्था के स्तर पर अति प्रशंसामूलक मानकर भव्य तैयारी की गयी। लेकिन भारतीय जनमानस में इस आगमन की प्रतिक्रिया विपरीत पड़ी थी। उल्लास की जगह निराशा, खुशी की जगह आक्रोश, स्वागत की जगह घृणा आदि का भाव भारतीय मानस में भर गया था। भारतेन्दु ने व्यंग्य का सहारा लेकर इस आगमन की प्रतिक्रिया का उल्लेख किया है :—

दुष्ट नृपति बल दल दली दीना भारत भूमि।
लहि है आजु अनन्द अति तुव पद–पंकज चूमि[2] ॥[10]

जब स्थिति विपरीतता या अराजक व्यवस्था का आतंक व्याप्त हो जाता है, तब अभिव्यक्ति संकटापन्न होने के कारण व्यंग्य का मार्ग स्वीकारती है। भारतेन्दु ने भी कहीं-कहीं व्यंग्य परक स्तुति की है। लेकिन राष्ट्रपीड़ा को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करने में वे सदा ही साहस से काम लेते थे।

जो भारत जग में रह्यो सब सो उत्तम देश।
ताही भारत में रह्यो अब नहीं सुख को लेस ॥[11]

साहित्य अपनी कलात्मक अवधानता के कारण अभिव्यक्ति की विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसंधान करता है। इसीलिए वह समाज शास्त्र से अपने को विलग करता है। लेकिन तथ्य की प्राप्ति या सामाजिक यथार्थ के चित्रण के लिए वह समाज की परिक्रमा भी करता है। कारण है कि कलात्मक पहचान के सहित वह समाज की सच्चाई का दस्तावेज बन जाने की सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। भारतेन्दु अपनी कविताओं की संरचना में सामाजिक यथार्थ कलात्मक प्रक्रिया दोनों के समावेश के प्रति सचेष्ट दीख पड़ते हैं। वह अपनी कविताओं में विविध छन्दों और लयों का प्रयोग करते हैं, वहीं सामाजिक जीवन के विविध रूपों को उसकी समग्रता में अभिव्यक्त करने में अपनी पहचान बनाते हैं। भारत की स्थिति और उसकी कारुणिक जीवन की विषमता के चित्रण के साथ ही अतीत की गौरवशाली परम्परा और समृद्ध सांस्कृतिक उपादानों की चर्चा करते हैं। भारतेन्दु की समझ में देश की मुक्ति का प्रश्न केवल राजनीति की चाल नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध सांस्कृतिक जागरण से आबद्ध है।

भारत–भुज–वल लहि जग रच्छित।
भारत–विद्या सों जग सिंचित।
रहे जवै मनि क्रीट सुकुंडल।
रह्यो दंड जम प्रवल अखण्डल।।

भारत की गौरवशाली परम्परा के स्मरण के व्याज से भारतेन्दु भारतवासियों की सोयी हुई चेतना को उत्तेजित करना चाहते हैं। किसी राष्ट्र का अवसान तव होता है, जव सांस्कृतिक चेतना का प्रकाश नष्ट होता है। इसलिए ख्याति लव्ध बोध का लेखक केवल सामाजिक जीवन का चित्रण नहीं करता, वल्कि उस पर समीक्षात्मक ढंग से विचार करता है। वह ऐसे प्रसंगों या यथार्थ वोधों को रचना में सहेज लेता है जिससे सामाजिक मूल्यों को नयी अर्थवता मिल सके। जाहिर सत्य है कि साहित्य और सामाजिक यथार्थ या राष्ट्रवादी चेतना का सम्वन्ध यांत्रिक नहीं होता, वल्कि वह सामाजिक जीवन या राष्ट्रवादी भावना की जीवन्त क्रिया वन जाता है। दरअसल साहित्य राष्ट्रवादी चेतना और सांस्कृतिक उपादान का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है। साहित्य और राष्ट्रवादी भावना के समीकरण से ही स्थायी साहित्य रचा जाता है।

राष्ट्रवादी चेतना का अधिग्रहण भावनात्मक सन्दर्भ में कम होता है और विचारात्मक सन्दर्भ में अधिक। जव साहित्य केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति का कोष वन जाता है तव वह सामाजिक या राष्ट्रवादी जीवन को प्रभावित करने में असफल हो जाता है। इसलिए राष्ट्रवादी विचार को सम्प्रेषित करने के लिए या उसको सर्जनात्मक वनाने के लिए भावना की अपेक्षा विचार को प्रश्रय देना अनिवार्य हो जाता है। भारतेन्दु अपनी कविताओं में जहाँ भावना के प्रवाह को अव्याहत रखना चाहते हैं, वहाँ विचार की श्रृंखला को भी खंडित होने देना नहीं चाहते। इसलिए यह कहना न्याय संगत है कि भारतेन्दु राष्ट्र की विद्रोही चेतना के सम्प्रेषण के लिए विचार, चेतना और भावना को सर्जनात्मक प्रक्रिया से जोड़कर प्रभावशाली वना देते हैं। अपने काल के अन्य कवियों या लेखकों से भारतेन्दु इस विशेषता के कारण अलग हो जाते हैं। भारतेन्दु राष्ट्रवादी और यथार्थवादी दृष्टिकोण से संवेदना को तीव्रतर वनाकर उसको विचार और कर्म से संयुक्त करने का प्रयास करते हैं।

डॉ० नरेन्द्र मोहन का कहना है कि विद्रोह को आधुनिक विचार के रूप में ग्रहण करने का इतिहास पिछले कुछ वर्षों का ही है। पर इसके विचार और अमल रूप में प्रतिफलित होने से पूर्व की स्थिति को जान लेना जरूरी है। आधुनिक पहलुओं की प्रारम्भिक सन्निधि में यानी भारतेन्दु युग में नयी चेतना और जागरूकता का पहला परिचय सामाजिक रूढ़ियों के उन्मूलन की तीव्र छटपटाहट के रूप में मिलता है। यह छटपटाहट सामाजिक समस्याओं के प्रति समस्याओं पर इन कवियों, विशेषरूप से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के व्यंग्य पर असम्मति, अस्वीकार और विद्रोह के रूप में ढाला जा सकता था। पर परवर्ती कवियों ने (द्विवेदी कालीन कवियों) दूसरा रास्ता अपनाया। उन्होंने इस

जागरूकता के भाव को सांस्कृतिक-पौराणिक प्रसंगों के ब्योरे में इस कदर उलझा दिया कि वह सपाट और आकारहीन वन गया। कलासिकल किस्म के पुनर्जागरण के मोह ने सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में उभर रहे विद्रोह को अवरूद्ध कर दिया।[12] दरअसल भारतेन्दु ने सुविचारित राजनीति के तहत तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक माहौल पर आक्रमण किया। इसके विपरीत द्विवेदी जी कवीर की तरह खुला आक्रमण के द्वारा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की जड़ता को आहत करने का प्रयास किया। सामाजिक जीवन में सुधार का प्रयास सांस्कृतिक पुनर्जागरण से जुड़ा होता है। अतः द्विवेदी जी ने भी दासता के विरुद्ध चलने वाले आन्दोलनों को शक्ति प्रदान किया है।

भारतेन्दु की जन-जागरणवादी स्वर से प्रभावित राष्ट्रवादी मानसिकता की विलक्षणता यह है कि वे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, साम्राज्यवादी और सामंतवादी आतंकवाद पर वहुत ही चौकस होकर आक्रमण करते थे। यह सर्व विदित है कि किसी भी प्रकार के आतंकवाद से देश एवं मानवता का विकास अवरुद्ध हो जाता है। भारतेन्दु ने सत्ता और सामाजिक शक्ति-केन्द्र और आर्थिक प्रतिष्ठान की पूरी आकृतियों का सजग अनुशीलन किया था। धार्मिक आतंकवाद के खौपनाक चेहरे की पहचान में उन्होंने किसी प्रकार की भूल नहीं की है। इसीलिए उन्होंने मुस्लिम सत्ता-प्रतिष्ठानों पर अंग्रेजों की अपेक्षा अधिक आघात किया है।

संदर्भ

1. Dr. Kali Kinker Datta, A Social History of Modern India–p. 204.
2. डॉ० वच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी–साहित्य का इतिहास—पृष्ठ 39.
3. डॉ० वच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पृष्ठ 39.
4. डॉ० रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नव-जागरण—पृष्ठ–9.
5. वही, पृ०–14.
6. भारतेन्दु ग्रन्थावली—दूसरा भाग–पृष्ठ 683.
7. भारतेन्दु ग्रन्थावली—दूसरा भाग पृष्ठ–692.
8. वही, पृष्ठ–701.
9. भारतेन्दु ग्रन्थावली—दूसरा भाग पृष्ठ–811.
10. वही, पृष्ठ–697.
11. वही, पृष्ठ–802.
12. डॉ० नरेन्द्र मोहन, कविता की वैचारिक भूमिका–पृष्ठ–82.

●

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके निबन्ध

कुमुद प्रभा श्रीवास्तव

भारतेन्दु मूलतः देश प्रेम की भावना से ओतप्रोत थे। उन्होंने अपने समय के पराधीन समाज की दयनीय स्थिति को गंभीरता से परखा और जनता को जागरण के लिए प्रेरित किया। हिन्दी भाषा को नया रूप और शक्ति प्रदान की तथा साहित्य को दरबारी घेरे से निकालकर मुक्त प्रांगण में ला बिठाया। वे न केवल जन जीवन के प्रतिनिधि रचनाकार थे वरन् युगनिर्माता भी थे। उन्होंने जो अनुभव किया उसे कार्य रूप में संपन्न भी किया। इसीलिए वे युगनिर्माता बन सके। 'इतिहास का रथ वह हांकता है जो सोचता है और सोचे हुए को करता है।'

भारतेन्दु के समय देश की स्थिति पीड़ाजनक थी। समाज विदेशी साम्राज्य के आर्थिक और राजनीतिक शोषण से ग्रस्त था। भारतीय जनता की दासता की पीड़ा को उन्होंने समझा। वे जानते थे कि कैसे अंग्रेज आर्थिक शोषण में लगे हैं। इस शोषण का परिणाम यह हुआ कि जनता गरीबी, अकाल, भुखमरी तथा कर के बोझ से ग्रस्त हो गयी और अंग्रेज धनधान्य सुख से पूर्ण हो गये। भारतेन्दु कहते हैं—

"अंग्रेज राज—सुख साज सजै सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।"

विडम्बना यह है कि जो अंग्रेज जनता के शोषण में लगे हैं, लोग स्वदेशाभिमान की भावना से शून्य, उनकी चापलूसी में रत हैं। पंडे, पुरोहित धर्म की आड़ में विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत की जनता सोई पड़ी है। भारतेन्दु इस स्थिति को बदलने में जी जान से जुट जाते हैं। बहुमुखी प्रयास के द्वारा उन्होंने यह कार्य संपन्न किया। जन-जागरण हेतु उन्होंने कई कार्यक्रम बनाए। नाटकों का प्रदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, निबन्धों का लेखन, उद्‌बोधनपरक साहित्य का प्रणयन, व्याख्यान, आलोचना आदि से उनकी मंडली जन-जागरण में जुट गयी। उन्होंने देशवासियों को अपनी स्थिति का बोध कराया, वास्तविकता को समझने की दृष्टि दी-अतीत—गौरव की ओर ध्यान आकृष्ट किया तथा भविष्य के सुधार हेतु नये-नये कार्यक्रम दिए।

उन्होंने अनुभव किया कि सच्ची जागृति अपनी भाषा में ही संभव है। जनता के पास जनभाषा से ही जाया जा सकता है। वे जानते थे कि बिना जनता के जागृत हुए कोई भी कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता। जनभाषा ही हमें स्वदेश से जोड़ती है। हिन्दी भाषा की शोचनीय स्थिति उनके सामने स्पष्ट थी। निजभाषा की यह स्थिति उन्हें शूल

जैसी चुभती थी। अतः उन्होंने हिन्दी भाषा के विकास हेतु अथक परिश्रम किया। उन्होंने कहा—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।

अतः—

करहु विलम्ब न भ्रात अब उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जो सबको मूल।
विविध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देशन से ले करहु भाषा माहि प्रचार।
प्रचलित करहु जहान में निज भाषा करि यत्न।
राजकाज दरबार में फैलावहु यह रत्न।

उन्होंने 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नामक पत्रिका निकाली। शुक्ल जी ने लिखा है "हिन्दी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी चंद्रिका में प्रकट हुआ जिस प्यारी हिन्दी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेन्दु ने नई सुधरी हुई हिन्दी का उदय इसी समय से माना है। उन्होंने 'काल चक्र' नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है कि हिन्दी नई चाल में ढली—सन् 1873 ई०।"[1] इस तरह हिन्दी भाषा विकसित हुई और साहित्य के विविध रूपों का जन्म हुआ। भारतेन्दु के पूर्व साहित्य बद्ध वातावरण में कैद था। उसे नये विचार से युक्त कर बहुमुखी विस्तार दिया तथा व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। साहित्य नवजीवन की अभिव्यक्ति का साधन बना। हिन्दी संपूर्ण जीवन की भाषा बनी। इसी प्रकार भारतेन्दु नये—नये विषयों की ओर साहित्य को ले गये तथा उनके अनुरूप भाषा का निर्माण भी किया। साहित्य की भाषा और जनभाषा की दूरी मिटी तथा विविध शैलियों में साहित्य का प्रणयन हुआ। गजल, शेरो शायरी, तथा लोक धुन की तर्ज पर कविताएं लिखी गयीं। वे एक प्रेरणा के रूप में सामने आये। वे आलस्य में डूबे व्यक्तियों को जगाने का आह्वान करते हैं, विलासिता वश पथभ्रष्ट जन को सही रास्ता दिखाते हैं, हमारी दुःखद स्थिति के जिम्मेदार अंग्रेजों की कलई खोलते हैं तथा समाज के तथाकथित सम्माननीय पंडित एवं पुरोहितों की गोपनीय भ्रष्टाचार लीला को साकार करते हैं। उन्होंने अंग्रेजों की कड़ी आलोचना की—

भीतर भीतर सब रस चूसै।
हंसि—हंसि के तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि साजन नहिं अंगरेज।
हा हा। भारत दुर्दशा न देखी जाई।

उनकी राष्ट्रीय वेदना का स्वर अत्यन्त गहन है।

कहाँ सोये हैं करुणानिधान भगवान जो इस दुःखद स्थिति को दूर करने नहीं जागते—

कहाँ करुणानिधि केशव सोये ?
जागत नेक न जदपि वहुत विधि भारतवासी रोये ।

वे कहते हैं कि हमें न तो पश्चिम का अंधानुकरण करना है, न ही अतीतोन्मुखी होकर निष्क्रिय हो जाना है वरन् स्वदेशाभिमान से युक्त एक नई आधुनिक दृष्टि कायम करनी है, जो हमारे अंदर यह मूल मंत्र फूंक सके—

'स्वत्व निज भारत गहै'

भारतेन्दु के साहित्य में सौंदर्य प्रेम और यथार्थवाद दोनों ही प्रवृत्तियाँ हैं । उनके साहित्य का खासा भाग वैष्णव भक्ति भावना से युक्त है । नेही नेह के दिवाने भारतेन्दु में प्रेम व्यंजना का स्वर अत्यन्त तीव्र है । साथ ही यथार्थवाद का स्वर भी कम तीव्र नहीं है । धरती और आकाश दोनों का सम्मिश्रण हम यहाँ पाते हैं । मुक्तिबोध सौन्दर्य-प्रेम और यथार्थ में गहरा सामन्जस्य देखते हैं । कहते हैं—

"जिस समाज में सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक दृष्टि में परस्पर विरोध माना जाता है अथवा दूसरे शब्दों में—इन दो के भीतर किसी आंतरिक गहरी एकता का अस्तित्व नहीं माना जाता, वह समाज भी खूब है ।"[2]

भारतेन्दु रईस थे । मध्यकालीन दरवारी वातावरण में पले थे । राजभक्ति उस संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग थी । इन वर्गीय सीमाओं तथा राजभक्ति एवं देशभक्ति के द्वन्द्व के बावजूद वे दिग्भ्रमित नहीं हुए । उनकी दृष्टि धूमिल नहीं हुई तथा वे सामान्य मनुष्य की गरिमा को स्वर देने में सफल हुए । वह मनुष्य जो जाति पाँति, कुल मर्यादा के बंधन से ऊँचा है । उसके सुख-दुख, आशा निराशा, क्षोभ करुणा संघर्ष पीड़ा सभी का वे चित्रण करते हैं । वे दरवारी वातावरण के पंक में पंकज के समान रहे तथा उनकी कीर्ति का सौरभ दिगदिगंत फैलता रहा । अपने जीवन काल में ही अपूर्व लोकप्रियता पाकर वे कहानी वन गये । मानववाद पर आधारित उनका आन्दोलन कवीर एवं तुलसी से जुड़ता हुआ प्रेमचंद, निराला तथा नागार्जुन आदि तक पहुँचता है । "आज के जमाने में प्राकृत होना ही सबसे ज्यादा मुश्किल है । किन्तु जो इस वास्तविक सत्य और यथार्थ के अधिकाधिक समीप पहुँचेगा, जो इसका जितना मार्मिक-आकलन और उद्घाटन करेगा, वही साहित्यकार समाज की और जनता की अधिकाधिक सेवा करेगा और उसके लिए अनन्य सौन्दर्य की सृष्टि करेगा ।"[3] मुक्तिवोध का यह कथन भारतेन्दु साहित्य को एक नयी गहरी पहचान से युक्त कर देता है ।

भारतेन्दु की लेखनी साहित्य की अनेक विधाओं में सक्रिय हुई । उनकी रचनाओं में निवन्धों का महत्त्व असंदिग्ध है । पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से निवन्धों का प्रचलन बढ़ा

और अच्छी खासी मात्रा में निबन्ध लिखे गये। डा० रामविलास शर्मा कहते हैं—"जितनी सफलता भारतेन्दु युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्य प्रति निबंध लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर गयी थी। दूसरी बात यह कि निबन्ध ही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा युग के फक्कड़ लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात कर सकते थे।"[4]

भारतेन्दु के निबन्धों में उनका ओजस्वी व्यक्तित्व उभरकर सामने आया है। यद्यपि ये निबन्ध विषय प्रधान हैं फिर भी उनमें रचनाकार के व्यक्तित्व की छाप कहीं भी नहीं छूटी है। उनकी मस्ती, फक्कड़पन, मनमौजीपन, उल्लास, हास्य, सभी कुछ इन निबन्धों में भरपूर है। ये निबन्ध अत्यन्त आत्मीयता से युक्त हैं। मानों रचनाकार और पाठक आमने-सामने हों और लेखक पाठक को लक्ष्यकर सरस बातचीत में निमग्न हों। निबन्धों के बीच अक्सर 'पाठकगण' शब्द मिल जाता है। निकटता का यह अहसास बराबर बना रहता है। उदाहरणार्थ—"हम कौन हैं और किस कुल में उत्पन्न हैं, आप लोग पीछे जानेंगे। आप-लोगों को क्या, किसी का रोना हो, पढ़े चलिये, जी बहलाने से काम हैं।"[5] कहना न होगा कि इस मनोरम शैली से युक्त निबन्ध हमारे हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

जिस उद्देश्य को लेकर भारतेन्दु ने साहित्य रचना में कदम रखा था, उसमें उनके निबन्धों का बहुत बड़ा योगदान दिखाई पड़ता है। वस्तुतः ये निबन्ध जन-जागरण में अत्यन्त सहायक हुए। समाज सुधार उनका प्रधान लक्ष्य था। अतीत और वर्तमान की कुरीतियों का चित्रण करके-समाज का सही स्वरूप दिखलाकर उन्होंने जनता को भविष्य की राह दिखाई। हमारी उन्नति में बाधक कुरीतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया और उनके निवारण की ओर लोगों का ध्यान प्रवृत्त किया। धार्मिक पाखंड, जाति पाँति का भेदभाव, सामाजिक रूढ़ियाँ, अशिक्षा, बाल विवाह आदि अनेकानेक कुरीतियों की आलोचना की। "वैष्णवता और भारतवर्ष" नामक अपने निबंध में उन्होंने बैर भाव छोड़कर हिन्दू जाति की एकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया—"जब पेट भर खाने ही को न मिलेगा तो धर्म कहां बाकी रहेगा। इससे जीवमात्र के सहज धर्म उदरपूरण पर अब ध्यान दीजिए। परस्पर का बैर छोड़िये। शैव सिक्ख जो हो, सबसे मिलो। उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है उसको आर्य क्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं। वैष्णव, शैव, बौद्ध आर्यसमाजी सब अलग-अलग पतली-पतली डोरी हो रहे हैं, इसी से ऐश्वर्यरूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बंधता। इन सब डोरी को एक में बांधकर मोटा रस्सा बनाओ तब यह हाथी दिगदिगंत भागने से रुकेगा अर्थात् अब वह काल नहीं कि हम लोग मित्र अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकाया करै। अब महाघोर काल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है।"[6]

अपने देश की उन्नति के लिये वे किस हद तक चिंतित थे, भारतवासियों की प्रगति की इच्छा किस कदर उनके हृदय में जमी हुई थी, यह उनके बलिया के ऐतिहासिक भाषण 'भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती हैं' में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उस भाषण में वे देश की उन्नति की राह में आयी बाधाओं को दिखाकर, उनके निराकरण हेतु जनता को उद्बोधित करते हैं। उनके देश भक्ति पूर्ण संवेदनशील हृदय की झांकी, उनका ओजस्वी व्यक्तित्व इस भाषण में सजीव हो उठा है। उन्होंने कहा कि भारतवासी आलस्य से ग्रस्त हैं। मोह निद्रा से उन्हें जगाना है। जनसंख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है-धन कम होता जा रहा है। ऐसे दुर्दिन में कर्मठता की आवश्यकता है। हमें न राजा-महाराजा का मुँह देखना है, न पंडितों का, अपने बाहुबल से ही हम आगे बढ़ सकते हैं। उन्होंने ओजपूर्ण वाणी में कहा-"जो लोग अपने को देशहितैषी लगाते हों" वह अपने सुख को होम करके अपने धन और मान का बलिदान करके कमर कसके उठो। देखा-देखी थोड़े दिनों में सब हो जायेगा। अपनी खराबियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देस की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को यहाँ वहाँ से पकड़ कर लाओ। उनको बाँध-बाँध कर कैद करो। हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवै तो जिस क्रोध से उसको पकड़ कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी उसका सत्यानाश करोगे उसी तरह इस समय जो बातें तुम्हारे उन्नति पथ का कांटा हों उनको जड़ से उखाड़ कर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जायेंगे, दरिद्र न हो जायेंगे, कैद न होंगे वरंच जान से न मारे जायेंगे तब तक कोई देश न सुधरेगा।"[7]

उनके निबन्धों में प्रगतिशीलता एवं आधुनिक विचार धारा के तत्व दिखाई पड़ते हैं। वे स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह, विदेश यात्रा आदि के समर्थक थे। बालविवाह, बहुविवाह, जाति पांति की भावना, धार्मिक आडंबर आदि का निषेध करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों मे कहते है-" निश्चय रखें कि परमेश्वर के पाने का पथ केवल प्रेम है। और बातें चाहे धर्म की हों या लोक की दोनों बेड़ी ही हैं।"[8]

राष्ट्रीय भावना उनके निबन्धों में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। स्वदेश प्रेम तथा निज भाषा से प्रेम करने के लिए वे उत्साहित करते हैं-

"लड़कों को रोजगार सिखलाओ। बिलायत भेजो। छोटेपन से मिहनत करने की आदत दलाओ। सौ सौ महलों के लाड़ प्यार दुनियां से बेखबर रहने की राह मत दिखलाओ। भाई हिन्दुओं, तुम भी मत मतान्तरों का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे चाहे किसी जाति किसी रंग का क्यों न हो वह हिन्दू है।"[9]

"भाइयों अब तो नींद से चौको। अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो वैसे ही खेल खेलो वैसी ही बात-चीत करो।

परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत रक्खो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।"[10]

भेद भाव मिटाकर एक होने का आह्वान भारतेन्दु ने उस समय किया था। वे सभी मतों का आदर करते थे। सबकी धार्मिक भावनाओं को ठेंस पहुँचाए बिना ही हमें एक होना है। अनेकता में एक राष्ट्र की कल्पना उनकी प्रखर राष्ट्रीयता को दर्शाती है। "इस महामंत्र का जाप करो, जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठी, पंजाबी, मदरासी वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमान सब एक का हाथ पकड़ो।"[11]

जनहित का माध्यम लोकसाहित्य ही हो सकता है, ऐसा भारतेन्दु ने अनुभव किया था। जनता के पास हम उसी की भाषा द्वारा ही जा सकते हैं। हमारी बहुसंख्यक जनता ग्रामीण है। बिना उसकी उन्नति के देश की उन्नति असंभव है। अतः ग्रामीण जनता का जागरण अत्यधिक आवश्यक है। यह जागृति लोक साहित्य से ही आ सकती है। भारतेन्दु ने स्वयं बहुत सा लोक साहित्य रचा और लोगों को लोक साहित्य रचने की प्रेरणा भी प्रदान की। उद्बोधनपरक निबन्धों में 'जातीय संगीत' का अपना निराला महत्व है। उनका देश प्रेम, राष्ट्रीय भावना, जनहित की कामना उस निबंध में छलकी पड़ रही है। उदाहरणार्थ—"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। उस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किन्तु वे जन साधारण दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बने और वे सारे देश, गांव-गांव में साधारण लोगों में प्रचार की जांय। सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्राम गीत शीघ्र फैलते है और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर लगाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है। इसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे गीतों को संग्रह करूं और उनकी छोटी-छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूं। इस विषय में मैं, जिनको कुछ भी रचना शक्ति है, उनसे सहायता चाहता हूँ कि वे लोग भी इस विषय पर गीत या छंद बनाकर स्वतंत्र प्रकाश करें। या मेरे पास भेज दें, मैं उनको प्रकाश करूंगा और सब लोग अपनी मंडली में गाने वालों को यह पुस्तकें दें।"[12]

भारतेन्दु के निबन्धों का सबसे सजीव तत्त्व है—हास्य और व्यंग्य। वे हास्य द्वारा सामाजिक स्थिति की विषमता और द्वन्द्व को बड़ी खूबी से दिखाते हैं। उनकी पैनी नजर इन लेखों में है जो आवरण भेद कर यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर देती हैं। इस शैली द्वारा उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक सभी समस्याओं को लिया है तथा सभी वर्गों की कमजोरियों का पर्दाफाश किया है। इन निबंधों में भाषा की

रवानगी तथा अलकारों का सहज प्रयोग देखते ही बनता है। डॉ० राम विलास शर्मा इस प्रवृत्ति को अपनाने का अनुरोध करते हैं—"आज के लेखकों से अनुरोध है कि वे तव की भाषा का वह भाग छोड़ दें जो अनगढ़ है, वे उसके संवेग प्रवाह को देखें जिसमें व्यंग्य और हास्य की कलकल ध्वनि गूँज रही हैं।"[13] वास्तव में यह प्रवृत्ति अनुकरणीय है। 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' तथा 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' इस प्रवृत्ति की अमर कृतियाँ हैं। इनमें हास्य और व्यंग्य की छटा देखते ही बनती है साथ ही सामाजिक उद्‌देश्य भी गहराई के साथ प्रकट हुआ है। 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' में भारतेन्दु की उदारवादी चेतना और नवीन मानव धर्म की कल्पना दिखायी पड़ती है। स्वामी दयानंद तथा केशवचन्द्र के वारे में उनके विचारों का पता चलता है। वे उनकी देशभक्ति की प्रशंसा करते हैं। देवपूजा और जमींदार पूजा पर व्यंग्य करने से नहीं चूकते—'कंसरवेटियों का दल प्रवल था, इसका मुख्य कारण यह था कि स्वर्ग के जमींदार इन्द्र, गणेश प्रभृत्ति भी उनके साथ योग देते थे, क्योंकि वंगाल के जमींदारों की भाँति उदार लोगों की बढ़ती से उन वेचारों को विविध और सर्वोपरि भाग न मिलने का डर था।"[14] निवंध की बनावट में रोचकता और उत्सुकता है। भारतेन्दु रईस थे। उन्होंने देखा था कि रईसों की चापलूसी में व्यक्ति किस कदर आत्मसम्मान खोकर जुटा हुआ है क्योंकि वह उनके पैसों पर आराम से रहने में ही जीवन की इतिश्री समझता है। वे स्वयं ऐसे चापलूसों से घिरे रहते होंगे। देखिये ऐसे चापलूसों का कितना सजीव वर्णन है—"कोई कहता आपसे सुन्दर संसार में नहीं कोई कसमें खाता था, आप सा पंडित मैंने नहीं देखा, कोई पैगाम देता था, चमेली जान आप पर मरती है, आपके देखे विना तड़प रही है, कोई बोला हाय। आपका फलाना कवित्त पढ़कर रात भर रोते रहे।............एक दलाल घोड़े की तारीफ कर उठा, जौहरी ने खच्चरों की तरफ वाग मोड़ी, वजाज वाग की स्तुति में फूल वूटे कतरने लगा, सिद्धान्त यह कि मैं वेचारा अकेला और वाहवाहें इतनी कि चारों ओर से मुझे दवाये लेती थीं और मेरे ऊपर गिरी क्या फिसली पड़ती थीं।"[15] अंग्रेजों के दरवार में ये ही राजे रजवाड़े हास्यास्पद ढंग से खुशामद में लगे रहते थे। इनका हास्यास्पद चित्रण 'दिल्ली दरवार दर्पण' तथा लेवी प्राण लेवी' में दिखायी पड़ता है। 'लेवी प्राण लेवी' में गवर्नर जनरल लार्ड मेयो द्वारा काशी नरेश की कोठी पर की गयी 'लेवी' का वर्णन है। इस अवसर पर काशी के सभी रईस निमन्त्रित थे। काशी के रईस कठपुतली की तरह अंग्रेजों के आगे पीछे नाच रहे थे। वाह "वाह दरवार क्या था—'कठपुतली का तमाशा' था या जल्लमटेरों की 'कवायद' थी या वंदरों का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या 'फौजदारी की सजा' थी।"[16]

स्तोत्र शैली में लिखे गये निवन्धों का रंग अलग ही है। प्रशंसा की व्यंजना से वस्तु स्थिति का चित्रण अनोखा सौन्दर्य जुटा लाता है। इस शैली से भारतेन्दु वह कह जाते हैं जो सीधे सीधे अकथनीय होता। उनके ये निवन्ध हास्य की सृष्टि तो करते ही हैं, व्यंग्य द्वारा अपने समाज की सही स्थिति को भी सामने रखने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका

निभाते हैं। 'कंकड़ स्तोत्र' के माध्यम से सड़क की दुर्व्यवस्था का चित्रण वस्तुतः अंग्रेजी राज्य की आलोचना है। "आप अंगरेजी राज्य श्रीमती महारानी विक्टोरिया और पार्लमेंट महासभा के आगत, प्रबल प्रताप श्रीयुत गवर्नर जनरल और लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के वर्तमान होते, साहिब कमिश्नर साहिब मैजिस्ट्रेट और साहिब सुपरइनटेन्डेन्ट के इसी नगर में रहते और साढ़े तीन-तीन हाथ के पुलिस इंसपेक्टरों और कांस्टिबलों के जीते जी गणेश चतुर्थी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पर पड़कर रुधिर धारा से नियम और शांति का अस्तित्व बहा देते है। अतएव है अंगरेजी राज्य में नवाबी संस्थापक। तुमको नमस्कार हैं।"[17] 'अथ अंगरेज स्तोत्र लिख्यते' में अंग्रेजों पर चुटीला व्यंग्य है। बड़ी ही निर्भीकता से स्तोत्र शैली में व्यंजना द्वारा अंग्रेजों का रूप नंगा करके दिखाया है—

तुम मूर्तिमान हो, राज्य प्रबंध तुम्हारा अंग है न्याय तुम्हारा सिर है, दूरदर्शिता तुम्हारा नेत्र है, और कानून तुम्हारे केश हैं अतएव हे! अंगरेज । हम तुमको नमस्कार करते हैं।

कौंसिल तुम्हारा मुख है, मान तुम्हारी नाक है, देश पक्षपात तुम्हारी मोछ है और ट्रक्स तुम्हारे कराल दंष्ट्रा हैं अतएव हे! अंगरेज! हम तुमको प्रणाम करते है हमारी रक्षा करो।"[18]

इन निबन्धों में आलोचना की कटुता नहीं है। हँसते-हँसते बहुत बड़ी बात कह जाना इन निबन्धों की खासियत है। इनमें हृदय की सरसता बराबर बनी हुई है। कहने वाला हँस रहा है पर जिनके लिए कहा जा रहा है वह तिलमिलाने के सिवा कर ही क्या सकता है।

भारतेन्दु के निबन्धों में विषय की विविधता के साथ ही साथ शैली की विविधता भी है। विविध शैलियों में सरसता एवं उद्देश्यपरकता का निर्वाह हुआ है। निबन्धों में भारतेन्दु का जिन्दादिल व्यक्तित्व समाहित है। भाषा अत्यधिक सजीव है। उन्होंने साहित्य की भाषा और जनभाषा की दूरी को मिटाया जिससे भाषा में सरलता और सहजता के गुण आ गये। साहित्य सामाजिक विकास का साधन है—अतः साहित्य की भाषा में सरलता का होना अत्यन्त आवश्यक है। भारतेन्दु मंडल जनता का साहित्य रच रहा था अतः ये गुण उनके साहित्य में होने आवश्यक थे। भारतेन्दु के निबन्ध अत्यन्त सुसंगठित एवं कलात्मक हैं जिनका प्रभाव शाश्वत है। ये निबंध अपने समाज के दर्पण तो हैं ही, आज के युग में भी अपना महत्व रखते हैं। भारतेन्दु के समय की स्थितियाँ बहुत कुछ आज भी मिल जायेंगी। अतः ये निबन्ध उस समय तो प्रेरणा श्रोत थे ही आज के लेखकों व पाठकों के लिए भी कम प्रेरणाप्रद नहीं ठहरते।

संदर्भ—

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 421.
2. मुक्तिबोध रचनावली, 5/185.
3. वही, 5/183.
4. डा० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ० 70.
5. भारतेन्दु ग्रंथावली, 3/813.
6. वही, 3/801.
7. वही, 3/899–900.
8. वही, 3/584.
9. वही, 3/902.
10. वही, 3/903.
11. वही, 3/902.
12. वही, 3/935–36.
13. डा० राम विलास शर्मा : भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा। पृ० 2 (प्रथम संस्करण की भूमिका).
14. भारतेन्दु ग्रन्थावली, 3/813–14.
15. वही, 3/813–14.
16. वही, 3/939.
17. वही, 3/853.
18. डा० केसरी नारायण शुक्ल : भारतेन्दु के निवन्ध, पृ० 99.

भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य की वस्तुगत लोकोन्मुखता

राजेन्द्र कुमार वर्मा

सांस्कृतिक बोध, राष्ट्रीयता एवं आधुनिकता के अग्रदूत तथा साहित्य को संवेदना और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर लोकोन्मुख बनाने वाले भारतेन्दु और उनके समकालीनों का साहित्य अपनी संचेतना में जन साहित्य है। इसीलिए भारतेन्दुयुगीन साहित्य लोक तत्वों को रचनात्मक भूमि पर प्रखर रूप में आत्मसात किए हुए है। स्वयं भारतेन्दु ने विविध विधाओं में प्रभूत लोक तत्व संवलित जन साहित्य की रचना की और दिशा निर्देशक लेखन के द्वारा अपने समकालीनों को लोक तत्व संवलित जन साहित्य के सृजन के लिए प्रेरित भी किया। लोकभाषा, लोक काव्य रूपों और लोकगीत शैलियों को अपनाकर उन्होंने साहित्य को जन-जीवन और जन-मानस से सम्पृक्त कर जन-कल्याण के बौद्धिक अनुष्ठान को कार्यान्वित किया। भारतेन्दु ने लोक जीवन का साक्षात्कार करके व्यापक राष्ट्रीय एवं सामाजिक भूमिका में उसके यथार्थ को समझा था तथा उसके विविध आयामों को लोकभाषाओं के माध्यम से अपनी रचनाओं में सार्थक एवं सक्षम स्तर पर अभिव्यक्त किया।

सृजन की यह लोक संकल्पना भारतेन्दु और उनके समकालीनों के साहित्य में सघन रूप में परिव्याप्त है। परन्तु भारतेन्दुयुगीन सभी साहित्य रूपों में नाट्यलेखन में रचनाकारों की लोकधर्मी चेतना अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और प्रखर रूप में पल्लवित हुई है। भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारों ने लोक तत्वों के माध्यम से अपनी नाट्य-कृतियों में परम्परागत और नवीन तत्वों का रचनात्मक समन्वय किया, जन मानस के सांस्कृतिक बोध को अर्जित किया, समाज के कलुष की आलोचना की और राष्ट्रीय चेतना को लोक भाषा समन्वित नवीन संचेतना की संवहक भाषा में अभिव्यक्त किया।

भारतेन्दु युग में सभी साहित्य रूपों की तुलना में नाटक लोकाभिव्यक्ति के सर्वाधिक सशक्त एवं जनप्रिय माध्यम के रूप में विकसित हुआ। अभिनेय होने के कारण इस युग में नाटक लोक जीवन से व्यापक स्तर पर सम्पृक्त दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु और उनके समकालीनों ने इस तथ्य को भली प्रकार समझ लिया था कि नाटक राष्ट्रीय एवं सामाजिक भूमिका में लोक मानस उद्वेलन और शिक्षा का सबसे प्रभावी माध्यम हो सकता है। इसीलिए भारतेन्दु और उनके समकालीनों ने नाट्य लेखन के क्षेत्र में गम्भीर और सजग साधना की तथा नाटक को सभी संभाव्य सदर्भों में लोक तत्वों की समन्विति के द्वारा लोकोन्मुख बनाया। उन्होंने नाटक में सांस्कृतिक संचेतना और समकालीन बोध को लोक तत्वों के

माध्यम से प्रभावी रूप में अभिव्यक्त करने में सफलता भी प्राप्त की। इसीलिए भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककार संस्कृति की संरक्षा के साथ युग बोध की भूमिका में नाटक को जन भावना के उन्मेष और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हुए उसे नयी चेतना से सम्पोषित करने में संलग्न दिखाई पड़ते हैं।

भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य की लोकोन्मुखता की वस्तुनिष्ठ पहचान नाटकों में गृहीत लोक कथानकों से होती है। भारतीय धर्म कथानकों में रामकथा, कृष्ण-कथा, कौरव-पाण्डव कथा, पातिव्रत्य धर्म कथाएँ और लोक प्रसिद्ध भक्तों की कथाएँ भारतेन्दुयुगीन नाटकों के लिए उपजीव्य बनीं। धर्म-कथा मूलक नाटकों में उदात्त जातीय चरित्रों का बोध कराते हुए सामाजिक समस्याओं का चित्रण और मूल्य बोध भारतेन्दुयुगीन नाटककारों का प्रमुख उद्देश्य बना है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पुनर्जागरण की चेतना के पल्लवन में धर्म एक सशक्त एवं व्यापक तत्व के रूप में स्वीकृत हुआ। अतः भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने धर्माश्रित सामाजिक संचेतना की उपादेयता को पहचानकर धर्म कथाश्रित नाटकों की रचना प्रवृत्ति को बल दिया। इन नाटकों में धार्मिक मान्यताओं की पुष्टि के साथ लोकानुरंजन और लोक संगत की चेतनायें भी समाहित हैं। इनके माध्यम से राम, कृष्ण, कौरव-पाण्डव और लोक प्रख्यात भक्तों के चरित्रों से लोक को परिचित कराया गया। वस्तुतः धर्म-कथा मूलक नाटकों की रचना द्वारा भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने उदात्त चरित्रों और मूल्यों के माध्यम से जहाँ जनमानस में आस्था की ज्योति जगाई, वहीं उन्होंने उसे अनुरंजित भी किया।

भारतेन्दु युग तक रामकथा अपने पौराणिक महाकाव्यात्मक एवं लोक नाट्य स्वरूपों की विकास प्रक्रिया में विविध लोक तत्वों और लोक श्रद्धा को आत्मसात कर पर्याप्त लोकप्रिय हो चुकी थी। रामकथा द्वारा संपोषित जीवनादर्श और मूल्य जन सामान्य के लिए सम्बन्ध स्वरूप संस्कारतः ग्राह्य थे। अतः भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने लोक मानस के इस संस्कार को पहचान कर रामकथापरक नाटकों की रचना की। भारतेन्दु युग में रामकथा परक अनेक नाटकों की रचना रामलीला में अभिनय के प्रयोजन से हुई। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि भारतेन्दुयुगीन इन नाटकों में अंशतः बाल्मीकीय रामायण और अधिकांशतः तुलसी के रामचरितमानस की रामकथा के विविध प्रसंगों को रूपान्तरित करने की प्रवृत्ति पल्लवित हुई है तथा इनकी प्रस्तुति में लोक बोध को विशेषतः भाषा के स्तर पर नाटककारों ने दृष्टि में रखा है।

भारतेन्दु के जीवनकाल में रामनगर, वाराणसी में बराबर रामलीला का व्यापक एवं प्रभावी आयोजन होता था। भारतेन्दु ने रामलीला के लिए "श्री रामलीला नाटक" की रचना की जो अपने शिल्प में लोक तत्वों को आत्मसात किए हुए है। इसमें कथानक का आधार तुलसीकृत रामचरितमानस है जिसमें बालकाण्ड से लेकर अयोध्याकाण्ड तक की घटनाओं की संक्षिप्त कथा प्रस्तुत की गई है। परन्तु भारतेन्दु ने रामचरितमानस की कथा को लोकशिक्षा एवं लोकरंजन के प्रयोजन से लौकिक स्वरूप प्रदान किया है। वस्तुतः "श्री

रामलीला चम्पू विद्या" में रचित रामनगर में होने वाली रामलीला का सहज सरस विवरण है।[1] इसमें प्रयुक्त गद्य के माध्यम से कथा प्रवाह के नैरन्तर्य को सुरक्षित रखा गया है तथा रंगमंच पर पात्रों के आगमन, भाव नृत्य नाटिका के रूप में अभिनय को प्रभावी बनाने हेतु पद, दोहा, सवैया आदि छन्दों के माध्यम से गेयता के तत्व को पल्लवित करते हुए लोक नाट्य के स्वरूप को निर्मित किया गया है। श्रीरामलीला नाटक के वालकाण्ड और अयोध्याकण्ड की समाप्ति पर नाटककार के कथन लोकनाट्य शैली के अनरूप हैं।[2]

भारतेन्दु युग में भारतेन्दु के "श्रीरामलीलानाटक" के अतिरिक्त रामकथापरक अनेक नाटकों की नामावली मिलती है। रामलीला के अभिनय के प्रयोजन से लिये गये अनेक नाटकों में पं० शिवशंकर लाल वाजपेयी का "रामयश दर्पण" (1892 ई०)[3] द्विजदास का :"रामचरित नाटक" (1891 ई०) और पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी का "रामलीला नाटक" (1879 ई०) उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों का वस्तुविधान रामचरितमानस पर आधारित है। द्विजदास ने ":रामचरित नाटक" की भूमिका में रामचरितमानस के कथानक का आधार लेने का भी उल्लेख किया है "काशिराज महाराज ईश्वरीनारायण जी के प्रसन्नार्थ रामलीला करने के लिए रामचरितमानस के आधार पर रचा गया है।" पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने तो प्रतिदिन होने वाली लीला का भी उल्लेख किया है।

रामकथा के सातों काण्डों पर आधारित पं० दामोदर शास्त्री सप्रे ने रामलीला में अभिनय के प्रयोजन से सात नाटकों की "रामलीला नाटक" (1882–87) नाम से रचना की। "रामलीला नाटक" में कथा विन्यास वाल्मीकीय रामायण और रामचरितमानस के आधार पर हुआ है। रामचरितमानस के आधार पर बन्दोदीन दीक्षित के 'सीता स्वयंवर' नाटक पर रामलीला नाट्य परम्परा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने 'सीताहरण' (1876 ई०) की रचना की जिसमें रामकथा की एक लोक प्रभावी मार्मिक घटना को अभिनेयार्थ प्रस्तुत करना नाटककार का उद्देश्य रहा है। भारतेन्दु युग में पूरी रामकथा और उसके लोक-आकर्षक प्रसंगों का आधार लेकर रचे गये नाटकों में शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत 'रामचरितावली' (1868 ई०) और 'जानकीमंगलनाटक' (1877 ई०), रामगोपाल विद्यान्त का 'रामाभिषेक नाटक' (1895 ई०), पं० बलदेव प्रसाद मिश्र का 'सीता वनवास नाटक' (1895 ई०) रामलीला नाटकों की परम्परा में विशेष महत्व रखते हैं। इनमें मंगल काव्यों की परम्परा में रचित 'जानकी मंगल नाटक' को विद्वानों ने प्रथम अभिनेय नाटक माना है जो रामचरित मानस के धनुर्यज्ञ प्रसंग का गद्य नाट्य रूपान्तर है। यह नाटक पर्याप्त लोकप्रिय भी हुआ तथा अभिनय के आठ वर्ष पश्चात् यह प्रयाग के ज्ञानमार्तण्ड यंत्रालय द्वारा 1876 ई० में प्रकाशित हुआ तथा 1884 ई० में खड्गविलास प्रेस बांकीपुर से पुनर्मुद्रित हुआ। जानकीमंगल नाटक जहाँ एक साहित्यिक नाट्य

रचना है वहीं यह अपने युग में 'जन बोधक' भी सिद्ध हुई। जानकीमंगल नाटक के अभिनय में आकस्मिक स्थिति में भारतेन्दु का लक्ष्मण की भूमिका में प्रस्तुत होना उनकी रंगमंचीय निष्ठा और अभिनयप्रियता का द्योतक तथ्य है। इस नाटक के अभिनय में भारतेन्दु का भाग लेना हिन्दी रंगमंच के लिए प्रेरक और प्रभावी भी सिद्ध हुआ।

रामचरितमानस से इतर पुराण प्रसूत लोक विश्रुत सीता वनवास के प्रसंग पर पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'सीतावनवास' नाटक रचा जिसमें तीन अंकों में सीता बनवास की कथा वर्णित हुई है। रामकथा में भक्त हनुमान के प्रति लोक की निष्ठा परम्परा से रही है, अतः हनुमतचरित के लोक विश्रुत प्रसंगों पर आधारित नाटकों की रचना प्रवृत्ति को भी भारतेन्दु युग में प्रश्रय मिला। श्री कन्हैयालाल का 'अंजनासुन्दरी नाटक' (1899 ई०) इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

रामकथापरक इन नाटकों में जिनमें से अधिकांश मुख्य रूप से रामलीला में अभिनेयार्थ रचे गये, नाटककारों की लोकधर्मी रचनाशीलता का सस्कार स्थल लक्षित होता हैं। इनके कथानक विन्यास में नाटककारों ने कहीं-कहीं समकालीन बोध को भी सम्पृक्त किया और रामकथा के परम्परित कथासूत्रों के माध्यम से जन उपयोगी विचारों को लोक सम्प्रेष्य बनाने की चेष्टा की हैं। पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने आर्य और राक्षस संस्कृतियों के संघर्ष को सीताहरण नाटक में इसी आशय से व्यंजित किया है। उनका सीता के मुख से स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों की घोषणा कराना प्रगतिशील नये विचारों के अनुरूप हैं।

रामलीला के समान भारतेन्दु युग में रासलीला लोकनाट्य की परम्परा भी नाटक रचना के लिए प्रेरक बनी। कृष्ण का लोकरंजक व्यक्तित्व वात्सल्य, सख्य और शृंगार लीलाओं के अन्तर्गत लोक तत्वों को आत्मसात करता हुआ लोक रुचि के अनुरूप लोक नाट्यों में रूपातंरित होता गया। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने कृष्ण लीलाओं के पौराणिक एवं लोक स्वरूप पर आधारित तथा लोक नाट्य से संस्कारित अनेक नाटकों की रचना की। पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने कृष्णजन्म प्रसंग पर आधारित नन्दोत्सव (1880 ई०) नाटक रचा जिसमें लोक में मान्य शकुनों—अपशकुनों का निरूपण हुआ है। भारतीय नाट्य तत्वों और लोकनाट्य की सम्मिलित शैली में भारतेन्दु ने कृष्ण-लीला की उदात्त शृंगार चेतना को व्यंजित करते हुए चन्द्रावली नाटिका (1876 ई०) की रचना की। चन्द्रावली नाटिका से प्रेरणा ग्रहण करके पं० अम्बिकादत्त व्यास ने ललिता नाटक (1878 ई०) रचा। इन दोनों नाटकों में प्रेम के उदात्त रूप के पल्लवन के साथ कृष्णप्रेम को लोकानुरंजन का भी आयाम प्रदान किया गया है। राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं को कुछ नाटककारों ने लोकरंजन के विशुद्ध प्रयोजन से लौकिक भूमिका में भी वर्णित किया। व्रजजीवनदास ने 'प्रेमबेल' नाटक (1897 ई०) में राधा-कृष्ण के प्रेम को लोक परिवेश में चित्रित किया है। द्विजकृष्णदत्त के 'युगुल बिहार' नाटक

(1892 ई०) में राधा-कृष्ण की लौकिक प्रेम लीलाओं का लोकानुरंजनकारी चित्रण इसका प्रमाण है। सूरनारायण सिंह की 'श्यामानुराग नाटिका' (1899 ई०) भी इसी प्रकार की नाटक रचना है।

राधा कृष्ण और गोपियों के प्रेम की सर्वोत्कृष्ट लीला रासलीला के भागवत और हरिवंशपुराण की रासलीला तथा लोकनाट्य में विकसित रासलीला के कथासूत्रों का आधार लेकर भारतेन्दु युग में जिन नाटकों की रचना हुई उनमें लाला खड्गबहादुर मल्ल का महारास (1885 ई०) और हरिहर दुबे का महारास (1884 ई०) उल्लेखनीय हैं। रासलीला विषयक इन नाटकों में रासलीला को लोक नाट्य शिल्प के अनुरूप ढालने की चेष्टा दृष्टिगत होती है।

कृष्णलीला के लोकरंजन प्रसंगों के अतिरिक्त भारतेन्दुयुगीन नाटककार कृष्ण के लोक-रक्षक और लोकमंगलकारी रूपों के प्रति भी आकृष्ट हुए। मथुरा लीला के अन्तर्गत कंस वध का प्रसंग नाटककारों के लिये प्रेरक बना। पं० देवकी नन्दन त्रिपाठी के कंसबध, (1878 ई०) तथा पं० बलदेव प्रसाद मिश्र के इसी नाम के नाटक कृष्ण के इन्हीं रूपों की अभिव्यक्ति के प्रयोजन से रचे गये। मथुरा लीला के अन्तर्गत लोकभूमि पर प्रेम-दर्शन की प्रतिष्ठा करने वाले प्रसंग 'भ्रमरगीत' के गोपी-उद्धव संवाद को लेकर विद्याधर त्रिपाठी ने 'उद्धव बसीठिका' नाटक (1887 ई०) और गोवर्द्धन गोसाई ने 'उद्धव लीला' नाटक (1884 ई०) की रचना की।

द्वारिका लीला के अन्तर्गत 'रूक्मिणी-परिणय' और 'सुदामा दारिद्र्य निवारण' के प्रसंग लोक में भगवत् कृपा के प्रमाणक उपाख्यानों के प्रिय रहे हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने इन दोनों प्रसंगों का आधार लेकर नाटकों की रचना की। रूक्मिणी-परिणय' के प्रसंग को मंगल-काव्यों की परम्परा के अनुरूप अपनाते हुए पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने 'रूक्मिणी-हरण' (1876 ई०) और पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने 'रूक्मिणी-परिणय' (1894 ई०) नाटक रचे, जिनमें नारद-प्रसंग का समावेश नारद की लोकविश्रुत प्रवृत्ति के आधार पर किया है। 'सुदामा-दारिद्र्य निवारण' के प्रसंग को लेकर बन्दोदीन दीक्षित और मातादीन (सहलेखक) के 'सुदामाचरित' (1871 ई०) और शिवनंदन सहाय के 'कृष्ण-सुदामा-नाटक' (1870 ई०) मित्र भावना के लोक-प्रभावी रूप का बोध कराते हुये दृष्टिगत होते हैं।

कृष्ण कथा के भक्ति-काव्य में स्वीकृत ललित एवं ऐश्वर्यपूर्ण प्रसंगों से इतर कृष्ण-संतति से सम्बन्धित लोक प्रसिद्ध प्रसंगों ने भी भारतेन्दुयुगीन नाटककारों को आकृष्ट किया। भारतेन्दु के 'धनंजय विजय' (1874 ई०) और अयोध्या सिंह उपाध्याय के 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (1893 ई०) नाटक कृष्ण-संतति के लोकविख्यात कथानकों पर आधारित हैं। अनिरुद्ध-ऊषा की प्रेम-कथा को भी लेकर कई नाटक रचे गये जिनमें श्री चन्द्र शर्मा (1877 ई०), कार्त्तिक प्रसाद खत्री (1891 ई०) और हरखनाथ

(1891 ई०) ने 'ऊषाहरण' शीर्षक नाटक रचे। कृष्ण-कथा के विविध प्रसंगों पर आधारित ये नाटक उनके लोकप्रचलित पक्ष को अभिव्यक्ति देते हुये दिखलाई पड़ते हैं।

महाभारत की कृष्ण कथा के प्रख्यात कौरव-पांडव की कथा की आधार लेकर भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने जो नाटक रचे, उनमें गजराज सिंह का 'द्रौपदी-वस्त्र हरण' (1885 ई०) रायप्रभुलाल का 'द्रौपदी-वस्त्र हरण' (1896 ई०), बाबू लक्ष्मण प्रसाद का "द्रौपदी नाटक' प्रमुख हैं। अर्जुन की चारित्रिक गरिमा से सम्बन्धित नाटक भी रचे गये जिनमें शालिगराम वैश्य का 'अर्जुन-मद मर्दन' और पं० बालकृष्ण भट्ट का 'वृहन्नला' नाटक उल्लेखनीय है। अभिमन्यु के प्रसंग को लेकर सालिग्राम वैश्य ने 'अभिमन्यु' (1896 ई०) नाटक की रचना की। कर्ण के चरित्र पर आधारित श्री विष्णु गोविन्द शिवादेकर ने 'कर्ण-पर्व' (1879 ई०) नाटक रचा। कृष्णकथा परक इन नाटकों में जो प्रसंग स्वीकार किये गये हैं, उनमें घटनाओं की तुलना में चरित्रों का आकर्षण प्रमुख रहा है। नाटकों में नाटककारों की दृष्टि सामान्य जन के लिए महाभारत के आदर्श चरित्रों से परिचित कराने की रही है। लोक अभिरुचि के साथ उन्होंनें यथा संदर्भ लोक शिक्षा को भी अपनी दृष्टि में रखा है।

यह उल्लेखनीय है कि भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने कृष्णलीला के जिन प्रसंगों को इन नाटकों में ग्रहण किया है, उनमें अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी प्रसंग वे हैं जिन्हें पूर्ववर्ती भक्त कवि उनकी रस चेतना और अपनी रचना शैली के संश्लेषण से लोक संवेद्य बना चुके थे। अतः ये प्रसंग पुराण प्रसूत होते हुए भी अपनी लोकरंजन और लोकमंगल की चेतनाओं के कारण लोक कथानकों का संस्कार अर्जित कर चुके थे। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने उनकी लोक स्वीकृति को पहचानकर उन्हें अपने नाटकों में स्थान दिया। साथ ही नाटककारों ने कहीं-कहीं घटना सूत्रों में अपने युग की समस्याओं को भी मुखरित करने की सजगता बरती है।

पतिव्रत धर्म की लोककथाओं का आधार लेकर भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने लोक शिक्षा के प्रयोजन से लोक विश्रुत नारी चरित्रों पर आधारित नाटकों की रचना की। भारतेन्दु की "सती प्रताप" (1883 ई०) अपूर्ण नाटक सत्यवान और सावित्री के चरित्रों का आधार लेकर उन्हें लोक सम्प्रेष्य बनाने के प्रयोजन से लिखा जा रहा था। बाबू कन्हैयालाल ने "शील सावित्री" (1897 ई०) में भारतेन्दु के इस संकल्प को अग्रसर किया। इस नाटक में उन्होंने सावित्री के जीवन प्रसंगों को अलौकिक रूप देकर लोकोन्मुख बनाने की चेष्टा की है। इसी परम्परा में श्री देवराज ने सावित्री नाटक (1900 ई०) में लोक विश्वासों को उभारते हुए लोकमानस को प्रमुखता दी है। सावित्री विषयक इन नाटकों के माध्यम से नाटककारों ने सावित्री के चरित्र को लोक शिक्षा का माध्यम बनाया है।

सावित्री की कथा के समान सती सुलोचना और नल-दमयन्ती की पुराण प्रसिद्ध लोक कथाओं ने भी भारतेन्दु युगीन नाटककारों को आकृष्ट किया। नारी शिक्षा और सामाजिक

विचार प्रक्रिया को अभिव्यंजित करते हुए श्री बलदेव जी अग्रहरि ने "सती सुलोचना (1877 ई०) नाटक की रचना की।[4] नल-दमयन्ती की पतिव्रत धर्मकथा को हर्ष के "नैषध' महाकाव्य से ग्रहण कर "दमयन्ती स्वयंवर" नाटक लिखा। सुदर्शनाचार्य ने अनर्घ नल चरित्र (1896 ई०) में नल दमयन्ती की कथा को चित्रित करते हुए उनके ग्राहस्थ्य जीवन के हृदयग्राही चित्रों को विशेषतः महत्व दिया है।

भारतेन्दु युग में अपवाद रूप में ही सही पतिव्रता नारियों के लोक पर्व हरितालिका से सम्बन्धित कहानी का आधार लेकर लाला खड्गवहादुर मल्ल ने हरितालिका नाटिका (1887 ई०) लिखी। पातिव्रत धर्मकथापरक इन नाटकों में आदर्श नारी चारित्रों को लोक सम्प्रेष्य बनाने हेतु पुनर्सृजित करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

भारतेन्दु युग में लोक प्रसिद्ध भक्तों की जीवन कथाओं का आधार लेकर नाटकों की रचना प्रवृत्ति भी विकसित हुई। भक्त प्रह्लाद, ध्रुव, मोरध्वज, गोपीचंद, भर्तृहरि, नहुष, हरिश्चन्द्र आदि सत्यनिष्ठ भक्त चरित्र भारतेन्दुयुगीन नाटककारों के लिए प्रेरक बने। इन भक्तों की चरित्र कथाएं लोक में परम्परा से समादृत रही हैं। अतः भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने इन कथाओं की लोकमानस से संगति को पहचानकर उन्हें अपने नाटकों में ग्रहण किया। प्रह्लाद की कथा का आधार लेकर श्री निवासदास ने प्रह्लाद चरित्र (1888 ई०), जगन्नाथशरण ने प्रह्लाद चरित्रामृत (1900 ई०), महाराजदीन ने "प्रह्लाद चरित्र" (1900 ई०), मोहनलाल विश्वलाल पण्ड्या ने "प्रह्लाद नाटक" (1878 ई०) ओर रामगया प्रसाददीन ने "प्रह्लाद नाटक" (1882 ई०) लिखे। इन नाटकों में समाज को भक्त प्रह्लाद की चारित्रिक महानता के माध्यम से आस्थावान बनाने का लक्ष्य प्रमुख रहा है। कुछ नाटककारों ने प्रह्लाद की कथा को विशिष्ट आयाम भी प्रदान किये। जगन्नाथशरण ने "प्रह्लाद चरितामृत" में तुलसी की विनयपत्रिका के दो पदों का प्रयोग किया है और प्रह्लाद चरित्र की अवतारणा विश्वलोक के द्वारपाल जय-विजय को शाप देने के प्रयोजन से की है। मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने 'प्रह्लाद-नाटक' में ब्रिटिश शासन पर व्यंग्य करते हुए प्रह्लाद की कथा को युग-सन्दर्भ से जोड़ दिया है।

भारतेन्दु युग में ध्रुव की जीवन-कथा पर आधारित दामोदरशास्त्री ने 'बालखेल' या "ध्रुव चरित्र" (1889 ई०) और मंसाराम ने 'ध्रुव तपस्या' (1895 ई०) नाटकों की रचना की जिनका प्रयोजन ध्रुव के चरित्र के माध्यम से बाल-शिक्षा का है। सालिगराम वैश्य ने 'मोरध्वज' (1888 ई०) में धर्मपरायण राजा मोरध्वज के माध्यम से आदर्श शासक के चरित्र को संवेदनात्मक रूप प्रदान करने की चेष्टा की है।

गोपीचन्द और भर्तृहरि के लोकवार्त्ता में विकसित कथानकों का आधार लेकर कुछ नाटक रचे गये। गोपीचन्द के जीवन से सम्बन्धित नाटकों में अण्णा ईमानदार का 'गोपीचन्द नाटक' (1869 ई०), सखाराम बालकृष्ण सरनायक का 'गोपीचन्द' (1883 ई०)

नाटकों में गोपीचन्द की अभिप्रायों से संयुक्त जीवन कथा को प्रस्तुत किया गया है। भारतेन्दुयुगीन एक मात्र नाट्य लेखिका श्रीमती लाली ने भी गोपीचन्द नाटक (1896) की रचना की। "गोपीचन्द" विषयक इन नाटकों में धर्म के आडम्बरपूर्ण रूप पर प्रहार कर लोक-धर्म से जन-मानस को परिचित कराना नाटककारों का उद्देश्य रहा है। लोकवार्त्तापरक होने के कारण "गोपीचन्द"-विषयक इन नाटकों में लोकरूढ़ियों का प्रचुर मात्रा में रचनात्मक विन्यास दिखाई पड़ता है। भर्तृहरि के जीवन-प्रसंगों पर आधारित श्यामसुन्दर लाल दीक्षित ने "महाराज भर्तृहरि" नाटक (1878 ई०) की रचना की। भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द उपनाम 'गिरधर' ने हिन्दी का सर्वप्रथम माने जाने वाला नाटक "नहुष" लिखा जिसमें नहुष के पौराणिक आख्यान को लोकशिक्षा के प्रयोजन से प्रस्तुत किया गया है।

प्रख्यात पौराणिक चरित्रों में मानव की सत्यनिष्ठा के आदर्श राजा हरिश्चन्द्र की कथा पर आधारित भारतेन्दु ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक (1875 ई०) की रचना की। भारतेन्दु ने बलिया में 5 नवम्बर 1884 ई० को "सत्य हरिश्चन्द्र" नाटक का मंचन भी किया था और स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अभिनय किया था। बाबू राधाकृष्णदास और रविदत्त शुक्ल ने भी इस नाटक में अभिनय किया था। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक का यह अभिनय अत्यंत प्रभावी सिद्ध हुआ। इस नाटक की रचना में भारतेन्दु का प्रयोजन पुराणप्रसूतप्रख्यात उपाख्यान के माध्यम से अपने हरिश्चन्द्र नाम के व्यंग्य को भी सार्थक बनाना था इसीलिये 'सत्य हरिचन्द्र' नाटक का सूत्रधार कहता है :

> "जो गुन नृप हरिचन्द्र में, जगहित सुनियत कान।
> सो सब कवि हरिचन्द में, लखहु प्रतच्छ सुजान॥"

भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' से प्रेरित होकर श्री चुन्नीलाल ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' (1889 ई०) और कैलाशनाथ वाजपेयी ने 'विश्वामित्र' (1897 ई०) नाटकों की रचना की, जिनमें हरिश्चन्द्र के सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व को लोकादर्श हेतु प्रस्तुत करना नाटककारों का प्रयोजन रहा है। इसके अतिरिक्त पौराणिक चरित्रों और अन्य कथासंदर्भों पर आधारित बाबू लक्ष्मी प्रसाद ने 'उर्वशी' और 'देवकीनन्दन त्रिपाठी ने 'लखमी सरस्वती मिलन' नाटकों की रचना की जिनका प्रमुख प्रयोजन लोकानुरंजन ही है।

इस प्रकार, भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारों ने प्रख्यात पौराणिक चरित्रों पर आधारित नाटकों की रचना द्वारा अपनी लोकोन्मुख नाट्य संकल्पना को रचनात्मक रूप दिया। उन्होंने अपने नाटकों में अधिकतर ऐसे कथानकों का आधार ग्रहण किया है जो प्रायः लोकप्रचलित थे और लोकमन जिन्हें निर्बाध स्तर पर ग्रहण कर सकता था।

भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने जहाँ धर्मकथाओं पर आधारित नाटकों के माध्यम से लोक जीवन को आदर्श की भावभूमि पर अनुप्राणित किया वहीं प्रेमकथापरक नाटकों

के माध्यम से लोकमानस को अनुरंजित भी किया। भारतेन्दुयुगीन प्रेमकथामूलक नाटकों को परम्परागत प्रेमाख्यानों की साहित्यिक परिणति कहा जा सकता है। भारतेन्दुयुग के नाटककार धार्मिक तत्वों और कथाभिप्रायों को अपनी सर्जकप्रतिभा के माध्यम से इन नाटकों में लोक संप्रेष्य बनाने में संलग्न दिखाई पड़ते हैं।

भारतेन्दु ने 'चन्द्रावली नाटिका' में जहाँ प्रेम के धर्मनिष्ठ स्वरूप को कृष्णलीला के कथातन्तु के माध्यम से रचा है वहीं उन्होंने उसमें प्रेमकथात्मक सूत्रों और अभिप्रायों का भी प्रयोग किया है। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने प्रेम के सुखान्त और दुःखान्त दोनों पक्षों को अपने नाटकों में प्रस्तुत किया। भारतेन्दु ने प्रेम के सुखान्त पक्ष को प्रस्तुत करने वाले 'चन्द्रावली' (1876 ई०) और 'विद्यासुन्दर' (1868 ई०) नाटकों की रचना की। 'भारतेन्दु' के "विद्यासुन्दर" नाटक से प्रेरणा ग्रहण करके लोककथा की भूमिका में विन्देश्वरी प्रसाद त्रिपाठी ने 'मिथिलेश कुमारी' (1888 ई०) लिखा। खड्गबहादुर, मल्ल ने "रतिकुसुमायुध" (1885 ई०) में "विद्यासुन्दर", "चन्द्रावली", और "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के सम्मिलित प्रभाव को रचनात्मक रूप देने की चेष्टा की है। "रतिकुसुमायुध" से प्रभावित होकर बजर प्रसाद ने "मालती वसन्त" (1899 ई०) प्रेमकथामूलक नाटक की रचना की। अमानसिंह गोटिया और पं० जागेश्वरदयाल ने भारतेन्दु के "विद्यासुन्दर" की प्रेमकथा से प्रेरित होकर "मदनमंजरी" (1884 ई०) नाटक की रचना की। इन नाटकों में नाटककारों ने यद्यपि लोकप्रचलित प्रेमकथानकों का आधार लिया है तथापि उनकी सचेतन दृष्टि प्रेम संदर्भों को समाज सापेक्ष्य और लोक शिक्षा मूलक बनाने की भी रही है, विशेषकर वर-वधू की प्रेमभावना को इन नाटकों में वरीयता दी गयी है।

"माधवानल कामकन्दला" के प्रेमाख्यान ने भी भारतेन्दुयुगीन नाटककारों को आकृष्ट किया। सालिगराय ने रीतिकालीन स्वच्छन्दकवि आलम की "माधवानलकामकन्दला" का आधार लेकर "माधवानलकामकन्दला" (1888 ई०) नाटक लिखा। इसी परम्परा में, पं० किशोरी लाल गोस्वामी ने 'मयंक मंजरी' महानाटक' (1891 ई०) की रचना की जिसमें लोकतत्वों का भरपूर उपयोग हुआ है। श्री खेलावनलाल के 'प्रेमसुन्दर' (1892 ई०) श्री निवासदास ने 'तप्तासंवरण' (1883 ई०) नाटकों की रचना कर प्रेमकथामूलक सुखान्त नाटकों की परम्परा को अग्रसर किया। लोकानुरंजन के प्रयोजन से रचित प्रेमकथामूलक इन नाटकों में नाटककारों ने यथा संदर्भ प्रेम की सामाजिक विसंगतियों को निरूपित करते हुए प्रेम को आदर्शोन्मुख और आशावादी बनाने की दृष्टि रखी है।

प्रेम की भारतीय धारणा सुखान्त है इसलिए भारतेन्दुयुग में दुखान्त प्रेम कथाओं पर आधारित नाटक, अपेक्षाकृत कम लिखे गये। इस दृष्टि से श्री निवासदास का रणधीर प्रेममोहिनी नाटक' (1877 ई०) उल्लेखनीय है जो हिन्दी का पहला दुखान्त नाटक माना जाता है। इस नाटक में रणधीर और प्रेममोहिनी के प्रेम को दुखान्त भाव-

भूमि पर चित्रित किया गया हैं। इस नाटक से प्रेरणा ग्रहण करके शालिगराम वैश्य ने 'लावण्यवती सुदर्शन' (1890 ई०) नाटक की रचना की जिसमें राक्षस नायक का अपहरण कर लेता है और नायक सुलोचन चिता में प्रवेश करके अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। लावण्यवती सुदर्शन के अनुकरण पर जवाहर लाल वैद्य ने 'कमलमोहिनी भँवर सिंह' (1896 ई०) नाटक लिखा जिसमें एक बधिक के द्वारा नायक राजकुमार का वध होता है। इन नाटकों में कथा प्रारूप लोक कथानकों से अनुप्रेरित और प्रभावित रहे हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने दुःखान्त प्रेम नाटकों को विशुद्ध लोक कथानकों के पैटर्न पर नियोजित करते हुए दुखान्त प्रेम को वरेण्य नहीं माना है और नायकों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की है। रणधीर प्रेममोहिनी का भारतेन्दु युगीन दुखान्त नाटकों पर अनुकरणात्मक प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रेम कथा मूलक उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त बालमुकुन्द गुप्त का गंगोत्री नाटक (1897 ई०) उल्लेखनीय है जिसमें भारतेन्दु की समाज के निम्न वर्ग को नाटक में अभिव्यक्ति देने की संचेतना साकार हुई है, क्योंकि इस नाटक की नायिका निम्नवर्गीय युवती है। प्रेमकथामूलक सुखान्त नाटकों के समान दुखान्त नाटकों में भी नाटककारों ने सामाजिक समस्याओं को सन्दर्भित किया है। प्रेमकथामूलक दुःखान्त और सुखान्त दोनों के प्रकार के नाटक लोक कथाओं के शिल्प से अनुप्राणित हैं जो भारतेन्दुयुगीन नाटककारों की लोकवृत्ति को प्रमाणित करने वाली प्रवृत्ति है।

भारतेन्दु युगीन नाटककारों को इतिहास के वे ही पात्र आकृष्ट कर सके जो लोक मानस में धर्म और उदात्त की लोकमंगलकारी चेतना के प्रसार के माध्यम रहे हैं और लोक मानस जिनके प्रति परम्परा से आस्थावान रहा है। परन्तु भारतेन्दु युग में ऐतिसिक कथानकों पर आधारित नाटकों की रचना अपेक्षाकृत कम हुई। भारतेन्दु की नीलदेवी (1881 ई०) जो एक ऐतिहासिक गीतरूपक है और मुद्राराक्षस (1878 ई०) को ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा में रखा जाता है। नीलदेवी के अनुकरण पर कुछ नाटक अवश्य लिखे गये परन्तु प्रख्यात ऐतिहासिक चरित्र पर आधारित राधाकृष्ण दास का महाराणाप्रताप सिंह (1878 ई०) भारतेन्दुयुग का अत्यन्त लोकप्रिय ऐतिहासिक नाटक सिद्ध हुआ। यह नाटक रगमच पर कई बार अवतरित भी किया गया। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक कथा सन्दर्भों और चरित्रों का उपयोग करके जो नाटक लिखे गये उन्हें नाम मात्र के लिए ऐतिहासिक कहा जा सकता है। ऐसे नाटकों में श्री निवासदास "संयुक्ता स्वयंवर" (1885 ई०) काशीनाथ खत्री का 'सिंधु देश की राजपुत्रियाँ' और 'गुन्नौर की रानी', सालिगराम का 'पुरू विक्रम' और राधाकृष्णदास का 'पदमावती' का नामोल्लेख किया जा सकता है। इस परम्परा में बलदेव प्रसाद का "मीराबाई" नाटक (1890 ई०) इतिहास और धर्म-गाथा के तत्वों का आश्चर्यमण्डित रचनात्मक स्वरूप सृजित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस नाटक में अकबर और राणा कुम्भा को समकालीन बनाकर मीराबाई के दिव्य चरित्र को उजागर करने के प्रयोजन से मिथकीय तथ्यों

का सुन्दर विन्यास किया है। वस्तुतः इस प्रकार के नाटकों के माध्यम से भारतेन्दुयुगीन नाटककार भारतीय महापुरुषों के गौरव को नाटककार लोक संप्रेष्य बनाना चाहते थे और अपने इस प्रयोजन में वे सफल कहे जा सकते हैं।

भारतेन्दुयुग के समसामयिक सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित नाटकों में नाटककारों की युग परिवेश के प्रति सजगता व्यक्त हुई है। उन्होंने धार्मिक और सामाजिक विसंगतियों को नव चेतना के आलोक में परखने की चेष्टा की है। इन नाटकों में गृहीत कथानक नहीं है लेकिन लोक से व्यापक स्तर पर जुड़ने के कारण इनकी लोकोन्मुखता सिद्ध है। भारतेन्दु का नाट्यादर्श था नाटक में लोक की प्रस्तुति के द्वारा उसे लोक संवेद्य बनाना और सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना। उन्होंने अपने 'नाटक' निबन्ध में लिखा है "जिस समय जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप में चलता रहे, उस समय में सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समालोचना करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना योग्य है।" भारतेन्दु के इस नाट्यादर्श से प्रेरित होकर उनके युग में भक्तों और उदात्त ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से मूल्यों की प्रतिष्ठा का उपक्रम किया गया। समसामयिक राजनीति और सामाजिक समस्याओं पर आधारित नाटकों में नारी समाज की समस्याओं यथा—बाल विवाह, पर्दा प्रथा आदि का निषेध करते हुए विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा आदि का समर्थन किया गया। बालकृष्ण भट्ट का "ःजैसा काम वैसा परिणाम", राधाकृष्णकास का "दुःखनी बाला" जिसका पूर्वनाम "विधवा विवाह नाटक" रखा गया था इसी प्रकार के हैं। लाला जवहरलाल वैद्य का "कमल मोहिनी भंवर सिह नाटक" (1896 ई०) स्त्रीगमन के विरोध का निरूपण करता है। गोपालराम गहमरी के "विद्या-विनोद" में अपने सम-सामयिक समस्याओं को समाहित किया गया है। इनमें नारी जीवन की समस्याओं के अतिरिक्त गोसंकट का भी विरोध किया गया है। पं० अम्बिका दत्त व्यास के 'गो संकट' नाटक में गो संकट का भी विरोध करते हुए गाय के धार्मिक एवं आर्थिक महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। भारतेन्दु के "भारत-दुर्दशा" में यथार्थ बोध को उजागर करते हुए नाटक के कथ्य को लोक संदर्भित बनाने का उपक्रम स्पष्ट है। भारत दुर्दशा का प्रभाव व्यापक सिद्ध हुआ और उनके यथार्थ भेदी राष्ट्रीय स्तर से प्रेरित होकर खड्गबहादुर मल्ल ने "भारत आरत" (1885 ई०) अम्बिकादत्त व्यास ने 'भारत······सौभाग्यम्' (1887 ई०) बद्रीनारायण शर्मा ने 'भारत सौभाग्यम्' (1889 ई०) गोपालराम गुप्त ने 'देश दशा' (1892 ई०) 'प्रतापनारायण मिश्र ने' भारत दुर्दशा रुपक (1902 ई०) आदि नाटकों की रचना की। समसामयिक राजनीति और समस्याओं पर आधारित ये नाटक जन चेतना को प्रेरित और उद्वेलित करने की ऊर्जा रखते हैं। नाटककारों की लोक संकल्पना को शिल्प के स्तर भी प्रमाणित करते हैं। इसीलिए भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने अपने युग के सभी क्षेत्र की विसंगतियों एवं सांस्कृतिक संक्रमण को लोक ग्राह्य बनाने हेतु

'प्रहसन' नाट्य रूप को व्यापक स्तर पर अपनाया। भारतेन्दु का अंधेरनगरी, उनके अनुकरण पर दलित 'अति अंधेरनगरी' (1895 ई०) देवकीनन्दन त्रिपाठी का, 'कलयुगी जनेऊ' (1886 ई०) 'कलयुगी विवाह प्रहसन' (1892 ई०), और 'जयनार सिंह जी (1884 ई०), राधाकान्तलाल का 'देशी कुतिया विलायती बोल (1898 ई०) राधाचरण गोस्वामी का 'बूढे मुँह मुहासे' (1887 ई०), देवदत्त शर्मा का 'बाल्य विवाह' (1897 ई०) 'देवदत्त मिश्र का' 'वाल्य विवाह दूषक' (1882 ई०) अम्बिकादत्त व्यास का, 'कलयुग और घी' (1886 ई०) आदि प्रहसन समसामयिक विसंगतियों और लोक संचेतना के संवहन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारों ने भारतीय नाट्य परम्परा की भूमिका में लोक तत्वों के रचनात्मक विन्यास के द्वारा रंगमंच का परिष्कार किया। वस्तुतः उन्होंने नाटक या लोक धर्मी साहित्यिक संस्कार किया और इस प्रकार उन्होंने जहाँ नाटक को संस्कृति एवं समसामयिक चेतना से संयुक्त किया वहीं उसे उन्होंने लोकरुचि के परिष्कार के माध्यम के रूप में भी विकसित किया। देवकीनन्दन त्रिपाठी ने 'भारती-हरण' नाटक में नाटक के इस द्विविध को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"एक यह कि रसिकों का मनोरंजन हो और दूसरा यह कि नाटक रचना ऐसी हो कि जिससे श्रोताओं की प्रकृति,, चित्त, मन की उमंग किंचित भी निम्न श्रेणी की न होने पाये।" लोक नाट्य परम्परा से प्रभाव ग्रहण करके अमानत ने 1853 ई० में 'इन्दर सभा' लिखा था जो पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का प्रेरक बना। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों द्वारा अभिनीत होने वाले नाटकों ने लोक तत्वों का भरपूर उपयोग तो किया लेकिन अर्थोपार्जन प्रमुख उद्देश्य होने के कारण उन्होंने नाटक का स्वरूप पर्याप्त विकृत एवं कुरुचि पूर्ण बना दिया। भारतेन्दु ने इसीलिए 'इन्दर सभा' की प्रतिक्रिया में 'बन्दर सभा' की रचना की। नाटक की व्यावसायिक प्रवृति को प्रतिक्रिया स्वरूप भारतेन्दुयुगीन नाटककार नाटक की लोकोन्मुखता एवं लोकोपयोगिता के लक्ष्यों के प्रति युगवद् रुप में सजगता दिखाई। नाटक के सामाजिक दायित्व के निर्वाह में वे लोक मानस को युगबोध से संपृक्त करने में संलग्न दिखाई पड़ते हैं।

भारतेन्दुयुगीन समसामयिक राजनीति और सामाजिक समस्याओं पर आधारित नाटकों में लोक कथानकों को भले ही न ग्रहण किया गया हो परन्तु वे लोक से व्यापक स्तर पर जुड़े हुए हैं। वस्तु और संवेदना के स्तर पर वे सर्वथा लोकोन्मुखी है। ये नाटक जन चेतना को प्रेरित एवं उद्वेलित करने की ऊर्जा रखते हैं तथा नाटककारों की लोक संकल्पना को शिल्प के स्तर पर भी प्रमाणित करते हैं, लोक रूढ़ियों, लोक भाषा और लोकरंगमंच सभी स्तरों पर।

संदर्भ

1. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० 9।
2. "फिर आनन्द से बारात विदा होकर घर घर आई, रानियों ने दुलहा-दुलहिन को परछन करके उतारा। महाराज दशरथ ने सबका यथायोग्य आदर सत्कार किया। तब हम भी श्री जनकलली नव दुलही की आरती करके बालकाण्ड की लीला पूर्ण करते हैं।"

   भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० 733।

3. "फिर भरत जी अयोध्या आये और श्रीरामजी को फेर लाने के लिए वन गए। वहां उनकी मिलन रहन बोलन सब मानो प्रेम की खराद थीं। वास्तव में भरत जी ने किया सो करना बहुत कठिन है। जब श्रीरामचन्द्र जी न फिरे तब पांवरी लेकर भरत जी अयोध्या लौट आए। पादुका को राज पर बैठाकर आप नन्दिग्राम में वनचर्या से रहने लगे। यह भरतजी की आरती करके अयोध्याकाण्ड की लीला पूर्ण हुई है।

   भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० 735।

4. "नाटक का सूत्रधार कहता है—प्रिये कल्ह ही सुनाया था कि अनसुइया जवाहिर सी अनेकानेक पतिव्रता विदुषी वीर भारत की अटल निज धर्म पर हो वो अलग रहकर कुकर्म्मों से परम आनन्द पतिव्रत धर्म से मुक्ति को पाई है—ग्रहण करना वही शिक्षा तो होगी मार्गदर्शक वह।"

राष्ट्रीयता और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

वचनदेव कुमार

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध भारतीय इतिहास में नई करवटों और जागरण की नवीन कोशिशों के कारण अविस्मरणीय कालखण्ड रहा है। कई इतिहासकारों ने 1857 ई० से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना तक के इस समय को घोर निराशा एवं सुसुप्ति का युग कहा है, जबकि इस कालखण्ड की सुसुप्ति-दशा में भी भारतीय समाज नैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा गतिहीन नहीं हो गया था। जनसाधारण और राष्ट्रीयता की तत्कालीन धारा के अन्यतम पुरोधा थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। जागरूक रचनाकार की तरह परम्परा की पहचान को आत्मसात् करते हुए उन्होंने युग की माँग के अनुरूप और चिन्तना के राष्ट्रीय मार्ग का आविष्कार किया। यही कारण है कि भारतेन्दु में मुक्त कवि की तन्मयता और रीतिकवि की रसिकता के साथ ही साथ लोककवि की जागृति लक्षित होती है। 'भक्तसर्वस्व' और देवी 'छद्मलीला' 'उत्तरार्ध भक्तमाल' और 'गीतगोविन्द' प्रेममाधुरी' और 'प्रेमाश्रु-वर्षण', 'सतसई सिंगार' और 'वर्षाविनोद' के रचयिता ने सिर्फ कौतूहलवश अथवा रुचिपरिवर्तन के लिए जातीय संगीत और नये जमाने की मुकरियों को नहीं लिखा। उन्होंने जान-बूझ कर अपने विशिष्ट राष्ट्रीय संकल्प के अन्तर्गत 'भारत-दुर्दशा' पर आँसू बहाने के लिए देशवासियों को आमंत्रित किया और भारत वर्ष की उन्नति के उपायों का संकेतन किया। अपने इस नये संकल्प के अनुरूप भारतेन्दु ने प्राचीन साहित्यधारा की अप्रांसगिकता की घोषणा भी की और नवीन दिशाओं की ओर रचनाशीलता को उन्मुख किया। इस सन्दर्भ में भारतेन्दु का यह वक्तव्य द्रष्टव्य है—

> भोज मरे अरू विक्रमहू किनको अब रोइ कै काव्य सुनाइये।
> भाषाभई उरदू जग की अब तो इन ग्रंथन नीर डुवाइये।
> राजा भये सब स्वारथ पीन अमीरहू ही न किन्है दरसाइये।
> नाहक दैनी समस्या अब यह ग्रीष्मैं प्यारे हिमंत बनाइये।[1]

दरअसल भारतेन्दु के सामने यह स्पष्ट हो गया था कि बदले हुए वातावरण में समस्यापूर्ति और नायिकाभेद, भक्तिभाव और चमत्कार से जुड़ी रचनाकारी अब वृहत्तर राष्ट्रीय हितों की रक्षा नहीं कर सकती। राष्ट्रीय जागरण और स्वाधीनता संग्राम में भारतेन्दु की हिस्सेदारी को न तो उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य से काट कर मूल्यांकित किया जाना चाहिये और न भारतेन्दु के अपने पारिवारिक-परिवेशगत मूल्यों से उसे अलग किया जा सकता है। इस विशाल पृष्ठभूमि में भारतेन्दु की

समूची राष्ट्रीयता अनेक अंतर्विरोधों से घिरी नजर आती है। भारतेन्दु के राष्ट्रीय व्यक्तित्व पर केवल यही आरोप नहीं लगाया जाता कि उन्होंने 1871 ई० में प्रिंस आफ वेल्स के अस्वस्थ होने पर एक लम्बी कविता लिखी और 1874 ई० में ड्यूक आफ एडिनबरा के विवाह के अवसर पर नई बहू के लिये मुँह दिखावनी पेश की, अपितु यह भी कहा जाता है कि भारतेन्दु का जन्म अंग्रेज भक्त वैश्य परिवार में हुआ था। सचमुच इतिहास-चक्र का यह अद्भुत विधान है कि इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीरचन्द की पाँचवीं पीढ़ी में भारतीय नवजागरण के संवाहक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ।

सम्पन्न महाजनों के वंश में उत्पन्न होने के नाते भारतेन्दु को विरासत में ब्रिटिश साम्राज्य की भक्ति ही नहीं मिली, अपितु दरबारी परम्परा की विलासिता के सारे उपकरण भी मिले। लेकिन, भारतेन्दु के जन्म के सातसाल बाद भारतीय राजनीति के आकाश पर एक ऐसी रक्तरंजित घटना दर्ज हुई, जिसने सम्पूर्ण भारतीय जनजीवन को सोच का नया धरातल प्रदान किया। भारतेन्दु के समूचे साहित्य में कहीं भी ब्रिटिश राजनीतिक उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़े गये उस प्राथमिक मुक्ति-संग्राम का उल्लेख नहीं मिलता, जिसे इतिहासकार सिपाही-विद्रोह और गदर जैसे नामों से स्मरण करते हैं। लेकिन, इस पहले मुक्ति-संघर्ष की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रादुर्भूत राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय चिंता का सबसे तीखा तूर्यनाद सेठ अमीचन्द के वंशज भारतेन्दु हरिचन्द्र ने ही किया था। कुल 34 वर्ष 4 महीने के अपने आयुष्य में भारतेन्दु ने जो विपुल साहित्य रचा, उसमें तत्कालीन नवजागरण के सन्दर्भ में उपजे हुए विवेक की सारी सावधानियाँ विद्यमान हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक समूचे उत्तर भारत में सांस्कृतिक और सामाजिक नवजागरण का जो मन्त्र गुंजरित हो रहा था, उसी ने पहली बार भारतवासियों को देश की पराधीनता का जबर्दस्त अहसास कराया। भारतेन्दु और उनके समकालीन देशहितचिंतकों के चिंतन पर प्रारम्भ में रानी विक्टोरिया द्वारा दिलाई गई उम्मीदों का परदा पड़ा हुआ था, लेकिन देशदशा के विशेष सन्दर्भ में गौरांग महाप्रभुओं की खोटी नीयत और शोषक मनोवृत्ति को परखने में इन समाजशास्त्री रचनाकारों को देर न हुई। यही कारण है कि अमी की कटोरिया-सी विक्टोरिया के संरक्षण में 'भारतदुर्दशा के समापन का भोला विश्वास धीरे-धीरे टूट गया और इस मोहभंग के बाद वे इस धारणा पर स्थिर होने लगे कि भारत का उद्धार अब राजराजेश्वरी से नहीं होगा। भारतदुर्दशा' (1876 ई०) नाटक में भारतभाग्य द्वारा आत्महत्या किये जाने पर भारत दुर्दैव ने टिप्पणी की है—कहाँ गया भारत मूर्ख, जिसको भी परमेश्वर और राजराजेश्वरी का भरोसा है। देखो तो अभी इसकी और क्या-क्या दुर्दशा होती है। अब इस देश को रानी विक्टोरिया नहीं संभाल सकती और न अंग्रेजी सरकार से ही कोई आशा रखनी है. इस बात को भारतेन्दु भलीभाँति जान गये थे। 'नीलदेवी' (1880 ई०) नाटिका में राजा सूर्यदेव के निधन के बाद जनता ईश्वर का स्मरण करती है—

> कहाँ करुणानिधि केशव सोए।
> जागत नेक न जदपि बहुत विधि भारतवासी रोये ॥[2]

परमेश्वर और प्रशासक दोनों ही पर से भरोसा उठ जाने के बाद भारतेन्दु ने देशवासियों को कमर कस कर आगे आने का निमन्त्रण दिया। बलिया के ददरी मेंले में दिये गये अपने भाषाण में यही अपील उन्होंने लोगों से की है। वे जानते थे कि देशोद्धार और स्वतन्त्रता-संग्राम का मार्ग फूलों से सजा हुआ नहीं है। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट और खरी शब्दावली में कहा है—

अपनी खराबियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देश की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को वहाँ से पकड़-पकड़ कर लाओ। उनको बाँध-बाँध कर कैद करो। हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे, तो जिस क्रोध से उसको पकड़ कर मारोगे और जहां तक तुम्हारे में शक्ति होगी, उसका सत्यानाश करोगे, उसी तरह इस समय जो बातें तुम्हारे उन्नति पथ के काँटे हों, उनकी जड़ खोद कर फेंक दो। कुछ मत डरो, जब तक सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से न निकाले जाएंगे, दरिद्र न हो जाएंगे, कैद न होंगे, वरंच जान से न मारे जाएंगे-तब तक कोई देश न सुधरेगा।[3]

राष्ट्रीयता की यह उदात्त समाज धर्मी भावना ही भारतेन्दु की कला का मूल स्वर है। भारतेन्दु ने देश और समाज के पक्ष में हमेशा सही निर्णय लिए, यह उनके सम्पूर्ण लेखन से ज्ञापित होता है। अपने समय में व्याप्त संकीर्ण राष्ट्रीयता पर आघात करते हुए उन्होंने भारत-जननी की परतंत्रता के विनाश का सपना देखा था। सच्चे समाजशास्त्री की तरह भारतेन्दु की केन्द्रीय चिन्ता यही थी कि भारत वर्षोन्नति कैसे हो सकती है। संक्रातिग्रस्त भारतीय परिदृश्य के बीच स्वाधीनता का दीप जलाने के लिए भारतेन्दु ने एक ओर अतीत का करुण स्मरण किया है, तो दूसरी ओर वर्तमान की विसंगतियों का नंगा साक्षात्कार कराया है। उन्होंने याद दिलाया है कि विक्रम, भोज, कर्ण, युधिष्ठिर, चन्द्रगुप्त चाणक्य जैसे लोग न मालूम कहाँ चले गए हैं। सुधाकर के लम्बे भाषण द्वारा 'प्रेमयोगिनी' (1874 ई०) में काशी का गौरवमय इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में अतीत-स्मरण द्वारा भारतेन्दु ने आदर्शों का प्रक्षेपण किया है और राष्ट्रीय मूल्यों को स्थिरता दी है। सत्य हरिश्चन्द्र (1875 ई०) नाटक में नारद ने राजा हरिश्चन्द्र के गुणों का संकेतन करते हुए कहा है—निःसंदेह ऐसे मनुष्यों के उत्पन्न होने से भारत-भूमि का सिर केवल इनके स्मरण से उस समय भी ऊंचा रहेगा जब यह पराधीन होकर हीनावस्था को प्राप्त होगी।[4] अतीत के गौरवमय स्मारकों की सप्रयोजन स्थापना के समानान्तर भारतेन्दु ने देशदशा की अधोगति का रेखांकन किया है। भारत दुर्दशा के लिए उत्तरदायी तत्वों की एक लम्बी सूची उनकी कविताओं, नाटकों और निबन्धों में मौजूद है। सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्तर पर फैली हुई विसंगतियों पर सीधा प्रहार करने के लिए भारतेन्दु ने अभिव्यक्ति के किसी माध्यम का निषेध नहीं किया है। यही कारण है कि शहरीकरण की तेज रफ्तार के बीच उन्होंने जातीय संगीत को महत्त्व दिया और स्वयं देश के कई इलाकों में घूमकर साधारण जनता के अधिकाधिक निकट आए। लोक संस्कृति तथा

जनजीवन की दुर्दशा एवं अधःपतन के कारणों का विश्लेषण करते हुए भारतेन्दु ने इंगित किया है कि अशिक्षा, कलह, अकाल, रोग, लोभ, भय, चाटुकारिता, अपव्यय, आलस्य, विलासिता, अंधविश्वास, शोषण, कानून, झूठ आदि की वजह से भारत विनष्ट हो रहा है। भारतेन्दु को यह देखकर संताप होता है कि भारत क्या से क्या वन गया–

जँह भीमकरन अर्जुन की छटा दिखाती।
वँह रही मूढ़ता कलह अविद्या-राती।।
अब जँह देखहु तँह दुःखहि दुःख दिखाई।
हा हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई।।[5]

सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों और आर्थिक विवशताओं से जूझते भारतीय समाज को विकास की सही दिशा प्रदान करने की पहली शर्त भारत की आजादी है इसे सबसे पहले भारतेन्दु ने ही स्वीकार किया था। अंग्रेजों का लालची और लुटेरा रूप उनके सामने उजागर हो गया था। अंधेर नगरी (1881 ई०) प्रहसन में चूरन वाले का वह लटका तो वहुत ही प्रसिद्ध है, जिसमें साफ कहा गया है कि चूरन खाने वाले साहब लोग सारा हिन्द हजम कर गए हैं। अंग्रेजों की शोषक नीति का ही विस्फार नए जमाने के इस मुकरी में हुआ है—

भीतर भीतर सब रस चूसै।
हँसि हँसि के तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन मैं अति तेज।
क्यों सखि साजन? नहिं अंगरेज।।[6]

अपने निबन्ध 'कंकड़ स्तोत्र' में भारतेन्दु ने अंग्रेजी राज्य में नबाबी के संस्थापक कंकड़ को नमस्कार किया है, क्योंकि शोषण और अत्याचार के पर्याय अंग्रेजी शासन से मुक्ति ही उनका राष्ट्रीय संकल्प है। भारतेन्दु के सामने स्पष्ट था कि भारत रूपी कमल वन को अंग्रेज रूपी दुष्ट गज नष्ट-भ्रष्ट कर रहा है। भारत दुर्दशा नाटक के तीसरे अंक में भारत दुर्दैव आधा क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी वेष धारण कर आता है, जबकि चौथे अंक में वह पूरी तरह अंग्रेजी ढंग से सजा हुआ है। इसीलिए भारतेन्दु ने खुले शब्दों में अंग्रेजी प्रशासन व्यवस्था की खामियों और अंग्रेजी सभ्यता के खोखले मूल्यों का निषेध किया है। पुलिस, चुंगी, कानून, प्रेस, वेरोजगारी और अंग्रेजी भाषा पर प्रहार करने वाली नए जमाने की मुकरियां लिखने वाले भारतेन्दु ने पांचवें चूसा पैगम्बर के माध्यम से पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण करने वालों को नहीं बख्शा है। सरकार की आर्थिक नीति उनके दृष्टिपथ से कभी ओझल नहीं हुई है। उन्हें मालूम था कि धन

के विदेश चले जाने की प्रक्रिया ने भारत को खोखला बना रखा है। भारत दुर्दशा (1876 ई०) नाटक में भारतदुर्दैव के शब्दों में उन्होंने अंग्रेजों की इसी अर्थनीति की घोषणा की है—

मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ. महँगा कर के अन्न।
सबके थपर टिकस लगाऊँ धन है मुझको धन्न ।।[7]

राष्ट्र के विविधागर्त को इंगित करते हुए भारतेन्दु ने अपनी राष्ट्र सम्बन्धी संकल्पना उपस्थित की है। अपनी पत्रिका कविवचन सुधा के सिद्धान्त वाक्य में उन्होंने यह संकल्पना पेश की है—

खलगनन सों सज्जन दुखी मति होंहि हरिपद मति रहै।
अपधर्म छूटै स्वत्वनिज भारत गहै कर दुख नहै।।
कुछ तजहिं मत्सरनारि नर सम होंहि जग आनन्द रहै।
तजि गाम कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै।।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'स्वत्वनिज भारत गहे'[8] की घोषणा ही भारतेन्दु ने नहीं की, अपितु स्वदेशी आन्दोलन की शुरुआत भी की। 23 मार्च 1874 की 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु ने यह प्रतिज्ञा पत्र लिखा—हमलोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हमलोग आज दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे, हिन्दुस्तान का ही बना कपड़ा पहिरेंगे।[9]

यह प्रतिज्ञा स्वाधीनता-सग्राम की उस आंधी का शंखनाद है, जिसका विस्तार महात्मा गांधी ने बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किया। वास्तव में भारतेन्दु की पत्रकारिता भी उनके राष्ट्रीय आन्दोलन का ही एक हिस्सा थी। मिर्जागालिब ने कहा है—गर तोप सामने हो, अखबार निकालो। भारतेन्दु इसी भावना के अनुरूप ब्रिटिश सत्ता के विरोध में अपने पत्रों का प्रकाशन किया। 'हरिश्चन्द्र मैंगजीन' 'कविवचन सुधा' 'श्री हरिश्चन्द्र चंद्रिका' 'बालबोधिनी'—इन सभी पत्रों के माध्यम से भारतेन्दु ने अपनी राष्ट्रीय-चेतना की ही अनेकमुखी प्रस्तावना की। अभिव्यक्ति के तमाम संकट झेलते हुए राष्ट्रीय स्वाधीनता की समस्या को मुखरित करने वाले इस युगांतकारी रचनाकार को समस्त हिन्दी भाषी जनता ने अकारण ही भारतेन्दु नहीं घोषित किया था।

राष्ट्रीय जीवन और साहित्य के बीच अंतराल को पाटते हुए भारतेन्दु ने ऐसे सजग और ईमानदार देशहितैषी साहित्य का सृजन किया था, जिसे युग की मांग और संघर्ष-चेतना से विलग नहीं किया जा सकता। इसका कारण यही है कि भारतेन्दु राष्ट्रीय जागरण के पुरोधा थे और उनका लेखन राष्ट्रीय आन्दोलन का दस्तावेज है।

संदर्भ

1. भारतेन्दु-ग्रंथावली, भाग 2, पृ० 867
2. भारतेन्दु-ग्रंथावली, भाग 1, पृ० 473
3. उपरिवत्, पृ० 536
4. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग 1, पृ० 263
5. उपरिवत्, पृ० 469
6. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग 2, पृ० 811
7. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग 1, पृ० 472
8. कविवचन सुधा, 4 मार्च 1868, पृ० 1
9. उपरिवत्, 24 मार्च 1874, पृ० 3 ।

❀

भारतेन्दु की भाषा चेतना

महेन्द्र नाथ दुबे

श्रीयुत् बाबू हरिश्चन्द्र भारतेन्दु की भाषा चेतना का अन्दाज उनकी दो प्रकार की गतिविधियों से लगाया जा सकता है।

1. भाषा के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये उनके विचार
2. साहित्य संरचना के क्रम में उनके द्वारा व्यवहृत भाषा के रूप

जहाँ तक पहले अनुभाग का सम्बन्ध है, भारतेन्दु बाबू ने भाषा के सम्बन्ध में बहुत कम ही विचार व्यक्त किये हैं। वस्तुतः वे भाषा के विचारक न होकर भाषा के प्रयोक्ता ही थे, अतः भाषा सम्बन्धी उनकी संचेतना की थाह भाषा के उनके अनुप्रयुक्त रूपों से ही भली भाँति लग सकती है। फिर भी प्रथम अनुभाग में भाषा पर सीधे विचार व्यक्त करने की जो प्रवृत्ति है वह सीधी और सरल है और उनकी भावनाओं को अधिक सहजता और सफाई से प्रस्तुत करती हैं अतः मैं सर्वप्रथम इसी अनुभाग की चर्चा करना उचित समझता हूँ।

भारतेन्दु जी के भाषा सम्बन्धी विचार हिन्दी भाषा से ही सम्बद्ध हैं। हिंदी के परिपार्श्व में ही वे अन्य भाषाओं की चर्चा-परिचर्चा करते हैं। उनका जो अतिप्रचलित मुहावरा 'निज भाषा उन्नति अहै' बन गया है, उसमें निज भाषा से तात्पर्य हिन्दी भाषा से ही है। भाषा और यथार्थतः हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट विचार उन्होंने सं० 1934 में प्रयाग में 'हिंदी वर्द्धिनी सभा' के अधिवेशन में व्यक्त किये थे। उनके इस व्याख्यान का शीर्षक है 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' किंतु यह व्याख्यान भारतेन्दु की कवि प्रवृत्ति के अनुरूप मुख्यतः छन्द बद्ध कविता में है। इसमें कुल 98 दोहों में विचार व्यक्त किये गये हैं।

इस व्याख्यान में उन्होंने हिन्दी को उत्तर भारत में प्रचलित अन्य भाषाओं के सन्निकर्ष में रखकर देखा परखा है। भारतेन्दु की दृष्टि मुख्यतः भाषा के व्यवहार पक्ष की ओर है। वे अन्य भाषाओं की तुलना में हिन्दी के व्यावहारिक पक्ष को सबलता से प्रस्तुत करते हैं। इस व्यवहार में वह घरको इकाई मानकर चलते हैं जहाँ परिवार में माँ की सत्ता सर्वप्रथम है और वे मानते हैं कि हमारी मातायें हिन्दी भाषा का ही सहज

भारतेन्दु पुण्यशती समायोजन (10-1-86) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ा गया भाषण

व्यवहार करती हैं। उन्हीं से भाषा की स्रोतस्विनी का प्रवाह शिशुओं में प्रवाहित होता है जो सहजगति से मानव समाज में संक्रमित होता है। सामाजिक व्यवहार में सबसे सबल साधन के रूप में हिन्दी भाषा का ही योगदान है अतएव हिन्दी भाषा का सम्बर्धन ही इष्ट एवं हर विधि से उपादेय है। उनके तुलनात्मक विचारों का सारांश है कि 'संस्कृत' के अभ्यास से महान पंडित बना जा सकता है किन्तु लोकव्यवहार में भावों की सहज अभिव्यक्ति हिन्दी के अभाव में नहीं की जा सकती।[1]

फारसी का रुआब अच्छा है किन्तु लोक में उसके अप्रचलन के कारण उसका व्यवहारकर्त्ता अन्ततः अपनी मनो भावना को दूसरे तक सरलता से नहीं पहुंचा पाता फलतः हँसी का पात्र तो बनता ही है, मनोवांछित कार्य सिद्धि भी नहीं कर सकता।[2]

अंग्रेजी के ज्ञान से समाज में गौरव बढ़ता है, कभी कुछ सीख समझ कर प्रवीण हुआ जा सकता है, किन्तु अपने समाज में घुलमिल कर रहने की भावना खत्म हो जाती है फलतः ऊपर-ऊपर से चाहे अंग्रेजी शिक्षित कितना हूं सम्पन्न दिखे, अन्तरतर से वह अपने समाज में दीन हीन ही होता है।[3] भारतेन्दु जी का तर्क है कि संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी वगैरह ऐसी भाषाएँ हैं जो बाहरी जीवन क्षेत्र से ही सम्बन्धित हैं, घर का जो आन्तरिक जीवन हैं, जिनमें हमारी मातायें, बहू, बेटियाँ, बाल बच्चे आते हैं, उनके मध्य इन बाहरी भाषाओं से काम नहीं चल सकता। विशेषतः हमारी मातायें जो अपने आन्तरिक सहज स्नेह से हमारे जीवन में आलोक भरती हैं उनकी भाषा तो हिन्दी भाषा ही है, फलतः माताओं की विचाराभिव्यक्ति का प्रधान आधार होने के कारण यह निज भाषा, हिन्दी भाषा ही सबका आधार है :—

सो माता हिन्दी बिना कछु नहिं जानत और।
तासों निज भाषा अहै, सब ही को सिरमौर ॥21॥

और सबसे बड़ी बात यह कि चाहे कोई अन्य भाषाएं कितनी भी सीख ले, उसकी सोच विचार की, मनन मनोयोग की, चिंता और सपने की भाषा अपनी निज भाषा, फलतः हिन्दी क्षेत्रों में यह हिन्दी भाषा ही है :—

पढ़े लिखे कोउ लाख विधि, भाषा बहुत प्रकार।
पैं जबही कछु सोचिहों, निज भाषा अनुसार ॥

इस प्रकार स्पष्टतः भारतेन्दु जी हिन्दी भाषा को ही निज भाषा मानकर इसे ही हिन्दी भाषा क्षेत्रों के लिए सर्वोपयुक्त मानते हैं। परन्तु ध्यान देने की बात है कि भारतेन्दु के लिए हिन्दी कोई स्वयं सम्पूर्ण अटल अचल भाषा नहीं है। भाषा को वे एक गतिशील प्रक्रिया मानते हैं। वे चाहते हैं कि इस निज भाषा हिन्दी भाषा में देश-देशान्तर की भाषाओं से जो कुछ भी उत्तम अंश ग्रहण कर जोड़ा जा सकता है वह मुक्त भाव से जोड़ा जाय। संस्कृत में हमारी परम्परा की ऐसी थाती मौजूद है जो मानव की उन्नति

के लिये सर्वथा अपरिहार्य है, किन्तु अभी भी वह ज्ञान–विज्ञान हिन्दी में उतारा नहीं जा सकता है (45 वां दोहा) लोक व्यवहार में शिष्टाचरण की शिक्षा देने में फारसी काफी अति सम्पन्न भाषा है।

सौज्यौ ब्राहमन को धरम, तेइ जानत वेद।
तासौं निज मत को सह्यौ, कोऊ कबहु न भेद।45।
बैठनि बोलनि उठनि प्रनि, हँसनि मिलनि बतरान।
बिन पारसी न आवही, यह जिय निश्चय जान।।49।।

अंग्रेजी में ज्ञान-विज्ञान का अपूर्व भंडार है। कल कारखानों की प्रतिष्ठा और संचालन उत्तरोत्तर उन्नति के सूत्र अंग्रेजी भाषा में प्रचुर मात्रा में वर्तमान है साथ ही साथ उस सूत्र को भी समझा जा सकता है कि एक समान मनुष्य होकर भी कैसे अंग्रेज हमारे स्वामी वन गए और हम उनके गुलाम वन गये इसका भेद भी अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से ढूंढा जा सकता है :—

उतरत फोटो ग्राफ किमि, छिन मँह छाया रूप।
होय मनुष्यहिं क्यों भएं, हम गुलाम, ये भूप ।। 54।

अतः भारतेन्दु जी चाहते हैं कि इन तमाम भाषाओं का ज्ञान अनूदित होकर हिन्दी भाषा में ले आया जाय।

पै सब विद्या की कहूँ, होय जुपै अनुवाद।
निज भाषा मँह तो सबै, याको लहैं संवाद। 68।

इस प्रकार भारतेन्दु जी अपनी हिन्दी भाषा को सर्वविधि संपन्न बनाकर जीवन के हर क्षेत्र में प्रचारित करने की सिफारिश करते हैं।

करहु विलम्ब न भ्रात अब, उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु, प्रथम जो सबको मूल। 97।

बलिया में दिये गये विख्यात अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में भी उन्होंने जोर देकर कहा— "परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत करो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।"

इस अपनी भाषा के लोकव्यवहार रूप को जवरदस्ती दबा करके कोर्ट कचहरी में सर्वत्र उर्दू को विशेष सम्मान देने से वे हृदय से क्षुब्ध होते हैं—जैसा कि उन्होंने अपनी एक समस्यापूर्ति के छन्द में कहा है—

भोज मरे अरु विक्रमहू, किनको अब रोइ के काव्य सुनाइये।
भाषा भई उरदू जग की अबतो इन ग्रन्थन नीर डुबाइये।

उर्दू की प्रतिष्ठा से हिन्दी भाषा भाषियों की भावनाओं को ठेस पहुंचती रही। जब राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द के प्रयत्नों से उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग में हिन्दी के व्यवहार का अवसर मिला तो उर्दू परस्तों से भारी हो हल्ला मचाया गया। उनकी इस चिल्लपों पर भारतेन्दु जी ने 'उर्दू का स्यापा' शीर्षक से एक मजाकपूर्ण मर्सिया लिखा

जो उनकी कृत्रिमता के प्रति आसक्ति वालों पर स्पष्ट छींटाकशी करने और यथार्थ स्थिति को महत्त्व देने की भावना का द्योतक है।

भारतेन्दु जी के वक्तव्य से यह तो स्पष्ट है कि वे भारतीयों के लिए निज भाषा और इस अर्थ में हिन्दी भाषी क्षेत्रों के लिए हिन्दी भाषा के विकास पर बल देते हैं, किन्तु भारतेन्दु के काल में ही हिन्दी के ही नाना रूप आकार-प्रकार प्रचलित हो गये थे। हिन्दी कविता और हिन्दी गद्य का भाषा तो स्पष्टतः अलग-अलग प्रकार की थी ही। स्वयं भारतेन्दु भी कविता के लिये ब्रजभाषा को ही आदर्श मानते थे। 'भारत मित्र' पत्र में 1 अप्रैल 1881 ई० को उनका एक पत्र छपा था जिसमें उन्होंने खड़ी बोली में काव्य रचना के अपने प्रयासों पर स्वयं टिप्पणी की है—

"प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है। देखिएगा कि इसमें क्या कसर है, और किस उपाय के अवलम्वन से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। इस विषय में सर्वसाधारण की अनुमति ज्ञात होने पर आगे से वैसा परिश्रम किया जायेगा। तीन भिन्न-भिन्न छन्दों में, यह अनुभव करने के लिये किस छन्द में इस भाषा का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है। मैंने कहीं-कहीं सौन्दर्य के हेतु दीर्घ मात्राओं को लघु करके पढ़ने की चाल रखी है। लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और भी लिखने का यत्न करूँगा।"

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतेन्दु साहित्य के गद्य-पद्य दोनों पक्षों में अलग-अलग भाषा रूप के प्रयोग से प्रसन्न नहीं थे और प्रयत्न कर रहे थे कि दोनों के भाषा रूप एक हो जाँय। गद्य में वे खड़ी बोली के पुरोधा व्यक्तित्व थे। स्वाभाविक रूप से वे चाहते थे कि गद्य की भाँति पद्य का माध्यम भी खड़ी बोली ही हो जाय किन्तु स्वयं परिश्रम करके भी वे इसमें कठिनाई का अनुभव कर रहे थे। इसी से यद्यपि सन् 1881 में उक्त वक्तव्य देने के उपरान्त भी वे चार वर्षों तक जीवित रहे, फिर भी इस काल में भी उन्होंने खड़ी बोली में कविता रचने की कोई विशेष कोशिश उन्होंने नहीं की। इस रूप में उन्हें कविता और गद्य की भाषा के अलग-अलग रूप स्वीकार से लगते हैं। इसे वे स्पष्टतः अनुमोदित कर चुके थे।[4]

भारतेन्दु काल में ही हिन्दी खड़ी बोली गद्य के भी विभिन्न रूप प्रचार में आ गये थे और चल रहे थे। उनके भी मानकीकरण की ओर भारतेन्दु जी का ध्यान गया था। अपने 'हिन्दी भाषा' नामक व्याख्यान में उन्होंने कहा था—

"भाषा का तीसरा अंग लिखने की भाषा है, और इसमें बड़ा झगड़ा है। कोई कहता हैं कि उरदू शब्द मिलने चाहिए, कोई कहता है संस्कृत शब्द होने चाहिए और अपनी–

अपनी रुचि के अनुसार सब लिखते हैं और इसके हेतु कोई भाषा अभी निश्चित नहीं है।''--- हिन्दी भाषा पृष्ठ-12

लेखन की भाषा में भी यह यथेच्छा भाव किसी भी भाषा के सुष्ठ स्वरूप को निर्धारित होने देने में भारी अव्यवस्था फैलाता है। भारतेन्दु जी ने अपने व्याख्यान में अपने समय में प्राय प्रचलित विभिन्न भाषा रूपों को कुछ वाक्यों के माध्यम से उदाहरण रूप में रखा. जिनमें भाषा के ग्यारह भिन्न प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं---

जिन्हें अतिशय संक्षेप में यहाँ पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है:---

1. संस्कृत शब्द बाहुल्य रूप

अहा यह कैसी अपूर्व और विचित्र वर्षा ऋतु सम्प्रात हुई है, अनवर्त्त आकाश मेघाच्छन्न रहता है।

2. अल्प संस्कृत शब्द युक्त

पुल टूट गए, बाँध खुल गए, पंक से पृथ्वी भर गई, पहाड़ियों ने अपने बल दिखाए, बहुत वृक्ष समेत फूल तोड़ गिराये।

3. शुद्ध हिन्दी

पर मेरे प्रियतम अब तक घर न आए, क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फन्दे में पड़ गये कि सुध ही भूल गये।

4. जिसमें किसी भाषा के शब्द मिलने का नेम नहीं---

ऐसी तो अँधेरी रात, उसमें अकेली रहना, कोई हाल पूछने वाला भी पास नहीं। रह रहकर जी घबड़ाता है, कोई खबर लेने नहीं आता।

5. जिसमें फारसी शब्द विशेष हैं:---

खुदा इस आफत से जी बचाए, प्यारे का मुख जल्द दिखाए, कि जान में जान आयें। फिर वही ऐश की घड़ियाँ आएँ, शबोराज दिलवर की सुहबत रहे।

6. जिसमें अंग्रेजी शब्द हिन्दी होके मिल गए हैं---

कम्पनियों के सैकड़ों गैंग इधर से उधर कुली लोग लिये फिरते हैं। लालटेन में गिलास चारों ओर बल रहे हैं। सड़क की लैन सीधी और चौड़ी है। पालकी गाड़ी बग्गी चिरिट फिटिन दौड़ रही है।

7. जिसमें पुरनियों की बोलीवा काशी की देश भाषा हैं---

का साहेब आप कब्बों कलकत्ता गए हो कि नाहीं? जो न गए हो तो एक बेर हमरे कहे से ऊ शहर के जरूर देखो। देख ही के लायक है।

8. जो काशी के अर्द्ध शिक्षित बोलते हैं---

महाराज मैं सच कहता हौ, कलकत्ता देखने ही योग्य है। आप देखियेगा तो खुस हो जाइयेगा। हम एक दफे गये रहे सो ऐसा जी प्रसन्न हो गया कि क्या पूछना है?

9. दक्षिणी लोगों की हिन्दी—

सो तो ठीक है कलकत्ते तो आप कूँ एक बेर अवश्य जाना। हमारे कूँ तो ऐसा जान पड़ता कि जानत् पृथ्वी तल में दूसरा कोई नगर नहीं है।

10. बंगालियों की हिन्दी—

उधर राधा बाजार का बड़ा दोकान है, उधर मछूआ बाजार में बहुत अच्छा सामान है। कहीं-कहीं गोरा का समाज की समाज आती है।

11. अंग्रेजों की हिन्दी—

इसमें कोई शक नहीं कि कैलकटा देखने की जगह है। हम वहाँ अक्सर रहता है। आप एक बेर जाने मांगो। वहाँ जाकर थोड़ा सबुर करो। देखो बहुत लोग जाता। तो आप घर में पड़ा-पड़ा क्यों सड़ता?

इन ग्यारह प्रकार की लेखन प्रवृत्तियों का परिचय देने के उपरान्त भारतेन्दु जी ने अपनी राय स्पष्ट जाहिर की है—

“हम इस स्थान पर बाद नहीं किया चाहते कि कौन भाषा उत्तम है और वही लिखनी चाहिये। पर हाँ मुझसे कोई अनुमति पूछे तो मैं कहूँगा कि नम्बर 2 और 3 लिखने के योग है।[5]”

इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी अल्प मात्रा में संस्कृत शब्दों से युक्त और विशुद्ध हिन्दी के प्रयोग, जिसमें आधिक्य रूप में न संस्कृत, न फारसी, न अंग्रेजी का मेल हो, न बनारस का दर्शी पन्न, न दक्षिण का बंगाल का पूर्वी पन हो, के प्रयोग को ही उचित मानते हैं।

भारतेन्दु की भाषा चेतना को समझने के इस प्रथम अनुभाग के अतिरिक्त उनका दूसरा प्रयोग पक्ष और अधिक सहायक है—

भारतेन्दु की व्यापक साहित्य सृष्टि को जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि षा प्रयोग के निश्चित आदर्श रूप को पकड़ने की एक छटपटाहट सी उनमें है। गोस्वामी तुलसीदास के बाद हिन्दी में एकमात्र भारतेन्दु ही ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने अपने कलात्मक प्रचलित सभी भाषा रूपों एवं छन्दों विधानों तथा शैलियों में रचना करने का प्रयास किया।

परम्परित ब्रज भाषा काव्य रूपों का प्रयोग तो सूरदास के अनन्तर इतने विशाल परिप्रेक्ष्य में एकमात्र उन्होंने ही किया। संस्कृत में स्त्रोत्र शैली में उन्होंने रचनाएँ की हीं। उर्दू की शैली में उन्होंने जहाँ छन्दों बद्ध कवितायें की वहाँ निखालिस उर्दू गद्य में

भी रचनाएँ की जिनका उज्ज्वल उदाहरण उनका 'खुशी' नामक निबन्ध है। बंगला, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी में मौलिक रचनायें करने का प्रयत्न किया। इनमें से किसी भाषा को भी अपने अनुकूल न पाकर उन्होंने हिन्दी को ही व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया। हिन्दी के निखालिस रूप की वकालत करते हुए भी उन्होंने भाषा को समृद्ध करने के अपने प्रस्ताव के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, फारसी-अरबी, और बंगला से प्रचुर मात्रा में अनुवाद किया।

इन अनुवादों में उन्होंने दो प्रकार की रीति अपनायी है (1) जिनमें उन्होंने भाषान्तर मात्र किया ह अर्थात् जिस मूल भाषा की कृति का हिन्दी अनुवाद किया है उसकी शब्दावली यथा सम्भव हिन्दी में ज्यों की त्यों ले ली है—जैसे—'गो महिमा' निबन्ध धनंजय विजय, मुद्राराक्षस और कपूर मंजरी जैसे नाटक, जिनके अनुवाद में संस्कृत या प्राकृत की शब्दावली यथानुरूप ग्रहण कर ली गई है।

(2) दूसरी रीति में उन्होंने हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप शब्द योजना एवं वाक्य योजना रखी है और मूल रचना के रूपों को उसी के अनुरूप ढाल लिया है जैसे—सत्य हरिश्चद्र और दुर्लभ वन्धु के अनुवाद जो अपनी गठन योजना के अनुसार लेखक के निजी वैशिष्ट्यों से अधिकाधिक मंडित ह और मौलिक कृति का सा अहसास कराते हैं।

अपनी अन्य रचनाओं में इन्होंने विषयानुरूप और पात्रानुरूप भाषा का प्रयोग किया है। प्रायः ही धार्मिक रचनाएँ संस्कृत गर्भित हैं। ब्रज की पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण "चन्द्रावली नाटिका" में ब्रजी का प्राचुर्य है। भारत दुर्दशा में अंग्रेजी पृष्ठभूमि के कारण अंग्रेजी तत्वों का अधिकाधिक समावेश हैं। कपूर मजरी में देश शब्दों की भरमार हैं। नीलदेवी में हिंदू और मुसलमान पात्रों के कारण हिंदी और उर्दू के दोनों रूपों का प्रतिनिधित्व हैं। 'विषस्य विषमौषधम्' में ठेठ गँवारू भाषा और मुहावरों लोकोक्तियों का विशेष योग हैं। इस प्रकार भारतेन्दु जी प्रायः परिवेश सुलभ भाषा का प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं केवल दो स्थानों पर इसका अपवाद परिलक्षित होता है।

(1) पंच पवित्रात्मा नामक निबन्ध जो अरब की पृष्ठभूमि में मुहम्मद साहब, बीबी फातिमा, अली, इमाम हसन और इमाम हुसैन का जीवन परिचय है, विशुद्ध संस्कृत गर्भित हिन्दी में लिखा गया निबन्ध है।

(2) खुशी नामक निबन्ध जिसका परिवेश पूर्णतः संस्कृतमय भारतीय है किंतु जो परिपूर्णतः अरबी-फारसी संक्रान्त उर्दू भाषा में लिखा गया है।

भारतेन्दु की भाषा नीति पर उनका एक अत्यन्त अल्प चर्चित निबन्ध–जातीय संगीत भी प्रचुर आलोकपात करता है। भारतवर्ष की उन्नति के उपायों की चर्चा के दौरान वे एक ऐसी योजना पेश करते हैं जिसमें देश के साधारण लोगों के चित्त पर प्रभाव डाला जा सके। इस प्रयोजन से वे ग्राम्य गीतों के संग्रह प्रकाशित और प्रचारित करने की योजना प्रस्तुत करते हैं–उनकी योजना देखें:—

इस हेतु ऐसे गीत वहुत छोटे–छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में वनैं, वरंच गँवारी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हो।…………ऐसे जिन देशों में जिन भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत वने।

इससे स्पष्ट है उनकी दृष्टि साधारण लोक भाषा पर भी थी और वे भाषा की समृद्धि में लोक भाषा के तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण मानते थे।

आदर्शरूप में भारतन्दु जी की चाहे जो मान्यता रही हो व्यावहारिक रूप में उनकी हिंदी भाषा पर वनारसी भोजपुरी का प्रचुर प्रभाव है और इसकी छौंक उनकी समस्त रचना पर दिखलाई पड़ती है। उनका 'नाटक प्रेम योगिनी' जो सर्वप्रथम काशी के छाया चित्र या दो भले बुरे फोटोग्राफ नाम से प्रकाशित हुआ था; उनकी व्यावहारिक दृष्टि को वहुत अच्छी तरह व्यक्त करता है। काशी के परिवेश में यह नाटक उनका एक प्रकार का आत्म चरित सा है। इसके मुख्य पात्र वाबू रामचन्द्र हरिश्चन्द्र के ही प्रतिनिधि है। इस नाटक में भारतेन्दु जी स्थान, देशकाल और पात्रानुरूप भाषा का व्यवहार करते दीखते हैं। परन्तु सवके ऊपर गाढ़ा वनारसी रंग है। इस नाटक में वाबू रामचन्द्र के संवादों की जो भाषा है, लगभग वही भाषा रूप भारतेन्दु जी को स्वीकार हैं।

इस भाषा रूप में न तो किसी हिन्दीतर भाषा के शब्दों के प्रति अधिक मोहावेश है और न उससे जानबूझकर परहेज बरतने की नीयत। भारतेन्दु के पूर्व दो राजाओं, बाबू शिव प्रसाद सितारे हिंद और राजा लक्ष्मण प्रसाद सिंह, की कृपा से उर्दू वोझिल और संस्कृत निष्ठ शैली के जो दो हिन्दी भाषारूप बन गए थे, भारतेन्दु जी दरसल इनमें से किसी का भी अनुकरण नहीं किया। उन्होंने संस्कृत शब्दों के प्रति किंचित आसक्ति अवश्य रखी किन्तु विशेषत: उन्हीं शब्दों के प्रति जो संस्कारों के कारण हिन्दी भाषा जनता के मानस में रच बस गए थे। इसी प्रकार उर्दू या उसके माध्यम में अरवी-फारसी के जो अल्फाज हिन्दी भाषी क्षेत्र में लम्वी अवधि से प्रयुक्त होते–होते अति प्रचलित हो गये थे, उन्हें भी भारतेन्दु ने सहज स्वीकार किया। यहाँ तक कि शासकीय प्रभाव से ही सही, अंग्रेजी की भी जो शव्दावली आम फहम हो गई थी, उसे भी भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं में ग्रहण किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु जी की भाषा चेतना लोक मानस में प्रचलित भाषा चेतना के अनुरूप है। वे प्रयोग तो अनेक दिशाओं में करते हैं किन्तु प्रस्थापना उसी रूप की करते हैं जो साधारण हिन्दी वोलने वालों के लिये सरलता से ग्रहण हो। कृत्रिमता और आडम्बर से वे दूर रहकर सहज और सरल भाषा व्यवहार के पक्षधर हैं। जीवन यथार्थ के निकट होने के कारण ही उनकी जीवन की पहचान गहरी थी और सत्यत: ही इस माने में उनकी दृष्टि भविष्य द्रष्टा की दृष्टि थी। परिणामत: और सर्वथायुक्त ही ऐसा संयोग बना कि आगे की हिन्दी का जो स्वरूप विकसित हुआ वह भारतेन्दु की भाषा नीति की ही नींव पर विकसित हुआ।

संदर्भ

1· पढ़ैं संस्कृत जतन करि, पंडित ये विख्यात ।
पै निज भाषा ज्ञान बिन, कहि न सकत एक बात ॥6॥

2. पढ़े फारसी बहुत विधि, तौहूं भए खराब ।
पानी खटिया तर रहो, पूत मरे बकि आब ॥7॥

3. अंग्रेजी पढ़ि कै जदपि, सब गुन होत प्रवीन ।
पै निज भाषा ज्ञान विन, रहत दीन के दीन ॥8॥

4. मैंने आप कई वेर परिश्रम किया कि खड़ी वोली में कुछ कविता बनाऊँ पर मेरे चितानुसार नहीं बनी, इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता कविता करना उत्तम होता है ।
अयोध्या प्रसाद खत्री—खड़ी वोली पद्य—पृ० 31, 32

5. हिन्दी भाषा, पृष्ठ 15

आधुनिकता और कवि भारतेन्दु

जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव

आधुनिकता एक गत्यात्मक या कि देशकालबद्ध प्रत्यय है। इसे तात्कालिक वर्तमानता की बोधक कामचलाऊ संज्ञा कह सकते हैं—उस वर्तमानता की बोधक, जो अगले क्षण 'अतीत' या 'परम्परा' के खाते में चली जायेगी। हर युग की अपनी आधुनिकता होती है, जिसके उपकरण उस युग की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों के परिपार्श्व में निर्मित होते हैं। जाहिर है कि भारतेन्दु की आधुनिकता पर विचार करते समय हमें उनके युग की सांस्कृतिक-सामाजिक राजनैतिक स्थितियों और उनकी अपेक्षाओं को दृष्टिपथ में रखना होगा। आज की आधुनिकता के लिहाज से भारतेन्दु ही क्या, प्रसाद से लेकर अज्ञेय तक पुराने हो चुके हैं। किसी भी रचनाकार की आधुनिकता का मूल्यांकन करते समय हमें उसे उसके युग में रखकर देखना होता है। आज के चश्मे से हम कल को नहीं देख सकते। वैसा करने पर जिस प्रकार की भ्रांन्तियाँ जन्म लेती हैं, उसके उदाहरण हिन्दी समीक्षा में कम नहीं हैं।

भारतेन्दु अपने युग के जागरुक रचनाकार थे। उनके इस महत्त्व की स्वीकृति में ही उनके सर्जनात्मक समय को भारतेन्दु युग की ऐतिहासिक संज्ञा दी गयी है। भारतेन्दु का उदय राजनैतिक और सांस्कृतिक संक्रमण के एक विशिष्ट युग में हुआ था। उस समय अंग्रेज राजनैतिक सूत्र अन्तिम रूप से हथिया लेने के लिए प्राणपण से प्रयत्नशील थे। मराठों और सिक्खों को निर्णायक पराजय पहले ही मिल चुकी थी। झांसी के पतन के अनन्तर अंग्रेज राजनैतिक दृष्टि से देश पर पूरी तरह हावी हो गये। इसी के साथ शासन की बागडोर भी ब्रिटिश संसद के हाथ में आ गयी। सत्ता के इस हस्तान्तरण ने एक प्रकार के भावात्मक संक्रमण की भूमिका प्रस्तुत कर दी। पहले जब शासन के सूत्र तथाकथित व्यापारिक कम्पनी से संचालित हो रहे थे, तो भारतीय जनता नितान्त संत्रस्त और विक्षुब्ध थी तथा उसके अन्तःकरण में इस प्रशासन के प्रति कोई निष्ठा नहीं थी। जब ये सूत्र संसद के हाथों में चले गये और उत्पीड़ित एवं साधनहीन देशवासियों के सामने जीवन-यापन और प्रगति के प्रभूत साधन बिखेर दिये गये, तो उनमें सहजैव नये प्रशासन के प्रति रूचि उत्पन्न हुई। उन्होंने समझा कि उस शासन परम्परा का, जिसे जान ब्राइट ने 'ए हंड्रेड इयर्स आव क्राइम' कहा था, अन्त हो गया और उनकी अनास्था घटते-घटते राज-भक्ति में परिणत होने लगी। मातृशक्ति के प्रति संस्कारतः श्रद्धावान् भारतवासी विक्टोरिया को मां मानकर उसके प्रति प्रणत होने लगे। किन्तु यह सिक्के का एक ही पहलू था और सापेक्षिक सुविधा से उत्पन्न यह भावोन्मुखता सिर्फ सामयिक भ्रान्ति थी। देश-

वासियों से यह देर तक छिपा नहीं रह सका कि उनका आर्थिक शोषण बन्द नहीं हुआ है, वरन् इन सुविधाओं के बहाने और भी अधिक होने लगा है। इस मोह भंग ने गहन और व्यापक जन विक्षोभ को जन्म दिया। प्रशासन की दुरंगी चाल से उत्पन्न यह भावात्मक संक्रान्ति का काल ही भारतेन्दु का सर्जन युग है। भारतेन्दु युगचेता रचनाकार थे। उन्होंने इस राजनैतिक क्षण को पहचाना, परखा और उसे हृदयंगम किया। उनकी राजभक्ति पूर्ण रचनाओं के आधार पर उन्हें अवसरवादी या परम्परावादी कहना एकांगी निष्कर्ष होगा। यह सही है कि अपनी साहित्य सर्जना के प्रथमार्ध में ब्रिटिश शासन के प्रति उनका स्वर प्रशंसात्मक था, किन्तु वैसी मानसिकता सिर्फ उन्हीं की नहीं थी। पूरा देश आरंभ में उसी मानसिकता का शिकार बना था। उल्लेखनीय है कि कांग्रेस की स्थापना भारतेन्दु के निधन के बाद हुई थी जिसके पीछे भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों की परतन्त्रता विरोधी रचनाओं की सशक्त भूमिका थी। यह समय क्रांति की घोषणा करने का न होकर क्रान्तिचेतना जगाने का था। इस समय अपने को होम कर देने का उतना महत्त्व नहीं था, जितना कि अध्वर्यु बनकर गूढ़ मन्त्र पाठ का था। भारतेन्दु ने इस सामयिकता को पहचाना और अपने वक्त की सबसे बड़ी चुनौती को स्वीकार किया।

भारतेन्दु के सहयोगी रचनाकार सही अर्थों में उनके समकालीन थे। समकालीनता का अर्थ केवल किसी विशिष्ट कालखण्ड में साथ-साथ जीना भर नहीं है। आवश्यक नहीं कि समसामयिक सभी रचनाकार समान रूप से अग्रगामी हो। उनमें अनेक ऐसे भी हो सकते हैं जो न केवल परम्परा से अधिक जुड़े हुए हैं, बल्कि नवीनता के विरोधी भी हों। इस रूप में समकालीनता निरर्थक हो जाती है और केवल ऐतिहासिक उपयोग की वस्तु रह जाती है। सचेत समकालीन व्यक्तियों को अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों का सामना करना होता है और उनमें भी उसे केन्द्रीय अन्तर्वर्ती मूल प्रवाह से पहचानना और पकड़ना होता है। किसी भी युग का सचेत व्यक्ति अपने को परिवेश से विच्छिन्न करके नहीं चल सकता रचनाकार तो कदापि नहीं। व्यक्ति, देश और काल को एक दूसरे से काटकर सही रूप में नहीं देखा जा सकता उन्हें एक संग्रथित गत्यात्मक इकाई के रूप में देखा जाना चाहिए। सचेत समकालीन व्यक्तियों को इसी परिप्रेक्ष्य में 'आधुनिक' कहा जाता है। यही वर्तमान की भी आधुनिकता है और परम्परा या अतीत की भी। भारतेन्दु और उनके समकालीन रचनाकार इसी अर्थ में आधुनिक थे। अपने देशकाल से वे कभी कटे नहीं रहे, यद्यपि भावात्मक और कलात्मक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उनकी तुलना किसी भी स्तरीय रचनाकार से की जा सकती है। इसका श्रेय भारतेन्दु को ही दिया जाना चाहिए। वे स्वयं युग बोध से सम्पन्न तो थे ही, अपने मंडल के कवियों को भी उन्होंने युगोन्मुख किया। व्यक्तित्व की इसी विशिष्टता के कारण वे आधुनिक युग के सुमारंभकर्त्ता के रूप में समादृत होते हैं। एक तरह से कहें तो भारतेन्दु के व्यक्तित्व से हिन्दी साहित्य में आधुनिकता की अवधारणा का प्रकटन होता है। प्रसंगतः उल्लेखनीय है कि आधुनिकता की हमारी समझ का उदय अंग्रेज और अंग्रेजियत के सम्पर्क में आने पर हुआ है। एक

लम्बे समय तक अंग्रेजियत का अनुकरण करने को ही आधुनिक होना माना जाता रहा है– यानि आधुनिकता का अर्थ है भौतिकवादी जीवन दृष्टि। न्यूनाधिक इसी अर्थ में आज भी इस शब्द का व्यावहारिक प्रयोग हो रहा है। किन्तु जैसा कि आरंभ में कहा जा चुका है आधुनिकता का रूप देशकाल बद्ध तथा गत्यात्मक होता है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय सन्दर्भ में आधुनिकता का भी अर्थ ग्रहण किया जाता था, बीसवीं सदी के इस उत्तरार्ध में उसकी कोई प्रासंगिकता नहीं रह गयी है। आज की आधुनिकता का सन्दर्भ राकेट, रोबोट और कम्प्यूटर से जुड़ गया है। दूसरी ओर अतिशय सम्पन्नता और निर्बाध भोग से ऊबे हुए विकसित पाश्चात्य देशों के बहुत से लोग किसी आध्यात्मिक यौगिक संस्कृति में दीक्षित होने से संभवतः आधुनिकता का महत्वपूर्ण लक्षण मानने लगे हैं। धार्मिक कट्टरता से त्रस्त देशों के लोगों के लिए आधुनिकता का ठीक वही अर्थ नहीं होगा, जो धर्मनिरपेक्ष देशों के लोगों के लिए हो सकता है। अस्तु, आधुनिकता का रूप शाश्वत और सार्वभौम नहीं होता, उसके उपलक्षण अवश्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक होते हैं। परिभाषित करना ही चाहें तो कह सकते हैं कि अपने समय तक अन्वेषित नवीनतम ज्ञान से जुड़े रहना, किसी मान्यता या रुढ़ि के औचित्य का निर्णय वैज्ञानिक आधार पर करना तथा तदनुरूप आचरण करना ही आधुनिकता है। दूसरे शब्दों में आधुनिकता का सार्वभौम और शाश्वत लक्षण है अग्रगामी, प्रगतिशील जीवन दृष्टि से सम्पन्न होना।

हिन्दी के रचनाकारों में ऐतिहासिक दृष्टि से भारतेन्दु से पहले केवल कबीर को क्रान्तिदूत माना जाता रहा है और उन्हें सीधे निराला और मुक्तिबोध से जोड़ा जाता रहा है। मेरी दृष्टि में कबीर तथा अन्य निर्गुणी सन्त अपने समय के प्रगतिशील व्यक्ति कहे जा सकते हैं, किन्तु ठीक उसी अर्थ में नहीं जिस अर्थ में भारतेन्दु प्रसाद, निराला या मुक्तिबोध को कहा जाता है। आधुनिकता की अवधारणा समाज-सापेक्ष है। जो सामाजिक जिन्दगी से सीधे-जुड़ा नहीं है, वह अपनी गैर-पारम्परिक विचारणा के नाते दार्शनिक या वैसा ही कुछ भी कहा जा सकता है किन्तु उसे युगचेता या आधुनिक नहीं कहना होगा। कबीर विवेकवादी सन्त थे, क्रान्तिदूत भी इन्हें कह सकते हैं, किन्तु उनका क्षेत्र दर्शन, व्यष्टिपरक गुह्य साधना, अध्यात्म और विवेकवादी नैतिकता का था। उनके सामाजिक सरोकार उनकी पारिवारिकता और जनोपदेश तक सीमित थे। फिर, उनकी क्रांतिकारिता के पीछे मुख्यतः हीनता-ग्रन्थि थी, जिसके फलस्वरूप वे सहजैव ग्राह्य नहीं हो सके। वैचारिक यौगिक दृष्टि से उनमें अनेक रूढ़ियों का अनवरत पिष्टपेषण होता रहा है। उन्हे क्रान्तिकारी कहने की अपेक्षा क्रान्तिकामी कहना अधिक तर्कसंगत होगा। वे प्रगतिशील सामाजिक व्यक्ति न होकर प्रगतिकामी तटस्थ सन्त थे। उनकी क्रान्ति और प्रगति की कामना में वह सहज मानवीय जीवन्तता, उदात्तता और प्रबुद्धता-नहीं थी, जो आधुनिकता की आधारभूत अपेक्षा है। मेरी दृष्टि में भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम क्रान्तिचेता रचनाकार हैं।

भारतेन्दु नवयुग के अग्रदूत थे। उनसे पहले किसी रचनाकार ने राष्ट्र के स्तर पर राजनैतिक विद्रोह की भूमिका नहीं प्रस्तुत की थी। वास्तविकता यह है कि उनसे पहले राष्ट्र और राष्ट्रीयता की कोई स्पष्ट अवधारणा वन ही नहीं सकी थी। भारतेन्दु ने पहली वार इस दिशा में गम्भीरता पूर्वक विचार किया और उसके विविध पहलू सामने रखे। वे सोये देश में राष्ट्रीय चेतना जगाने का संकल्प लेकर चले थे। तत्कालीन स्थितियों में व्यक्ति स्तर पर विद्रोह की घोषणा अकारण आत्महनन ही था। अतएव उन्होंने देशवासियों को विभिन्न युक्तियों से सचेत करने का उपक्रम किया। इस उपक्रम में उनकी आंरभिक राजभक्तिपूर्ण रचनाओं ने भी अप्रत्यक्ष रूप में योगदान किया। अग्रेज उनकी ओर से वेखवर और निश्चिन्त नहीं थे, किंतु वे उनकी आँख की किरकिरी बनने से किसी सीमा तक वच गये थे। उन्हें दो तीन वार प्रतिवन्धित या दण्डित अवश्य किया गया, किंतु उससे उनकी गतिविधि में अन्तर नहीं आने वाला था। फलतः उनका राष्ट्र-जागरण का अभियान प्रखरतर होता गया, जिसकी नींव पर आगे चलकर कांग्रेस की स्थापना हुई और स्वदेशी आन्दोलन चले। भारतेन्दु ने अनेक सन्दर्भों में विविध संकेतों से यह ध्वनित किया कि हम परतन्त्र हैं हमारा शोषण हो रहा है। होली के एक गीत में उन्होंने लिखा कि भारत में विचित्र होली मची हुई है : एक ओर सौभाग्य है, दूसरी ओर दुर्भाग्य—दोनों ही अपनी-अपनी विजय के लिए प्रयत्नशील हैं : दुर्दशा की उड़ती हुई धूल ही अबीर है और रोती हुई आँखे ही पिचकारियाँ है : सर्वत्र पतझर ही वसन्तागम है और प्रजा का पीला मुखड़ा ही फूली हुई सरसों है : दुर्भाग्य की विजय हुई और उसने फगुएँ के रूप में देश का स्वाधीनपन, धन, बुद्धि और बल ले लिया, कुछ भी शेष न बचा—

हार्यो भाग अभाग जीत लखि बिजय निसान ह्यो री।
तब स्वाधीनपनो धन बुधि बल फगुआ माँहि लयो री॥
शेष कछु रहि न गयो री।
भारत में मची है होरी॥

इस कविता में आगे देशवासियों को राम, युधिष्ठिर, विक्रमादित्य के गौरव की स्मृति दिलाकर उन्हें खड्गहस्त होने की प्रेरणा दी गयी है और ललकारा गया है। आलम्बन पक्ष का नामोल्लेख न करते हुए भी कवि ने अपना सन्देश प्रसारित कर दिया है। होली की छूट का बड़े चातुर्य से पूरा-पूरा उपयोग कर लिया गया है। राष्ट्रीयता और एकता की भावना की पुष्ट करने के लिये उन्होंने भाषा का पक्ष उठाया और कहा कि अपनी भाषा की उन्नति समस्त उत्कर्षों का मूलाधार है। हिन्दी की उन्नति के प्रसंग में लिखा गया उनका पद्यबद्ध व्याख्यान राष्ट्रीय स्वाभिमान और एकता की ज्वलन्त प्रेरणा देने वाला है। उन्होंने भारतीय के दैनन्दिन जीवन में अंग्रेजी की अनुपयोगिता बड़े सहज और भावपूर्ण शब्दों में उद्घाटित की और अपनी भाषा की महिमा रेखांकित की। ज्ञान-विज्ञान के

क्षेत्र में आंग्ल भाषा का महत्त्व स्वीकार करते हुए उन्होंने यह सत्य सर्वोपरि रखा कि देश की उन्नति देश की अपनी भाषा के ही माध्यम से हो सकती है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि हमारी परमुखोपेक्षिता ने ही हमें गुलाम बनाया है और 'काला', 'काफिर' और 'अर्धशिक्षित' जैसे दुर्नाम प्रदान किये हैं। प्रसंग भाषा का है, किन्तु यहाँ भी वे अंग्रेजों की शोषण-नीति की ओर संकेत बिना नहीं रह सके। यह भारतेन्दु ही थे, जो उस समय जन चेतना को विद्रोह की खुली प्रेरणा देने का साहस कर सके—

कबलौं दुख सहिहौ सबै रहिहौं बने गुलाम।
पाय मूढ़ काला अरध-शिक्षित काफिर नाम।।
परदेशी की बुद्धि औ वस्तुन की करि आस।
परबस है कबलौं कहो रहिहौ तुम ह्वै दास।।
छोड़हु स्वारथ बात सब, उठहु एकचित होय।
मिलहु कमर कसि भ्रातगन पावहु सुख, दुख खोय।।

भाषा के बहाने भारतेन्दु ने यहाँ राष्ट्रीय जागरण का शंख फूँका है। राज भक्तिपरक कविताओं में भी उन्होंने इसी प्रकार अपना संदेश देशवासियों को देने का प्रयत्न किया है। 'विजय वल्लरी' शीर्षक रचना में उन्होंने स्पष्ट कहा कि अंग्रेज भारतीयों को अफगानों से लड़ाकर 'कंटकेनैव कंटकम् की नीति का अनुसरण कर रहे हैं और भारत को युद्ध की आग में झोंककर तथा उसे जर्जर बनाकर वे अपने शत्रुओं को परास्त करते हैं, यशस्वी बनते हैं और अपने वाणिज्य की वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार 'विजयिनी विजय वैजयन्ती' में कवि ने भारत के प्राचीन महापुरुषों और वीरों का गौरवगान किया है और वर्तमान दुर्दशा के लिए पूरे परिवेश की विगर्हणा की है। भारतेन्दु कहते हैं कि रोम, ग्रीस आदि देशों ने पुनः अपने को उन्नत कर लिया, किन्तु भारत का उद्धार न हो सका। अत्यधिक निर्बल स्याम और जापान भी भारत से बेहतर हैं। भारत के पराजित करने वाले इनके नंगे सिर पर पाँव रखकर खड़े हैं और आर्य जाति के पराक्रम और स्वाभिमान के साक्षी पंचनद, पानीपत और चित्तौड़ निर्लज्ज बनकर इसे देख और सह रहे हैं। समूची कविता का केन्द्रीय सम्प्रेष्य यही है। मिस्रविजय के लिए भारतीय सेना को प्रोत्साहित करना तथा उसकी विजय दिखाना तो बहाना भर है। आधुनिकता का एक लक्षण अपने समय की वैश्विक परिस्थितियों से सरोकार रखना भी है, जिसका परिचय इस तथा ऐसी ही अन्य अनेक रचनाओं में मिलता है। आधुनिकता से संदर्भित शब्द 'प्रासंगिकता' है, जिसका प्रयोग व्यावहारिक रूप में राजनैतिक जागरूकता और प्रतिबद्धता के अर्थ में होता रहा है। भारतेन्दु ने इस अर्थ में हिन्दी साहित्य को पहली बार 'प्रासंगिक' बनाया। उन्होंने ही उसे विचारपरक बनाया और देश की राजनैतिक स्थितियों से जोड़ा।

भारतेन्दु अपने युग के अत्यन्त संवेदनशील सचेत और प्रगतिवादी रचनाकार थे। आज के साहित्य में जिस जनवाद का प्रचार-प्रसार अतिरिक्त उत्साह के साथ किया जा रहा है,

भारतेन्दु ने जनचेतना जगाने की दृष्टि से उसकी उपयोगिता एक शताब्दी पूर्व समझ ली थी। वे एक देशव्यापी जनजागरण, एक विशाल आन्दोलन के केन्द्र में थे। उनका देश नगरों, उच्चवर्ग और परिष्कृत शिष्टजन समुदाय में ही सीमित न होकर अशिक्षित और अर्धशिक्षित गाँवों और उनके समाज तक फैला हुआ था। उन्होंने 'कविवचन सुधा' (मई 1879) में एक लम्बी विज्ञप्ति प्रकाशित की थी जिसमें उन्होंने जातीय संगीत की लघुकाय पुस्तकों के निर्माण और प्रचार की प्रेरणा दी थी। भारत की प्रगति के लिए यह एक अनोखी किन्तु बड़ी ही व्यावहारिक युक्ति थी। इसके लिए उन्होंने ग्रामीण बोलियों और उनकी प्रचलित लोकधुनों के अपनाने पर बल दिया। उल्लेखनीय है कि उन्होंने ऐसा केवल हिन्दी प्रदेश की बोलियों और उनकी लोकप्रिय धुनों के लिए नहीं कहा था। वे प्रत्येक प्रदेश की अपनी भाषा, उसकी बोलियों और लोकगीत में ग्रामगीत रचने के लिए रचनाकारों का आह्वान कर रहे थे। भारतीय जनसाधारण को तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक सन्दर्भों से जोड़ने के लिए भारतेन्दु ने यह वृहत् आयोजन किया था। लोक साहित्य का पुनरुत्थान वस्तुतः गौण लक्ष्य था, जिसे योजना की गतिक्रिया में स्वतः चरितार्थ हो जाना था। भारतेन्दु के एक होली-गीत की बानगी ली जा सकती है—

जुरि आयें फांकेमस्त, होली होय रही।
घर में मूँजी भांग नहीं है, तौ भी न हिम्मत पस्त ॥
महँगी परी न पानी बरसा, बजरी ताहीं सस्त।
धन सब गवा, अकिल नहिं आई, तौ भी मंगल-कस्त ॥
परबस कायर क्रूर आलसी अंधे पेट परस्त।
सूझत कुछ न बसन्त मांहि, ये भे खराब औ खस्त ॥

अन्तिम पंक्तियों का धिक्कार भाव आँखें खोल देने वाला है। भारतेन्दु ने इन चेतना-संवाहक जनगीतों के वस्तु विषय भी अपने घोषणापत्र में सुझाये थे, जैसे बालविवाह से हानि, जन्मपत्री मिलाने की अशास्त्रता, अंग्रेजी फैशन से शराब की आदत, बहुजातित्व, जन्मभूमि प्रेम, मुकदमेबाजी, स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग आदि। स्वयं भारतेन्दु ने इस दिशा में कुछ और भी प्रयोग किये। उन्होंने व्यंग्य की शैली अपनायी और नये जमाने की मुकरी जैसी सशक्त रचना लिखी। इन सारे आयोजनों और युक्तियों का एक ही उद्देश्य था—जनसाधारण को युगबोध से सम्पन्न करना और उस मनःस्तर तक उठाना, जहाँ वे अपनी अस्मिता से परिचित हो सकें और प्रबुद्ध नागरिक के रूप में अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ सकें।

सामाजिक सन्दर्भों में भी भारतेन्दु आधुनिक मनोदृष्टि से सम्पन्न थे। उनके समय का भारतीय समाज संक्रमण की विषम स्थिति में था। अंग्रेजों के पूर्व अनेक विदेशी संस्कृतियाँ भारत में आ चुकी थीं, किन्तु भारतीय समाज उनसे कई बार प्रभावित होने के बावजूद अपने मूल ढांचे पर ही चलता रहा था और उसके सामने संक्रान्ति का संकट

नहीं उपस्थित हुआ था। अंग्रेजों के साथ आई भौतिकवादी जीवन-पद्धति ने उसके समक्ष बड़ी विकट समस्या खड़ी कर दी। रूढ़िमुक्त, प्रगतिशील और भोगवादी पाश्चात्य जीवन-शैली की ओर भारतीय युवा वर्ग-बड़ी तेजी से अग्रसर हुआ। औद्योगिक प्रगति और अंग्रेजी शिक्षा ने इस मानसिक दिशान्तर को और प्रोत्साहन दिया। अंग्रेजों के सत्ताशील होने के कुछ पूर्व आर्य-समाज का सांस्कृतिक आन्दोलन आरंभ हुआ था, जिसने रूढ़िवादी भारतीय समाज में नयी चेतना जगाने का संकल्प लिया था। आर्य समाज निरर्थक रूढ़ियों, व्ययशील कर्मकाण्ड और अन्धविश्वासों के उन्मूलन के लिए तर्क और विवेक का आधार लेता था और उसने जनमानस को एक महत्वपूर्ण सीमा तक प्रभावित भी किया था, किन्तु उसमें पाश्चात्य सभ्यता जैसा अदम्य आकर्षण नहीं था। आर्य समाज तर्क प्रधान नयी चेतना का समर्थन होते हुए भी तत्वतः पुरातनवादी था। उसके प्रवक्ता सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करते थे, अन्धविश्वास और मूर्तिपूजा की खिल्ली उड़ाते थे, महन्तों और पुजारियों की पोल खोलते थे तथा विदेशी संस्कृतियों की सापेक्षिक अयोग्यता प्रमाणित करते थे, किन्तु अन्ततः वे वैदिक मान्यताओं और स्वामी दयानन्द की प्रशस्ति पर उतर आते थे। साथ ही उनके पास उनकी मान्यताओं का कोई व्यावहारिक उदाहरण न था। नयी पश्चिमी सभ्यता का जीवन-दर्शन व्यवहार के स्तर पर प्रत्यक्ष था, जिससे देश की युवा पीढ़ी चमत्कृत हो उठी थी। भारतेन्दु का आविर्भाव इसी संक्रमण-युग में हुआ। वे स्वयं भारतीय समाज को नयी चेतना से सम्पन्न और प्रगतिशील बनाना चाहते थे, जिससे कि वह युग के स्तर तक आ सके और सभ्य कहे जानेवाले देशों के समकक्ष खड़ा हो सके। उन्होंने सामाजिक जीवन पद्धति में नवीनता और प्रगति की आवश्यकता के राजनैतिक तथा मानवीय दृष्टियों से समझा और उसे अपना समर्थन दिया। रूढ़ियाँ जहाँ जनजीवन के स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध किये हुए थी वहीं वे राष्ट्रीय एकता की सिद्धि में भी बाधक थीं। भारतेन्दु ने उनका खोखलापन दिखाते हुए उनके समर्थकों पर व्यंग्य किये और उनकी निरर्थकता प्रमाणित की। उनके नाटकों में विखण्डन और व्यंग्य की प्रवृत्ति बड़े जीवन्त रूप में प्रकट हुई है। उन्होंने एक ओर भारतीय जन-जीवन में व्याप्त कुरीतियों का विरोध किया, दूसरी ओर अपने समय की मांग के अनुरूप कुछ नयी प्रवृत्तियों को अपना समर्थन दिया। बालविवाह बहुजातित्व, साम्प्रदायिक भेदभाव तथा वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न विसंगतियों का उन्होंने विरोध किया और नारी शिक्षा, विदेश यात्रा और आंग्ल भाषा के माध्यम से वैश्विक ज्ञान-विज्ञान की लब्धता का समर्थन किया। ज्ञातव्य है कि अंग्रेजों के साथ आई नयी सभ्यता की चमक ने उन्हें थोड़ा चमत्कृत अवश्य किया था, किन्तु वे यह कभी नहीं भूले कि वे भारतीय हैं और उन्हें जो कुछ करना है वह भारतीय परिवेश के सन्दर्भ में करना है। भारतेन्दु के समय की प्रगतिशील अथवा आधुनिक सामाजिक दृष्टि यही हो सकती थी। कितना पाजिटिव है उनका यह वक्तव्य कि भारत में उपधर्मों की समाप्ति होनी चाहिए, बुद्धि का मात्सर्य दूर होना चाहिए तथा नारी के पुरुष को समान अधिकार मिलना चाहिए।

उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै।
बुध तजहिं मत्सर, नारी नर सम होंहि सब जग सुख लहै।।

वर्ण व्यवस्था के आडम्बर और तज्जन्य छुआछूत की भावना से उन्हें बड़ी चिढ़ थी। इसी विक्षोभ के तहत उन्होंने ब्राह्मण-वर्ग पर विशेष रूप से व्यंग्य किए। 'देखी तुम्हरी कासी' रचना में उन्होंने तीर्थ स्थानों के व्यभिचार और पाखण्ड का पर्दाफाश किया। अन्धविश्वास और ढोंगपूर्ण कर्म काण्ड के साथ-साथ भारतेन्दु भारतीयों की अकर्मण्यता पर भी चोट करते हैं —

दुनियाँ में हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पे उठके कहीं जाना नहीं अच्छा।।
धोती भी पहिने हम जो कोई गैर पिन्हा दे।
उमरा को हाथ पैर हिलना नहीं अच्छा।।
मिल जाय हिन्द खाक में हम काहिलों का क्या।
ऐ मीरे फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा।।

उन्होंने धार्मिक मतभेदों की निस्सारता प्रचारित की। स्वयं वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बावजूद उन्होंने किसी मत को नगण्य नहीं समझा। उनकी धार्मिक उदारता का सबसे ज्वलन्त उदाहरण उनका जैन धर्म का समर्थन है। उन्होंने कहा कि जो वेद मार्गी ब्रह्म को सर्वव्यापी मानता है और जैन मन्दिर में जाने का निषेध करता है, वह सबसे बड़ा पाखण्डी है। उन्होंने जैनधर्म को नास्तिक कहना असंगत बताया, क्योंकि जो परमधर्म अहिंसा के आचरण की शिक्षा देने वाला है, वह नास्तिवादी हो ही नहीं सकता। सभी रास्ते एक ही मंजिल की ओर जाते हैं, अतः दूसरे के मत का खण्डन या विरोध नहीं करना चाहिए। तर्क और युक्ति से परम सत्य का साक्षात्कार होना आवश्यक नहीं—

युक्तिन के परमान कहा है, ये कबहूँ बढ़ि जात।
जाको बात फुटै सो जीतै, यामें कहा लखात।।

इसीलिए उन्होंने परम प्रेमानुभव को सर्वोपरि बताया और कृच्छ साधनाओं, बाह्याडम्बरों और स्थूल कर्मकाण्ड की निस्सारता पर प्रकाश डालते हुए सरस और सुगम प्रेम-पथ पर चलने का सुझाव दिया। उन्हें इस बात को लेकर बड़ी तड़प थी कि यदि धार्मिक एकता न हुई और हम सब इसी प्रकार लड़ते झगड़ते रहें, तो इस पीड़ित, शोषित, पिछड़े और अभागे देश का विनाश निश्चित है। धर्म निरपेक्ष जनतन्त्र और प्रगतिशील सचेत समाज की परिकल्पना भारतेन्दु जैसा युगचेता रचनाकार ही कर सकता था।

साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु की अभिनवता अतर्क्य है। उन्होंने पहली बार साहित्य को सामाजिक और राजनैतिक वस्तु विषयों की ओर उन्मुख किया। उनमें निराला जैसी ही व्यापक मानवीय संवेदना और बहुविषय स्पर्शिनी प्रतिभा थी। यह सही है कि संख्या की दृष्टि से उन्होंने ऐसी कविताएँ अधिक लिखीं, जो भक्ति और रीति की रूढ़ियों से जुड़ी हुई हैं, किन्तु उन्हीं के आधार पर भारतेन्दु के महत्त्व का निर्धारण न केवल भ्रान्तिपूर्ण होगा, वरन् अन्यायपूर्ण भी। कोई भी बड़ा रचनाकार परम्परा से अपने को काटकर नहीं चल सकता। परम्परा के परिप्रेक्ष्य में ही आधुनिकता की मीमांसा हो सकती है। भारतेन्दु ने न केवल हिन्दी साहित्य को युगबोध से जोड़ा, अपितु परम्परा का संस्कार भी किया। उनकी पारम्परिक ढर्रे की रचनाओं में सिर्फ पिष्टपेषण नहीं है। शृंगारिक रचनाओं में रीतियुगीन बँधी-बँधाई परिपाटियों के स्थान पर भारतेन्दु में एक खुलापन मिलेगा। नारी की जागरूकता और प्रगति के लिए कृतसंकल्प रचनाकार उसे मात्र भोग्या के रूप में देख ही नहीं सकता था। इसी प्रकार उनकी भक्तिपरक रचनाएँ भक्ति साहित्य की सम्प्रदाय बद्धता से मुक्त हैं और मानव मात्र के प्रेम का सन्देश देने वाली हैं। प्रकट है कि भारतेन्दु ने क्रमागत साहित्य की उपलब्धियों को यथोचित सम्मान देते हुए अपने व्यक्तित्व की मौलिकता का परिचय दिया। परवर्ती रचनाकार अधिकतर उन्हीं के पद-चिह्नों पर चले हैं। प्रसाद में उनके व्यक्तित्व के प्रति अगाध श्रद्धा थी। कई बार उनकी रचनाओं में भारतेन्दु की छाया झलक मार जाती है।

भाषा और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भारतेन्दु की अभिनवता सर्वोपरि है। वे देश की अपनी भाषा के पक्षधर थे। वे ब्रजभाषा के लालित्य पर मुग्ध थे और अटूट प्रेमी थे, किन्तु देश की एकता के मसले पर खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग अपरिहार्य मानते थे। उनका यह दृष्टिकोण एक नये युग के उन्मेष, एक युगान्तर की सूचना देने वाला है। अपने गद्य साहित्य में तो उन्होंने खड़ी बोली का खुलकर प्रयोग किया ही, कविता में भी उसके प्रयोग का रास्ता उन्होंने बनाया। वे उर्दू को साथ लेकर चले। स्वयं उन्होंने 'रसा' उपनाम से गजलें लिखीं, जिनमें भाषा का गंगाजमुनी रूप बड़ा मोहक बन पड़ा है। कुछ कविताओं में उन्होंने उर्दू-हिन्दी की सम्मिलित का भी प्रयोग बड़े रोचक और सरस ढग से किया। उन्होंने टेक उर्दू की रखी और अन्तरा के रूप में बिहारी और तुलसी के दोहे रखे। भारतेन्दु ने अपने इन प्रयोगों के द्वारा खड़ी बोली के काव्योपयोग की जमीन तैयार की जिस पर द्विवेदी-युग की फसल उगी। यों, खुसरों ने बहुत पहले खड़ी बोली में काव्य रचना की थी और कुछ मिले-जुले प्रयोग भी किए थे, किन्तु वह एक शब्द क्रीड़ा भर थी। उससे व्यापक प्रयोग की कोई प्रेरणा स्फुरित नहीं थी और खुसरों का वैसा कोई उद्देश्य भी नहीं था। भारतेन्दु ने देश में स्वाधीन चेतना जगाने के लिए, देश को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए भाषा का एक प्रारूप प्रस्तुत किया था। उनकी खड़ी बोली हिन्दी का रूप यहाँ देखा जा सकता है—

सांझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं, कुछ तेरा है ।
हम सब इक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है ।।
आँधी चलकर इधर-उधर से तुझको यह समझाती है ।
चेत-चेत जिन्दगी हवा सी उड़ी तुम्हारी जाती है ।।

अजब नहीं कि परवर्ती गीतिकाव्य का मूल भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों की ऐसी विरल रचनाओं में हो । उस युग की दृष्टि से यह कविता हिन्दी की प्रगीत पद्धति का एक अच्छा उदाहरण है । अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारतेन्दु से अधिक प्रयोगधर्मी शायद ही कोई रचनाकार हो । उन्होंने अपने समय तक प्रयुक्त प्रायः सभी शैलियों में काव्य रचना की । उनकी अभिव्यक्ति क्षमता तुलसी से वृहत्तर है । उन्होंने हिन्दीतर भाषाओं के भी प्रचलनशील छन्द युक्त हृदय से अपनाये । गजल की छोटी-बड़ी बहरों में उन्होंने साधिकार रचना की । जातीय संगीत अथवा लोकधुनों का उनमें अपना अलग लालित्य है । अपने इन प्रयोगों के द्वारा भारतेन्दु ने रचना के परम्परागत जड़ता चक्रों को तोड़ा और अभिव्यक्ति की रूपात्मक संभावनाओं की विपुलता से परिचित कराया । भारतेन्दु सही अर्थों में हिन्दी साहित्य में आधुनिकता और आधुनिक युग के प्रतिष्ठाता हैं ।

भारतेन्दु की सार्थकता

[आधुनिकता और भारतीयता के द्वन्द्व के विशेष संदर्भ में]

परमानंद श्रीवास्तव

भारतेन्दु उन थोड़े से महान् लेखकों में हैं जो जिस समय इतिहास में होते हैं, उसी समय इतिहास बदल रहे होते हैं। ऐसे महान् लेखकों का स्मरण हर दौर में होता रहता है। उसके लिए किसी 'जन्मशती' या 'निधनशती' की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है। वे अपने पीछे एक ऐसी गतिशील परम्परा भी छोड़ जाते हैं जिससे उनका सम्बन्ध बदले हुये समय में भी नयी सार्थकता पा लेता है। अब भारतेन्दु की परम्परा को आज यदि एक विशेष अर्थ में प्रगतिशील या जनवादी कहा जाता है तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। भारतेन्दु जैसे लेखकों की सार्थकता पर विचार करने का एक सरल रास्ता यह है कि हम उनके साहित्य में निहित प्रगतिशील तत्त्वों को अपनी जरूरत के अनुसार खोज निकालें और असमंजस पैदा करने वाले मरणशील पतनोन्मुख संस्कारों के प्रति चुप्पी का रुख अख्तियार कर लें। दूसरा कठिन रास्ता यह है कि हम उसके प्रगतिशील तत्त्वों की पहचान के साथ उनके समय को, समय की ऐतिहासिक सीमाओं को, समय के अन्तर्विरोधों को, उनके व्यक्तित्व, रुझान और सोच के अन्तर्विरोधों अथवा असंगतियों को तटस्थ वस्तुपरक ढंग से देखें और उनकी सार्थकता की पहचान के लिये निरे उपयोगितावादी तर्क से ऊपर उठें। भारतेन्दु की सार्थकता की दूसरी दृष्टि से की जाने वाली जाँच मुझे अधिक प्रयोजनीय जान पड़ती है। सीधे इस सार्थकता वाले मुद्दे पर आने से पहले आवश्यक है कि हम 'प्रगतिशील' और 'आधुनिक', 'आधुनिक और भारतीय' के बीच के सम्बन्धों को पहले कुछ दशकों के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश करें।

जिस प्रकार 'प्रगतिशील' और 'आधुनिक' के बीच पिछले कुछ दशकों के साहित्यिक परिदृश्य में द्वन्द्वपूर्ण सम्बन्ध की स्थिति दिखाई देती है, उसी प्रकार 'आधुनिकता' और 'भारतीयता' के बीच भी 'द्वन्द्वपूर्ण' सम्बन्ध – जैसी स्थिति लक्ष्य की जा सकती है। यह एक वास्तविकता है कि जब हिन्दी में महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील साहित्य लिखा ही जा रहा था, यथार्थ दर्शन की हिमायत की जा रही थी, सामाजिक परिवर्तन में रचना की भूमिका निश्चित करने के लिये जरूरी तर्क दिये जा रहे थे, रचना स्थानीय रंग या जनपदीय जीवन-चित्रण पर बल दिया जा रहा था, देशकाल की मूर्त वास्तविकता से सम्पर्क या साक्षात् की सार्थकता बतायी जा रही थी—बहुत सुनियोजित ढंग से पश्चिमी ढर्रे का आधुनिकतावाद गूढ़ मनोविज्ञान और सूक्ष्म कलात्मकता या रीतिमूलक चमत्कार युक्त

मुहावरे के बल पर अपनी जगह बनाने लगा। कुछ साहित्येतिहासकार यह बताने में सुकून महसूस करते हैं कि हिन्दी में प्रगतिवाद 1936 में आया और लगभग दशक पूरा करने के पहले ही साहित्यिक परिदृश्य से गायब हो गया। प्रगतिवाद की इस तथाकथित असमय समाप्ति पर शोकगीत लिखने वालों की भी कमी नहीं। अब उन लोगों को खासी उलझन हो रही होगी कि प्रगतिशील साहित्य पुनः रचनात्मक परिदृश्य के केन्द्र में है, उसके नये विश्लेषण और मूल्यांकन की जरूरत महसूस की जा रही है और प्रगतिशील साहित्य की परम्परा से एक नया जीवन्त सम्बन्ध बनाने की उत्सुकता और समझ भी आज के लेखकों में मौजूद है। प्रगतिशील साहित्य की इस पुनः प्रतिष्ठा वाले दौर में यह भी साभिप्राय पूछा जाने लगा है कि जिसे हम विगत दशकों में आधुनिक साहित्य के रूप में मान्यता देते आये हैं वह कितना आधुनिक है और कितना भारतीय! सीधा जान पड़ने वाला यह सवाल बहुतों के कृतित्व के आगे भारी पड़ता है कि पहली ही नजर में उसका कृत्रिम या छद्म अनुकरण अपने परजीवीपन के सारे भेद खोल जाता है।

यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि 'प्रगतिशील' और 'आधुनिक', 'आधुनिक' और 'भारतीय' के बीच कोई अनिवार्य विरोध है। सहज प्रगतिशीलता और सच्ची आधुनिकता, सच्ची आधुनिकता और सहज भारतीयता के बीच एक स्वाभाविक और कभी-कभी द्वन्द्वात्मक ही सही, रिश्ता होना ही चाहिये—यह आदर्श रूप में ही नहीं मान्य है, व्यवहार में इसका साक्ष्य भी प्रेमचंद और निराला' जैसे महत्त्वपूर्ण लेखकों के कृतित्व में मौजूद है। जब हम अपने यहाँ, साहित्यिक या सांस्कृतिक सृजनशीलता के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में 'भारतेन्दु' जैसे युग-सन्धि पर स्थित, साथ ही युग प्रवर्तन जैसे श्रेय के अधिकारी लेखक की सार्थकता के बारे में विचार करने चलते हैं, हमें 'आधुनिकता' और 'भारतीय' के बीच के सम्बन्ध या तनाव का साक्ष्य अधिक स्पष्ट रूप में मिलने लगता है। इसलिए 'भारतेन्दु की सार्थकता' के संदर्भ में 'आधुनिकता' और 'भारतीय' के बीच का यह 'सम्बन्ध शील तनाव' एक जरूरी, विचारणीय मुद्दा है।

भारतेन्दु की देन का समुचित मूल्यांकन करने के लिए उनके प्रमुख जीवन- तथ्यों को रेखांकित करना जरूरी है। 1850 में भारतेन्दु का जन्म हुआ। 1868 में भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा' का प्रकाशन आरम्भ किया—फिर नाम और रूप बदलकर कई-कई पत्रिकाएं उन्होंने प्रकाशित कीं—हरिश्चन्द्रमैगजीन, हरिश्चन्दचन्द्रिका और 'नवोदिता' 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका'। यह सिलसिला जीवन भर बना रहा। 1873 में भारतेन्दु ने यह घोषणा की—हिन्दी नयी चाल में ढली। 23 मार्च 1874 की 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु का प्रतिज्ञा पत्र प्रकाशित हुआ—"हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे।" भारतेन्दु ने इस बीच निबन्ध, नाटक लिखे, उपन्यासों के अनुवाद किये, कविताएं लिखीं, समसामयिक विषयों पर टिप्पणियाँ लिखीं, अपना लगभग स्वतंत्र रंगमंडल बनाया, यात्राएं कीं, नाटक खेले, जनता के कष्ट की गाथा शासकों तक पहुंचाने की कोशिश की,

साम्राज्यवादी शोषण की रीति-नीति समझी, अंग्रेजी भाषा की अधीनता के विरुद्ध सजग करते हुए स्पष्ट रूप से कहा—'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'। 1885 में भारतेन्दु की मृत्यु हुई। अर्थात् कुल पैंतीस वर्ष का जीवन भारतेन्दु को मिला—जिसमें वे राज-भक्ति और देश-भक्ति के द्वन्द्व से, वैष्णवता और क्रान्तिधर्मिता के द्वन्द्व से, दरबारी सस्कृति और जनसंस्कृति के द्वन्द्व से, आधुनिकता और भारतीयता के द्वन्द्व से गुजर रहे थे। कहीं यह द्वन्द्व स्पष्ट दिखाई देता है और कहीं एकदम नहीं दिखाई देता है जैसे इन स्थितियों में सर्वथा अविरोध हो, कोई आंतरिक संतुलन या गहरा सामजस्य हो। हमारे लिए आसान है कि हम अपनी जरूरत के मुताबिक उनकी देशभक्ति, क्रांतिकारिता और आधुनिकता को अपने लिए प्रासंगिक या उपयोगी घोषित कर दें और असमंजस (embarrassment) पैदा करने वाली राजभक्ति या शृंगारिकता या वैष्णवता को अप्रासंगिक मान लें। भारतेन्दु के लिये स्वीकार या अस्वीकार इतना आसान न रहा होगा। इसलिये उस युग या समय को जाँचना जरूरी है जिसमें भारतेन्दु हुए और जिसमें रहकर भारतेन्दु ने संस्कृति और साहित्य को नए मार्ग पर लाने की कोशिश की।

भारतेन्दु के मूल्यांकन के प्रसंग में इस बात पर बल देना जरूरी है कि वे सिर्फ हिन्दी गद्य को नया संस्कार देने के लिये सचेष्ट थे। यद्यपि यह भी एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य था जो वे कर रहे थे। वे वस्तुतः साहित्य को ही नया जीवन सस्कार देने के आकांक्षी थे। मुख्य बात यह कि वे अपने समाज को निश्चित अर्थ में बदलने के लिये संघर्ष कर रहे थे। शोषण की प्रक्रिया को समझते हुए शासन सत्ता से संवाद बनाये रखने के लिए वे समर्थन और विरोध, आश्वस्ति और असंतोष की एक मिली-जुली रणनीति पर चल रहे थे। 'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी'। पहली पंक्ति में आशंसा का भाव है पर दूसरे में विरोध का स्वर फूट ही पड़ता है। 'भारतेन्दु युग' के बारे में प्रसिद्ध आलोचक रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है—"वास्तव में ऐसा सजीव और चेतन युग हिन्दी में एक ही बार आया है।" जनता ने किसी भी लेखक को सीधे 'भारतेन्दु' जैसी संज्ञा से अलंकृत किया हो, यह भी हमारे इतिहास की अकेली ही घटना है। राजभक्ति और देशभक्ति के अन्तर्विरोध की जांच करते हुये हम कुछ तथ्यों या संदर्भों की उपेक्षा नहीं कर सकते। भारतेन्दु के परिवार में राज भक्ति की परम्परा जड़ जमाए हुये थी। इस समृद्धिजीवी परिवार के अपने संस्कार राजभक्ति के सर्वथा अनुकूल थे। फिर परिस्थिति ऐसी थी कि महारानी विक्टोरिया का राज्य पहले की तुलना में काफी राहत देने वाला जान पड़ा था। हाँलाकि फिर भारतेन्दु ने लक्ष्य किया कि साम्राज्यवादी शोषण का सिलसिला अटूट है। 1866 में मंदी का जमाना, 1868–69 में अकाल की घटना—ये संकेत थे कि जनता को बहुत दिनों तक कुछ सहूलियतों के प्रलोभन से घेर कर नहीं रखा जा सकता था। 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के' कहने वाले भारतेन्दु के साहित्य में ही क्रांतिकारी परिवर्तन के अभिप्राय भी छिपे हैं। भारतेन्दु की भक्ति में सिर्फ प्रगति का भाव नहीं है, साहस

का तत्त्व भी है। हिन्दी की जिस साहित्यिक परम्परा में एक पूरा भक्तियुग सामाजिक आन्दोलन की हैसियत रखता हो, उसके परिप्रेक्ष्य में वैष्णवता और क्रांतिकारिता के बीच के अविरोध या द्वन्द्वात्मक सामंजस्य को पहचानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। भारतेन्दु जब तक एक साथ सहज भारतीय और आधुनिक रचनात्मकता से सम्पन्न दिखाई देते हैं या इस दिशा में प्रयास करते हैं। इस बात को ठीक-ठीक समझने की जरूरत है कि भारतेन्दु सांस्कृतिक 'सुधारवादी पुनरुत्थान आंदोलन के अनुयायी भर नहीं थे, वे एक नए प्रकार के 'ठेठ देसी लोकजागरण' की नींव भी रख रहे थे।

भारतेन्दु का महत्व इस अर्थ में है कि वे गहरी वैष्णवता में रचे–बसे हैं पर धर्म की सीमाएं, धार्मिक आडम्बर के अवरोध स्पष्ट पहचानते हैं। वे मानते हैं कि वैष्णवता भारत का प्रकृत धर्म है पर उसके सम्यक् बोध के लिए उन्हें एक साथ कबीर, दादू, सिक्ख, बाउल सभी पंथों से जुड़ना है, पर हिन्दू मत के आडम्बर प्रधान आचरण की धज्जी उड़ाते हैं–"धर्म हमारा ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से या एक चुल्लू पानी से मर जाता है। कच्चे गले सड़े सूत या चिऊँटी की दशा हमारे धर्म की हो गयी है।" भारतेन्दु का यह व्यंग्य सीधे चुभने वाला है—स्थूल मतावलम्बियों के लिए मारक है। भारतेन्दु सीधे चेतावनी के स्वर में कहते हैं: "जिस भाव से हिन्दू मत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा।" यहीं हमें भूलना नहीं चाहिए कि भारतेन्दु ने ने जहां तहाँ मुसलमानों के बारे में ऐसी टिप्पणियाँ की हैं जो आधुनिक प्रगतिशील दृष्टि के मेल में नहीं है। मसलन् एक जगह वे कहते हैं "चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अंग्रेजों से जो नौकरी बच जाती है उस पर मुसलमान आदि 'विधर्मी' भरती होते जाते हैं। अन्यन्त्र भारतेन्दु का स्वर थोड़ा बदला हुआ दिखाई देता है—वे कहते हैं—"मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान में बसकर वे लोग हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दें।" जैसे पहले का आक्रोश यहां अमर्ष में बदल गया। अन्यत्र भारतेन्दु की ही अपनत्व भरी चिन्ता मुस्लिम समाज के प्रति इस रूप में प्रकट है—"जो बात हिन्दुओं के नहीं मयस्सर है वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त है। उनमें जाति नहीं, खाने पीने में चौका चूल्हा नहीं, विलायत जाने में रोकटोक नहीं—फिर भी बड़े सोच की बात है कि मुसलमानों ने अभी तक अपनी दशा कुछ नहीं सुधारी।" आज 1985 में अनेक घटनाएं भारतीय समाज में ऐसी हो रही हैं कि हम भारतेन्दु के स्थिति–विश्लेषण को कई बार आज के यथार्थ के निकट पाते है। यह एक उदाहरण है कि भारतेन्दु अपने समय से बहुत आगे देखने वाले लेखक हैं।

भारतेन्दु जब अपनी भाषा को 'सब उन्नति' या सर्वतोमुखी प्रगति का मूल ठहराते हैं, उनके कथन की अर्थ ध्वनि दूर तक सुनी जा सकती है। स्वदेशी की उनकी पूरी अवधारणा, नये उद्योगों के बारे में उनका दृष्टिकोण, नयी शिक्षा के प्रति उनका समर्थन, पराधीनता या परनिर्भरता के विरुद्ध उनकी चेतावनी, श्रम के प्रति उनका आग्रह, राष्ट्रीय एकता सम्बन्धी उनकी अंत:दृष्टि—सब कुछ उनकी कृतियों तथा उनके वक्तव्यों में दर्ज है।

"अच्छी से अच्छी उनको तालीम दो। पिनशिन और वजीफा या नौकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मिहनत करने की आदत दिलाओ। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मण, मुसलमान सब एक का हाथ पकड़ो। कारीगरी जिसमें तुम्हारे यहाँ बढ़े। तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे, वह करो। अफ़सोस तुम ऐसे हो गए कि अपने निज काम की वस्तु भी नहीं बना सकते।······ परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो—अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।" अन्यत्र भारतेन्दु लिखते हैं : "परन्तु अब अंग्रेजी भाषा छल और घात दृष्टि में आने लगा क्योंकि हम लोगों को केवल अंग्रेजी भाषा प्राप्त हुई परन्तु कला–कौशल्य के विषय में हम लोग भली-भाँति अज्ञान सागर में निमग्न हुए हैं इसमें सन्देह नहीं। आर्थिक स्वाधीनता, राजनीतिक स्वाधीनता और भाषा की मुक्ति के प्रश्नों को एक दूसरे से सम्बद्ध करके देखना भारतेन्दु को जरूरी जान पड़ता है।

भारतेन्दु के योगदान का सही परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है : "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता मधुर रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया।" भारतेन्दु का महत्त्वपूर्ण कार्य शुक्ल जी यह मानते हैं कि साहित्य को नया मार्ग दिखाते हुए उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आये नयी शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देश हित, समाज हित आदि की नयी उमंगें उत्पन्न हो रही थी। काल की गति के साथ-साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति श्रृंगार आदि की पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। बीच-बीच में कुछ शिक्षा सम्बन्धिनी पुस्तकें अवश्य निकल जाती थीं पर देशकाल के अनुकूल साहित्य निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। बंगदेश में में नये ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नयी रुचि और भावना का प्रतिबिम्ब आने लगा। पर हिन्दी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था, उसे उन्होंने दूर कर दिया। हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।" शुक्ल जी की इस टिप्पणी के प्रकाश में भारतेन्दु का सम्बन्ध पिछले युग से और आगे के नए दौर से ठीक-ठीक पहचाना जा सकता है। एक ओर भारतेन्दु रीतिवाद की साहित्यिक मानसिकता से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पा रहे थे, दूसरी ओर नये विचारों से, नए जीवन प्रवाह से जुड़ने के लिए वे बेचैन थे। कहीं उनसे चूक हो रही थी, कहीं वे असफल हो रहे थे पर बड़ी बात यह कि उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा मुक्ति के नये रास्ते खोज रही थी।

एक विडम्बना पूर्ण तथ्य यह है कि वही भारतेन्दु जो 'अन्धेर नगरी' जैसा व्यंग्यार्थ सम्पन्न, कसा हुआ नाटक खड़ी बोली में (निश्चय ही बोल चाल की समूची मुक्ति के

साथ) लिख सके, जिसे प्रस्तुत करने में आज के निर्देशकों की नयी चुनौती और स्फूर्ति मिलती है, खड़ी बोली में कवि कर्म कठिन मानते हैं वल्कि उसे एक तरह की असंभावना मानते हैं। वे प्रयत्न करते हैं पर विफल होते हैं। वे बड़ी ईमानदारी से स्वीकार कर लेते हैं कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता है। देखने की चीज यह है कि भारतेन्दु टैक्स, अकाल, महामारी, वेरोजगारी पर कविता लिखने में नहीं हिचकते—काव्य विषयों की कोई रूढ़ि वे नहीं स्वीकार करते—पर खड़ी बोली के ढाँचे में कविता उन्हें असंभव जान पड़ती है। विशिष्टतावाद का आतक भारतेन्दु पर नहीं है। उच्चकोटि के साहित्य को जनपदीय साहित्य से जोड़कर देखना उन्हें सहज स्वाभाविक लगता है। फिर खड़ी बोली में कविता को संभव बनाने की दिशा में अवरोध कहां है। उर्दू में खड़ी बोली कविता की एक पहले से चली आती हुई विकसित परम्परा थी। मीर, गालिब जैसे बड़े कवि पहले ही हो चुके थे। यह वह समय था जब बहादुरशाह ज़फर और हाली के बीच उर्दू खड़ी बोली कविता मँजे हुए खड़ी बोली के ढाँचे में नये रूप रंग ग्रहण कर रही थी—बोलचाल की नयी सरलता में अपने को ढालने की कोशिश कर रही थी—फिर भी दाग की शैली का का हल्का-फुल्का काव्य चमत्कार ही एक पूरे युग की काव्याभिरुचि पर वहुत कुछ छाया हुआ जान पड़ता था। भारतेन्दु को यह दृश्य कैसा लग रहा था, कहना कठिन है। इतना सब जानते हैं कि उन्होंने गज़लें कहने की कोशिश की। पर खड़ी बोली हिन्दी की कविता का एक स्वतन्त्र ढाँचा भारतेन्दु के लिए सुलभ नहीं था। उनके प्रयत्न की बानगी कुछ दोहों के रूप में देखें—

बरसा सिर पर आ गयी हरी हुई सब भूमि।
बागों में झूले पड़े रहे भ्रमर गण झूमि।।
खोल खोल छाता चले लोग सड़क के बीच।
कीचड़ में जूते फँसे जैसे अघ में नीच।।

इनके बारे में केदारनाथ सिंह की टिप्पणी है: "यह यथार्थ का एक बिल्कुल सीधा सादा चित्र है, वस्तुओं को भावना के रंग में देखने का प्रयास नहीं किया गया है। जो जिस रूप में है उसको उसी रूप में कविता में रख दिया गया है। एक तरह से देखा जाय तो इस रूप में भी यह प्रयोग हिन्दी खड़ी बोली कविता में नया प्रस्थान माना जा सकता था, यदि भारतेन्दु अपनी रचनात्मक ऊर्जा के साथ इस प्रयोग-भूमि पर टिके रहते। भारतेन्दु यहाँ विफलता की घोषणा करके ही रह जाते हैं। इस अन्तर्विरोध को समझने की जरूरत है कि भारतेन्दु के यहाँ सब कुछ नया और क्रान्तिकारी ही नहीं है, बहुत कुछ पुराने संस्कारों की जकड़ भी है और साहित्यिक अभिरुचि में व्याप्त अनिश्चय या सुविधाग्रस्त मानसिकता भी। भारतेन्दु को अगर कुछ और लम्बा जीवन् मिला होता तो असंभव नहीं था कि वे स्वयं अपने अवरोधों के विरुद्ध खड़े होते। साहस उनमें कुछ ऐसा ही दिखाई देता है—अपने विरुद्ध खड़े होने का साहस।

एक साहित्यिक विधा से भारतेन्दु कितना बड़ा काम ले सकते हैं और उसे कितनी जीवनी शक्ति दे सकते हैं, इसके लिए उनके 'निबन्ध' बहुत उपयुक्त उदाहरण हैं। स्वच्छन्दता या जिन्दादिली उनके यहाँ चीजों को देखने का रवैया भर नहीं है—वह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में गहरी संलग्नता का साक्ष्य भी है। 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' निबंध में शिक्षा जगत् का जो व्यंग्यात्मक खाका भारतेन्दु ने उपस्थित किया है, उसकी सार्थकता 1985 के भारतीय शिक्षा जगत् में प्रचलित जड़हीन संकल्पनाओं के सन्दर्भ में कहीं अधिक प्रकट है। शिक्षा और संस्कृति पर लिखते हुए भारतेन्दु प्रमाणित करते हैं कि वे एक पूरी सामाजिक प्रक्रिया के बारे में जागरूक हैं।

इस प्रकार भारतेन्दु की सार्थकता के अनेक पहलू हैं। शिक्षा, साहित्य, संस्कृति, कला धर्म, उद्योग, रंगमंच, स्वदेशी के उपयोग—आदि अनेक सन्दर्भों के बारे में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए भारतेन्दु जिस परम्परा की नींव रखते हैं उसमें 'आधुनिक दृष्टि' और और गहरे अर्थ में 'भारतीय दृष्टि' का सम्बंध या संतुलन मौजूद है। कभी यह सम्बंध 'सहज' है, कभी 'तनावमूलक'। दोनों रूपों में वह विचारणीय है और उनके लिए हमेशा उपयोगी है जो अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं, अपनी समूची जातीय परम्परा या चेतना के भीतर खोजते हैं। भारतेन्दु अपनी 'सीमाओं में एक साहित्यिक नवजागरण के प्रतिनिधि हैं जो वृहत्तर सांस्कृतिक लोक जागरण का सहयोगी अथवा सहजीवी है।

भारतेन्दु का 'नाटक' निबंध इसका संकेत है कि भारतेन्दु साहित्य में परिवर्तन चाहते हैं, ठीक उसी तरह जैसे वे समाज में परिवर्तन चाहते हैं। जिसे वे सामाजिक रुचि की विलक्षणता कहते हैं; क्रमशः वही दृष्टि की नवीनता में रुपान्तरित होती चलती है। भारतेन्दु की दिलचस्पी विशिष्ट साहित्य रसिकों में नहीं, किसानों में भी है—साहित्य को जिन तक पहुंचाने के लिए वे चिन्तित दिखाई देते हैं। उनकी चिंता का एक रूप यह भी है "यह बात सब लोग जानते हैं कि जो बात 'साधारण लोगों में फैलेगी, उसी का प्रचार 'सार्वदेशिक' होगा। और यह भी विदित है कि जितना ग्राम-गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ 'संस्कार बदल जाने की आशा है।' सामाजिक निर्माण की एकदम आरम्भिक चिन्ताओं के साथ भारतेन्दु आगे बढ़ते हैं। यह संकेत है कि अपने युग की वास्तविकता से सम्यक् सम्पृक्ति ही किसी लेखक को आने वाले युगों के लिए प्रासंगिक या सार्थक बनाती है। 'अंधेर नगरी' भारतेन्दु के समय का ही नाटक नहीं है, हमारे आज के समाज की अनेक असंगतियों की व्याख्या भी उसमें मिल जाएगी।

'निराला' ने किसी प्रसंग में कहा है कि आश्चर्यजनक रूप से हिन्दी साहित्य में हास्य विनोद का अकाल'-सा दिखाई देता है जबकि हमारे यहाँ के किसानों में या ग्रामीण

सामाजिकों में सहज रूप से हास्य विनोद की प्रवृत्ति पायी जाती है। विषम परिस्थितियों में भी हास्य विनोद से वे अपनी जिजीविषा का प्रमाण देते हैं। इस दृष्टि से आज हम भारतेन्दु के साहित्य में निहित व्यंग्य विनोद की प्रवृत्ति पर विचार करेंगे तो उसकी ताकत पर जरूर ध्यान जाएगा। भारतेन्दु के समूचे साहित्य में जगह- जगह प्रच्छन्न या प्रकट व्यंग्य है जो 'अनोखी धार' का प्रमाण देता है। व्यंग्य से सामाजिक आलोचना की यह परम्परा हिन्दी में अपनी अलग पहचान बनाती है जिसमें कबीर आते हैं, भारतेन्दु आते हैं, निराला और प्रेमचंद आते हैं। 'लेवी प्राणलेवी' 'अथ अंगरेज स्तोत्र लिख्यते' –भारतेन्दु की व्यंग्य क्षमता के अद्‌भुत उदाहरण है : स्तोत्र की भाषा भंगिमा यह है—'चुंगी और पुलिस तुम्हारी भुजा है, अमले तुम्हारे नख हैं, अँधेरा तुम्हारी पीठ है, आमदनी तुम्हारा हृदय है। अतः हे अग्रेज हम तुम्हें प्रणाम करते हैं।' 'खजाना तुम्हारा पेट है, लालच तुम्हारी क्षुधा है, सेना तुम्हारे चरण, खिताव तुम्हारा प्रसाद है; अतः हे विराट् रूप अंग्रेज हम तुम्हें प्रणाम करते हैं।'

प्रत्यक्ष है, व्यंग्य की इस भाषा की मार दुहरी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भारतेन्दु की 'शीतल कला' की सराहना की है। कहना न होगा कि इस शीतल कला में काफी प्रखरता और ताप भी है।

भारतेन्दु की स्मृति का अर्थ है–एक पूरी परम्परा से नये सम्बन्ध की चेतना, नयी सम्पृक्ति का बोध। भारतेन्दु के साहित्य को प्रगतिशील बताने के लिए उसे मार्क्सवादी बताना जरूरी नहीं है न उसका कोई औचित्य है। भारतेन्दु प्रगतिशील कहे जाँय या जनवादी अपने अनेक अन्तर्विरोधों और अवरोधों के बीच ही वे इस संज्ञा के अधिकारी होंगे- और वह भी मार्क्सवाद के आधार पर नहीं, अपने देशकाल की वास्तविकता के मूर्त्त ज्ञान के आधार पर, अपने समय की चुनौतियों और समस्याओं से सम्पर्क उलझाव या टकराव के आधार पर। भारतेन्दु का साहित्य प्रमाण है कि उसमें ऐसे जीवंत सम्पर्क, संघर्ष और टकराव की अनुगूंजे मौजूद है।

◆

राष्ट्रीय नव-जागरण और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

इन्दु बाली

आज भारतीय समाज संक्रान्ति-काल की विकट परिस्थितियों से गुजर रहा है। युग की नवीन चेतना के संघात से जीवन-सम्बन्धों में परम्परागत मूल्यों के प्रति अविश्वास की भावना के साथ ही नवीन मूल्यों का कोई निश्चित स्वरूप नहीं उभर सका है। बौद्धिक चेतना के परिणामस्वरूप मध्यवर्गीय समाज और उसके जीवन में विशेष उथल-पुथल मची है। इस प्रकार वर्तमान जीवन-मूल्यों में एक अस्त-व्यस्तता, एक विशेष प्रकार के बिखराव एवं अनिश्चितता की स्थिति उपस्थित हो गयी है। परिणामस्वरूप न तो प्रचलित आदर्शों के प्रति ही कोई सहानुभूति अवशेष है और न नवीन आदर्शों का ही कोई निश्चित स्वरूप स्पष्ट हो सका है। सम्प्रति प्राचीनता के प्रति विद्रोह और नवीनता का आग्रह बढ़ता जा रहा है। अतः आज यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उन परिस्थितियों का, जिन्होंने मानव-मूल्यों में संक्रान्ति उत्पन्न की है, तथा इस संक्रान्ति के दृश्य परिणामों का विवेचन विश्लेषण किया जाये।

साहित्य विशेष मूल्यों को लेकर चलता है। यहाँ एक मूल्य शब्द समाज कल्याण अथवा मानवहित वाले अर्थ तक सीमित नहीं। साहित्य और लोक-कल्याण की भावना के साथ ही सत्य, सुन्दर और राष्ट्रीय जागरण का नव-स्वरूप पूर्ण अर्थों में समाहित किया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी साहित्य की शिराओं में नवीन रक्त का संचार हुआ जबकि देश में अंग्रेजी साम्राज्य की जड़े बहुत गहरी उतर चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा वट-वृक्ष की भाँति फैलती जा रही थी। इस प्रकार एक समुद्र पार वाले देश के राजनैतिक दबाव तथा सांस्कृतिक प्रभाव में देश की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्पराएँ भी करवट बदल रही थीं। साहित्य की सामन्तवादी और रीति-पथ गामिनी परम्परा अपनी आखिरी सांसें ले रही थी और खड़ी बोली हिन्दी के नवीन साहित्य में एक युगान्तकारी परिवर्तन का प्रादुर्भाव हो रहा था। साहित्य में एक सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना की छवि दिखाई देने लगी थी। वास्तव में यह युग ही सांस्कृतिक जागृति का था। धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया जिसके परिणामस्वरूप कई सुधारवादी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। राजा राममोहन राय ब्रह्मसमाज के द्वारा परम्परा विहित समाज एवं धर्म की सीमाओं को स्वीकार करते हुए भी उनमें नूतन प्राण-संचार करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने नव-शिक्षा तथा नव-जागरण का स्वागत किया। सांस्कृतिक आंदोलन के प्रभाव में इस युग का दूसरा सशक्त आन्दोलन स्वामी

दयानन्द सरस्वती द्वारा संस्थापित आर्य-समाज का था। इन्हें राजा राममोहन राय की अपेक्षा अधिक सफलता मिली क्योंकि इनका क्षेत्र केवल उच्चवर्ग न होकर जन-सामान्य था। इसी तरह रामकृष्ण मिशन की स्थापना भी विशेष उल्लेखनीय है। रामकृष्ण परमहंस का दृष्टिकोण सांस्कृतिक से कहीं अधिक आध्यात्मिक है। यहाँ उन्होंने शास्त्र एवं तर्क की अपेक्षा हृदय एवं अनुभूति का आश्रय लिया। इसीलिए विवेकानन्द सहज ही रामकृष्ण परमहंस से प्रभावित हो गए। इसी कारण उनमें पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का मणि-कांचन योग मिलता है। इनका आधार भी व्यापक था। हिन्दू धर्म एवं नीति से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी उन्हें अन्य धर्मों के प्रति कोई विरोध नहीं है। इसी कारण इसके उद्देश्य और सिद्धांत जन-साधारण के लिए भी अधिक उपयोगी सिद्ध हुए।

इस सत्य की निर्विवाद रूप से स्थापना की जा सकती है कि भारतेन्दु के पूर्ण साहित्य विशेषकर नाटकों द्वारा राष्ट्रीय नव-जागरण का शिलान्यास हुआ। यह हिन्दी नाट्य और गद्य-साहित्य का विशिष्ट युग था जिसमें उसे सुदृढ़ एवं सुनियोजित धरातल पर स्थिर किया गया। भारतेन्दु ने मुख्यतया तीन प्रकार के नाटक लिखे। प्रथम जिनका आधार प्रेम और विवाह था (विद्या-सुन्दर), द्वितीय जिनके आधार अन्धविश्वास एवं रूढ़िवादी, धर्म की ओट में अपना उल्लू सीधा करने वाले पण्डे, पुरोहित एवं धर्म-गुरू, पाश्चात्य संस्कृति में डूबे हुए नव-शिक्षित एवं वेश्यागामी पुरुष (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति तथा प्रेम-जोगिनी इसी विचारधारा के नाटक हैं), तृतीय जिनमें राष्ट्रीय भावना के उद्‌बोधन के लिए अतीत की गौरव गाथाओं का प्रणयन हुआ एवं इसी परम्परा में पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा किसी काल्पनिक पात्र के चारित्रिक मूल्यों को उभारा गया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'सती-प्रताप' तथा 'नील देवी' इत्यादि इस भाव से भरे हैं। इनमें भारतीय नारी के सतीत्व, गौरव एवं ऐतिहासिक पात्रों के साहस एवं देश-प्रेम कर्तव्य तथा धर्म के प्रति निष्ठा का परिचय मिलता है। राष्ट्रीय भावना के उद्‌बोधन के लिये जहाँ अतीत की गौरव गाथाओं का प्रणयन हुआ वहाँ दूसरी ओर देश की तत्कालीन स्थिति का मार्मिक चित्रण भी प्रस्तुत किया गया। भारतेन्दु कृत 'भारत-दुर्दशा' तथा 'अंधेर नगरी' का स्वर भी राष्ट्रीय नव-जागरण का था।

यद्यपि 'भारतेन्दु' के समय में न तो समाजवाद था, न प्रगतिवाद, परन्तु अपनी अद्‌भुत व्यंग्य-शक्ति एवं पैनी समाज विश्लेषण की दृष्टि से सामाजिक यथार्थवाद के चित्रण में उन्होंने राष्ट्रीय जागरण का अनोखा चमत्कार दिखाया है। उनकी इस पैनी सूझ-बूझ और बौद्धिक विलास को देखकर हैरानी होती है। उन्होंने समाज के सड़े-गले और निर्जीव जीवन मूल्यों पर कड़ा प्रहार किया और समाज में नवीन मूल्यों की स्थापना के प्रयत्नों द्वारा राष्ट्रीय जागरण की ध्वनि का शंख-नाद किया। उनके समस्यात्मक नाटकों में यहीं स्वर गूंजता है और उनके सुधारात्मक दृष्टिकोण के पीछे से झाँकता राष्ट्रीय चेतना का चेहरा विशेष उभर कर सामने आता है। नाटकों में पात्रों के मुख से कहलाये गये वाक्यों से परम्परागत मूल्यों की नींव हिलतीं-सी प्रतीत होती है। कहीं—कहीं भारतेन्दु न तो

पारम्परिक विचारों का ही विरोध करते हैं और न ही नवीन मूल्यों की उपेक्षा । इस प्रकार के प्राचीन और नवीन विचारों के मिश्रण से नवीन मूल्यों का निर्माण करना चाहते थे । 'राष्ट्रीय भावना' और 'राष्ट्र-देवता' की कल्पना का स्वरूप उनकी उल्लेखनीय उपलब्धि है । राष्ट्रीयता के नवीन मूल्यों की उद्भावना इनके नाटकों की 'प्रसाद' के नाटकों की तरह ही अपनी विशेषता रखते हैं । नव्य-मानवतावाद का उद्घोष वह इसी आधार पर करना चाहते थे । उनका विश्वास था राष्ट्र और मानव एक दूसरे के पूरक हैं । वैसे हमारे प्राचीन आचार्यों ने भाव-विवेचन के अन्तर्गत राष्ट्रीयता जैसे किसी भाव का उल्लेख नहीं किया है किन्तु विगत इतिहास से सिद्ध है कि राष्ट्रीयता भी एक प्रबल भाव है । राष्ट्र अन्य समस्त तथ्यों से ऊपर है और राष्ट्रीयता का भाव सर्वोपरि है क्योंकि धर्म, जाति, वर्ग सभी राष्ट्र द्वारा ही अनुप्राणित हैं । जैसे विभिन्न अंगों से मिलकर हमारे शरीर का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार भारत में विभिन्न विश्वासों, धर्मों तथा भाषाओं के लोग काम करते हैं ।

'भारतेन्दु' सच्चे अर्थों में देश-भक्त थे । उनकी मानसिक चेतना पूरी की पूरी राष्ट्रीय थी । भारतेन्दु ने इस प्रकार एक ओर अंग्रेजी राज्य की बुराई की तो दूसरी ओर प्रशंसा भी । प्रश्न यह है कि यह विरोध क्यों ? परन्तु थोड़ा गहरे विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि यह विरोध नहीं विरोधाभास है । कारण यह भी था कि उस समय प्रत्येक बड़ा से बड़ा देश प्रेमी अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में ही शासनाधिकार की माँग करता था । भारतेन्दु ने भी यही शांतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया था । पं० मोतीलाल नेहरू के 'होम रूल' की घोषणा से तथा लोकमान्य तिलक के महासभा के रंगमंच पर आगमन से पूर्व कुछ ऐसी ही स्थिति थी । भारतेन्दु का भावुक सम्वेदनशील मन क्षुभित था । हिन्दू इस समय अपनी पतनावस्था को प्राप्त हो रहे थे और भारतेन्दु उन्हें जगाना चाहते थे । भारतेन्दु के राष्ट्रीण दृष्टिकोण को समझने के लिये आवश्यक है कि तत्कालीन राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की कुछ जानकारी हमें हो । अंग्रेजी नीति के असन्तोष ने 1857 में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित की । भारतेन्दु उस समय केवल सात वर्ष के थे पर उन्होंने सुना था कि इस विद्रोह को बुरी तरह से दबा दिया गया था । आज इस पर विचार-विभिन्नता है कि इसे सिपाही विद्रोह कहा जाये या भारतीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये राष्ट्रीय आंदोलन ? हर व्यक्ति का निर्माण उसके युग की परिस्थितियों द्वारा होता है क्योंकि मुख्यत: कोई भी व्यक्ति अपने युग के प्रभाव से अछूता नहीं रहता इसी कारण हर व्यक्ति के निर्माण में उसका हाथ तो रहता ही है और वह पूरी तरह से उसके साहित्य में झांकता है । इसी कारण किसी भी साहित्यकार की कृतियों का सम्यक् अध्ययन करने के लिये उसके युग की तत्कालीन परिस्थितियों का समझना आवश्यक माना जाता है । नहीं तो विश्लेषण और ज्ञान अधूरा रह जाता है । व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व इसी के बीच से पढ़ा जाता है । भारतेन्दु-युग नवोत्थान एवं जागरण का काल था । इस युग में अनेक सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं और आंदोलनों ने जन्म लिया और विकसित हुए ।

एवं हिन्दू जीवन और उसके राष्ट्रीय-चेतना के दृष्टिकोण को बुरी तरह से झकझोरा। इनमें प्रधान थे ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन एवं थियोसाफकिल सोसायटी, जिनका योगदान और महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता। फिर भारतेन्दु का दृष्टिकोण इनसे कैसे अछूता रह सकता था। आधुनिक युग के इतिहास में भारतेन्दु-युग सर्वाधिक उर्वर माना गया है। जिस तरह बाढ़ की मिट्टी से पूर्ण तराई के खेतों में बिना प्रयत्न केवल बीज छिटक देने से ही बढ़िया फसल तैयार हो जाती है, उसी तरह संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी का सम्पर्क पाकर हिन्दी की मौलिक प्रतिभा इस युग में राष्ट्रीय चेतना से भरपूर, चौमुखी विकसित होने लगी थी। युग-निर्माता का अध्यवसाय केवल स्वयं तक सीमित नहीं होता। वह अपने चारों तरफ समानधर्मी लोगों को बटोरता है, उन्हें अंगुली पकड़कर बड़ा करता है, चलना सिखाता है और पूरे व्यवहार में अपनी ऊँचाई तक ले जाता है। स्वातन्त्र्य आंदोलन के दिवों मे गांधी जी ने ऐसा ही किया था। उनके प्रभाव से न जाने कितने मृत-पिण्डों को नया जन्म मिला। इनमें से कुछ महान-मानव बने कुछ तो देवकोटि तक पहुंच कर पूजे जाने लगे। भारतेन्दु की स्थिति भी साहित्यिक क्षेत्र में ऐसी ही थी। यह भी सत्य और प्रमाणिक है कि साहित्य और समाज के बीच ऐसा मधुर सांमजस्य सन्त-युग को छोड़ कर और कभी नहीं हुआ। साहित्यकार वास्तव में अपनी कृतियों अथवा निर्मित आकृतियों द्वारा आत्मदान करता है क्योंकि साहित्यकार में अपूर्व दैविक शक्ति होती है वह युग स्रष्टा होता है। तभी तो कलम-कूची की नोक से निखरा हुआ निर्माण-सौष्ठव, कलाकार के आंतरिक सौन्दर्य की प्रतिच्छवि हुआ करता है। 'भारतेन्दु' ने अपने साहित्य द्वारा चाहे वह नाटक थे, उपन्यास थे, कविता थी या निबन्ध थे, सभी के द्वारा केवल व्यक्ति या स्थान मात्र का निर्माण पीछे छोड़ युग का तथा युग की राष्ट्रीय-चेतना का निर्माण किया। भारतेन्दु लोकवाणी के निर्माता और गायक थे। कण-कण में निखार और प्राणीमात्र की चेतना में राष्ट्रीयता की चेतना को ध्वनित करने वाले। भारतेन्दु देश, व्यक्ति और समाज ; किसी भी पक्ष में शून्यता की हामी नहीं भरते थे।

भारतेन्दु का साहित्य बहुत हद तक आधुनिक काल का संधि-साहित्य है। इसमें प्राचीन तथा नवीन परम्पराओं का संरक्षण हुआ है। इस युग के साहित्य का उद्देश्य प्राचीन की रक्षा करते हुये भी आगे बढ़ना था। इसी कारण 'भारतेन्दु' के साहित्य की अपनी विशेषता है कि जहां एक ओर वह प्राचीनता के प्रेमी हैं वहां दूसरी ओर अर्वाचीनता के सूत्रधार भी। वह अपने युग की समस्याओं से परिचित थे इसी कारण राजभक्ति के साथ साथ देश भक्ति भी चलती रही। उन्होंने जहाँ विक्टोरिया की जमकर प्रशस्तियाँ लिखीं और 'अंग्रेज राज, सुख–साज' कहकर अपनी राज-भक्ति का परिचय दिया वहीं शोषण के प्रति उग्रवाणी का स्वर भी फूटा "वै धन विदेश चलि जान यहै अति ख्वारी" आधुनिक युग का आलोचक भारतेन्दु की राजभक्ति देखकर कभी-कभी उसकी राष्ट्रीयता पर प्रश्न-चिह्न लगा देता है, पर हम स्पष्ट कर आये हैं कि तत्कालीन देशभक्ति और राजभक्ति उस

समय की राजनीति का अभिन्न अंग थी। 'भारतेन्दु' के प्रारम्भिक साहित्य में इसी कारण राजभक्ति के दर्शन होते हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों उनकी बुद्धि परिपक्व होती गयी त्यों–त्यों उनकी वाणी पर देश भक्ति का रंग गाढ़ा होता गया क्योंकि अब वह अंग्रेज की शोषण नीति को भली-भाँति जान गये थे। इसी कारण 'भारतेन्दु' की जिस लेखनी ने अंग्रेजी शासन के प्रशंसा–गीत लिखे थे वही बाद में विद्रोह की भयंकर चिंगारियों को उगलने लगी थी। भारतेन्दु की राष्ट्रीयता पर किसी प्रकार की संकुचितता का आरोप लगाना अन्यायसंगत होगा। वह खुले अर्थों में देश–भक्त थे और फिर यदि अपने युग की विकट परिस्थितियों का थोड़ा शिकार हो भी गये तो यह मानवीय कमजोरी है। वह मानव को सबसे ऊपर मानकर चलना चाहते थे। मानव और धर्म को लेकर किसी संकीर्णता को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने धर्म-विद्वेष फैलाने वालों की निंदा की है और अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति गहरा प्रेम प्रकट किया है। उनके मन में व्यापक राष्ट्रीयता की अनुभूति थी जिसमें सभी धर्मों और सभी भाषाओं को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसमें कोई सन्देह बाकी नहीं है कि सन् 1857 के अनन्तर राष्ट्रीय आंदोलन के प्रथम प्रवर्तक नेता 'भारतेन्दु' ही थे। यह देश का दुर्भाग्य था कि उनकी मृत्यु इतनी अल्पायु में हो गयी। यदि वह जीवित रहते तो कांग्रेस का आरम्भिक स्वरूप कुछ और ही होता।

'भारतेन्दु' ने राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने के लिए निरन्तर महामारी, अकाल, टैक्स, आर्थिक शोषण, भाषा आदि राजनीतिक विषयों पर बहुत कुछ लिखा। इसके अतिरिक्त देश-प्रेम, सामाजिक दुरावस्था और कुप्रथाओं का खण्डन, विधवाओं की दयनीय दशा, बाल-विवाह विरोध, धार्मिक-रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का खण्डन, स्त्री-शिक्षा और स्वतन्त्रता आदि सामाजिक विषयों पर भी खुल कर लिखा है। प्राचीन और नवीन की विकट-संधिकाल में जहाँ रीतिकालीन शृंगारिकता, सामन्ती दृष्टि और आधुनिक कालीन विकट विषमता की संधि हो रही थी, वैसी शीतल छाया का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला और साहित्य द्वारा राष्ट्रीय चेतना को गहरी नींव उन्होंने प्रदान की। साथ ही शिक्षित जनता को सर्व-साधारण अनपढ़ लोगों के साहचर्य में भी साहित्य द्वारा लाये। शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदलने में पूरा सहयोग दिया और शिक्षितों के मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमंगें उत्पन्न होने लगी। काल की गति के साथ-साथ उनके विचार और भाव बहुत आगे बढ़ने लगे थे, पर साहित्य पिछड़ गया था। बंग देश में नए ढंग का साहित्य आरम्भ हो गया था जिसमें समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिम्ब आने लगा था। यहां आकर 'भारतेन्दु' ने हिन्दी साहित्य को भी नया मोड़ और नई चेतना दे आगे बढ़ाया, क्योंकि जब तक साहित्यकार का मन समाजोन्मुखी विश्वास से पूर्ण नहीं होता तब तक उसकी रचनाओं में समाज–चित्रण अथवा राष्ट्रीय चेतना प्राप्त होना सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से भारतेन्दु और भारतेन्दु युगीन नाटककारों की दृष्टि समाजोन्मुख है और अंग्रेजी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप पारम्परिक समाज के पराभाव और नये सन्दर्भों की उपलब्धियों के मध्य सामाजिक चेतना के सांस्कृतिक

अभ्युत्थान से सम्बद्ध है, जिसमें एक ओर अपने समाज की श्रेष्ठता को संसार के सामने प्रस्तुत करने और संसार की प्रगतिशील भौतिक समृद्धि को ग्रहण करने की प्रेरणा है, तो दूसरी ओर अर्ध-शिक्षित समाज को जाग्रत करने की भावना।

भारतेन्दुयुगीन साहित्य में सन्दर्भ और राष्ट्रीय चेतना के लिए अप्रत्यक्ष रूप में वे सम्पूर्ण स्थितियां उत्तरदायी हैं, जिनके फलस्वरूप भारतीय समाज अपने उदात्त और विश्व-विश्रुत जीवन-दर्शन से हटकर मध्यकालीन हीन भाव और दासत्व का शिकार हुआ था। अंग्रेजों की दासता से पूर्व मुसलमानों की दासता की कहानी अधिक भयावह और क्रूर थी। अंग्रेजों ने इस स्थिति का मनोवैज्ञानिक लाभ लेकर हिन्दुओं की धार्मिक मनो-भावना पर प्रत्यक्ष रूप में हस्तक्षेप की नीति को नहीं अपनाया, किन्तु सामाजिक क्षेत्र व हीनत्व की भावना को संक्रामक रूप में फैलाने में सहयोग दिया। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों ने अपने अधकचरे ज्ञान और पश्चिमी सभ्यता के अनुकरण में अपने आचार-विचार, खानपान में स्वच्छन्दता को प्रश्रय दिया। प्राचीन धर्म ग्रन्थों से उद्धरण देकर उन्होंने अपनी स्वच्छन्दता को प्रमाणित करने की चेष्टा की। समाज जिससे पहचाना जाता है, व मूल रूप में, उसके सामाजिकों का आचार-व्यवहार ही है। 'भारतेन्दु' ने अपने नाटक 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' में समाज की इसी स्थिति को उभारा है। भारत की मूल प्रकृति "धर्म-वत्सल मानी जाती रही है। संसार में जितनी सभ्यताएं विकसित हुई है, उनमें धर्म के आधार पर मानवता के सहिष्णु भाव का व्यापक और व्यवहृत रूप भारतीय समाज में प्राप्त है, किन्तु भारतेन्दु युग में सबसे अधिक विकृति साहित्यकारों ने धर्म में देखी। भारतेन्दु का भावुक मन तड़प उठा और सांस्कृतिक विरासत के रूप में अपने पूर्वजों के आदर्शों को सामने रखकर हतोत्साहित भारतीय समाज में सामाजिक परिष्कार धार्मिक जागरण और राष्ट्रीय चेतना द्वारा राजनीतिक स्वाधीनता के आन्दोलन की भूमिका का निर्वाह किया, क्योंकि भौतिक चकाचौध और दण्ड-विधान की कट्टरता से उत्पन्न तथा कथित शान्ति के कारण पाश्चात्य रीति-नीति की ओर आकर्षित हो रहे भारतवासियों को उन्हें बचाना था। इसी कारण अपने साहित्य द्वारा उन्होंने राष्ट्रीय चेतना का जागरण किया।

यहाँ यह भी बात स्पष्ट होनी चाहिए कि राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीय आन्दोलन एक ही बात नहीं है। राष्ट्रीय चेतना वह मूल स्थिति है जिसके बल पर कोई भी राष्ट्रीय आन्दोलन अग्रसर होता है। फिर जिस परिवार में भारतेन्दु का जन्म हुआ, वह अपने पूर्वजों के काल से ही एक राज-भक्त परिवार था। पिता, बाबू गोपालचन्द्र सरकार के कृपापात्र और विश्वासपात्र दोनों ही थे। सन् 1857 के विद्रोह में बनारस की रेजीडेन्सी का बहुत-सा सामान भारतेन्दु के पिता के पास सुरक्षित रखा गया था। यह तथ्य इस बात को प्रकट करता है कि किस प्रकार भाषा के माध्यम से साहित्य के सन्दर्भ द्वारा उस राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप स्थिर किया गया होगा, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी भाषी क्षेत्र आगे चलकर स्वदेशी आन्दोलन और स्वराज्य का साधन बन सका। भारतेन्दु का

जन्म और लालन-पालन जिस दरबारी संस्कृति में हुआ था उसमें राजभक्ति स्वाभाविक परिणाम थी, किन्तु राजभक्ति के साथ देश-दशा का चित्रण उनकी देश वत्सलता का प्रतीक है, जो राष्ट्रीय चेतना के रूप में उनके समस्त साहित्य में उभरी। जहां राष्ट्रीय चेतना और जन-जागरण सीधा उद्देश्य है। देश की स्थिति को देखकर किस सहृदय व्यक्ति का हृदय द्रवित न होगा, यदि वास्तव में उसमें अपने देश के प्रति प्रेम है। प्रत्येक क्रान्तिकारी की आत्मा अपने यथार्थ के प्रति अवसादपूर्ण और परिवर्तन का सन्देश देती है। भारतेन्दु इस दृष्टि से जागरूक चेतना के प्रतिपक्षी है। अन्धानुकरण उनकी वृत्ति नहीं है। तभी तो विषस्य विषऔषधम्' में इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि विष की औषधि विष ही है। देशी राजाओं के अत्याचारों और अनैतिक कार्यों रूपी विष के लिए अंग्रेजी राज्य जैसा विष ही औषधि है। वास्तविक स्थिति से परिचित हुए विना देश में जागरण कैसे सम्भव हो सकता है ? ये ही दृष्टि तो हमारे देश के प्रच्छन्न शत्रु है, बाहरी शत्रु इसीलिए हम पर हावी हैं कि हम आंतरिक शत्रुओं को नहीं पहचानते, नहीं जानना चाहते हैं।

राष्ट्रीय चेतना का लक्ष्य है स्वतन्त्रता अर्थात् पराधीनता से मुक्ति। उसके लिए जन-जागरण का साधन तभी सम्भव है जब जन-वास्तविक रूप में अपनी स्थिति से परिचित हो। 'अन्धेर नगरी' में तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर इसी कारण तीखा व्यंग्य किया है कि किस प्रकार 'टैक्स' लगा कर जनता का शोषण किया जाता है। भारतेन्दु भाग्य के भरोसे बैठे रह कर आदर्श राष्ट्र का निमाण नहीं बल्कि नव-जागरण के प्रयत्नों द्वारा उसे निर्मित करना चाहते हैं। प्रकट है कि समाज-सुधार और राष्ट्रीय चेतना, धर्मनीति और राजनीति भारतेन्दु की दृष्टि में एक दूसरे की पूरक स्थितियां हैं। इसके लिए हमें अपने प्राचीन गौरवशाली इतिहास की ओर दृष्टि डालनी होगी। निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि भारतेन्दु साहित्य में राष्ट्रीयता की भावना के विकास के सूत्र मुखर होने लगे थे। साम्प्रदायिक विद्वेष से हट कर साम्प्रदायिक सद्भाव-वृत्ति ही रचनाओं में सर्वत्र झलकती है। अपने व्यापक परिवेश के कारण और हिन्दी के देशव्यापी रूप के कारण हिन्दी क्षेत्र की राष्ट्रीय चेतना और समाज-सुधार की भावना क्षेत्रीय न होकर सम्पूर्ण देश का प्रतिनिधित्व करती है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में समाज-सन्दर्भ और राष्ट्रीय चेतना को कला के माध्यम से ग्रहण कर, एक ऐसा मार्ग प्रशस्त किया जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। प्रतिकूल परिस्थितियों में भारतेन्दु ने देश-भक्ति और समाज-सुधार को अपना लक्ष्य बनाकर एक ऐसा वातावरण तैयार किया जिसे देखकर हैरानी होती है।

भारतेन्दु युग को अपने पूर्वापर सन्दर्भों में एक नवीन दृष्टि, यथार्थ भूमिका और आशावादिता का व्यक्त रूप कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। उस संक्रमण काल में जिसमें देश भक्ति को राजद्रोह और मातृभाषा प्रेम को हीन भाव माना जाने लगा था, भारतेन्दु ने अपनी अदम्य शक्ति, अटूट लगन और विलक्षण प्रतिभा से अपने युग का नेतृत्व किया और युगीन स्थितियों को प्रभावित कर हिन्दी साहित्य को ऐसी देन दी जिससे भारतेन्दु युग

की प्रतिभाएं ही नहीं अपितु परवर्ती युग की प्रतिभाएं भी अपने विकास को यथार्थवादी रूप दे सकी। यहां यह भी स्पष्ट करना होगा कि तुलसी ने भक्ति के रूप मे भारतीय जनता में जो सहज आत्म-सम्मान जगाया था, वही नई परिस्थिति में भारतेन्दु के राष्ट्रीय आत्म-सम्मान के रूप में विकसित हुआ। इस युग में एक ऐसे आदमी की जरूरत थी जो अंग्रेजी शासकों और उनके मुसाहिबों की झूठी लफ्फाजी का पर्दाफाश करके उनकी असलियत बयान कर दे, जो जनता के उभरते हुए असन्तोष को प्रकट करे और जिन्हें अंग्रेजी राज्य से बहुत बड़ी आशाएं थीं, उनकी आखें खोल दें। यह काम हिन्दी जनता के आत्म-सम्मान की रक्षा करने के लिए आवश्यक था, जिससे आगे आने वाली पीढ़ियां यह न कहें कि अंग्रेज भारत की छाती पर मूंग दलते रहे और साहित्यकार मौन देखते रहे। हिन्दी भाषी जनता इस बात पर गर्व कर सकती है कि उसके नवजागरण के वैतालिक हरिश्चन्द्र ने चौंतीस वर्ष की अवस्था में स्वदेशी के व्यवहार की ओर राष्ट्रीय चेतना की कैसी गुहार की। तरुण भारतेन्दु ने न केवल हिन्दी प्रदेश के लिए वरन् समूचे भारत के लिए एक नये युग का द्वार खोल दिया था। यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण न होगी कि हिन्द प्रदेश में स्वदेशी आन्दोलन के जन्मदाता और देश के लिए बलिदान का पाठ पढ़ाने वाले भी भारतेन्दु ही थे। भारतेन्दु के लिए स्वदेशी का मतलब सिर्फ विदेशी वस्त्रों इत्यादि का बहिष्कार न था, बल्कि देश के उद्योगीकरण के लिए संघर्ष भी था। भारतेन्दु जिस संस्कृति का निर्माण करना चाहते थे वह जनता के लिए था। वह ऊपरी दिखावे के लिए ही जनवादी न थी, वह वास्तव में विशाल किसान जनता का सांस्कृतिक स्तर ऊंचा करने के लिए थी। भारतेन्दु ने जिस संस्कृति की नींव डाली वह राष्ट्रीय थी। उसकी मूल भावना अंग्रेजी राज्य की लूट से देश की रक्षा करके उसकी उन्नति करना है। उन्होंने रईसों, जमींदारों, राजाओं पण्डितों का मुंह न देख जनता को अपना भरोसा करना सिखाया। उन्होंने पढ़े-लिखे लोगों से कहा कि जनता के बिना तुम अपाहिज हो। हिन्दुओं और मुसलमानों से परस्पर भेद-भाव भूलकर देशोद्धार के लिए उन्होंने एक होने को कहा। भारतेन्दु शायद पहले हिंदी-लेखक थे जिन्होंने 'जाति' शब्द का 'नैशनेलिटी' के अर्थ में प्रयोग किया।

भारतेन्दु ने अपने थोड़े से जीवन में अपने प्रिय देश की उन्नति के सपने देखे और अपनी पूर्ण शक्ति से और सम्पूर्ण साधनों से उन्होंने जनता को जगाने और आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। उनकी विरासत हम से मांग करती है कि जो काम वह अधूरा छोड़ गये उसे हम अब बिना देरी के पूरा करें। तीन चौथाई शताब्दी बीत चुकी है, लेकिन हिन्द प्रदेश की जनता अब भी अशिक्षा और निर्धनता के युग से उभर नहीं पाई। स्वाधीनता तो मिली पर किस अर्थ की ?

भारतेन्दु असाधारण प्रतिभा के लेखक थे। उन्होंने अपने युग की आवश्यकताओं को पहचाना और कमर कसकर कर्मक्षेत्र में कूद पड़े। यदि अपने समाज और साहित्य की सही पहचान उन्हें न होती तो युग एक तरफ जाता, वह दूसरी तरफ जाते और उनका राष्ट्रीय-चेतना का नारा शून्य में ही खो जाता। भारतेन्दु दृढ़प्रतिज्ञ, स्वावलम्बी और

आत्म-विश्वासी थे। हताशा उन्हें कभी नहीं छूती थी। उन्होंने अपने साहित्य द्वारा युगान्तर किया। वह समाज और साहित्य के पीछे घिसटने के स्थान पर स्वयं सारथी बनकर उसे नये भविष्य की ओर ले गये। उनके साहित्य का मूल स्वर और स्रोत देश भक्ति है। इसी कारण साहित्य के सभी अंगों में देशोन्नति का उद्देश्य सामने रख, उन्हें नये विकास की दिशाएं दीं। भारतेन्दु ने जो भी लिखा उसका सारे देश के लिए महत्व है। विशेष महत्व चाह हिन्दी भाषी जनता के लिए है। वे हमारे जातीय साहित्यकार हैं, हमारे जातीय नव-जागरण के वैतालिक हैं।

आजकल हिन्दी-साहित्य पर तरह-तरह की विचारधाराओं के प्रभाव डाले जा रहे हैं। इन प्रभावों के दूषण से हमें अपने साहित्य की रक्षा करनी चाहिए, उनकी जातीय विशेषताओं को पहचानना चाहिए। उन्हें पुष्पित और पल्लवित होने का पूर्ण अवसर देना चाहिए। इसलिए आज भारतेन्दु के जीवन और साहित्य का विशेष महत्व हैं, इस अध्ययन का आज के साहित्य की गतिविधियों पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा और वह स्वस्थ होगा। आज के सन्दर्भ में वह कबीर और तुलसी की तरह ही सार्थक है। भारतेन्दु के साहित्य में परम्परागत सांस्कृतिक धाराओं के साथ नये युग की राष्ट्रीय और जनवादी संस्कृति की धाराएँ आ मिली। जो जीवन मूल्य आज उभर कर सामने आ रहे है, समाज के के लिए उपयोगी प्रतीत हो रहे है, राष्ट्र को ऊपर उठा रहे हैं, हो सकता है कि भविष्य में उनकी उपयोगिता संदिग्ध प्रतीत हो और समाज-हित के लिए उनको ध्वस्त करने की आवश्यकता अनुभव हो। अतः मूल्य विवेचन के क्षेत्र में अन्तिम निष्कर्ष प्रस्तुत करना, शायद कभी भी, किसी भी युग में सम्भव नहीं होता हैं। आशा अवश्य की जा सकती है कि परम्परागत जर्जर, रूढ़िग्रस्त एवं अनुपयोगी मूल्यों का स्थान नवीन प्रगतिवादी मूल्य ग्रहण कर सकेंगे, युगानुकूल परिस्थितियों के अनुसार मूल्य-परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की ओर जाकर नवीन सत्य की स्थापना हो सकेगी और भारतीय समाज निरन्तर प्रगति और प्रतिष्ठा के मार्ग पर अग्रसर होता रहेगा। सच्चा साहित्यकार भारतेन्दु की तरह मध्य की कड़ी मात्र होता है जो पिछली परम्परा से कुछ आगे ले के लिए युगानुकूल नई परम्परा देता है, इसी मंगल कामना के प्रति अपनी आस्था के कारण भारतेन्दु ने राष्ट्रीय चेतना के बीजारोपण द्वारा की थी।

आज एक नया प्रश्न फिर से क्यों उभरा है कि राष्ट्रीय नव-जागरण में भारतेन्दु का योगदान क्या था? क्या आज राष्ट्र और राष्ट्रीयता का अर्थ बदलने लगा है? या राष्ट्रीय साहित्य की कमी महसूस होने लगी है? लगता है इस प्रश्न का उठाया जाना आज से पहले कभी इतना महत्त्वपूर्ण न था। पहले राष्ट्रीयता को लेकर लोग जागरूक थे पर तब हम गुलाम थे पर आज तो हम स्वतन्त्र हैं। मुझे अच्छी तरह याद है कि स्वतन्त्रता से पूर्व सारे देश के सभी वर्गों, सभी जातियों के लोग कन्धे से कंधा मिलाकर आगे बढ़े थे, स्वतन्त्रता पाने के लिए प्राणों की आहुति हँसते-हँसते देते थे। पर आज लगता ही नहीं हम भारतवासी हैं और भारत जैसे महान देश में रहते

हैं। अब तो लगता है यहां अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग जातियां रहती हैं। अपने-अपने धर्म के संकीर्ण घेरों में लिपटे अपने-अपने हितों और स्वार्थों के लिए जीते और मरते हैं। इसी कारण जातिवाद और साम्प्रदायिकता को लेकर हर दिन नयी-नयी घातक समस्याएं विकराल विराट रूप धारण करती जा रही हैं। सारी सामाजिक व्यवस्था चरमरा उठती है और मानव अपनी राष्ट्रीय एकता को भूल, पशुत्व के पाताल में घसीटे जा रहा है। हमारी राष्ट्रीयता पर ही प्रश्न चिन्ह लगने लगा है। आज के बुद्धिजीवियों से, सामान्य जनों से अधिक जागरूक होने की अपेक्षा भी तो की जानी चाहिए। हमारे यहां पहले 'विविधता में एकता' का नारा बुलन्द था। कठिन समय आने पर हमारे नागरिक एक जुट होकर जूझ पड़ते थे। समय-समय पर इस राष्ट्रीयता का प्रमाण खूब मिलता है। शायद यह बात स्पष्ट होती है कि सामने खतरा देख, आपात्काल में सब मरने जीने की बात साथ-साथ सोचने लगे हैं। देश गुलाम था तो स्वतन्त्र करवाना हमारा लक्ष्य था, चीन और पाकिस्तान के हमले हुए तो देश की रक्षा एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य था, पर आज तो ऐसा कुछ नहीं फिर साहित्यकार अपना कर्तव्य कैसे भूल गये? उनका ध्यान तो हमेशा राष्ट्रीय चेतना की ओर होना चाहिए? बार-बार इस आपात्काल की पीड़ा से गुज़रा जाय यह आवश्यक नहीं। हम पहले ही चेत जायें तो श्रेयस्कर है। प्रत्येक युग में राष्ट्र के सामने ज्वलन्त प्रश्न होते हैं, साहित्य को हमेशा उनके साथ जुड़े रहना चाहिए ताकि जन–मानसिकता का शिक्षण होता रहे और वह भटक न जाये। राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति चेतना ही राष्ट्र और राष्ट्रीयता की भावना का मानदण्ड है। फिर यह किसी एक का काम नहीं, न ही सम्भव हो सकता है। राष्ट्रीय एकता की भावना तो सबके मन अनहद नाद की तरह गूंजती रहनी चाहिए। यह सिद्ध हो गया है कि आज भी कबीर, तुलसी, गुरुनानक, भूषण, भारतेन्दु इत्यादि जैसे साहित्यकारों की राष्ट्रीय एकता की भावना प्राणवान् है और आज के सन्दर्भ में उसे याद करना और फिर समझने की चेष्टा करना कितना सार्थक है। आज मांग है तो बस यह कि साहित्य की प्रतिबद्धता राष्ट्र के प्रति ही होनी चाहिए। देश की मिट्टी से बनी सरस्वती की मूर्ति जो भारतेन्दु ने राष्ट्रीय नव-जागरण द्वारा निर्मित की थी वह आज भी अपनी महक से आकर्षित कर रही है। सच में मिट्टी की गन्ध राष्ट्रीय एकता की आत्मा है। जो भारतेन्दु के साहित्य में भरपूर है।

राष्ट्रीयता और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

इन्दिरा जोशी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी साहित्याकाश में उल्का की भाँति आए और अत्यल्प काल में ही अपनी प्रतिभा के प्रकाश से सबको चमत्कृत करके चले गए। उनका जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित श्रेष्ठी परिवार में 9 सितम्बर, सन् 1850 ई० में हुआ था। उस समय उनकी माता पार्वती देवी जी अपने पितृगृह में थीं। वे श्री गोपालचन्द्र जी के ज्येष्ठ पुत्र थे जो कि स्वयं एक सुकवि थे और जिनका काव्य नाम गिरिधरदास था। दुर्भाग्यवश श्रीमती पार्वती देवी जी का देहांत असमय ही उस समय हो गया था जब कि बालक हरिश्चन्द्र की अवस्था केवल दस वर्ष ही थी। इस घटना ने उनके संवेदनशील बाल-मानस पर गहरा प्रभाव छोड़ा था क्योंकि उन्हें अपनी विमाता श्रीमती मोहन बीबी से वह स्नेह और वात्सल्य नहीं प्राप्त हो पाया जो कि उन्हें अपनी माँ से मिल पाता। इसके कुछ काल के पश्चात् ही उनके पिता जी भी स्वर्ग सिधारे। जिनसे, उन्हें काव्य-रचना की प्रथम प्रेरणा मिली थी। माता और पिता दोनों के अभाव में उनकी किशोरावस्था दाई कालीकदमा और सेवक तिलकधारी की देखरेख में बीती। इसका एक प्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि वे बचपन से ही स्वच्छन्द प्रकृति वाले, चंचल-चित्त और जिद्दी स्वभाव के बालक हो गए। इसी कारण उनकी शिक्षा–दीक्षा समुचित प्रकार से नहीं हो पाई। यद्यपि वे अपने पिता के स्वर्गवास के कई वर्ष बाद तक, काशी के प्रसिद्ध क्वीन्स कालेज में पढ़ने जाते रहे पर उनका मन काव्य–रचना तथा पाठ्येतर व अन्य सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में ही अधिक रमता था। फिर भी कुशाग्र बुद्धि के होने के कारण एवं सहज प्रतिभासम्पन्न होने के नाते वे हर वर्ष अपनी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे। क्वींस कालेज में उस उमय सस्कृत एवं अंग्रेजी साहित्य के विशिष्ट विद्वान प्राध्यापक थे, अतः इन दोनों का बहुत अच्छा ज्ञान, उन्हें सहज ही प्राप्त हो गया। इन दोनों भाषाओं के अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने अपनी नवयुवावस्था में ही अपने स्वाध्याय के बल पर बंगला, मराठी, गुजराती,उर्दू, गुरुमुखी आदि अनेक भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था जिससे उनका दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही उदार एवं व्यापक बन गया। उन्होंने अपनी नवयुवावस्था में ही भारतीय राष्ट्र की भाषाई विविधता भी देखी और उन सभी में एक समान राष्ट्रीय सांस्कृतिक अन्तर्चेतना के दर्शन भी किए और उन्होंने अपनी सभी रचनाओं में अखिल भारतीय दृष्टिकोण ही रखा।

आज के युग में हम प्रयोगवाद की प्रवत्ति की चर्चा सुनते हैं। किन्तु वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के द्वारा ही गद्य, पद्य, पत्रकारिता एवं रंगमंच सभी विधाओं में ऐसे अभिनव प्रयोग किये गये थे जिन्हें उनके देश और काल की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखने पर

हम दंग रह जाते हैं। उनके द्वारा रचित विविध एवं प्रभूत साहित्य में परिव्याप्त जिस सबसे बड़ी विशिष्टता के हमें दर्शन होते हैं, वह है उन सभी में अन्तर्प्रवाहित एक समान सोद्देश्यता। वह सोद्देश्यता थी अपने देश के महान् परम्परागत गौरव की अनुभूति और उसकी साहित्य रचना में अभिव्यंजना। अपनी भाषा, अपने वेश, अपने चिन्तन एवं दर्शन के प्रति उनमें गहरी श्रद्धा एवं आस्था थी जो उन्होंने अपने कुल की परम्परा से पाई थी। वे एक ऐसे विशिष्ट कुल में जन्मे थे जो प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति का संरक्षक रहा था और जो गहन रूप से धर्म परायण था तथा भारतीय साहित्य संगीत एवं कला का अनुरागी था।

भारतेन्दु में जन्म से ही विलक्षण काव्य रचना प्रतिभा विद्यमान थी। यह भी मान्यता है कि उनके काव्य-गुरु पं० लोकनाथ थे। कहा जाता है कि केवल पाँच–छः वर्षों की अवस्था में ही उन्होंने एक दोहे की रचना की थी। उस समय उनके पिता 'बलराम–कथामृत' नामक एक खण्ड काव्य लिख रहे थे। तभी अपने पिता से अनुमति एवं प्रोत्साहन पाकर उन्होंने लिखा था—

"ले ब्योंडा ठाढ़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन को, हनन लगे भगवान॥"

तत्कालीन सामाजिक एव पारिवारिक परम्पराओं के कारण उनका विवाह केवल तेरह वर्ष की अवस्था में ही कर दिया गया था। इसका उनके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने अनेक नाटकों की प्रस्तावनाओं या 'उपक्रमों' में स्वयं भी इस तथ्य की ओर इंगित किया है। उन्होंने उनमें यह भी उल्लेख किया है कि सन 1882 ई० में नाथद्वारा और उदयपुर के पर्यटन के पश्चात् वे अस्वस्थ हो गए थे और अपने घर–गृहस्थी के कार्यभार तथा पारिवारिक एवं अन्य सांसारिक चिंताओं के कारण उनका जर्जर शरीर अब और भार सहने में असमर्थ है। ये उल्लेख उनके 'सत्य हरिश्चन्द्र' (1875 ई०), 'भारतदुर्दशा' (188 ई०), 'प्रेमजोगिनी' (1875 ई०) तथा 'सती प्रताप' (1883 ई०) के प्रारम्भ में दिए गये उपक्रमों में मिलते हैं। किन्तु यात्राओं एवं पर्यटनों के द्वारा प्राप्त अनुभव ने उनके व्यक्तित्व निर्माण में प्रभावशाली भूमिका भी अदा की। उन्होंने लगभग 15 वर्ष की अवस्था से यात्राएँ प्रारम्भ कर दी थीं और जीवन के अन्तिम वर्षों तक वे अनेकानेक लम्बी यात्राओं पर जाते रहे। इस प्रकार उन्होंने लगभग सारे उत्तर भारत को अपनी आँखों से देखा जिसके कारण उनके व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव में पर्याप्त वृद्धि हुई तथा उनकी रचनाओं पर उसका यह प्रभाव हुआ कि उनमें विविधता और व्यापकता आ गई। उनकी यात्राओं की एक विशेषता यह भी थी कि वे जिस–जिस स्थान पर जाते थे वहीं वे हिन्दी के प्रचार-प्रसार के पक्ष में ओजस्वी भाषण भी दिया करते थे। इसके कारण उनकी ख्याति भारत के प्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी के रूप में चारों ओर फैल गई। सन् 1880 ई० में उनकी 'हिन्दी सेवा' और 'भारत-

भक्ति के कारण ही उन्हें 'भारतेन्दु' उपाधि से अलंकृत किया गया था[1]। आज जब हम उनके स्वर्गारोहण के एक शती पश्चात् उनका पुण्यशती समारोह मनाने के लिये एकत्र हुये हैं तो स्वभावतया हमारा ध्यान उनके किये हुये उन व्यापक लोकोपकारी कार्यों की ओर जाता है, जो उन्होंने अपनी जन्मजात भारत-भक्ति एवं हिन्दी-अनुरक्ति से प्रेरित होकर काशी के सार्वजनिक जीवन के विविध क्षेत्रों में किये थे। इतनी संक्षिप्त कालावधि में ही उन्होंने इतना कुछ कर दिखाया था कि जिससे हिन्दी साहित्य के इतिहास के साथ उनका नाम स्थायी रूप से जुड़ चुका है और इसीलिये हम उन्नीसवीं शती ईस्वी के उत्तरार्ध काल को अब 'भारतेन्दु काल' कहते हैं। यदि हम उनकी साहित्य सेवा के काल की अवधि उस समय से मानें जब वे केवल 14 वर्ष के थे, तदनुसार उन्हें इस समग्र साहित्य–सृजन एवं साहित्य–सेवाकार्य के लिये मुश्किल से बीस वर्ष ही मिल पाये थे। इस दृष्टि से भारतेन्दु की तुलना हमें न हिन्दी साहित्य के इतिहास में ही कहीं अन्यत्र मिलती है और न विश्व की अन्य भाषाओं एवं उनके साहित्यों के इतिहासों में ही अन्यत्र मिल पाती है। भारतेन्दु की भारत सेवा को हम दो पृथक्–पृथक् किन्तु समान महत्त्व के भागों में विभाजित कर सकते हैं—साहित्य-सृजन तथा हिन्दी भाषा एवं साहित्य का प्रचार–प्रसार।

उनकी प्रभूत एवं समृद्ध साहित्य-सृष्टि पर दृष्टिक्षेप करने से पूर्व हमें उनके द्वारा प्रवर्तित उन बहुमुखी साहित्यिक गतिविधियों पर एक विहंगम् दृष्टि डालनी होगी जिनके पदचिह्न आज भी इस काशी-नगरी में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। भारतेन्दु ने अपने जीवन के केवल दो दशकों में ही वाराणसी में एक अभिनव राष्ट्रीय जागरण का परिवेश बना लिया था। भारतेन्दु में अपने देश और काल की तात्कालिक आवश्यकताओं को पहचान लेने की विलक्षण सूझ-बूझ पाई जाती है। वे न तो अंग्रेजी भाषा के निर्व्याज सराहक थे और न अंग्रेजी साहित्य के ही। वे इस बात के भी विरुद्ध थे कि भारतीय शिक्षित जन अंग्रेजी वेशभूषा या रहन-सहन को अपनाएं। किन्तु अंग्रेज जाति ने जिन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में बौद्धिक प्रगति की थी, उनकी ओर उन्होंने पर्याप्त ध्यान दिया था। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की अच्छी और नई-नई बातों को भी वे अपना लेने के पक्ष में थे। इसी दृष्टि से उन्होंने सन् 1867 ई० में चौखम्भा स्कूल की नींव डाली थी जो आजकल 'हरिश्चन्द्र-कालेज' कहलाता है। उन्होंने ईसाई मिशनरियों द्वारा बाइबिल के प्रचार के उद्देश्य से चलाए गए मुद्रण यन्त्रों की ओर भी ध्यान दिया था और उन्होंने इसी दृष्टि से हिन्दी पत्र पत्रिकाओं एवं पुस्तकों के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी के मुद्रण-यन्त्रों की आवश्यकता को भी समझा था। उन्होंने स्वयं ही चार ऐसी पत्रिकाएँ निकाली थीं जो साहित्यिक स्तर की थीं और जिनका उद्देश्य हिन्दी भाषा के लेखन एवं उत्तम साहित्य सर्जन को प्रोत्साहन करना था। इन चारों पत्रिकाओं अर्थात् सन् 1868 ई० से प्रकाशित 'कविवचन सुधा', सन् 1873 ई० से प्रकाशित 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तथा सन् 1874 ई० से प्रकाशित 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' तथा 'नवोदिता'। इन पत्रिकाओं के द्वारा, भारतेन्दु ने हिन्दी पत्रकारिता को एक अभिनव राष्ट्रीय दिशा प्रदान की। हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी

भाषा को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से उन्होंने ही सर्वप्रथम साहित्यिक स्तर के कवि-सम्मेलनों एवं कविगोष्ठियों की परम्परा चलाई थी। उन्होंने इसी उद्देश्य को समक्ष रख कर सन् 1870 ई० में 'कविता वर्द्धिनी सभा' की भी स्थापना की थी। उस समय के काशीस्थ शीर्ष कविगण यथा 'सरदार', 'सेवक', 'द्विजकवि' और अन्योक्तिपरक कुण्डलियों के रचयिता दीनदयाल गिरि जैसे उत्तम कवि इस सभा में कविता पाठ किया करते थे।

हिन्दी प्रेमियों एवं हिन्दी के नवोदित लेखकों को देश-विदेश की साहित्यिक गतिविधियों से परिचित कराने की दृष्टि से उन्होंने सन् 1873 ई० में 'पेनीरीडिंग क्लब' की स्थापना की थी। इसके अतिरिक्त हिन्दी भाषा में वक्तृत्व-कला को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से उन्होंने सन् 1867 ई० में 'बनारस इन्स्टीट्यूट एवं यंगमैन्स एसोसिएशन' तथा सन् 1868 ई० में 'डिबेटिंग क्लब' जैसी संस्थाओं को भी आगे बढ़ाने में प्रमुख योगदान किया। भारतेन्दु ने साहित्यिक नव-जागरण की दृष्टि से पाश्चात्य पुस्तकालय विज्ञान पर अध्ययनरत पुस्तकालयों के महत्त्व को भली भाँति समझा था और काशी की प्रसिद्ध कारमाइकेल लाइब्रेरी और 'सरस्वती भवन' जैसी संस्थाओं के भी वे प्रथम प्रवर्त्तकों में थे।

देश भर में एक सुनियोजित राष्ट्रीय पुनर्जागरण की दृष्टि से उन्होंने हिन्दी के अपने साहित्यिक रंगमंच की नितान्त आवश्यकता अनुभव की थी। क्योंकि उस समय हिन्दी में आधुनिक रंगमंच के उपयुक्त नाटकों एवं रूपकों की कमी थी अतः एक ओर तो वे मनोयोगपूर्वक हिन्दी-नाटकों की रचना की साधना में प्रवृत्त हुए और दूसरी ओर उन्होंने काशी में एक साहित्यिक रंगमंच की स्थापना एवं तदर्थ अपने मित्रों एवं सहयोगियों की सहायता से उच्च कोटि की नाटक मण्डलियाँ भी बनाई। भारतेन्दु 'नाटक' रचना एवं नाट्यशास्त्र दोनों के बहुत अच्छे ज्ञाता थे यह बात उनके 'नाटक' नामक उस गद्य ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होती है जो उनकी जन्मतिथि की शती के अवसर पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' के प्रथम भाग के परिशिष्ट के रूप में रखा गया है। इस ग्रन्थ की रचना भारतेन्दु ने अपने निधन से केवल दो वर्ष पहले की थी और उसे काशी के मेडिकल हाल प्रेस से प्रकाशित कराया था।

यह ग्रन्थ 'हिन्दी रंगमंच' में रुचि रखने वाले प्रत्येक साहित्य प्रेमी के काम का है। विशेषतया भारतेन्दु साहित्य के अध्येताओं एवं अनुसंधाताओं के लिए उसमें बहुत काम की सामग्री मिल जायेगी। उसी में भारतेन्दु जी ने बड़े श्रम पूर्वक सभी संस्कृत नाटकों की एक अनुक्रमणिका दी है। साथ ही अपने काल तक रचे गये सभी हिन्दी नाटकों की भी ब्यौरेवार सूची भी उन्होंने तैयार करके उसके परिशिष्ट के रूप में छापी है। यह ग्रंथ 'ग्रन्थावली' के कुल 52 पृष्ठों में मुद्रित है। रंगमंच और नाटक रचना के द्वारा भारतेन्दु ने हिन्दी के रंगमंच को राष्ट्रीय नवजागरण का एक सशक्त माध्यम बनाने का बहुत सफल

उद्योग किया है और उसका महत्त्व उनकी समग्र साहित्य–सृष्टि तथा साहित्य–सेवा दोनों ही की दृष्टि से बहुत उल्लेख्य है। उनकी नाट्यप्रणाली एवं रंगमंचीय दृष्टि से इसका भी आभास मिलता है कि काशीस्थ प्रवासी बंगला-समाज द्वारा दुर्गापूजा के उपलक्ष्य में अभिनीत नई किस्म के राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत बंगला नाटकों से भी भारतेन्दु किन्हीं अंशों में प्रेरित एवं अनुप्राणित हुये थे।

इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं कि यदि हमें राष्ट्रीयता की चेतना एवं भारतेन्दु के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के साथ उसके घनिष्ठ सम्बंध को भली-भाँति समझना-बूझना हो तो सर्वप्रथम हमें उनके द्वारा रचित नाटक-साहित्य की व्यापक एवं तलस्पर्शी खोजबीन करनी होगी। सौभाग्य से यह सारी महत्वपूर्ण सामग्री 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' के पहले भाग में ही, भारतेन्दुजी के दौहित्र बाबू व्रजरत्नदास जी द्वारा संपादित एवं संकलित कर दी गई है। वैसे तो भारतेन्दु द्वारा रचित प्रायः सभी नाटकों का मुख्य स्वर है भारत के गौरवशाली अतीत का गुणगान तथा तात्कालिक देश और काल की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में, अपने देशवासियों में राष्ट्रीय संचेतना को जाग्रत करने का। तथापि भारतेन्दु द्वारा रचित ही कुछ विशिष्ट पंक्तियों द्वारा हम उनके राष्ट्रीय पुनर्जागरण के प्रति उत्कट उत्साह का भली-भाँति अनुमान लगा सकते हैं। तदर्थ कुछ क्रमबद्ध विवेचन अनुपयुक्त न होगा।

उनके द्वारा सन् 1873 ई० में प्रकाशित एवं रंगमंच पर अभिनीत 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' (प्रहसन) तथा 'धनंजय-विजय' (व्यायोग) दोनों में ही एक समान पंक्ति भरत वाक्यों के अन्तर्गत कहलाई गई हैं—

"छूटै राजकर, मेघ समय पै जल बरसावैं"

इस पंक्ति के द्वारा उस काल में ब्रिटिश शासन द्वारा लगाये गए भारी राज्यकरों के कष्ट की ओर नाटकों के प्रेक्षकों का ध्यान दिलाया गया है जो प्रगटतः न्यायसम्मत नहीं थे। इसके अतिरिक्त देश में अकाल और दुर्भिक्ष भी बारंम्बार जनसाधारण को त्रसित करते थे, इसका अहसास भी नाटककार को था। 'धनंजय विजय' में गौओं के उद्धार की प्रेरणा जगाई गई है। उस समय सभी देशानुरागी भारतवासी अंग्रेज फौजों के आहारार्थ गोमांस के उपयोग से आंतरिक रूप से दुखी थे। गोरक्षा की प्रेरणा उस समय राष्ट्रीय जन-आंदोलन का एक उल्लेख्य तत्त्व रहा था।

'धनंजय–विजय' की 'प्रस्तावना' के ठीक बाद में आई हुई ये पंक्तियाँ भी भारतेन्दु की आंतरिक अनुभूति की द्योतक हैं—

"वहै मनोरथ फल सुफल, वहै महोत्सव हेत।
जो मानी निज रिपुन सों, अपुनो बदलो लेत॥"

इन पंक्तियों को ठीक ऊपर की पंक्तियों से जोड़ने पर स्पष्ट ध्वनित होता है कि उनका इंगित 'रिपुन' शब्द से अंग्रेज शासकों से ही था जिन्होंने अंग्रेजी फौजियों के आहा-

रार्थ इस गौभक्त राष्ट्र में नियमित रूप से गौवध की प्रथा चला रखी थी। यदि "वहै मनोरथ.........बदलो लेत।" पंक्तियों को भारतेन्दु के पूर्वजों के प्रति किये गये नृशंस व्यवहार का स्मारक समझा जाए तो उनके मानस में गहरे गड़े हुए अंग्रेज जाति के प्रति बैर भाव कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि उस समय सन 1857 ई० के विफल भारतीय स्वाधीनता संग्राम को केवल 16 वर्ष ही बीत पाए थे और काशी और प्रयाग के जनपदों की जनता उन लाखों नौजवानों के फाँसी लगाये जाने और उनकी लाशों को गंगा तट पर नित्य ही गाड़ियाँ भर-भर कर लाये जाने और जल में प्रवाहित किये जाने की यादों को भूल नहीं पाई थी तथापि एक श्मशान सी आतंक पूर्ण स्तब्धता के कारण लोगों की जुबान पर ताले लगे हुये थे। केवल रंगमंच के माध्यम द्वारा व्यंजना का आश्रय लेकर जन-जन के मन में उमड़ते हुये आक्रोश को व्यक्त किया जा सकता था।

'मुद्राराक्षस' की कथा भारतेन्दु ने गुनाव्य कृत 'वृहत्कथा' से ली है। महाकवि विशाखदत्त द्वारा संस्कृत भषा में रचे गए प्रसिद्ध नाटक का यह सरस हिन्दी में भाषानुवाद है। इसका उद्देश्य यह है कि भारतेन्दु अपने प्रेक्षकों एवं पाठकों के मन में यह जमाना चाहते थे कि प्रबल एवं चतुर शत्रुओं को वश में करने के लिये सीधी-सादी वीरता या न्याय-नीति से काम नहीं चलेगा। वरन् उससे निपटने के लिए हमें कौटिल्य की कूटनीति का अनुसरण करना होगा। इस कूटनीति में अंग्रेज शासक तो पटु थे पर उस समय तक भारतवासी उनके कूटनीति के जाल से अवगत नहीं हो पाये थे। 'मुद्राराक्षस' नाटक के पर्यवसाच पर चाणक्य के मुख से भारतेन्दु जी ने ये पंक्तियाँ कहलवाई हैं:—

"सत सैन हू सो अधिक साधिनि काज की जेहि जग कहै।
सो नंदकुल की खननहारी, बुद्धि नित मो मैं रहै।"

उपर्युक्त पंक्तियों में भी चाणक्य के मन से कभी न विस्मृत होने वाली उस प्रतिज्ञा की ओर संकेत किया गया है जो पंडितों की पंक्ति से चोटी पकड़ कर उनके अपमानपूर्वक निष्कासित किए जाने की घटना के बाद उनके हृदय में दृढ़ हो चुकी थी। यहाँ पुनः 'जो मानी जिन निपुन सों, अपनो बदलो लेत' की ही पुनरावृत्ति ध्वनित है।

'मुद्राराक्षस' नाटक के उपसंहार (क) में दी गई इन पंक्तियों की ओर भी ध्यान दिया जाना उचित होगा। भारतेन्दु जी ने भारतीयों में आपसी भेद भाव को ही दासता का आदि कारण माना था और उससे दूर रहने की चेतावनी दी थी—

"जग में घर की फूट बुरी।
घर की फूटहिं सों बिन साई सुबरन लंक पुरी॥
फूटहि सो सब कौरव नासे, भारत युद्ध भयो।
जाको घाटो या भारत में अबलों नाहिं पुज्यो॥

फूटहिं सो जयचन्द बुलायो, जवरन भारत धाम।
जाको फल अबलौं भोगत सब, आरज होई गुलाम ॥"

राष्ट्रीय एकता की इतनी मार्मिक अपील और राष्ट्रीय दासता की इतनी त्रासद अनुभूति भारतेन्दु के काल के कम ही कवियों में पाई जाती है।

इसी प्रसंग में आई हुई निम्न पंक्तियाँ भी हमें स्मरण दिला जाती है कि भारतेन्दु जी अपने पूर्वजों के छले जाने की घटना को निरंतर ही याद रखा करते थे। अतः कुछ आलोचक उन्हें जब 'अंग्रेजी राज्य का भक्त' कह कर आज उन पर टिप्पणी करते हैं तो यह बड़ी ही निष्करुण बात जान पड़ती है :—

"छलियन सों रहो सावधान, नहिं तो पछताओगे।
इनकी बातन में फँसि रहिहौ, सबहि गवाँओगे ॥

अपने प्रख्यात मौलिक नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' के अंत में उन्होंने नारी के मुख से जो निम्न उक्ति कहलवाई है उससे उनकी दृढ़ चरित्रगत विशिष्टता पर प्रकाश पड़ता है। यह सभी जानते हैं कि भारतेन्दु जी ने भी अपने वचन निर्वाह एवम् टेक की रक्षा करने में भारी आत्मत्याग का परिचय दिया था। इसी टेक के कारण उनके जीवन के अंतिम दिन आर्थिक एवम् पारिवारिक संकट में व्यतीत हुए थे। पंक्तियाँ ये हैं :—

"जो गुन नृप हरिचन्द में, जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचन्द में, लखहु प्रतच्छ सुजान ॥"

'भारत-दुर्दशा' नामक नाटक जिसे भारतेन्दुजी ने "नाट्य-रासक या लास्य-रुपक" बताया है—सन् 1876 ई० में प्रकाशित एवम् अभिनीत हुआ था। इसे किन्हीं अर्थों में उनके राजनैतिक नाटकों में परिगणित कर सकते हैं। भारतेन्दुजी की कृतियों में राष्ट्रीय नव जागरण की चेतना की दृष्टि से वह विशेष अध्ययनीय हैं। नाटक का प्रारम्भ एक योगी के लंबे गीत से होता है जिसकी पंक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं और जिसकी टेक यह है :—

"रोवहु सब मिलिकै, आवहु भारत-भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

सारा नाटक ही दासता और दैन्य में जकड़े हुए तत्कालीन भारत का मानों आँखों देखा चित्रण ही है।

'भारत-दुर्दशा' के पाँचवें अंक के एक बार पढ़ जाने मात्र से पता चल जायेगा कि भारतेन्दु जी की राजनैतिक दृष्टि कितनी प्रखर थी। उन्होंने इस प्रहसन की शैली में लिखे गए अंक में तत्कालीन अंग्रेजी शासन की प्रत्येक सार्वजनिक कार्यकर्ता एवम् प्रत्येक सार्वजनिक प्रवृत्ति के प्रति कैसी शंकालु प्रवृत्ति थी और उन्हें किस भाँति हर जगह राज-
द्रोह की आशंका होती थी इसका चित्रण किया है। अंग्रेज शासकों का ऐसा रवैय्या सन्

1857 ई० की क्रांति से सीखे हुए उनके कड़वे पाठों के कारण ही था। इस नाटक के कुछ संवाद बड़े रुचिकर एवम् गूढ़ार्थपूर्ण हैं। यथा—

बंगाली—देखो हमारा बंगाल में इनका अनेक उपाय शाधन होते हैं।" "कोई थोड़ा बी बात होता, हम लोग मिल के बड़ा गोल करते। गवर्नमेन्ट तो केवल गोलमाल से भय खाता। और कोई तरह नहीं शोनता। हो हुआं का अखबार वाला सब एक बार ऐसा शोर करता कि गवर्नमेन्ट अलबत्त सुनने होता। किन्तु हेयां इस हिन्दी प्रदेश में हम देखते हैं, कोई कुछ नहीं बोलता।[2]

बंगाली—(का ही दूसरा कथन) : हमारा देश में 'भारत-उद्धार' नामक एक नाटक बना है। उसमें अंगरेजों को निकाल देने का जो उपाय लिखा, सोई हम लोग दुर्दैव का वास्ते काहे न अवलंबन करें। ओ लिखता-पांचजन बंगाली मिल के अंग्रेजों को निकाल देगा। उसमें एक तो पिशान लेकर स्वेज नहर पाट देगा। दूसरा बाँस काट-काट के पिवरी नामक जलयंत्र विशेष बनायेगा। तीसरा उस जलयन्त्र से अंग्रेजों की आँखों में धूर और पानी डालेगा।[3]

तभी पुलिस की वर्दी में डिसलायलटी का प्रवेश।

सभापति—कुछ हम लोग सर्कार के विरुद्ध किसी प्रकार की सफाई करने को नहीं एकत्र हुए हैं।

डिसलायलटी—नहीं, नहीं। तुम सर्कार के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुमको पकड़ेंगे।

बंगाली—(आगे बढ़कर क्रोध से)—काहे को पकड़ेगा, कानून कोई वस्तु नहीं है। सर्कार के विरुद्ध कौन बात हम बोला ? व्यर्थ का विभीषिका।

डिसलायलटी—हम क्या करें ? गवर्नमेन्ट की पालिसी यही है। 'कवि बचन सुधा' नामक पत्र में गवर्नमेन्ट के विरुद्ध कौन बात थी ? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गए ? हम लाचार हैं।

सभापति—तो पकड़ने का आपको किस कानून से अधिकार है ?

डिसलायलटी—इंगलिश पालिसी एक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।"

तनिक इस बात की कल्पना करके देखिए कि 'भारतदुर्दशा' नाटक असहयोग आन्दोलन के दौरान बीसवीं शती के पहले चरण में नहीं वरन् सन् 1876 ई० में लिखी गई थी जो उस देश और काल में काफी तीखी थी। उनके द्वारा उनकी पत्र पत्रिकाओं के प्रति सरकार की वक्र दृष्टि होने का भी संकेत है।

'भारत दुर्दशा' नाटक में ही हमें भारतेन्दुजी द्वारा रचित जो भारत देश की लंबी प्रशस्ति पाई जाती है ? उसी की कुछ पंक्तियाँ यह हैं जिन्हें 'भारत भाग्य' नामक पात्र गाकर सुनाता है :—

"भारत किरिन जगत उजियारा। भारत जीव जिअत संसारा ।।
भारतवेद कथा इतिहासा। भारत वेद प्रथा परकासा ।।
फिनिक, मिसिर, सीरीय युनाना। ये पंडित लहि भारत दाना ।।

किन्तु आगे चलकर उसी गौरवशाली भारत की वर्तमान दुर्दशा का भी चित्रण किया गया है, यथा—

"काशी, प्रयाग अयोध्या नगरी। दीनरूप सब ठाढ़ी सगरी ।।
रह्यो कलंकन भारत नामा। क्यों रे तू वारानसी धामा ।।
इत्यादि।

इस भाँति 'भारतदुर्दशा' नामक नाटक भारतेन्दुजी की नाटकीय कृतियों में सबसे अधिक राजनैतिक चेतना से ओतप्रोत है। भारत के राष्ट्रीय पुनर्जागरण एवम् उसके उपरांत देश की स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए किए गए आन्दोलनों में 'भारतमाता' की प्रतिमा ने करोड़ों देशवासियों को देश के प्रति उनके कर्त्तव्य का स्मरण दिलाया है। बंकिम का 'आनंदमठ', और वन्देमातरम्' गीत भी उसी का गौरवगान हैं। इस राष्ट्रीय प्रतीक के प्रथम प्रवर्त्तक भारतेन्दुजी हैं। यह हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए।

'भारत जननी' नामक अपने प्रसिद्ध 'ओपेरा' नाटक की रचना और मंचना भारतेन्दु ने सन् 1877 ई० में की थी। यह 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के दिसंबर, 1877 ई० के अंक में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था। 'ओपेरा' के प्रारंभ का दृश्य—'एक बड़ा भारी खंडहर' है। एक टूटे देवालय की सहन में एक मैली साड़ी पहिने, बाल खोले, भारतजननी, निद्रित सी बैठी है। उसे देखकर 'भारत संतान' एक लम्बी शोकभरी कविता गाकर सुनाता है—

"क्यों माता दुख मलिन होय रहि जिय में कहा उदासी ?
कहाँ गयो वह राज भवन, कित धवल धाम बिनसाए ?
कंहवह ओज-प्रताप नसामे, वैभव कितहि दुराए ?
आदि आदि।

पूरे 'ओपेरो' में भारत भूमि के विगत गौरव का गान है और भारत संतानों के प्रति देशोद्धार के हित, मार्मिक आह्वान है। 'नीलदेवी' तक ऐतिहासिक गीतिरूपक है जिसका प्रकाशन सन् 1880 ई० में हुआ था। रूपक 'जय जय भारत की छत्राणी' नामक गीत से प्रारंभ होता है। सातवें दृश्य में बन्दीगृह में मूर्छित महाराज सूर्यदेव के सम्मुख एक देवता प्रगट होता है और देश की घोर दुर्दशा के संबंध में एक लंबा शोकगीत सुनाता है

जो तत्कालीन जन-साधारण की पराभूत मनोवृत्ति का परिचायक हैं। किन्तु नवें दृश्य में कुमार सोमदेव द्वारा गाया गया ओजभरा युद्धप्रयाण गीत भी है ;—

"चलुहु वीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु मयान सों खड्ग खींचि रण रंग जमाओ॥
परिकर कसि कटि, उठो! धनुष पै धरि सर साधौ।
केसरिया बानो सजि-सजि रनकङ्कण बांधौ॥
... ...

छन महँ नासहि आर्य, नीच जवनन करि-करि छय,
कहहु सबै भारत जय!' भारत जय! भारत जय!!"

यह भारत का जयगान उस काल में भारतेन्दु के सिवाय कौन और दूसरा हिन्दी का कवि गाने की हिम्मत रखता था?

भारतेन्दुजी के द्वारा रचित 'अन्धेर नगरी' नामक प्रहसन वस्तुतः तत्कालीन ब्रिटिश शासन की 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' वाली स्वेच्छाचारी नीति का ही एक व्यंजनामय रूपकात्मक चित्रण है। उनके राज्य में प्रतिभाशाली और महामूर्खों के साथ एक ही प्रकार का वर्ताव किया जाता है। उन्होंने महन्त के मुख से अपने शिष्य नारायण को यह चेतावनी दी हैं कि ऐसी चौपट या सभी को एक समान समझने वाले राजा की अंधेर नगरी में रहना उचित नहीं हैं जहाँ टके सेर भाजी और टके सेर खाजा हों।

"सेत सेत सब एकसे, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देस कुदेस में, कबहुँ न कीजै बास॥"

यह उक्ति भारतेन्दुजी के ही समकालीन महर्षि दयानन्द के इस मत से तुलनीय है कि विदेशी शासन चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो 'स्वराज्य' से बढ़कर नहीं हो सकता। इसी प्रहसन के दूसरे अंक में 'चना जोर गरम' वाली गूढ़ व्यंग्योक्तियाँ भी हैं जिनकी कुछ पंक्ति पठनीय है :—

"चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते।"
... ...
चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते॥
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता॥
आदि-आदि।

'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' के दूसरे भाग में भारतेन्दु जी द्वारा रचित सभी काव्यकृतियों का संकलन है। इसमें 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' नामक एक पद्यबद्ध प्रभावोत्पादक वक्रता भी है जिसे भारतेन्दुजी ने सन् 1877 ई० के जून मास में 'हिन्दीवर्द्धिनी सभा' में पढ़कर सुनाई थी। यह लबी लगभग एक सो दोहों की दोहावली सर्वप्रथम 'हिन्दीप्रदीप' में

खण्ड–1 (एक) की संख्या 1 एवम् 2 में प्रकाशित हुई थी जिसका संपादन पं० बालकृष्ण भट्ट किया करते थे। उसी से हिन्दी की उन्नति के लिए विशेष उद्बोधक एवम् स्मरणीय दोहों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है, जिससे कुछ भ्रान्त आलोचकों की इस भ्रान्ति का निवारण हो पाएगा जिनका कहना है कि चाहे श्री भारतेन्दुजी ने हिन्दी साहित्य के लिए कितना भी काम किया होवे पर उन्होंने हिन्दी के प्रचार–प्रसार में कोई उल्लेखनीय सेवा नहीं की :—

"निज भाषा उन्नति अहै, सव उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा–ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल।।
अंग्रेजी पढ़ि के जदपि, सव गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान के, रहत दीन के दीन।।
पढ़ो लिखो कोउ लाख विध, भाषा बहुत प्रकार:
पै जबहि कछु सोचिहो, निज भाषा अनुसार।
निज भाषा उन्नति बिना, कवहुं नहै है सोय।
लाख अनेक उपाय यों, भले करो किन कोय।।
सब्द वहुत परदेस के, उच्चारनहु न ठीक।
लिखत कछू, पढ़िजात कछु, सव विधि परम अलीक।।
विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन से लै करहु, भाषा माँहि प्रचार।।
तासों सबही भांति है, इनकी उन्नति आज।
एकहि भाषा मँह अहैं, जिनकी सकल समाज।।
कल के कल वल छलन सों, छले इते के लोग।
नित नित धन सों घटत हैं, वाढ़त है दुख सोग।।
करहु विलम्ब न भ्रात अव, उठहु मिटाबहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु, प्रथम जो सबको मूल।।[4]

गद्य एवं पद्य दोनों ही में भारतेन्दु का योगदान अपूर्व और अनुपम है। सभी विधाओं के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीयता प्रधान विचारों की अभिव्यंजना की है। उनकी गद्य रचनाओं का संकलन भारतेन्दु ग्रन्थावली के तीसरे भाग में है। जिसके पारायण से पता चलता है कि उन्होंने शिवाजी एवं महाराणा प्रताप जैसे राष्ट्रीय वीरों के सम्बन्ध में व्यापक अध्ययन किया था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समग्र साहित्य पर एक विहंग है दृष्टि डालने से पता चलता हैं कि उनकी सहित्य सर्जना का मुख्य स्वर राष्ट्रीय उद्बोधन का ही था। उन्नीसवीं ईस्वी शती के उत्तरार्द्ध में भारत में राष्ट्रीय पुनर्जागरण की जो लहर चली थी उसमें भारतेन्दु ने भी अपने साहित्य के माध्यम से ऐतिहासिक योगदान किया था। हिन्दी भाषा और

हिन्दी साहित्य को राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम का हरावल बनाने का काम भी भारतेन्दुजी के हाथों ही सम्पन्न हुआ था। अतः उनकी पुण्यतिथि की इस शताब्दी के अवसर पर उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि यही होगी कि हम उनके सबसे प्रिय उद्देश्य को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाएँ और हिन्दी भाषा और साहित्य को विश्व-भाषाओं एवम् विश्व-साहित्य में शीर्ष स्थान दिलायें।

संदर्भ

1. इसका नियमानुसार प्रस्ताव 27 सितम्बर 1880 ई० के 'सारसुधा-निधि' के अंक में, काशी के पंडित रामेश्वरदत्त व्यास ने प्रकाशित कराया था कि वाबू हरिश्चन्द्र को उनकी सेवा और भारत भक्ति के लिए "भारतेन्दु" उपाधि से सम्मानित किया जाना चाहिए। इस प्रस्ताव को चारों ओर से व्यापक समर्थन मिला और तभी से वे हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसी नाम से पुकारे जाने लगे।

2 व 3 : 'भारत दुर्दशा' पृष्ठ 448 : भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग—1

4. भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग–2, पृष्ठ 731–738.

* * *

17

भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावना

राममूर्ति त्रिपाठी

भारतेन्दु साहित्य, उनके जीवन-वृत्त, अनुवंश और परिवेश के साक्ष्य पर जब हम उनकी राष्ट्रीय भावना समझना चाहते हैं—तब अनेक विरोधी बिन्दु हमारे सामने आते हैं। इनमें कतिपय प्रमुख हैं—

पहला (क)—राजभक्ति—ब्रिटिश शासकों का यशोगान
दूसरा (ख)—भारतीयता विरोधी—हिन्दू राष्ट्र भावना या साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता
तीसरा (ग)—राजभक्त खानदान में जन्म लेना—अर्थात् अनुवंशिकता
चौथा (घ)—अंगरेज भक्त राजा शिवप्रसाद के प्रति समर्पण भाव तथा
पांचवा (ङ)—ब्रिटिश शासन व्यवस्था को आत्मोन्नति की पृष्ठभूमि बनाना, आदि।

जो भारतेन्दु (1877) प्रिन्स आफ वेल्स (सम्राट एडवर्ड सप्तम) के आगमन पर—

बहुत दिनन की सूखी, डाढ़ी दीना भारत भूमि
लहिहै अमृत वृष्टि सो आनन्द तव पद पंकज भूमि[1]

इस प्रकार की राजभक्तिपरक बानी बोलते हों, सोने की कटोरिया-सी विक्टोरिया की चिरजीविता की आशंसा करते हों—

ससाजिद लखि विसुनाथ ढिग परे हिए जो घाव
ता कहँ मरहम सरिस यह तुव दरसन नर राव[2]

जैसी उक्तियों से भारतीयता विरोधी भूषण जैसी साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता का स्वर मुखर करते हों—जिनके रक्त में अमीचन्द, फतेचन्द, हरखचन्द—आदि अंगेरजपरस्त पूर्वजों के जीन्स और क्रोमोसोम सक्रिय हों—फलतः—

अमीचन्द तिनके तनय, फतेचन्द ता नन्द।
हरखचन्द जिनके भए, निजकुल सागर चन्द॥[3]

कहकर गर्व और गौरव का अनुभव करते हों, जो 'वात्सल्य भाजन छात्र' के नाते 'मुद्राराक्षस' अंगरेजभक्त राजा शिवप्रसाद को समर्पित करते हों और जो 'ब्रिटिश सुशासित भूमि में आनन्द उमगे जाते[4]—कहकर इस व्यवस्था के प्रति निष्ठा व्यक्त करता हो—

उसकी मानसिकता से राष्ट्राभिमान का कैसा संवाद ? निश्चय ही ये बिन्दु इस सन्दर्भ में विचारणीय हैं।

वास्तव में जिन पूर्वजों के प्रति उनमें समर्पण है–उसका कारण उनका राजभक्त होना नहीं, अपितु—

> कठिन करम गति मेटि जिन, कीनो भक्ति प्रकास।
> मेटि देव देवी सकल, छाड़ि कठिन कुल रीति।
> थाप्यो गृह में प्रेम जिन, प्रगटि कृष्ण पद भक्ति–[5] है।

अर्थात् यदि राजभक्ति उनमें खानदान से आई है, तो मानवतावादी वैष्णवी चेतना कहीं उससे ज्यादा आई है, जो जगत् को 'पुरुषोत्तम' का ही व्यक्त रूप मानती है, जो नारी भाव के बिना मुक्ति का द्वार आवृत्त समझती है–फलतः नारी का सम्मान सिखाती है, जो त्रैवर्णिक निगम धारा को अपेक्षा सार्ववर्णिक लोक स्वभाव के अनुरूप 'राग' साधना को महत्त्व देती है–जो 'व्यक्ति' की भाँति समष्टि राष्ट्र के 'स्वत्त्व' को चरितार्थ करने का 'दर्शन' प्रस्तुत करती है, जो 'माता भूमि : पुत्रो हं पृथिव्याः' से विरुद्ध पड़ने वाले 'राष्ट्रवाद' को निकम्मा समझती है—लेकिन विश्वहित की दिशा में जाने वाले अपने निर्धारित मार्ग को ही महत्त्व देती है, जो व्यष्टि और समष्टि हर स्तर पर पार्थिव स्वार्थ पूजा को घातक मानती है—जो सबके प्रति विनत रहने की प्रेरणा देती है मानव मात्र को समान अधिकार सम्पन्न समझती है। कहाँ तक कहा जाय यह वैष्णवी चेतना राष्ट्रीय भावना के अनुरूप पड़ने वाले लोकमंगल से अविरोधी समस्त बीजाणु को आत्मगत रखती है। इसी चेतना के कूलङकल उफान में सभी विरोधी भाव बह जाते हैं। भारतेन्दु का अन्तःकरण का बल्व ही कुछ ऐसा था, जिसके माध्यम से वैष्णवी चेतना अपनी ऊर्ध्वगामी सम्भावनाओं को मुखर कर सकती थी। और लोगों की तरह मुझे उन बाधक बिन्दुओं का अलग–अलग जवाब देने की जरुरत नहीं है। इस प्रकाश में खानदानी जीन्स और क्रोमोसोम के प्रभाव हतप्रभ हो सकते हैं। इसी प्रभाव में वह राष्ट्र विरोधी 'राजभक्ति' की सम्भावना निरस्त करते हुए कहते हैं—'भारत कृतघ्न नहीं है। वह सदा मुक्त कण्ठ से स्वीकार करेगा कि अंग्रेजों ने मुसलमानों के कठिन दण्ड से हमको छुड़ाया और यद्यपि अनेक प्रकार से हमारा धन ले गए किन्तु पेट भरने की भीख माँगने की विद्या भी सिखा गये।'[6] पर इसका यह मतलब भी नहीं है कि उनकी 'भारत भावना' 'अभारतीय' है। हिन्दू–मुस्लिम विरोधी हैं–भूषण की साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता है—तथाकथित 'भारतीयता विरोधी हिन्दू राष्ट्रीयता' है—नहीं। उन्होंने जिन मुसलमान भाइयों में वैष्णवी चेतना का साक्षात्कार किया है––उन पर कोटिन हिन्दुओं के वारने की बात भी कही है—होता हो उनका कहीं आहत हृदय ब्रिटिश नेतृत्व में मिस्र और अफगानिस्तान विजय पर गर्वोन्नत। उन्होंने पंच पवित्रात्माओं[7]—हजरत मोहम्मद आदि–का बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया है। लोग कहते हैं कि परिवर्तित हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्धी वाली 'भारतीयता' या 'राष्ट्रीयता' का स्वर गांधी के बाद उभरा है—पर 'बलिया' वाले प्रसिद्ध व्याख्यान में

उनकी उक्ति है—"हिन्दु जन मुसलमान सब आपस में मिलिये। जो जाति में कोई ऊँचा हो चाहे नीचा—सबका आदर कीजिए। जो जिस योग्य हो—उसको वैसा मानिये। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जो मत तोड़िये। सब लोग आपस में मिलिये।"[8]

"मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान में बसकर वे लोग हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक, भाइयों की भांति हिन्दुओं से बरताव करें। जो बात हिन्दुओं को नहीं मयस्सर है—वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त है। उसमें जाति नहीं, खाने-पीने में चौका-चूल्हा नहीं—विलायत जाने में रोक-टोक नहीं......... आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे—चाहे किसी रंग का किसी जाति का क्यों न हो—वह हिन्दू[9] अर्थात् हम पहले हिन्दी या भारतीय हैं—और बाद में और कुछ। भारतीयता का यह अभिमान हम सब में एकता का अहसास कराए और भारत को अखण्ड राष्ट्र बनाए।" यह है उनका भारत राष्ट्र के प्रति अभिमान—राष्ट्रीय भावना। अभिप्राय यह कि जो लोग उनमें कतिपय सन्दर्भ-विशेष में कही गई उक्तियों के साक्ष्य पर संकीर्ण राष्ट्रवाद या भारतीयता विरोधी हिन्दू राष्ट्रवाद देखते हैं—उन्हें अपने मत का संशोधन कर लेना चाहिए।

रहा अंग्रेज भक्ति सितारे हिन्द के प्रति समर्पण भाव—तो यह एक व्यवस्था के तहत है—उनकी उस 'आमफहम' भाषा-नीति के प्रति नहीं—जिसका रुख पूंजीवादी साम्राज्यवाद के पक्षधर ब्रिटिश शासन के भेद-नीति की तरफ था। वैसे भारतेन्दु किसी भी भाषा और साहित्य के विरोधी नहीं थे—विपरीत इसके मौलवी ताज अली से इन्होंने स्वयं उर्दू पढ़ी थी और प्रयोग में भी नफरत कहीं नहीं है। वह भेद नीति के संदर्भ में विरोधी थे।

वैष्णव चेतनावाद में आस्थाशील प्रेममार्गी भारतेन्दु के विषय में यह कहना कि भारतीय मध्यकाल 'अंधकार युग' है और ब्रिटिश शासक द्वारा लाए जाने वाले प्रकाश की प्रभाती गाने वाले भारतेंदु हैं। निराधार और अतर्क प्रतिष्ठ बात है। हाँ, अंग्रेजी राज्य का आतंकवाद, भेदनीति और अर्थ-शोषण का दबाव उनकी राष्ट्रीय चेतना को और दीप्त करने में कारण हो सकता है। वैष्णव चेतना की निर्मल सम्भावना पर पड़ी हुई रूढ़ियों की परतों का भारतेन्दु ने जमकर विरोध किया है—गुरुडम की खिल्ली उड़ाई है और प्रज्ञोचित विकास में अवरोध डालने वाले तथाकथित धर्मभेद प्रतिबंधों का विरोध किया है। नवजागरण का हर भारतीय संदेश-वाहक वैष्णवी चेतना की किरणों पर छाए हुए तथाकथित निवृत्तिपरक कुहासे को छँटते हुए देख रहा था। मैकाले की शिक्षा नीति में फैलने वाले अंधकार में भी कुछ लोगों की आंख की रोशनी बढ़ जाती होगी। और उन्हें आयातीत 'प्रकाश' दिखाई देता होगा—इसे कैसे नकारा जा सकता है?

अंततः आता है—महाजनी सभ्यता का परिवेश। उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि महाजनी सभ्यता धन की ऊष्मा जो—मानवता घातिनी है—का ही दूसरा नाम है।

धन और मनुष्य में भक्ष्य-भक्षक भाव सम्बंध है—कभी धन मनुष्य को। जग जाहिर है कि भारतेन्दु के पूर्वजों से और भारतेन्दु से धन का क्या सम्वन्ध था? काशी नरेश की शुभ–चिन्तना पर महाजनी सभ्यता के पारिवेशिक श्मशान पर नाचनेवाला कोई शिव ही कह सकता है—"जिस दौलत ने मेरे बापदादों को खाया है—उसे मैं खा डालूंगा।"[10]

खण्ड–ख

भारतेन्दु के राष्ट्राभिमान के विरोध में आपाततः उठे और उठाए जाने वाले अवरोधक बिन्दुओं के निराकरण के बाद उनकी राष्ट्रीय भावना के विध्यात्मक पक्षों या घटकों की उनके साहित्य के साक्ष्य पर पहचान आवश्यक है।

भारतेन्दु को जिस राष्ट्र का अभिमान था–उसकी राजनीतिक अखण्डता 19 वीं शती से पूर्व कदाचित कभी नहीं थी। इतिहास वेत्ताओं की धारणा है—

"Politically speaking there was no India at the begining of the nineteenth century, it was a more comgaries of states."[11]

गुप्तकालीन विष्णु पुराण में जिस भारत[12] का उल्लेख है या विंसेट स्मिथ जिसकी बात करता है— वह राजनीतिक नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से अखण्ड भारत है। योरुपीय राष्ट्रवाद विशेषकर इटली और जर्मनी मे सक्रिय–एक ऐसी 'जातीय–अस्मिता' का राजनीतिक शक्ति के माध्यम से प्रतिष्ठापित करने की चेतना फैला रहा था–जिससे सभी देश और जातियाँ प्रभावित हो रही थीं—भारत की जनता कैसे अप्रभावित रह सकती थी? भारतीय प्रातिम विभूतियों में भी जातीय–अस्मिता का अभिमान जगा और उसकी सम्यक् प्रतिष्ठा के लिये राजनीतिक सम्प्रभुता की अनिवार्यता प्रतीत होने लगी। भारतेन्दु की चेतना भी 'राष्ट्र' (Nation) के इस नवोदित रूप से जुट रही थी। डा० रामविलास शर्मा की धारणा है कि भारतेन्दु 'जातीय संगीत'[13] में जिस 'जाति' की बात करते हैं—'वर्ण' वाद के अर्थ में नहीं है—वह उससे वृहत्तर अर्थ में है। सितम्बर, 1851 में बंगाल में स्थापित नेशनल एसोसिएशन'[14]–जो बाद में 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन' में परिणत हो गई— का 'नेशनल' शब्द भी इसी जातीय अवधारणा से जुड़ा है। मतलब यह कि आधुनिक काल या नव-जागरण के सन्दर्भ में प्रयुक्त 'राष्ट्र' (Nation) का रूपान्तर है। इतिहास भारतीय संदर्भ में 'राष्ट्र' का अर्थ जो भी लेता रहा हो—सम्प्रति अर्थात् 19 वीं शती के उत्तरार्ध में यह 'जाति' (Race) के अर्थ में प्रचलित हुआ और साथ-साथ 'जातीय–अस्मिता'को अपनी व्यावर्तक विशेषता के रूप में ग्रहण करता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस आग ने कहीं न कहीं सबको बेचैन किया। यदि (Nation) या जाति है तो यह तभी है, जब उसकी 'जातीय–अस्मिता' है और यदि वह बीजभाव है तो राजनैतिक सम्प्रभुता उसकी रक्षा के लिए आवश्यक है। जब भारतेन्दु कहते हैं—

'भारतेन्दु निज स्वत्व गहै।'[15]

तब उनकी यही बेचैनी है और इस बेचैनी को बने रहने देने में यदि एक ओर ब्रिटिश शासन बाधक है तो दूसरी ओर धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियाँ भी कम बाधक नहीं हैं। फलतः तीनों स्तरों पर उठे आन्दोलनों का एकीकरण होने लगा। इस बृहत्तर सन्दर्भ में उनकी राष्ट्रीय भावना का आकलन करने लिए जब हम इनके साहित्य का अनुशीलन करते हैं—तब यह निश्चित है कि उनकी राष्ट्र परिकल्पना भारतवासियों की एक जातीय परिकल्पना है। वे यहां के निवासियों को एक होने को कहते हैं और आधार वैष्णवी परिकल्पना का रूढ़ि-मुक्त मानवीय प्रेम को बताते हैं। उनकी दृढ़ धारणा है कि इसी रागमूलक एकात्मभाव के अहसास के (सामूहिक) अभाव से ही यह देश पददलित हुआ और उनकी जातीय-अस्मिता का विकास रुक गया—उसका स्वत्व क्षीण पड़ने लगा। अखण्ड भारतीय चेतना को फिर से उससे जुड़ना है—अपनी रुद्ध किन्तु स्वस्थ परम्परा का विकास करना है—संस्कृति के स्वस्थ सम्भावनामय कणों को विकसित करना है। डा० शर्मा का विचार है कि इस देश के पददलित होने का कारण यहां का जर्जर सामन्ती ढाँचा से प्रसूत विचारधारा[16] थी। दृष्टिभेद होने से निदान भेद और उपचार भेद होगा ही। 'भारत-दुदर्शा' का साक्ष्य देकर वह कहते हैं कि भारत-भाग्य को हस्तावलम्ब देने न तो सात समुन्दर पार से राज-राजेश्वरी आने वाली हैं और न ही कल्कि अवतार हो रहा है—मतलब न साम्राज्यवाद 'भारतीय जाति' या 'भारत राष्ट्र' को बचा सकता है और न तो सामन्ती परिवेश की आत्मवादी विचारधारा। पर 'भारत-दुर्दशा' के नैराश्य में भी वे आशा[17] की किरण देखते हैं और तदर्थ संघर्ष-जनसंघर्ष अपेक्षित मानते हैं। साथ ही ईमानदार चिन्तक डा० शर्मा जब भारतेन्दु के संदर्भ में सोचते हैं—तब वे कहते हैं—"भारतेन्दु न तो क्रिस्तान थे और न ही नास्तिक। वह शुद्ध वैष्णव थे। भारतेन्दु की विचारधारा पर भक्ति कवियों का गहरा असर था।"[18] वहीं से उन्होंने जीवन्त तत्व लिए और सांस्कृतिक विकास का अभियान छेड़ा। वह मानते हैं—"भक्त कवियों से हरिश्चन्द्र को सबसे बड़ी शिक्षा यह मिली थी कि धर्म, संस्कृत और साहित्य का मूल तत्व प्रेम है। प्रेम के बिना सब फीका है इस प्रेम के आधार पर उन्होंने जाति-पांति, ऊँच-नीच, छुआछूत तथा सामाजिक विषमता-आदि का विरोध करना सीखा। इस प्रेम से उन्होंने देश-प्रेम का सम्बन्ध भी जोड़ा।"[19] उन्होंने इसी सन्दर्भ में तदीय सर्वस्व' के उपक्रम के विचार भी रखे—"निश्चय रखें कि परमेश्वर को पाने का पथ केवल प्रेम है। और बातें चाहे धर्म की हों या लोक की—दोनों बेड़ी ही है। बिना शुद्ध प्रेम न लोक है न परलोक। जिस संसार में परमेश्वर ने उत्पन्न किया है, जिस जाति या कुटुम्ब से तुम्हारा सम्बन्ध है और जिस देश में तुम हो—उससे सहज सरल प्रेम करो और परम पिता परम गुरु, परम पूज्य परमात्मा प्रियतम को केवल प्रेम में ढूंढो। बस और कोई साधन नहीं।"[20] इस विस्तृत सन्दर्भ से भारत के आक्रान्त होने और अनाक्रान्त होकर 'निज स्वत्व ग्रहण' की दिशा में किस विचारधारा और उससे समर्पित घटकों का सहारा

लेकर आगे बढ़ा जाय—यह स्पष्ट है। स्पष्ट ही भारतेन्दु अपनी परम्परा से राष्ट्रीय भावना के घटक तत्वों को लेते हैं और उसे विकसित करने में भारतवासियों—भारतीय जाति के लोगों का आह्वान करते है। उन तमाम बिन्दुओं का वह विरोध करते हैं, जो भारतवासियों में अखण्ड भारतीय जाति का अहसास उत्पन्न होने में रोड़ा बनते हैं और साथ ही उन मूल और मूलोद्भूत साधक तत्वों की घोषणा करते हैं, जो इस अहसास को ढूंढा करते हैं। उनकी राष्ट्रीय भावना इन्हीं साधक या बाधक तत्वों से घटित हुई है—निषेध्य और विधेय बिन्दुओं से निर्मित हैं। डा० शर्मा की इस दृढ़ स्थापना से मैं बिलकुल सहमत हूँ कि वह राष्ट्रीय भावना के जिन घटकों की चर्चा करते हैं—उसका उत्स एकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से हमारी परम्परा में है—वे कहीं से उधार नहीं लिए गए हैं।

भारतेन्दु इस तथ्य से दृढ़ता के साथ परिचित थे कि इस जाति या राष्ट्र की अन्तरात्मा जातीय-अस्मिता या सस्कृति का गहरा सम्बन्ध 'निजभाषा'[21] से है। वह कहते हैं—"परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत करो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।"[22] भारतवर्ष की उन्नति या स्वत्व-ग्रहण निज भाषा उन्नति से ही सम्भव है। संस्कृति सर्वोत्तम चिन्तन का मूर्त रूप है और चिन्तन बिना भाषा के सम्भव नहीं। प्रत्येक राष्ट्र या जाति की अपनी भाषा ही पहचान करने वाली जातीय समुन्नत सम्भावनाओं को मूर्त कर सकती है। भाषा केवल ज्ञान संक्रान्ति अथवा व्यवहार चलाने का माध्यम नहीं है—वह विशिष्ट संस्कार का आधान करती है। वस्तुतः उसके माध्यम से हम 'अपने' खोजते हैं, अभिव्यक्त करते हैं और पहचानते हैं—व्यक्तिगत स्तर पर भी और जाति या समष्टिगत स्तर पर भी। प्रत्येक शब्द का एक अर्थ होता है और प्रत्येक अर्थ के साथ एक भावना होती है—एक सस्कार डालने की क्षमता होती है। मतलब निज भाषा का चरम लक्ष्य एक ऐसा सस्कार डालना है, जो अखण्ड राष्ट्रीयता का अहसास कराए। इस माध्यम या निज भाषा द्वारा पहले हम जातिगत अखण्डता को प्रतिष्ठापित करें—फिर उसमें निहित 'स्वत्व' और 'सारतत्व' को उभारें।

'व्यक्ति' की भाँति प्रत्येक जाति या राष्ट्र की भी एक पहचान होती है। भारतीय परम्परा मानती है कि यह पहचान 'गंतव्य' भेद में नहीं—मार्गभेद में है। इसीलिए हमारी देश-भक्ति 'माताभूमिः पुत्रो हं पृथिव्याः' की अविरोधिनी है। भारतेन्दु जिस वैष्णवीधारा से मूलभूत तत्व 'प्रेम' को लेते हैं—वह विरोध की ओर नहीं, सामंजस्य की ओर ले जाती है। आज हमें विश्व के मंच पर उदित दो ध्रुवान्ती विचार धाराओं के विरुद्ध किसी तीसरे ध्रुवान्त की खोज नहीं करनी है—क्योंकि वह है ही नहीं—हमें तो इनमें सामंजस्य प्रतिष्ठित करने वाले बिन्दु की तलाश करनी है—जो वैष्णवी और चेतनावादी 'प्रेम' के माध्यम से ही सम्भव है। आज एक तरफ हमें उन बिन्दुओं की प्रतिष्ठा करनी है जो राष्ट्र की भावनात्मक एकता का अहसास कराएं और दूसरी ओर इस सामंजस्यकारी तत्व का उद्भावना करना है, जो हमारी जातीयता का परिचायक मानदण्ड है। पं० नेहरु ठीक कहते हैं—

"Some inner urge towards synthesis in the dominent feature of our Indian cultural development."

भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावना अपने इसी 'स्वत्व-ग्रहण' की ओर ले जाती है।

सन्दर्भ

1. भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय-खण्ड, नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ 723।
2. वही–पृष्ठ 699, तथा

   आवहु प्रिय नैनन मग वैठो हिय में लेहु छिपाय।
   जाहुन फिरि तज भारत को तुम हमसों नेह लगाय ॥पृ०723.
3. वही–उत्तरार्द्ध भक्तमाल, पृष्ठ 227.
4. (भारत शिक्षा) वही–पृष्ठ 701.
5 वही–,उत्तरार्द्ध भक्तमाल, पृष्ठ 227.
6. भारतेन्दु ग्रन्थावली, खण्ड-तीन, बादशाह दपर्ण, पृष्ठ 316.
7. वही–पृष्ठ 391 से 419 तक.
8. वही–पृष्ठ 901.
9. वही–.
10. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित, श्री राधाकृष्ण दास की भूमिका (लेखक– श्री अमृतलाल नागर) से उद्धृत, पृष्ठ ग.
11. British Paramountey and Indian Renaissance Part II, Page 431.
12. उत्तरं मत् समुद्रस्य हिमादेश्च दक्षिणम्।

    वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संततिः ॥
    भारतेषु स्त्रियः पुंसः नानावर्णा : प्रकीर्तिताः।
    नाना देवार्चने युक्ताः नाना कर्माणि कुर्वते ॥

    अथवा

    गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।
    स्वर्गायवर्गास्पद हेतु भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
    —विष्णु पुराण।

13. भारतेन्दु ग्रन्थावली, तृतीय-खण्ड, पृष्ठ 935-938.

14. भारतेन्दु कालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 55.

15. 'कविवचन सुधा' का सिद्धान्त वाक्य.

16. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० 20.

17. वही–पृ० 47.

18. वही.

19. भारतेन्दु ग्रन्थावली, खण्ड–2, 'तदीय सर्वस्व' का 'उपक्रम' से.

20. भारतेन्दु हरिश्चन्द–डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृष्ठ 232 से उद्घृत हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान.

21. भारतेन्दु ग्रन्थावली, तृतीय–खण्ड, पृ० 903.

22. Discovery of India—Pt. Jawaharlal Nehru.

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और आधुनिक बोध का संघर्ष

विजेन्द्र नारायण सिंह

संसार के वैचारिक इतिहास में 19 वीं शताब्दी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य जाति के इतिहास में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए, इन परिवर्तनों के मूल में नया मशीनी उद्योग था, जिसने मानवता के युगीन बंधनों को तोड़कर अडिग भौगोलिक सीमाओं और निश्चल मध्यकालीन रूढ़ियों का अतिक्रमण करके, मानवों के पारस्परिक विनिमय संकेतों के असीम विस्तार की संभावनाओं के द्वार खोले थे। यूरोप में यह प्रक्रिया कुछ पहले अर्थात् 18 वीं शताब्दी के मध्य में औद्योगीकरण के साथ प्रारंभ हो गयी थी। उसने शताब्दी के प्रारम्भ से जोर पकड़ लिया था। भारत में इसका प्रारंभ कम्पनी–शासन के अंत और सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम से हुआ। आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरंभ 1857 के विद्रोह से होता है। उस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सात वर्ष के थे।

आधुनिकता :

हम जिसे आज आधुनिक कहते हैं, वह समय की गति को व्यंजित करने वाला शब्द है। इस आधुनिक बोध को किसी अन्य विशेषता से परिभाषित न कर मात्र समय की गति से परिभाषित किया गया है। इसका मूल कारण है इस युग की काल-चेतना। यह काल-चेतना सीधी विकास-रेखा के द्वारा व्यक्त होती है। यह चेतना कि इतिहास भूत, वर्तमान और भविष्य की सीधी पटरी पर चलता है, मध्यकाल की मानसिकता को स्वीकार्य नहीं था, क्योंकि तब धर्म का साम्राज्य था और धर्म में काल को वस्तुगत सत्ता स्वीकार्य नहीं होती। समय जो मध्यकाल की चेतना में बीत कर लौट–लौट आता है, आधुनिक युग की चेतना में क्षण-क्षण में अतीत होता चलता है। मध्यकाल में समय के आने-जाने का क्रम चलता रहता है, यहाँ आधुनिक युग में एक बार जो गया सो गया। आधुनिक युग की काल-चेतना आवृत्तिहीन है ; यह आवृत्तिहीनता ही गद्य का स्रोत है। संक्षेप में, आधुनिक युग में हम वृत्त से छूट कर सीधी रेखा पर आ गए हैं।

ऐतिहासिक काल

भारतेन्दु के द्वारा हमारा साहित्य पहली बार ऐतिहासिक काल में प्रवेश करता है। मध्यकाल का परिवेश मिथकीय था। वहां हमारा काल-बोध चाक्रिक है, ऐतिहासिक नहीं। देश का बोध भी मध्यकाल में नहीं है। भारतेन्दु में देश का बोध स्पष्ट है। इससे हमारी राष्ट्रीय भावना का आरम्भ होता है। यानी भारतेन्दु में आधुनिक बोध–देश-बोध

और परिवेश-बोध से उत्पन्न होता है। मध्ययुग के अन्त की घोषणा भारतेन्दु इन शब्दों में करते हैं—"देखो, विद्या का सूर्य ।। विद्या से तात्पर्य ज्ञान-विज्ञान से है ।। पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। अब सोने का समय नहीं है। मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन गए, अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहचाना। विद्या की चर्चा फैल चली, सबको कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से नई विद्या और कारीगरी आयी ।" 18वीं शताब्दी के यूरोप में वीर युग की विडंबना प्रस्तुतकरते हुए सर्वाण्टीज ने "डॉन क्विकजोट" लिखा था। भारतेन्दु क्षयिष्णु सामन्ती युग की विडंबना "अन्धेर नगरी चौपट राजा" में प्रस्तुत करते हैं। उत्तर कालीन सामन्त शासन की यह अद्वितीय विडंबना है, और इससे 'भारत दुर्दशा' की भूमिका तैयार होती है।

अंग्रेजी राज और आधुनिकता

कार्ल मार्क्स की तरह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारत में अंग्रेजी राज को आधुनिकता का वाहक नहीं समझा था। कार्ल मार्क्स ने भारत के स्वाधीनता-संग्राम के पहले लिखे गए अपने एक निबंध में यह लिखा था कि "इंग्लैंड ने हिन्दुस्तान में एक सामाजिक क्रान्ति की है।···इस प्रकार इस हस्तक्षेप ने इन अर्धबर्बर, अर्धसभ्य समाजों के आर्थिक आधार को नष्ट करके उन्हें भंग कर दिया और इस प्रकार एशिया की सबसे बड़ी और वास्तव में एकमात्र सामाजिक क्रान्ति सम्पन्न की।" स्पष्ट ही कार्ल मार्क्स अंग्रेजी राज को भारत को सभ्यता और आधुनिकता के युग में ले जाने का प्रमुख कारण मानते हैं। ठीक इसके विपरीत भारतेन्दु और उनके सहयोगी अंग्रेजी राज के राक्षसी रूप का पर्दाफाश करते हैं। मध्यकाल की अव्यवस्था और विघटन के बाद कहीं न कहीं अंग्रेजी राज सुखद लगा होगा, पर यह भ्रान्ति शीघ्र ही टूट गयी। "भारत दुर्दशा" इसी मोहभंग का प्रतीक नाटक है। डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है कि—"भारत दुर्दशा अंग्रेजी राज की अप्रत्यक्ष रूप से कटु और सच्ची आलोचना है। "भारत दुर्दैव" अंग्रेजी राज्य का ही प्रतीक है। इस प्रकार भारतेन्दु अंग्रेजी राज से होने वाले मोहभंग के हिन्दी में पहले लेखक हैं।

भारतेन्दु की आधुनिकता

भारतेन्दु की आधुनिकता इस बात में निहित है कि भारतीय समाज के पुराने ढांचे के प्रति उनके मन में घोर असंतोष है। वे समाज-व्यवस्था में पूर्ण सुधार चाहते हैं। पतन के मूल में भारतेन्दु सामाजिक ह्रास देखते हैं। "भारत-दुर्दशा" में सत्यानाश फौजदार कहता है—"बहुत हमने फैलाए धर्म। बढ़ाया छुआछूत का कर्म।" धर्म के मध्यकालीन रूप का विरोध भारतेन्दु ठीक वैसा ही करते हैं, जैसा कि कभी कार्ल मार्क्स ने किया था।

"भारत दुर्दशा" में सत्यानाश फौजदार कहता है—

जाति अनेकन करी, नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो।
करि कुलान के बहुत ब्याह बल बीरज मार्यो।
विधवा ब्याह निषेध कियो, बिभिचार प्रचार्यो।
रोकि बिलायत गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।।
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईस्वर को सब विमुख किए हिन्दू घबराई।।

भारतेन्दु धार्मिक रूढ़ियों के खिलाफ जेहाद खोल देते हैं। उनकी आधुनिकता का यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। उनका संघर्ष धर्म की मध्यकालीन रूढ़ियों से है। इन रूढ़ियों को वे "भारत दुर्दशा" के मूल में देखते हैं।

भारतेन्दु "भारत दुर्दशा" में भारत का पहला प्रवेश श्मशान भूमि में दिखलाते हैं। यह आकस्मिक नहीं है। उनके साहित्य में श्मशान का विजन बार-बार आता है। वे जिस ऐतिहासिक बिन्दु पर जी रहे थे, श्मशान उसका वास्तविक वस्तुगत प्रतिरूप ।।ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव ।। है। टूटे-फूटे मन्दिर धर्म के संसार के ध्वस्त होने का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन मन्दिरों के बदले अब है यह श्मशान। भारतेन्दु के नाटकों में सबसे महत्वपूर्ण घटनाएँ श्मशान भूमि पर घटती हैं।

भारत दुर्दैव और अंग्रेजी राज :

"सुजलाम् सुफलाम् शस्य श्यामलाम्" इस भारत भूमि को श्मशान बनाया अंग्रेजी राज ने। चतुर्थ अंक में भारतेन्दु "भारत दुर्दैव" को अंग्रेजी ढंग से सजे कमरे में कुर्सी पर बैठा दिखाते हैं। भारत श्मशान भूमि में लोट रहा है और भारत दुर्दैव सजे-सजाए कमरे में कुर्सी पर बैठा है। जिस अंग्रेजी राज की प्रशंसा करते कार्ल मार्क्स अघाते नहीं है उस अंग्रेजी राज़ पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की यह अनमोल टिप्पणी है। "भारत-दुर्दशा" के मूल में है आर्थिक शोषण। साम्राज्यवाद के आर्थिक शोषण पर प्रकाश डालते हुए भारतेन्दु लिखते हैं—"

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पै मंहगी कालरात्रि विस्तारी,
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा हा री।।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से उत्पन्न मुद्रास्फीति को सबसे पहले भारतेन्दु ने लक्ष्य किया था। भारतेन्दु ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं। इस विरोध में उनकी जागरुकता निहित है। भारत दुर्दैव कहता है—

मरी बुलाऊं देस उजाडूं, महगा करके अन्न।
सबसे ऊपर टिकस लगाऊं, धन है मुझको धन्न।
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे एक राक्षस मानो जी।

स्पष्ट ही भारत-दुर्दैव इन पंक्तियों में अपने कारनामों के बहाने अंग्रेजी राज के कारनामो का बखान कर रहा है। "भारत दुर्दैव" अंग्रेजी राज का ही प्रतीक है। इस अंग्रेजा राज के शोषण को भारतेन्दु अच्छी तरह समझते थे। उस शोषण की बनिया-पद्धति का मखौल उड़ाते हुए अपनी एक मुकरी में वे लिखते हैं :—

भीतर भीतर सब रस चूसे।
हंसि हंसि के तन मन धन मूसे।
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि साजन, नहिं अगरेज।

डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है कि—"एशिया में ऐंग्लो-सेक्सन जाति के सांस्कृतिक मिशन पर कैसी अनमोल टिप्पणी है।"

नई शिक्षा और भारतेन्दु :

भारत में अंग्रेजी राज के आगमन की बड़ी उपलब्धियों में नई शिक्षा को माना जाता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शिक्षा नीति को गढ़ने में चार्ल्स ग्राण्ट का बहुत बड़ा हाथ था। भारतवासियों के सम्बन्ध में उसके विचार बहुत बुरे थे। भारतवासियों को वह मूर्ख तथा पतनशील समझता था। सबसे पहले उसी ने इस विचार को प्रोत्साहन दिया कि भारतवासियों के सुधार का एकमात्र उपाय यह है कि उन्हें अंग्रेजी पढ़ाई जाय। ग्राण्ट ने ब्रिटिश सरकार को सबसे बड़ा लोभ यह दिखाया कि अंग्रेजी के जरिए हिन्दुओं को ईसायियत का पूरा ज्ञान हो जाएगा और वे आसानी से क्रिस्तान हो जाएंगे। इस नीति का उद्देश्य भारत में एक ऐसा वर्ग तैयार करना था जो जन्म से स्वदेशी हो मगर अन्य प्रकार से सोलहों आने अंग्रेजी हों। लार्ड मैकाले ने 1835 के मिनिट्स में साफ-साफ लिखा था—"हमें इस समय एक ऐसा वर्ग तैयार करने की पूरी कोशिश करनी चाहिए जो हमारे और उन करोड़ों लोगों के बीच, जिन पर हम शासन करते हैं, दुभाषिए का काम कर सके, एक ऐसा वर्ग जो रक्त और वर्ण में भारतीय हों, परन्तु रुचि-विचार, नैतिकता और बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज हो।" जाहिर है कि अंग्रेज ऐसा वर्ग तैयार करने में सफल हुए। भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाने से भारत की जो हानि हुई

उसका असली परिणाम आका नहीं जा सकता। मैकाले का जादू-अंग्रेजी-भारतीयों के सिर पर चढ़कर अब भी बोल रहा है।

अंग्रेजी पढ़कर कलकत्ते के हिन्दू कालेज से निकला हुआ नवयुवकों का पूरा का पूरा दल एकदम बहक गया और हिन्दुत्व की निन्दा उसी प्रकार करने लगा जिस प्रकार से ईसाई मिशन कर रहे थे। अपने पूर्वजों के धार्मिक और नैतिक रिक्थों पर उनकी कोई श्रद्धा नहीं रह गयी थी। उनका निश्चित मत हो गया कि पुराण की कथाएं गप्पों के अंबार हैं और यज्ञोपवीत, कंठी–माला और शिखा यह फालतू चीजें हैं। इस नई शिक्षा के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है—"जो नवजवान कुछ अधिक जोशीले थे, उन्होंने कसकर मदिरापान करना आरम्भ किया। इनसे भी अधिक उन्मत्त युवक बीसियो प्रकार अपने बाप-दादों को चिढ़ाने लगे, और मंदिरों में गो-मांस अथवा गाय की हड्डी फेंक देना आम बात हो गई। इस स्थिति पर विलाप करते हुये स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि बच्चा जब भी पढ़ने को स्कूल भेजा जाता है, पहली बात वह यह सीखता है कि उसका बाप बेवकूफ है, दूसरी बात यह कि उसका दादा दीवाना है, तीसरी बात यह कि उसके सभी गुरु पाखण्डी हैं और चौथी बात यह कि सारे के सारे धर्मग्रंथ झूठे और बेकार हैं।" विवेकानन्द के धुंआधार व्याख्यानों का आरम्भ भारतेन्दु की मृत्यु के नौ वर्ष बाद हुआ था, लेकिन नई शिक्षा के दुष्परिणामों को काशी के हरिश्चन्द्र ने लगभग इसी भाषा में चित्रित किया था। नई शिक्षा के संपर्क से भारतीय नवयुवकों में कैसे शील का विकास हो रहा था, यह भारतेन्दु की मुकरी में देखिये—

सब गुरुजन को बुरो बतावै।
अपनी खिचड़ी अलग पकावै।
भीतर तत्त्व न झूठी तेजी।
क्यों सखि सज्जन, नहिं अंगरेजी।।

अंग्रेजी शिक्षा की असलियत है—"भीतर तत्त्व न झूठी तेजी"—इनकी जबान कैंची की तरह ज्यादा चलती है लेकिन आता-जाता कुछ नहीं है।

इस अंग्रेजी शिक्षानीति का विरोध भारतेन्दु जीवनपर्यन्त करते रहे। 30 दिसम्बर 1872 की "कविवचन सुधा" में भारतेन्दु ने अंग्रेजी शिक्षा की त्रुटियों को रेखांकित करते हुए लिखा था—"अंग्रेजी लोग केवल हम लोगों को उसी शिक्षा का उपदेश करते हैं, जिसमें किसी प्रकार की शिल्पादि की कोई कला न हो, केवल पण्डित मात्र बन जाए।" उन्होंने बताया है कि अंग्रेज यह नहीं चाहते कि यहाँ के लोग कौशल सीखें क्योंकि अगर वे भी अंग्रेजों की तरह चीजें बनाने लगें तो—"अंग्रेजों का वह महात्म्य जाता रहेगा और अब अंग्रेजों की जिन वस्तुओं को आश्चर्य से देखते हैं, तुच्छ समझेंगे।" इसके सिवा अंग्रेज डरते भी हैं कि यहाँ के लोग निडर हो जायेंगे क्योंकि "कला में युद्ध, विद्या और शस्त्र निर्माण भी तो हैं।" पुनः अपने किसी दूसरे निबन्ध में नई शिक्षा नीति

का पर्दाफाश करते हुये भारतेन्दु लिखते हैं—"अंग्रेजों ने हम लोगों को विद्यामृत पिलाया और इससे हमारे देश-बन्धुओं को बहुत लाभ हुये। इसे हम लोग अमान्य नहीं करते, परन्तु उन्हीं के कहने के अनुसार हिन्दुस्तान की वृद्धि का समय आने वाला हो, सो तो एक तरफ रहा, पर प्रतिदिन मूर्खता, दुर्भिक्षता और दैन्य प्राप्त होता रहता है। अंग्रेजों ने उनको अपनी विद्या की रूचि लगा कर राजनीति में उनके चित्त को आकर्षण किया और सच्ची विद्या उन्हें न दिया, और यही कारण है कि हम लोग इनकी माया से मोहित हो गए, और हम लोगों को अपनी हानि दृष्टि न पड़ी।" नई शिक्षा के प्रति यह मोहभंग भारतेन्दु में स्पष्ट है—"अब अंग्रेजी माया, छल और घात दृष्टि में आने लगा है, क्योंकि हम लोगों को केवल अंग्रेजी भाषा प्राप्त हुई परन्तु कला-कौशल के विषय में हम लोग भाँति-भाँति अज्ञान-सागर में निमग्न हुये हैं, इसमें संदेह नहीं।" अंग्रेजी का लक्ष्य इस देश में आर्थिक शोषण करना था। नई शिक्षा का लक्ष्य भारतीयों को शिल्प और कौशल के क्षेत्र में पंगु बनाना था। इस दोहरी कूटनीति का पर्दाफाश करते हुए भारतेन्दु लिखते हैं—"इन्होंने ॥ अंग्रेजों ने ॥ हमारे धन-धान्य की वृद्धि में कोई उपाय नहीं किया और केवल अपनी भाषा सिखाया और सब व्यापार और धन सब अपने हस्तगत किया। क्या यह खेद की बात नहीं है कि हम को कला, कौशल से विमुख रखा और स्वतः व्यापारी बनकर सब देश भर का धन और धान्य अपने देश में ले गए।" इस प्रकार भारतेन्दु नई शिक्षा को पूरी तरह नकार देते हैं, वे उस शिक्षा की प्रशंसा नहीं कर सकते थे, जिस शिक्षा ने ऐसे नवयुवकों को तैयार किया था, जो मन से अंग्रेजों की संतान हो गये थे, किन्तु सामाजिक दृष्टि से वे किसी समाज के सदस्य नहीं थे। इन नवयुवकों के विचार और व्यवहार से सारा हिन्दू समाज दुखी हो उठा था और वे हिन्दुत्व के सबसे बड़े शत्रु माने जाने लगे। पर्सीवल ने "लैण्ड ऑफ द वेदाज" नामक पुस्तक में उस समय के एक समाचार पत्र का एक उद्धरण दिया है जिसमें संपादक ने कहा था—"क्या हिन्दू कालेज में एक ढंग के मनुष्यो की नींव नहीं रखी जा रही है, हिन्दू कालेज से समाज की धार्मिक भावनाओं को जैसी गहरी ठेस पहुंची है, क्या उसका शतांश भी मिशनरियों के आंदोलनों से पहुंची थी।"

बुद्धिजीवियों की नपुंसकता :

औद्योगिक क्रांति के बाद शिक्षित मध्य वर्ग का जन्म 19 वीं सदी के उत्तरार्ध के भारतीय समाज की सबसे बड़ी घटना है। यह वह सामाजिक और आर्थिक इकाई थी जिसमें नई सामाजिक चेतना के प्रस्फुटन और विकास की संभावनाएँ थीं। इस वर्ग का अस्तित्व विदेशी शासन द्वारा लाये गये प्रभावों के फलस्वरूप संभव हुआ था। इसलिये इस वर्ग की चेतना का मुख्यांश ऐसा था जो अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञता से भरा हुआ था। "भारत दुर्दशा" के पाँचवें अंक में भारतेन्दु अंगेजी राज में पनपे बुद्धिजीवियों का मखौल उड़ाते हैं। एडिटर और कवि सभी क्लीव हैं। एडिटर कहता है—"एज्युकेशन की एक

सेना बनाई जाए। कमेटी की फौज, अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जाएँ।" और कवि "भारत दुर्दैव" से अपनी रक्षा का उपाय बतलाते हुये कहता है कि—"सब हिन्दू मात्र अपना फैशन छोड़कर कोट-पतलून इत्यादि पहनें, जिसमें जब दुर्दैव की फौज आवे तो हम लोगों को युरोपियन जानकर छोड़ दें।" भारतेन्दु कहीं इन पंक्तियों में बंगला के विख्यात कवि माइकेल मधुसूदन दत्त को तो नहीं बना रहे हैं जो अपना धर्म छोड़कर क्रिस्तान बन गये थे। उसी प्रसंग में एक बंगाली बंगला भाषा में रचित "भारत उद्धार" नामक नाटक में बताये गये अंग्रेजों को निकाल देने का उपाय बतलाता है। वह उपाय यूँ है—"पाँच जन बंगाली मिल के-अंग्रेजों को निकाल देगा। उसमें एक तो पिसान लेकर स्वेज का नहर फाट देगा, दूसरा बाँस काट-काट के टिवरी नामक जल-यंत्र विशेष बना लेगा। तीसरा उस जल-यन्त्र से अंग्रेजों की आँख में धूल और पानी डालेगा।"

जनता से विच्छिन्न नई नस्ल के बुद्धिजीवियों का यह बेमिसाल चित्र है। सामंती संस्कार की छाया में ये बुद्धिजीवी गढ़े गये हैं। "भारत दुर्दशा" में भारतेन्दु लिखते हैं"—भई, जाति में ब्राह्मण, धर्म में वैरागी, रोजगार में सूद और दिल्लगी में गप्प सबसे अच्छी। घर बैठे जन्म बिताना, न कहीं जाना और न कहीं आना, सब खाना, हगना, मूतना, सोना, बात बनाना, ताना मारना और मस्त रहना।" यह है 19 वीं सदी के बुद्धिजीवियों की जीवनचर्या। भारतेन्दु कायरता की विडम्बना प्रस्तुत करते हुये लिखते हैं—'छी : छी : जाओगे तो भीख माँग खाओगे. प्राण देना तो कायरों का काम है। क्या हुआ जो धन-मान सब गया। एक जिन्दगी हजार नियामत।" यही बात कभी तुलसीदास ने यों कही थी—"सर्वस पाई भोग करि नाना। समर भूमि भा दुर्लभ प्राना।"

स्वत्व निज भारत गहै :

भारतेन्दु की मानसिकता का विकास उस समय हो रहा था, जब यूरोप की सभ्यता एवं संस्कृति का इस देश के नये बाबू वर्ग पर बहुत प्रभाव पड़ रहा था। लोगों के रहन-सहन, मानसिकता, शिक्षा, जीवन-पद्धति सब पर उसका प्रभाव पड़ने लग गया था। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर निकलने वाले नवयुवकों की मनोवृत्ति पराजितों की मनोवृत्ति हो गई थी और हर बात में ये ईसाइयत की नकल करने लगे थे। अंग्रेज इस देश में मुख्यत: व्यापार करने के लिये आये थे और साम्राज्य की स्थापना उन्होंने फोकट में कर ली। 1857 का गदर राजनीतिक दृष्टि से भारतीय स्वाधीनता के लिये संघर्ष था, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से यह यूरोप और ईसाइयत के अवांछनीय प्रभाव से संघर्ष के लिये हुआ था। भारतेन्दु का साहित्य 1857 की गदर से प्रभावित है। भारतेन्दु ने गदर के बारे में लिखा था—

कठिन सिपाहीद्रोह अमल जा जल बल वासी।
जिन भय सिर न हिलाय सकत कहुँ भारतवासी॥

भारतेन्दु स्पष्ट कहते हैं कि अंग्रेजों के डर के मारे यहाँ के लोग सिर भी नहीं हिला सकते थे। सिपाही–विद्रोह आग के समान फैला था जिसे अंग्रेजों ने अपनी शक्ति से नष्ट कर दिया था। यदि यह अंग्रेजों की प्रशंसा है तो हमें लाक्षणिक भाषा का अर्थ नये सिरे से सीखना चाहिये।

असल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उन सब मूल्यों का प्रतिफलन हैं जिनके लिये गदर हुई थी। गदर के नेताओं ने भारतीय व्यापार और उद्योग-धन्धों के विनाश की जो बात कही थी, गदर के नेताओं ने जो इश्तहार जारी किया था उनमें व्यापारियों से कहा गया था कि अंग्रेजों ने नील, कपड़ा और जहाजों से भेजी जाने वाली अन्य वस्तुओं के व्यापार पर इजारा कायम किया है, चुंगी वगैरह के जरिये वे व्यापारियों पर भारी टैक्स लगाते है। स्वाधीनता संग्राम के विद्रोही अंग्रेजों की आर्थिक नीति से परिचित थे। हिन्दुस्तान की जनता इस स्थिति में नहीं थी की बड़े पैमाने पर विदेशी माल खरीदे। ब्रिटेन ने अपने यहाँ भारतीय माल पर भारी टैक्स लगाया और भारत में ब्रिटिश माल पर पूरी छूट दी। इसी पृष्ठभूमि में भारतेन्दु के विद्रोही साहित्य की रचना हुई।

इसी संदर्भ में भारतेन्दु "स्वत्व-निज भारत गहै', का नारा देते हैं। आधुनिकता का जो रूप अंग्रेजों के द्वारा भारत में प्रवेश कर रहा था, भारतेन्दु उसे अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। व्याजस्तुति की भाषा में अंग्रेजों की निन्दा करते हुए वे लिखते हैं--"तुम इन्द्र हो—तुम्हारी सेना वज्र है, तुम चन्द्र हो–इन्कम टैक्स तुम्हरा कलंक है, तुम वायु हो—रेल तुम्हारी गति है, तुम वरुण हो—जल में तुम्हारा राज्य है, अतएव हे अंग्रेज ! हम तुमको प्रणाम करते हैं।" 1860 के आसपास गांगुली नामक एक बंगाली ब्राह्मण क्रिस्तान हो गया था और वह धर्म प्रचारक बन गया था। उस समय उसने लिखा कि "ईसाई धर्म के विषय में हिन्दुओं का यह ख्याल है कि ईसाई होने के लिये यह आवश्यक है कि आदमी पहले अपने माता-पिता से दुर्व्यवहार करे, गाय और सुअर का मांस खाए तथा मदिरा का पान करे। यह भी कि ईसाई होने की दूसरी शर्त यह कि आदमी भी जानवरों के समान खाने के बाद मुँह नहीं धोए और उन सारी चीजों से घृणा करे जो हिन्दुत्व से सम्बद्ध हैं, चाहे वे सुन्दर और उपयोगी ही क्यों न हों।" उस समय विलायत से लौटकर आने वाले युवक अपने पिता को प्रणाम करने में शर्माते थे और अगर वे अपने साथ मेम लाते तो माँ-बाप को छोड़कर अलग रहने लगते थे। "अंग्रेज स्तोत्र" में भारतेन्दु इन सारी चीजों पर आक्रमण करते हैं। अंग्रेज-स्तुति का यह रूप सुनिए—

"हे सौम्य ! हम वही कहेंगे जो तुमको अभिमत है, हम बूट पतलून पहिरेंगे, नाक पर चश्मा देंगे, कांटा और चिमिचे से टिबिल पर खायेंगे, तुम हम पर प्रसन्न हो, हम तुमको प्रणाम करते हैं ॥ 20 ॥"

"हे मिष्टाभाषिण ! हम मातृभाषा त्याग करके तुम्हारी भाषा बोलेंगे, पैतृक धर्म छोड़ के बाह्य धर्मावलम्ब करेंगे, बाबू नाम छोड़कर मिस्टर नाम लिखवायेंगे, तुम हम पर प्रसन्न हो हम तुमको प्रणाम करते हैं ।। 22 ।।"

भारतेन्दु इस प्रकार के आधुनिकीकरण का विरोध कर रहे थे। हर ईमानदार व्यक्ति की तरह वे प्रतिपक्ष में खड़े हो जाते हैं। कुछ साम्राज्यवादी और कुछ देशभक्त इतिहासकारों ने भी भारत के आधुनिकीकरण के लिए अंग्रेजी राज की बहुत प्रशंसा की। उन्होंने भारत के औद्योगीकरण के लिए, रेल-तार आदि चलाने के लिए, अंग्रेजों की बहुत प्रशंसा की है। कार्ल मार्क्स ने भी लिखा था कि अंग्रेजों ने अर्धबर्बर जाति को सभ्य बनाया। भारतेन्दु इन सारी बातों से असहमत हैं। उन्होंने नौ मार्च अठारह सौ चौहत्तर ई० की 'कविवचन सुधा' में लिखा था—"सरकारी पक्ष का कहना है कि हिन्दुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था, यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिन्दुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी न रहा। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कम्पनी वाले जो द्रव्य व्यय किया है उसका व्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।" अंग्रेजी राज्य में भारत की बढ़ती हुई दरिद्रता का उल्लेख करते हुए भारतेन्दु ने लिखा—"कपड़ा बनाने वाले सूत निकालने वाले, खेती करने वाले आदि सब भीख मांगते हैं—खेती करने वालों की यह दशा है कि लँगोटी लगाकर हाथ में तूंवा ले भीख मांगते हैं और जो निरुद्यम हैं उनको तो अन्य की भ्रांति है।" इस प्रकार अंग्रेजी राज ने भारत को पूर्णतः दरिद्र बना दिया। आर्थिक शोषण और बुरे शासन के कारण अकाल पर अकाल पड़ने लगे। अकाल और अंग्रेजी राज के घनिष्ठ सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए भारतेन्दु ने 18 मई 1874 की 'कवि वचन सुधा' में लिखा—"अब तो प्रतिवर्ष में कहीं न कहीं दुष्काल पड़ा ही रहता है, मुख्य करके अंग्रेजी राज में इसका घर है और बहुधा ऐसा सुनने में आया है कि विसूचिका का रोग जो अब सम्पूर्ण भारतखण्ड में छा रहा है अंग्रेजों के राज के आरम्भ से इसका प्रारम्भ हुआ है।" यह अंग्रेजी राज की असलियत है।

अंग्रेज निर्धन और समृद्ध का विवेक किए बिना अंधाधुंध टैक्स लगाए जा रहे थे। वे टैक्स के जरिए भारतीय जनता को लूट रहे थे। अंग्रेज हाकिम भारतीयों के हितचिंतक नहीं थे। उनके रवैए पर प्रकाश डालते हुए भारतेन्दु ने लिखा—"हाकिमों को कुछ तो सरकारी काम घेरे रहता है, कुछ बॉल, घुड़दौड़, थिएटर, अखबार में समय गया। कुछ बचा भी तो उनको क्या गरज है कि हम गरीब गंदे काले आदमियों से मिलकर अथवा अनमोल समय खोवें। बस वही मसल हुई—"तुम्हें गैरों से कब फुरसत हम अपने गम से कब खाली, चलो बस हो चुका मिलना न हम खाली, न तुम खाली।" इसी अनीति-

मूलक शासन-व्यवस्था के विरोध में भारतेन्दु की विद्रोही चेतना का निर्माण हुआ। अंग्रेजों ने सामन्तों से गठजोड़ की थी : 1858 ई० में महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र इसी गठजोड़ का परिणाम है। इन दोनों के शोषण चक्र के नीचे पिसती हुई भारतीय जनता है। इस राजनीतिक तथ्य को जिन्दादिल लेखक हरिश्चन्द्र ने इस ढंग से प्रकट किया—"तीन मेंढक एक के ऊपर एक बैठे हैं। ऊपर वाले ने कहा—जोक शोक, बीचवाला गुमसुम, सबके नीचे वाला पुकारा गए हम। सो हिन्दुस्तान की साधारण प्रजा की दशा यही है गए हम।" अंग्रेजों ने जिस आधुनिकीकरण का आरम्भ किया था, वह एक प्रकार की पैरासाइट वृत्ति था। एक ओर भाप के इंजन, रेल, तार आदि का आरम्भ हो रहा था, अखबार छप रहे थे, युनिवर्सिटियों से निकले हुए नवयुवक शेली की कविता और जॉन स्टुअर्ट मिल के विचारों पर बहस कर रहे थे, दूसरी ओर जनता भूखों मर रही थी। भारतेन्दु युग का लेखक बार-बार टिक्कस की आफत की चर्चा करता है। घोर निर्धनता पर आरुढ़ आधुनिकीकरण पर कसी गई यह फब्ती है। 'अंधेर नगरी' इसी राज में होने वाले अन्धेर को अभिव्यञ्जित करने वाला प्रतीक नाटक है। 'अन्धेर नगरी' में—

अन्धाधुंध मच्चौं सब देसा,
मानहु राजा रहत बिदेसा।

यह उक्ति विक्टोरिया के लिए है। भारतेन्दु का यह नाटक अंग्रेजी राज की मूर्खता और बेईमानी की कलात्मक अभिव्यंजना है। इसलिए भारतेन्दु मुसलमानी राज से अंग्रेजी राज की तुलना करते हुए 'बादशाह दर्पण' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—"मुसलमानी राज्य हैजे का रोग है, और अंग्रेजी राज क्षयी का।"

स्वदेशी का आन्दोलन :

अंगरेजी राज की बनिया व्यवस्था और तज्जन्य शोषण से संघर्ष करने के लिए भारतेन्दु ने स्वदेशी का आन्दोलन चलाया था। "स्वत्व निज भारत गहे" की सूक्ति इसी सन्दर्भ में सार्थक होती है। भारतेन्दु को परदेशी प्रीतम पर भरोसा नहीं था, इसलिए वे स्वदेशी का आन्दोलन चलाते हैं, उन्होंने साफ लिखा—"परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत रखो। इसी के द्वारा भारत को अपने स्वत्व की प्राप्ति हो सकती है।" उन्होंने स्वदेशी के व्यवहार के लिए प्रतिज्ञापत्र लिखा था और उस पर बहुत लोगों से हस्ताक्षर लिए थे। 23 मार्च 1874 ई० की कवि वचन सुधा में प्रकाशित यह प्रतिज्ञापत्र इस प्रकार है—"हम लोग सर्वातिशयी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम

लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे और जो कपड़ा कि पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की तिथि तक हमारे पास है, उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भांति का भी विलायती कपड़ा न पहिनेंगे, हिन्दुस्तान ही का बना कपड़ा पहिनेंगे, हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देशी हितैषी इस उपाय के वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।" स्वदेशी आन्दोलन का और भी जोरदार आह्वान करते हुए भारतेन्दु ने लिखा—'भाइयों ! अब तो सम्बद्ध हो जाओ और ताल ठोंक कर इनके सामने खड़े तो हो जाओ, देखो भारतवर्ष का धन जिसमें जाने न जाने पावे वह उपाय करो।" बाद में इसी स्वदेशी के आन्दोलन को गांधी जी ने विराट जनवादी रूप प्रदान किया। गांधीजी के दृष्टिकोण और भारतेन्दु के दृष्टिकोण की तुलना करते हुए प्रसंगात् डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि "भारतेन्दु और गांधीजी में यह अन्तर था कि गांधी जी मशीनों के चलन और उद्योग-धन्धों के विकास का विरोध करते थे, भारतेन्दु का प्रचार यह था कि बाहर से तैयार माल नहीं, मशीनें मंगाई जांए, अंग्रेजों ने यहां के लोगों को औद्योगिक कौशल से पिछड़ा रखा है, उन्हें अपना पिछड़ापन दूर करना चाहिए और देश का औद्योगिक विकास करना चाहिए। इस तरह गांधीजी की तुलना में भारतेन्दु का दृष्टिकोण ज्यादा आधुनिक था।"

इस प्रकार भारतेन्दु ने जिस आधुनिक बोध का प्रवर्त्तन किया, उसका सम्बन्ध "सत्व निज भारत गहै" से है। उनकी इस आधुनिकता पर टिप्पणी करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है—"जिस प्रकार बात-बात में बाप दादों की दुहाई देने वाले, धर्म के आडम्बर की आड़ में दुराचार छिपाने वाले पुराने खुसट उनके विनोद के लक्ष्य थे, उसी प्रकार पच्छिमी चालढाल की ओर मुंह के बल गिरने वाले फैशन के गुलाम भी।' भारतेन्दु गांधीजी की तरह सत्याग्रह वाली नीति के समर्थक नहीं थे। सत्य हरिश्चन्द्र" के लेखक में सत्य का आग्रह किसी से भी कम नहीं था, लेकिन सत्य की उपलब्धि के लिए वे संघर्ष के हिमायती थे। रेल-तार-डाक आदि के वे विरोधी नहीं थे। मशीनों के चलन और उद्योग-धन्धों का भी वे विरोध नहीं कर रहे थे। किन्तु उनकी नीति यह थी कि बाहर से तैयार माल नहीं, बल्कि मशीनें मंगाई जांय। इस प्रकार भारतेन्दु उस नए भारतीय बनिया वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद से स्वतन्त्र होकर देश का औद्योगिक विकास करना चाहता था। उस समय के सन्दर्भ में यह बहुत ही प्रगतिशील बात है। भारतेन्दु इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष का आह्वान करते हैं। बलिया के अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में उन्होंने जुझारू भाषा में कहा—"हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवें, तो जिस क्रोध से उसको पकड़कर

मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी उस का सत्यानाश करोगे। उसी तरह इस समय जो-जो बातें तुम्हारे उन्नति-पथ में कांटा हों, उनकी जड़ खोद कर फेंक दो।" आधुनिकता जागरुकता का ही दूसरा नाम है। मध्यकाल में इस जागरुकता का अभाव था इसलिए उसकी समय-चेतना चाक्रिक है न कि विकसनशील और रैखिक। चूंकि भारतेन्दु जागरुक हैं, इसलिए उनमें संघर्ष-बोध भी है। वे पहले हिन्दी लेखक हैं, जिन्होंने मिथकीय काल से निकलकर ऐतिहासिक काल में प्रवेश किया। इसी कारण वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवर्तक बन सके।

आधुनिकता और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

मैथिली प्रसाद भारद्वाज

भारतेन्दु युग : भौतिक सन्दर्भ

भारतेन्दु काल संक्रमण-काल था। यह भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था, मूल्यदृष्टि, मत-मजहब और संस्कृति की चरम ह्रास तथा अवनति की अवस्था का यूरोप की गतिशील, जीवन्त और सचेष्ट जातियों के साथ साक्षात्कार का युग था। मुख्य रूप में यह जड़ता और ह्रास के चरम ध्रुवान्त को छूने वाली भारतीय ग्राम व्यवस्था का पश्चिमोत्तर यूरोप की विकसनशील नगर-व्यवस्था के साथ टकराव का समय था। यह याद रखना आवश्यक है कि भारत में नगर-व्यवस्था का आरम्भ हड़प्पा और मोहंजोदड़ों से काशी-अयोध्या, पाटलिपुत्र से होते हुए जयपुर, दिल्ली, लाहौर तक हो चुका था। पर नगर-विकास के इन चरणों को वस्तुतः कृषि-प्रधान, कृषि-निर्भर समाज-व्यवस्था का सरल विस्तार भाव कहा जा सकता है।

विश्व नगरीकरण का तृतीय उत्थान तथा वास्तविक नगरीकरण पश्चिमी यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही शुरू हुआ, जब धीरे-धीरे नगर-विकास के विश्व भर के इससे पहले के सब प्रयासों की सीमाओं और अक्षमताओं पर विजय प्राप्त कर ली गई। परिवहन, यातायात और संसार के गतिशील, व्यवस्थित तथा उन्नत साधनों ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण प्रदेशों, देशों और यहां तक कि विश्व भर को संचरण-क्षेत्र और अन्तर्देश बना दिया तथा रेल-यातायात ने, सड़क-यातायात तथा तार आदि के विकास ने इस नवीन क्रान्ति को सम्भव बनाया। विश्व भर मण्डी बनता गया और नगर मुख्य उत्पादन-केन्द्र। उद्योग, यान्त्रिकी, यहां तक कि कृषि-विकास सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान और यान्त्रिकी का विकास भी इन नगरों में बौद्धिक-जन द्वारा सम्भव हुआ है। कृषि-उपज इस नगर-विकास के कारण ही बढ़ती गई। कम-से-कम श्रम से अधिकाधिक कृषि-उपज ने, कृषक की अपनी मांग से बहुत अधिक उत्पादन ने, तथा अपनी कृषि सम्बन्धी अतिरिक्त उपज के बदले नगरों में बनी दैनंदिन उपयोग की अधिकाधिक सामग्री की सुलभता ने नगर-विकास के बांध ही खोल दिए।[1] जहां अठारहवीं शती तक एक-दो प्रतिशत ही लोग नगरों में रहते थे, वहां 1960 तक विश्व भर में 30 से साठ प्रतिशत तक लोग नगरों में रह रहे थे।[2] ज्ञान-विज्ञान, तकनीक-उद्योग और नगर-विकास की वर्तमान सम्भावनाओं के आधार पर शीघ्र ही विश्व के शत-प्रतिशत नगरीकृत हो जाने की अपेक्षा की जा रही है।[3] और यह नगर-विकास अब केवल पश्चिमी देशों तक सीमित न रहकर एशिया-अफ्रीका के देशों

का भी समान जीवन-मूल्य बन चुका है। आज ऐसे अनेक देशों का नगरीकरण का वृद्धि-दर पश्चिम की अपेक्षा अधिक गतिशील हो चुका है और यह स्वीकार किया जा चुका है कि इनके आर्थिक विकास, सामाजिक उन्नति तथा सर्वांगीण विकास का कठिन और कठोर मार्ग नगरीकरण के साथ अनिवार्य रूप में जुड़ा हुआ है।[4]

आधुनिकबोध : बौद्धिक-सामाजिक संदर्भ

नगरबोध और आधुनिकता बोध को एक दूसरे का पर्याय कहा जा सकता है। मध्यकालीनता के आधुनिकता से संक्रमण की प्रक्रिया ग्राम-व्यवस्था से नगर-व्यवस्था के संक्रमण से अविच्छिन्न है। आधुनिकता-बोध को वैज्ञानिक दृष्टि और कार्य-कारण-बोध के रूप में अभिहित किया जाता है। यह बोध क्लासिकी तथा मध्यकालीन आदर्शों, आस्थाओं, सम्बन्धों और मान्यताओं के सामने प्रश्न-चिन्ह लगा देता है। आधुनिक-बोध मानव को अनेकविध धार्मिक, कर्मकाण्डी तथा सामन्ती विधि-निषेधों से मुक्त कर देता है। मत-मजहब और संस्कृति सम्बन्धी सीमित क्षेत्रीय वृत्तों की परिधि को लाँघकर मानव प्रथम बार समता की मानवतावादी दृष्टि और अन्तर्राष्ट्रीय चेतना से साक्षात्कार करता है। अन्धविश्वास से हटकर विशुद्ध व्यावहारिक तथा उपयोगितावादी दृष्टिकोण विकसित होता है। आधुनिक मानव को अपनी सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक संस्थाओं को प्रभावित व परिवर्तित करने की क्षमता तथा आस्था ज्ञात मानवीय इतिहास में प्रथम बार प्राप्त होती है। यह आस्था प्रकट की जाती है कि मानव के इस मुक्त जीवन तथा आधुनिक भविष्य की गारंटी केवल बृहत्तर नगरीकरण की चुनौती का स्वीकार ही हो सकती है।[5]

इस सैद्धान्तिक पृष्ठपीठिका में विचार करने पर भारतेन्दु-युग इस भारतीय नगरीकरण एवं परिणामित आधुनिकता-बोध का उद्‌भव बिन्दु स्पष्ट रूप में रेखांकित होता है। यह भी स्पष्ट है कि इसकी सम्पूर्ण संभावनायें स्पष्ट न होने पर भी भारतेन्दु हिन्दी प्रदेश की समग्र विकसनशील आधुनिक नगरीय चेतना को सबलतम प्रतिनिधित्व और अभिव्यक्ति अपने जीवन, क्रियाकलाप तथा रचनाओं के माध्यम से प्रदान करते हैं।

भारतेन्दु युग : संक्रमण-द्वन्द्व

भारतेन्दु का उद्‌भव-काल 1857 के भारतीय विद्रोह के आस-पास का काल था। आर्थिक दुरवस्था, कर-भार आदि से देश त्रस्त हो रहा था। अंग्रेज जाति के साथ सम्पर्क के परिणामस्वरूप भारत में सबसे बड़ा परिवर्तन अर्थतन्त्र के क्षेत्र में आया। नवीन साम्राज्यवाद की स्थापना हुई। साम्राज्य-विस्तार के परिणामस्वरूप नई मण्डियों की होड़ में ही पश्चिमी जातियां भारत तथा अन्य एशियाई-अफ्रीकी देशों की ओर आकृष्ट हुई थीं। तब तक भारत अपने मध्यकालीन ग्राम्य तथा कृषि आधारित अर्थ-तन्त्र के सन्दर्भ में उद्योग-धन्धों आदि की दृष्टि से भी काफी उन्नत और विकसित था। परन्तु नवीन

पूंजीवादी, औद्योगिक, यान्त्रिक तथा नगरीय अर्थव्यवस्था और समाज-व्यवस्था ने मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को अव्यवहार्य और अप्रासंगिक बनाकर पूरी तरह नष्ट कर दिया। भारतीय सन्दर्भ में अंगरेजों की अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए विकसित नई पूंजीवादी व्यवस्था यहां भी नवीन नगरीय एवं सामाजिक व्यवस्था के विकास का कारण बनती है।[6]

सस्ते विदेशी माल ने भारतीय उद्योग को समाप्त कर दिया। हमारे कुशल कारीगर मजदूर बनते गए। क्रयशक्ति का विनाश और उपभोक्ता सामग्री की बाजारों में प्रचुरता दोहरीभार के कारण बनते हैं। नौकरियों का अभाव, शासन की जन-सामान्य से दूरी और आतंक समाज में विशेष अंधकार और निराशा की स्थितियों का सृजन करने लगे। दूसरी ओर शासन में स्थिरता, शिक्षा, संचार और यातायात के साधनों का विकास, शासन की वैधता और शासन की ओर से बरती जाने वाली धार्मिक-सामाजिक सहिष्णुता एवं हस्तक्षेप का अभाव एक विशेष प्रकार की सामाजिक सजगता के कारण भी बने। नगर समाज में इसी परिवेश में प्राचीन के प्रति आकर्षण के साथ-साथ नवीन प्रगति की इच्छा और आकांक्षा का प्रादुर्भाव हुआ। विनाश की इसी भूमि पर नवीन आधुनिक विकास के अंकुर फूटने लगे। भारतीय ग्राम-संगठन और ग्राम- केन्द्रित व्यवस्था के विनाश के कारण देश में जो नगरीकरण की नई भूमिका बनीं, वही, आने वाले कल के लिए केन्द्रीय मूल्य तथा हर प्रकार के आधुनिक विकास की धुरी बनी।

युगीन परिस्थितियाँ और संक्रमण नेतृत्व :

भारतेन्दु का काल (1850 ई० से 1885 ई० तक) आधुनिक हिन्दी साहित्य का जन्मकाल था तथा भारतेन्दु सुनिश्चित इसके जन्मदाता थे। वह नवोत्थान के प्रतीक थे। शिक्षित, धनिक वर्ग में जन्म और वंशगत आभिजात्य प्रभाव के परिणामस्वरूप पुरातन के प्रति कुछ मोह स्वाभाविक था, पर सामान्यतः वह प्रगतिपूर्ण विचारों से सम्पन्न व्यक्ति थे, जिनमें देश-प्रेम, साहित्यप्रेम, भाषा-प्रेम और ईश्वर-प्रेम के श्रेष्ठ-भावों का सुन्दर सामंजस्य लक्षित होता है। वह कालद्रष्टा पुरुष थे। अतीत के प्रति श्रद्धा होते हुये भी उनकी कालगति की पहचान बहुत सूक्ष्म थी। वह यह समझ चुके थे कि भले ही अंग्रेजों ने भारत की स्वाधीनता का अपहरण किया है और आर्थिक शोषण किया है, तो भी भविष्य में उन्नति करने और जीवन में सुधार उपस्थित करने के लिये भारतवासियों को अंग्रेजों से बहुत सी बातें सीखनी होंगी, विशेषत : ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में।[7]

भारतेन्दु का आविर्भाव काल मध्ययुगीन पौराणिक-जीवन में लिप्त था और पतित था। नवीन ऐतिहासिक कारणों से विशेषतः नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप हिन्दी प्रदेश में नवयुग की अवतारणा हुई और लेखकों में विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नवयुग के अग्रदूत और हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के

जन्मदाता थे। उनकी रचनाएँ देश-प्रेम से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज की सर्वतोमुखी अधोगति का हृदयविदारक चित्र अंकित किया और भावी उज्ज्वल भविष्य का स्वर्णिम स्वप्न देखा। भारतवासियों की परस्पर फूट, वैमनस्य और अभारतीयता उन्हें बहुत खटकती थी। परन्तु अंग्रेज राज्य में प्राप्त धार्मिक स्वतन्त्रता और पूर्व काल में व्याप्त विविध प्रकार के अत्याचारों और दिनरात की अशान्ति से छुटकारा पाकर उन्होंने परमसुख और शांति का अनुभव किया और इसलिये अंग्रेजी-राज्य का गुणगान भी किया। सुख-शांति के साथ-साथ वैज्ञानिक साधनों के सुखोपभोग, वैध शासन, सुन्दर न्याय पद्धति आदि के फलस्वरूप भारतेन्दु ने 'ब्रिटिश सुशासित भूमि में आनन्द उमगे जात' कह कर अपने भाव प्रकट किये।[8]

भारतीय नवजागरण : परिस्थिति एवं परिवेश

भारतेन्दु काल में आधुनिकता एवं नगरीकरण सम्बन्धी विकास अभी अपनी शैशवावस्था में ही था, पर इसके संकेत प्रकट थे। 1757 के प्लासी युद्ध के बाद उत्तरी भारत के द्वार भी अंग्रेज कम्पनी के लिये खुलने आरम्भ हो गए थे। 1857 तक कुछ क्षेत्रों को छोड़कर देश भर पर अंग्रेजी वर्चस्व स्थापित हो चुका था। 1857 तो विद्रोही सिपाहियों तथा अवशिष्ट सामन्तों का अंग्रेजी कम्पनी सरकार को अपदस्थ करने का अन्तिम प्रयास मात्र कहा जा सकता है। पर तब तक भारत निश्चित विकास दिशा ग्रहण कर ही चुका था, जिसके भौतिक लक्षण थे—रेल-यातायात का देशव्यापी प्रसार, तार-संचार के साधनों का विकास और सड़क मार्गों का निर्माण। धीरे-धीरे इस विकास में कृषि व्यवस्था और साधनों का विकास तथा कल-कारखानों की स्थापना सम्मिलित हो गई। इस विकास के बौद्धिक लक्षण थे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विषयों की शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना, पत्र-पत्रिकाओं का विकास-प्रसार, विविध प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं की स्थापना, नगरीय मध्यवर्ग का विकास-प्रसार, कृषि तथा ग्राम्य बन्धनों से मुक्त इस मध्यवर्ग में नवचैतन्य का विकास तथा परिणामित आधुनिक-बोध का प्रसार, आदि।

भारतेन्दु : संक्रमण-नेतृत्व

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस संक्रमण युग की उपज थे। वह भारतीय सभ्यता-संस्कृति के केन्द्र—भारतीय मध्य देश के भी हृदयस्थल—काशी में पैदा हुए थे। पश्चिमी विकसनशील परम्पराओं तथा भारतीय ह्रासशील प्रवृत्तियों का भौतिक एवं वैचारिक संघर्ष उनकी शैशवावस्था में अपनी शिखरावस्था में था। इसकी भी दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ प्रत्यक्ष हो रही थीं। एक वह कछुआधर्मी प्रतिक्रिया थी, जिसमें कछुए की तरह गर्दन समेटना, या कबूतर की तरह आँखें मूँदना, अथवा 'हमारे बुजुर्ग तो सम्राट हुआ करते थे'—इस अतीतजीवी वृत्ति से चिपटे रहना और वर्तमान को नकारना ही प्रत्यक्ष हुई चुनौती का प्रत्युत्तर

था । दूसरी प्रतिक्रिया वह थी जिसमें प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति, सामर्थ्य और सम्पन्नता की चकाचौंध के सामने सम्पूर्ण आत्म-विस्थापन की सहज एवं सहर्ष स्वीकृति निहित थी । इस प्रतिक्रिया में यह मान लिया गया था कि भारत में जो कुछ भी हो चुका या हो रहा था, अतीत अथवा वर्तमान में जो कुछ भी था, सब गला-सड़ा, गर्हित और त्याज्य था । ये दोनों ही सरल मार्ग थे, सीधी प्रतिक्रियाएं थीं, पर साथ ही बहुत सीमित दृष्टिदोष की भी सूचक थीं । ऐसे समय संक्रमण-कालीन नेता की भूमिका निश्चित रूप में बहुत कठिन थी, और गम्भीर इतिहासबोध, सूक्ष्म संवेदना और दूरगामी भविष्य दृष्टि की अपेक्षा करती थी । भारतेन्दु उपर्युक्त दोनों प्रतिक्रियाओं से भिन्न तीसरा, अधिक सन्तुलित एवं देश व जाति के लिये हितकर मार्ग चुनते हैं । उनकी निम्नलिखित पंक्तियां इस समग्र चेतना का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं—

> अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
> पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ॥
> ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी ।
> दिन दिन दूनै दुख ईसै देत हा हा री ।
> सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई ।
> हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी आई ।[9]

अंग्रेजों के राज्य में भारत में जिस प्रकार की शान्ति, स्थिरता तथा सुख-सुविधा का प्रसार हुआ इससे इनकार या तो रोमानी देश भक्ति का ही परिचायक होता अथवा घोर अज्ञान का । कल्पित राम-राज्य की बात छोड़ दी जाए तो विगत हजार वर्षों के अपने इतिहास में भारत ने उस प्रकार की एकता, कानून-व्यवस्था और संवैधानिक शासन के दर्शन नहीं किये थे । मुसलिम शासन तो आक्रामक सामन्ती-निरंकुश शासन होने के साथ-साथ दमन, अत्याचार, लूट-पाट और धार्मिक असहिष्णुता का काल था ही, पर उससे पूर्व के हिन्दू राजा-महाराजा में भी कोई विशेष उल्लेखनीय प्रतीत नहीं होता । ऐसी अवस्था में अंग्रेज राज्य के भारी सुख-साज सजाने की स्वीकृति चाटुकारी न होकर यथार्थ की सहज स्वीकृति है । पर अगली ही पंक्तियों में साम्राज्यवादी शासन के शोषण को भली प्रकार रेखांकित कर दिया गया है । धन का विदेश जाना, मँहगाई तथा कर-वृद्धि दोष हैं तो सुशासन भी तथ्य हैं, और भारतेन्दु इन दोनों को सहज स्वीकृति देते हैं :

> बृटिश सुशासित भूमि में आनन्द उमगे जात ।[10]

संक्रमण-कालीन सन्तुलन के इसी गुण के कारण भारतेन्दु को अपने युग के प्रतिनिधि कवि और हिन्दी प्रान्त की तत्कालीन नवचेतना और जागृति के जाज्वल्यमान प्रतीक माना जाता है ।[11] उनकी रचनाओं में उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्ध के नवीन भारत का स्वर स्पष्ट रूप से प्रतिध्वनित है । भारतेन्दु का पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होने का तथ्य स्वीकार्य है, परन्तु साथ ही भारतीय जीवन के सुन्दर

और कल्याणकारी पक्ष को वह भूल जाना नहीं चाहते थे। वास्तव में वह पूर्व और पश्चिम के सक्रिय सामंजस्य के हामी थे।[12]

आधुनिकता : भारतेन्दु की सजगता

भारतेन्दु इस विषय में सजग थे कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार-प्रसार से भारतवासियों में आत्मचेतना जाग्रत हो रही थी। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभावान्तर्गत हो भारतीयों की आकांक्षाओं-अपेक्षाओं में वृद्धि हो रही थी तथा उन्हें नवीन राजनीतिक दृष्टि प्राप्त हो रही थी। यह तथ्य है कि परवर्ती राजनीतिक–सामाजिक आन्दोलन इसी सजगता व चैतन्य की शुभ परिणति थे।[13] पर यह भी तथ्य है कि यह प्रशंसा गुणगान तथा महत्व-स्वीकृति देश-हित की सीमाओं में बँधे थे। देशहित ही उनके लिए सर्वोपरि था। इसलिये अंग्रेज राज्य की अनीतियों का वह विरोध करते हैं, अंग्रेजों के आर्थिक शोषण, काले-गोरे भेद-भाव, अंग्रेज हाकिमों के दुर्व्यवहार आदि पर वह क्षोभ व्यक्त करते हैं। उनकी यथार्थवादी दृष्टि तथा प्रगतिशील दृष्टि के समन्वय का ही यह सुन्दर प्रमाण है कि वह देश की स्वतन्त्रता के जबरदस्त समर्थक होने पर भी भारत के अतीत के अनुभव तथा वर्तमान परिस्थितियों के यथार्थबोध में औपनिवेशिक प्रतिनिधि शासन तक की बात सोचते थे।[14] यदि उन्हें भारतवासियों का पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण और स्वदेश तथा स्वभाषा के प्रति उदासीनता असह्य थे तो देश की युगों से व्याप्त अपूर्णताओं, दोषों तथा अनीतियों के भी वह विरोधी थे। एक ओर यदि वह वल्लभ सम्प्रदाय के प्रति दृढ़ आस्थावान पुष्टिमार्गी वैष्णव थे तो दूसरी ओर उनमें धार्मिक असहिष्णुता और संकीर्णता का नितान्त अभाव था।[15] ये समन्वय तत्त्व ही भारतेन्दु के व्यक्तित्व को युग-नेता के सशक्त तत्वों से समन्वित करते हैं।

भारतेन्दु : यथार्थ बोध

भारतेन्दु के जीवन सम्बन्धी यथार्थता-बोध और प्रगतिशील दृष्टि का सुन्दर प्रमाण उनकी रचनाओं के विषय-चयन में, उनकी रचना-शैली में तथा उनकी भाषा-साहित्य सम्बन्धी समग्र दृष्टि में प्रकट है।

विषय-चयन

इस नवोत्थान युग में नवीन के प्रति आकर्षण, आस्था और विश्वास के साथ-साथ प्राचीन में जो कुछ श्रेष्ठ, प्रेरक, गौरव-गरिमा तथा वैभव-सम्पन्न हो चुका था, उनका सुन्दर समन्वय ही देश और जाति के लिए भौतिक, नैतिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक, हर दृष्टि से उपयोगी और काम्य हो सकता था। भारतेन्दु में यह दृष्टि अपने बहुत पुष्ट और स्पष्ट रूप में विद्यमान थी।[16] न तो वह प्राचीन की उपेक्षा करते हैं, न उसके

मोह में ही बँधते हैं। न तो वह नवीन का अन्धानुकरण ही करते है न तो उससे सशंकित ही होते हैं।[17]

भारतेन्दु साहित्य को नया मार्ग दिखाते हैं और उसे शिक्षित जनता, नए उभरते हुए मध्यवर्ग तथा नागर-वर्ग के साहचर्य में लाने का सफल भगीरथ प्रयास करते हैं। नई शिक्षा के प्रभाववश जनता की विचारधारा में परिवर्तन हो रहा था। जड़ मध्यकालीनता से मुक्त लोक अब देशहित, समाजहित तथा विश्व-भर के विकास व उन्नति के सम्बन्ध में सजग-सचेष्ट हो रहा था। काल की गति के साथ-साथ उनके विचार तो काफी आगे बढ़ गये थे, पर साहित्य अभी पीछे ही पड़ा हुआ था। वह अभी पुराने ढर्रे की भक्ति व शृंगार तक सीमित कविताओं के दलदल में फँसा हुआ था। भारतेन्दु साहित्य का मुख मोड़कर उसे तत्कालीन एवं भविष्य की अपेक्षाओं से पूर्ण जीवन की ओर लगा देते हैं। इस प्रकार वह साहित्य को नए से नए विषयों की ओर प्रवृत्त करके साहित्य और जीवन में व्याप्त विच्छेद को दूर करते हैं।[18]

उनकी प्राचीन विषयों सम्बन्धी रचनाओं में भक्ति, ज्ञान, देश, प्रेम, देश-गौरव तथा जाति के पुराने अवगुणों व दोषों का रेखांकन मुख्य रूप में हुआ है, तो नवीन विषयों में राजभक्ति, देशभक्ति, भाषा व साहित्य की उन्नति तथा समाज-सुधार के स्वर प्रमुख हैं। पत्र-पत्रिकाओं के विषय अधिकांशतः समकालीन समस्याओं व विकासकालीन आकांक्षाओं, अपेक्षाओं से सम्बद्ध हैं।[19]

अनूदित नाटकों की समकालीन प्रासंगिकता उनके नामकरण, विषय-चयन तथा विषय निर्वाह से ही प्रकट है। विद्या सुन्दर, पाखण्ड विडम्बन, धनंजय-विजय, कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र, भारत जननी, आदि इस नवीन दृष्टि के अच्छे उदाहरण हैं।[20]

मौलिक नाटक तो इस दृष्टि से और भी अधिक सार्थक, प्रासंगिक और प्रतिनिधि रचनायें हैं। धर्म और उपासना के नाम पर समाज में प्रचलित अनाचारों के जघन्य रूपों का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक अपने प्रथम मौलिक नाटक में वह गहरी व्यंग्य तथा कटाक्ष की शैली में पूरी तरह उदघाटन करते हैं। यह न केवल बहुत बड़ी समकालीन अवश्यकता थी, बल्कि युगीन परिस्थितियों में बहुत बड़े साहस का काम भी था।[21] सम्भवतः इसी प्रकार के प्रगतिशील तथा रूढ़िविरोधी विचारों का यह परिणाम था कि उन्हें अपने परिवार-जनों व अन्य लोगों की आलोचना तथा निन्दा का भाजन भी बनना पड़ा।[22] 'चन्द्रावली' में प्रेम का दिव्य तथा भावुक रूप चित्रित हुआ है। चन्द्रावली में कृष्ण के प्रति पूर्वराग जनित दिव्य-प्रेम, विरह, विरहोन्माद तथा मिलन के भव्य चित्रों से सम्पन्न यह रचना भक्ति, काव्य और प्रकृति का सुन्दर मिश्रण प्रस्तावित करती है।

भक्ति सम्बन्धी परम्परित रचना होने पर भी समकालीन बोध तथा लोकमंच का प्रभाव इसमें प्रकट देखा जा सकता है।[23]

'नीलदेवी' में मध्यकालीन इतिहास का आधार ग्रहण किया गया है। एक हिन्दू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई, उसकी पराजय, बन्दी अवस्था में मृत्यु तथा नीलदेवी द्वारा बदले के कथावृत्त द्वारा देशभक्ति के भावों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ नवोत्थानकालीन नारी विषयक उच्च दृष्टिकोण का इस रचना में सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।[24] निराशा की चरम अवस्था में ईश्वर के समक्ष यह करुण पुकार बहुत व्यंजक है—

'कहा करुणानिधि केसब सोए।
जागत नाहिं अनेक जतन कर भारतवासी रोए।'[25]

'विषस्य विषमौषधम' देशी रजवाड़ों की कुचक्रपूर्ण परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराता है। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व के भारतीय इतिहास के प्रति अत्याग्रह-दुराग्रह रखने वाले अतिरिक्त 'देशप्रेमियों' के लिए सम्भवतः भारतीय अवनतिकाल की यथार्थता दिखाना भी यहां लेखक का लक्ष्य रहा होगा।[26] इसी प्रकार 'प्रेमयोगिनी' में भी पाखण्डमय धार्मिक और सामाजिक जीवन की यथार्थता का उद्घाटन हुआ है।[27] 'भारत दुर्दशा' वास्तव में लेखक की संक्रमण-युगीन भावावस्था का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस रचना में प्राचीन गौरव और समकालीन दुरवस्था के परस्पर प्रत्यक्षीकरण द्वारा देशभक्ति के भावों का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत हुआ है। रचना का आरम्भ प्राचीन गौरव-गान के साथ होता है। विदेशी आक्रमण की पृष्ठभूमि में देश की दीन-हीन दशा का चित्रण हुआ है और फूट, सन्तोष, अपव्ययता, स्वार्थपरता, हठ आदि देश-विनाश के कारणों का नाटकीय विधि से प्रस्तुतिकरण हुआ है। 'भारत-दुर्दैव, द्वारा विनाश का उपक्रम तथा साथ विविध-वर्गीय भारतीय महाशयों तथा 'भारत-भाग्य' द्वारा देश को बचाने का प्रयास अप्रच्छन्न प्रतीकात्मक तो है, पर भावना की उत्कटता तथा ईमानदारी का सूचक भी भी है। आत्महत्या का आयोजन चरम निराशा की अवस्था का सूचक भी है और विदेशी शासन के प्रति तीखे क्षोभ की अभिव्यक्ति भी।[28] ऐसी अवस्था में भारतेन्दु पर अंग्रेजों के हिमायती तथा खुशामदी होने का आरोप कितना निःसार है।

'विजयिनी विजय पताका या वैजयंती' में मिस्र पर भारतीय सेना द्वारा ब्रिटिश सरकार की विजय का आख्यान हुआ है। इस काव्य में देशभक्ति और राजभक्ति का विचित्र और अद्भुत संगम प्रत्यक्ष है।[29] कुछ लोगों को यह काव्य विलक्षण लग सकता है, पर दूरदृष्टि इतिहासबोध और समकालीन प्रासंगिकता का यह सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है।[30] गर्व, क्षोभ, विषाद आदि विभिन्न संचारी भावों के प्रसंगानुकूल आयोजन द्वारा देशभक्ति की व्यंजना हुई है। मिस्र में विजय भले ही अंग्रेज सरकार की हुई थीं, पर विजय का माध्यम भारतीय शक्ति व बल ही था। अतः भारतेन्दु कहते हैं—

फड़कि उठीं सबकी भुजा, खरकि उठीं तलवार।
क्यों आपुहिं ऊंचे भए, आर्य मोंछ के बार॥[81]

और इसी विजय-पर्व पर उन्हें प्राचीन भारतीय गौरव तथा मध्यकालीन देश-दुर्दशा की स्मृति हो आती है और वह कहते हैं—

"हाय, वहै भारत भुव मारी। सब ही विधि सों भई दुखारी॥
हाय पंचनद, हा पानीपत। अजहुं रहे तुम धरनि विराजत॥
हाय चितौर, निलज तू भारी। अजहुं बेगि खरो भारतहिं मंझारी॥
तुम में जल नहिं जमुना गंगा। बढ़हु बेगि किन प्रबल तरंगा॥
बोरहु किन झट मथुरा कासी? धोवहु यह कलंक की रासी॥[82]

इसी प्रकार प्रिंस आफ वेल्स (जो बाद में सप्तम एडवर्ड सम्राट बने) के भारत आगमन के अवसर पर लिखी गई कविता भी देशभक्ति और राजभक्ति के इसी अद्भुत योग का सुन्दर उदाहरण है।[83]

नई काव्य-भाषा को भी वह नए-नए विषयों की ओर लगाते हैं, और नए क्षेत्रों की ओर मोड़ते हैं। देशभक्ति, लोकहित, समाजसुधार तथा मातृ-भाषा-उद्धार के अतिरिक्त हास्य और विनोद उस युग के महत्त्वपूर्ण रचना-क्षेत्र और रचना-शैली बनते हैं। पुरानी लकीर के फकीर, नए फैशन के गुलाम, नोच-खसोट करने वाले अदालती अमले, मूर्ख और खुशामदी रईस, नाम अथवा दाम के भूखे छद्म 'देशभक्त'. आदि उनके हास्य तथा व्यंग्य और विनोद के आश्रय बनते हैं।[84] इसी प्रकार वीरता के भाव के आश्रय जन्मभूमि के उद्धार के लिए रक्त बहाने वाले और अन्याय तथा अत्याचार का दमन करने वाले इतिहास-प्रसिद्ध वीर बनते हैं।[85]

पत्र-पत्रिकाएं, शैक्षिक, साहित्यिक तथा सामाजिक संस्था-स्थापना

आधुनिक-बोध का महत्त्वपूर्ण तत्व अपनी सीमित मतवादी, वर्गवादी, ग्रामवादी सम्बद्धता का अतिक्रमण करके मानव का वैविध्यपूर्ण आर्थिक-सामाजिक तथा सामुदायिक अन्तर्सम्बन्धों के आधार पर विविध समूहों-संगठनों से जुड़ना है। मध्यकाल का मानव अपने मत-मजहब अथवा-ग्राम-समाज को छोड़कर विश्व भर में किसी और से कोई नाता-रिश्ता नहीं मानता था। आधुनिक मानव की मानवतावादी चेतना उसे विश्व मानवता से, जोड़ती है। हर देश हर वर्ग, हर क्षेत्र के प्रति विशेष अपनेपन और सम्बन्धबोध से सम्पन्न बनाती है। इस बोध के माध्यम हैं विविध सामाजिक-साहित्यिक संस्थायें तथा संचार के विभिन्न साधन। इस सन्दर्भ में भारतीय नवजागरण काल में पत्र-पत्रिकाओं तथा विविध संस्थाओं का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। भारतेन्दु की एतत्सम्बन्धी भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रही है। भारतेन्दु ने 1868, 1873 और 1874 ई० में

क्रमशः 'कविचन्द्रसुधा' 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', जो बाद में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हुई तथा 1884 में 'नवोदिता' नामक पत्रिकाओं का सम्पादन-प्रकाशन आरम्भ किया। स्त्री-शिक्षा और स्त्री-कल्याण के लक्ष्य से उन्होंने 'बालाबोधिनी' नामक पत्रिका स्थापित की।[36]

शैक्षिक-सामाजिक-साहित्यिक संस्थाओं में 1867 में वह 'चौखम्बा स्कूल' की स्थापना करते हैं, जो आधुनिक शिक्षा की दृष्टि से अपने काल की महत्वपूर्ण सस्था थी तथा बाद में 'हरिश्चन्द्र कालिज' के रूप में विकसित हुई 1870 में वह 'कविता-वर्द्धिनी सभा' की और 1873 में 'पैनी रीडिंग क्लब' की स्थापना करते हैं। जैसा नाम से ही प्रकट है, साहित्य-सृजन और साहित्य अध्ययन की रुचि तथा परिणामतः आधुनिक-बोध के विकास में ये सभी संस्थाएं महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं।[37] वैष्णव धर्म तथा ईश्वर-भक्ति के प्रचार-प्रसार के लक्ष्य से वह 'तदीय समाज' की स्थापना करते हैं और 'भगवद्भक्तितोषिणी' पत्रिका का संचालन करते हैं। अपनी जाति के उत्थान के लिए वह 1874 ई० में 'वैश्य-हितैषिणी सभा' की स्थापना करते हैं, पुत्री के विवाह के अवसर पर अश्लील गीत बन्द करते हैं, और 1875 में वैष्णव सम्प्रदाय सम्बन्धी तीन परीक्षाओं का संचालन करते हैं। सफल परीक्षार्थियों के उत्साहवर्द्धन के लिए वह छात्रवृत्ति तथा पारितोषिकों का भी आयोजन करते हैं। सार्वजनिक कल्याण के उद्देश्य से वह 'काशी सार्वजनिक सभा' की स्थापना करते हैं। काशी नरेश की 'धर्म सभा', 'बनारस इंस्टीट्यूट' तथा 'ब्रह्मामृत वर्षिणी सभा' के भी वह प्रधान सहायक की भूमिका निभाते हैं। 1867-68 में वह 'यंगमैन एसोसिएशन' और 'डिबेटिंग क्लब' की स्थापना करते हैं। 'कारमाइकेल लाइब्रेरी' और 'बाल सरस्वती भवन' की स्थापना में भी वह प्रधान सहायक का भार सभालते हैं। ग्रन्थ और पत्र-पत्रिकाओं के मुद्रण-प्रकाशन में समय-समय पर आर्थिक सहयोग, प्रोत्साहन तथा राय-मशविरा तो उनसे सबको सदा सुलभ रहा है। 1860 में हिन्दी को राजभाषा पद दिलवाने के लिए वह आन्दोलन का संचालन भी करते हैं, जो उस समय तो सफल नहीं होता, पर भारतेन्दु के भविष्य सम्बन्धी दृष्टि-कौशल को अवश्य रेखांकित करता है।[39] चौतीस वर्षों की अल्पायु में ही काल-कवलित हो जाने वाले इस मनीषी ने जो-जो किया, जिस विधि से किया तथा जिन उच्च और गम्भीर सीमाओं तक किया वह देश-काल के सन्दर्भ में आश्चर्य में डालने वाला तथ्य है। इन सब कारणों से वह विश्व के उन अगुलियों पर गिने जा सकने वाले युग-प्रवर्तकों में खड़े मिलते हैं जिनके व्यक्तित्व के माध्यम से इतिहास की बिखरी हुई शक्तियाँ सिमट कर एक हो जाती हैं और जो भविष्य के लिए एक निश्चित और सुदृढ़ समन्वयात्मक मार्ग का सर्जन करती है।[40]

भाषा संस्कार :

संक्रमण-काल की भाषा से अपनी कुछ विशिष्ट मांगें होती हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में और सामान्यतः उनके युग के लगभग सभी प्रमुख लेखकों में भाषा की प्रकृति की पूरी परख

थी। हिन्दी में ब्रज और खड़ी बोली में चुनाव की बहस काफी हद तक आगे बढ़ चुकी थी। गद्य के क्षेत्र में तो निर्णय लगभग हो चुका था। उर्दू-हिन्दी का झगड़ा भी कुछ साम्प्रदायिक कारणों से और कुछ अंग्रेज अधिकारियों की दुर्नीतियों के कारण काफी बढ़ चुका था। उधर हिन्दू वर्ग के अनेक नवोत्थानकालीन आन्दोलन हिन्दी के प्रसार-विकास में सक्रिय हो रहे थे।[41] ऐसी अवस्था में भारतेन्दु मण्डल के लेखकों ने भाषा-सुधार, परिष्कार तथा व्यवहार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे भाषा के परिष्कृत रूप का उत्तरोत्तर प्रयोग करते हैं, और संस्कृत की ऐसी शब्दावली और रूपों का ही प्रयोग करते हैं जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित थे।[42] भारतेन्दु को तो सभी अर्थों में आधुनिक हिन्दी गद्य का प्रवर्तक ही कहा जा सकता है। वह भाषा का परिमार्जन करते हैं, उसे चलता मधुर रूप देते हैं और देश-काल की माँग के अनुसार उसे नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करते हैं।[43]

हिन्दी गद्य के समान ही वह काव्य के लिये प्रयुक्त ब्रजभाषा का भी परिष्कार करते हैं। वह प्राकृत-अपभ्रंश काल से चली आ रही, परन्तु सामान्यतः अप्रचलित और अव्यावहारिक पुरानी शब्दावली का बहिष्कार करते हैं। काव्य रचना में रीतिकाल में प्रचलित तुकबन्दी के लिये शब्दों के तोड़-मरोड़ की प्रवृत्ति का भी वह परित्याग करते हैं।[44]

भारतेन्दु : आधुनिकता बोध सम्पन्न ऐतिहासिक भूमिका

श्रेष्ठ नवीन और श्रेष्ठ पुरातन रुचि, प्रकृति व प्रवृत्तियों का मनोहर संगम भारतेन्दु के व्यक्तित्व में मिलता है। वह सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके व्यक्तित्व के इस सामंजस्य को आचार्य शुक्ल इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"एक ओर वह पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में थे तो दूसरी ओर बंगाल के माइकेल मधुसूदन दत्त और हेमचन्द्र की श्रेणी में आते हैं। एक ओर वह राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तिमाल गूथते दिखाई देते थे तो दूसरी ओर मन्दिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते हैं। स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर वह स्थान-स्थान पर व्याख्यान देते पाये जाते हैं। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नये—नये या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलना चाहिये कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग लगें। प्राचीन-नवीन के उस सन्धि-काल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ; इसमें सन्देह नहीं।"[45]

वह सौन्दर्योपासक और रसिक जीव थे। परन्तु उनकी यह रसिकता भी बृहत्तर लोक-कल्याण और नवोत्थान की भावना से प्रेरित थी। इसका एक अच्छा उदाहरण उनका माधवी व मल्लिका से सम्पर्क का वृतान्त है। इस सम्पर्क के कारण भारतेन्दु को परिवार के लोगों व परिचितों की आलोचना और निन्दा का पात्र भी बनना पड़ा। परन्तु इतिहास की दूरी से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि माधवी और मल्लिका के साथ उनके सम्बन्ध

भी उनकी मूलभूत प्रकृति के अनुरूप उदात्तीकृत होकर सहानुभूति; दया और साहित्यानुराग में परिणत हो गये थे। वह उन्हें आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाकर नारीत्व के प्रति अपने सम्मान की भावना प्रकट करना चाहते थे। जो कुछ वह करना चाहते थे उसे यथाशक्ति किया भी, श्री व्रजरत्नदास ने 'चन्द्र के कलंक' शीर्षक से माधवी और मल्लिका का जो विवरण दिया है, उससें भारतेन्दु का व्यक्तित्व और भी निखर उठता है।[46] उनके सम्बन्ध में श्रीधर पाठक की काव्य-उक्ति अपनी इन ऐतिहासिक भूमिका को भली प्रकार रेखांकित करती है—

> जब लौं भारत भूमि मध्य आरजकुल बासा।
> जब लौं आरज धर्म माहिं आरज विश्वासा॥
> जब लौं गुन आगरी नागरी आरज बानी।
> जब लौं आरज बानी के आरज अभिमानी॥
>
> तब लौं यह तुम्हारो नाम थिर चिरजीवी रहिहै अटल।
> नित चन्द सूर सम सुमिरिहैं, हरिचन्द हु सज्जन सकल॥[47]

संदर्भ

1. यूनाइटेड नेशन्स, 1967 रिपोर्ट आन द वर्ल्ड सोशल सिचुएशन, न्यूयार्क: यू० एन०, 1967.
2. किंग्सले डेविस, एच० एम० मेयर, सी० एफ० कोहन, (सम्पादक), रीडिंग्स इन अर्बन ज्योग्रफी, इलाहाबाद, 1967, पृ० 59.
3. यू० एन० रिपोर्ट आव द एडहाक ग्रुप आव एक्सपर्ट्स आन हाउसिंग एण्ड अर्बन डेवलपमेंट न्यूयार्क, 1962, पृ० 19.
4. आशिष बोस, अर्बनाइजेशन इन इण्डिया : एन इन्वेंटरी आव सोर्स मैटीरियल, नई दिल्ली; 1970, पृ 69-70.
5. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, नगरीकरण बनाम आधुनिक बोध (लेख), प्राधिकृत, खण्ड 1, अंक 1, फरवरी-जुलाई 1984, पृ० 11-21.
6. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इलाहाबाद : साहित्य भवन, 1956, पृ0 51-53.
7. हिन्दी साहित्यकोश भाग 2 (लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय की टिप्पणी), पृ० 382-383.
8. हिन्दी साहित्यकोश, भाग 2 (लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय की टिप्पणी), पृ० 384–385,

9. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पूर्वोक्त, पृ० 179–180 तथा भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहला खण्ड, पृ० 470.
10. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारत भिक्षा (कविता), ब्रजरत्नदास (सं०) भारतेन्दु ग्रन्थावली, (दूसरा भाग), काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, 2010, वि०, पृ० 701.
11. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पूर्वोक्त, पृ० 12–13.
12. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पूर्वोक्त, पृ० 13.
13. गणेश तुलसी राम अष्टेकर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, जयपुर : पंचशील प्रकाशन, 1978, पृ० 300-307.
14. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की टिप्पणी, पृ० 385.
15. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, पूर्वोक्त, पृ० 385.
16. गणेश तुलसीराम अष्टेकर, 'पूर्वोक्त' पृ० 307–314.
17. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, 'पूर्वोक्त' पृ० 383.
18. रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, 2018 वि०, पृ० 429–430.
19. गणेश तुलसीराम अष्टेकर, पूर्वोक्त, पृ० 309–314.
20. रामचन्द्र शुक्ल, पूर्वोक्त, पृ० 440.
21. रामचन्द्र शुक्ल, पूर्वोक्त, पृ० 438–439.
22. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पूर्वोक्त, पृ० 26–27.
23. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, पूर्वोक्त, पृ० 167.
24. ब्रजरत्नदास (सं०) भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहला खण्ड, काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, 2007 वि० पृ० 515–546.
25. वही, पृ० 536–37.
26. ब्रजरत्नदास (सं०) भारन्तेदु ग्रन्थावली, पूर्वोक्त, पृ० 355-368.
27. वही, पृ० 321-354.
28. वही, पृ० 468-497.
29. विजयिनी-विजय-पताका या वैजयन्ती (काव्य), ब्रजरत्नदास (सं०), भारतेन्दु ग्रन्थावली दूसरा भाग, काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, 201 वि०, पृ० 799-809.
30. रामचन्द्र शुक्ल, पूर्वोक्त, पृ० 565-566.
31. ब्रजरत्नदास (सं०), भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पूर्वोक्त, पृ० 800.
32. विजयिनी-विजय-पताका या वैजयन्ती (काव्य), पूर्वोक्त, पृ० 803,

33. वही, पृ० 625-629.

34. रामचन्द्र शुक्ल, पूर्वोक्त, पृ० 563.

35. रामचन्द्र शुक्ल, पूर्वोक्त, पृ० 463.

36. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, पूर्वोक्त, पृ० 383.

37. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पूर्वोक्त, पृ० 31–32.

38. गणेश तुलसी अष्टेकर, पूर्वोक्त, पृ० 303–307.

39. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पूर्वोक्त, पृ० 31–32.

40. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पूर्वोक्त, पृ० 9.

41. रामचन्द्र शुक्ल, पूर्वोक्त, पृ० 429–31.

42. गणेश तुलसी अष्टेकर, पूर्वोक्त, पृ० 314–320.

43. रामचन्द्र शुक्ल, पूर्वोक्त, पृ० 563.

44. वही, पृ० 563.

45. रामचन्द्र शुक्ल, पूर्वोक्त, पृ० 440–441.

46. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पूर्वोक्त, पृ० 26–27.

47. वही, पृ० 63–64.

●

राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

उदय भानु सिंह

राष्ट्रीय नवजागरण का तात्पर्य है—उद्‌बुद्ध राष्ट्रवासियों की प्रगतिमुखी सामूहिक चेतना का उन्मेष। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि आधुनिक व्यवहार में 'राष्ट्र' शब्द अंगरेजी 'नेशन' का समशील है– सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि में प्रयुक्त 'राष्ट्र' से सर्वथा भिन्न। बर्गेस[1] रूपर्ट इमर्सन[2], जिमर[3], गार्नर[4] आदि विचारकों और रायल इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेयर्स के अध्ययन दल ने[5] राष्ट्र को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। उनका मिश्रित सारांश यह है कि राष्ट्र वह जन-समूह है जो प्रजातीय, शासनिक, भौगोलिक, भाषाई एवं सांस्कृतिक दृष्टि से एक इकाई हो और जिसके सदस्य-व्यक्तियों में पारस्परिक घनिष्ठता हो, उनके स्वार्थों, भावनाओं तथा संकल्प में समानता हो। ये सभी विशेषताएं प्रत्येक राष्ट्र पर लागू नहीं होती। भारत अनेक प्रजातियों, भाषाओं, धर्मों, विचारधाराओं और संस्कृतियों का देश है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि राष्ट्र वह जन-समूह है जिसमें एक शासन-तंत्र की संकल्पत्ता हो, जिसका निवास-क्षेत्र न्यूनाधिकतया सीमांकित हो, जिसके सदस्य-व्यक्तियों के हितों, आशाओं-आकांक्षाओं, भावनाओं तथा संकल्पों में समानता हो और साथ ही देश के प्रति रागात्मक अनुभूति एवं अभिमान हो। राष्ट्रीयता में इन लक्षणों का अंतर्भाव है। इनमें भी शासन-तंत्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके विभाजन के परिणामस्वरूप ही भारत का कुछ भाग कटकर एक भिन्न राष्ट्र पाकिस्तान बन गया और फिर उसका आधा अंग छिन्न स्वतंत्र राष्ट्र बांग्लादेश बना।

राष्ट्रीयता की संकुचित धारणा भारतेन्दु-पूर्व आदिकालीन और मध्ययुगीन काव्य में भी पायी जाती है, परन्तु उसकी मानक और व्यापक भावना का प्रसार भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना के बाद ही हुआ। नयी शिक्षा, संचार-साधनों के प्रसार, विदेशों से सम्पर्क और उनकी औद्योगिक क्रांतियों तथा स्वाधीनता-आंदोलनों की जानकारी के साथ आधुनिक काल नवजागरण का संदेश लेकर आया जिसने सम्पूर्ण राष्ट्र को नवीन विचार-धारा और देशभक्ति से आप्लावित कर दिया। उसकी पृष्ठभूमि तैयार करने का श्रेय तत्कालीन धर्म समाज-सुधारकों, सार्वजनिक संस्थाओं, सन् 1857 की विद्रोहात्मक सैनिक क्रांति, समाचारपत्रों और साहित्यकारों को है। उन साहित्यकारों में एक अग्रगण्य नाम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का भी है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म 1850 ई० में और स्वर्गवास 1885 ई० में हुआ। उनके जीवन-काल में राष्ट्रीय नवजागरण की सबसे महत्वपूर्ण घटना सन् 1857 की

विद्रोहात्मक सैनिक क्रांति है। बहुत से इतिहासकार, विशेष करके अँगरेज इसे स्वतंत्रता-संग्राम न मानकर सिपाही-विद्रोह कहते हैं। इसके पक्ष में कई तर्क हैं। यह उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों तक सीमित था, इसे समूचे राष्ट्र का समर्थन नहीं मिला। अनेक राज्यों, सिखों तथा गोरखों ने अँगरेज-सेना का साथ दिया। यह राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित नहीं था—बहादुरशाह, लक्ष्मीबाई, नानासाहब, वाजिद अलीशाह आदि स्वार्थप्रेरित थे और राजभक्त प्रजा ने उनका साथ इसलिए दिया क्योंकि उनके बादशाह, राजा, रानी या नवाब की हानि हो रही थी। सैनिकों ने धर्मांधता और रूढ़िवादिता के कारण चर्बी के कारतूस को लेकर विद्रोह किया था, उसके पीछे कोई राष्ट्रीय नवजागरण की भावना नहीं थी। इस विद्रोह का परिणाम यह हुआ कि उसके दमन के पश्चात् कम्पनी के स्थान पर महारानी विक्टोरिया का शासन कायम हो गया एवं अँगरेजी राज्य की स्थिति और भी दृढ़ हो गयी।

इसका दूसरा पक्ष भी है। परतन्त्र और स्वतन्त्र देश की राष्ट्रीय भावना में एक अवेक्षणीय अन्तर है। स्वतन्त्र नागरिक की दृष्टि अपने राष्ट्र के सर्वांगीण उत्कर्ष पर केन्द्रित रहती है, उसे विदेशी शासन-तन्त्र से मोर्चा नहीं लेना पड़ता। परतन्त्र देशवासी का प्रधान लक्ष्य होता है विदेशी शासन-सत्ता को उखाड़ फेंकना जिससे राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति हो सके। क्रांतिकारियों का मुख्य उद्देश्य अँगरेजी शासन का मूलोच्छेदन था। इस अर्थ में वह राष्ट्रीय आन्दोलन था। माना कि बहादुरशाह, रानी लक्ष्मीबाई, नानासाहब, वाजिद अलीशाह आदि निजी कारणों से अँगरेज के शत्रु बन गये थे, परन्तु बाद में उन्होंने आन्दोलन को राष्ट्रव्यापी बनाने का प्रयास किया। उनके अतिरिक्त भी बहुत से राजाओं, नवाबों, ताल्लुकेदारों और देशभक्तों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से क्रान्ति मे यथाशक्ति योग दिया। चर्बी का कारतूस इतनी बड़ी क्रान्ति का कारण नहीं हो सकता था। वस्तुतः राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और सैनिक कारणों से लोगों मे असन्तोष बढ़ता जा रहा था; कारतूस ने उस सुलगती हुई आग को प्रज्वलित कर दिया।

1835 के बाद से ही सिक्कों पर मुगल-सम्राट् के बदले ब्रिटिश-सम्राट् का नाम अंकित होने लगा था। शिष्टाचार के नाते भी उसके प्रति सम्मान-प्रदर्शन का लोप हो गया। लार्ड डलहौजी (1848–1856) की साम्राज्यवादी और षड्यंत्रकारी नीति ने वातावरण को विस्फोटक बना दिया। पंजाब ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया (1849)। सिख-सेना भंग कर दी गयी। देशी सेना को अँगरेजों के अधीन रखा गया। लोगों के अस्त्र-शस्त्र और सिख-सरदारों की जागीरें जब्त कर ली गयीं। डलहौजी ने 'डाक्ट्रिन आफ लैप्स' (राज्यापहरण–सिद्धांत) को कठोरता से क्रियान्वित किया। सतारा (1848), झाँसी (1853), नागपुर (1854) के राजाओं के दत्तक पुत्रों को तिरस्कृत करके इन राज्यों को अँगरेजी साम्राज्य में मिला लिया। बाजीराव पेशवा के दत्तक-पुत्र धोंधू पंत (नानासाहब) को उत्तराधिकारी न मानकर आठ लाख की वार्षिक पेंशन बन्द कर

कर दी (1852)। सेना के खर्च का ऋण (780000 पौंड) वसूल करने के बहाने निजाम हैदराबाद के बरार प्रदेश को (1853) और नवाब वाजिद अलीशाह पर कुशासन का आरोप लगाकर अवध को (1856) ब्रिटिश राज्य में सम्मिलित कर लिया।

मुस्लिम शासन में चाहे जितनी बुराइयाँ रही हों, देश की सम्पत्ति देश के बाहर नहीं गयी। परन्तु अँगरेजों ने भारत का शोषण किया। इंग्लैंड की औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत से कच्चा माल इंग्लैंड जाने लगा और वहाँ से तैयार माल यहाँ के बाजार में बिकने लगा। फलतः भारतीय उद्योग-धन्ध ठप होने लगे। समुद्री व्यापार पर अँगरेजों का आधिपत्य हो गया। बहुतेरे ताल्लुकेदार-जमींदार भूमि-अधिकारों से वंचित कर दिये गये। दुर्भिक्षों के प्रकोप से तो जनता पीड़ित थी ही, टैक्सों की मार ने उसकी आर्थिक दशा को और भी शोचनीय बना दिया। अँगरेज शासकों ने उत्तराधिकार आदि के मनमानी नियम चालू किये। उन्होंने मिशनरियों को आर्थिक सहायता और प्रोत्साहन देकर कूटनीतिक ढंग से ईसाई-धर्म के प्रचार में योग दिया। ईसाई-धर्म स्वीकार करने वाला और मुसलमानों को सरकारी ऊँची नौकरियों में वरीयता दी जाती थी। इस पक्षपात पूर्ण नीति के फलस्वरूप हिन्दुओं का असंतुष्ट होना स्वाभाविक था।

अँगरेजों और भारतीय सैनिकों में परस्पर अविश्वास बढ़ रहा था। गोरखों और सिखों की अधिक संख्या में भर्ती से अन्य देशी सैनिक शंकालु होने लगे। लार्ड कैनिंग (1856–62) के कतिपय आदेशों ने भी सैनिकों को क्षुब्ध किया। जो समुद्र पार भी जा सकें वे ही सेना में, भर्ती के योग्य माने गये। सामाजिक बहिष्कार के भय से सैनिकों ने इसे धार्मिक आघात माना। विदेश में नौकरी के अनुपयुक्त सैनिक पेंशन के अधिकार से वंचित कर दिये गये। सैनिकों के लिए भी पत्रों पर महसूल देना आवश्यक कर दिया गया। सेना में नये कारतूस जारी किये गये (1853) जिनमें गाय और सुअर की चर्बी प्रयुक्त की गयी थी। इससे हिन्दू और मुसलमान दोनों उत्तेजित हो उठे। इन कारतूसों ने पहले से विद्यमान असन्तोष को क्रान्ति का रूप दे दिया।

नानासाहब आदि ने विभिन्न प्रदेशों का दौरा करके व्यापक राष्ट्रीय चेतना जगाने का प्रयास किया, संगठित शक्ति से सामूहिक क्रांति की योजना बनायी। तिथि निश्चित की गयी 30 मई, 1857। परन्तु, भावाविष्ट मंगल पांडेय के असामयिक विद्रोह ने उस योजना को चौपट कर दिया। चर्बी के कारतूस से विक्षुब्ध होकर 29 मार्च, 1857 को उन्होंने मेजर हृसन और एक अन्य अंगरेजी अफ़सर को गोली मार दी। उन्हें फाँसी दी गयी। 10 मई को मेरठ से क्रांति शुरू हुई और डेढ़-पौने दो महीने के भीतर ही मेरठ, दिल्ली, इटावा, मैनपुरी, रुहेलखंड, अवध, झांसी, कानपुर आदि पर क्रांतिकारियों का अधिकार हो गया। अंगरेजों ने बड़ी दृढ़ता, धैर्य, साहस, कूटनीति और नृशंसता के साथ विद्रोहियों का दमन किया। रानी लक्ष्मीबाई को वीरगति प्राप्त हुई, बहादुरशाह कैद कर

लिया गया, नानासाहब नेपाल की तराई में भूमिगत हो गये और तात्या टोपे को प्राणदंड मिला (18-4-1859)। इस प्रकार इस सशस्त्र क्रान्ति का अंत हो गया।

यह क्रान्ति इस कारण से विफल नहीं हुई कि क्रांतिकारियों में राष्ट्रीय चेतना का सर्वथा अभाव था। निजी कारणों से उत्पन्न अंगरेज-विरोधी भावना किसी सीमा तक राष्ट्रीयता में रूपांतरित हो गयी थीं। असफलता के अन्य कारण थे। क्रांतिकारियों की शक्ति सुसंगठित नहीं थी। उनके पास एक सर्वोच्च कुशल राजनीतिज्ञ नेता का अभाव था। अनेक नेताओं ने व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग युद्ध किये। क्रांतिकारियों में पारस्परिक मतभेद और अविश्वास भी घर करता गया। उनका कार्यक्षेत्र उत्तर भारत के कुछ भागों तक ही सीमित रहा—उन्हें देश के अधिकांश राज्यों का सहयोग नहीं मिला। अनेक नरेशों-ताल्लुकेदारों की सहायता के बावजूद धन और अस्त्र-शस्त्र की कमी ने उनकी गति अवरुद्ध कर दी।

इसके विपरीत, अंगरेज-सेना गवर्नर जनरल के अधीनस्थ कुशल कमांडरों द्वारा संचालित और उत्कृष्ट शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित थी। उसे आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ा। राज्यापहरण के भय से हैदराबाद, बड़ौदा, ग्वालियर, पटियाला, नाभा, जींद, राजपूताना आदि के राज्यों ने धन-जन से अंगरेजों की भरपूर सहायता की। मुसलमानों द्वारा किये गये अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए बहादुरशाह के विरुद्ध सिखों ने, और नेपाल-युद्ध (1816) में कंपनी की सहायता करने वाले अवध के विरुद्ध गोरखों ने अंगरेजों का जमकर साथ दिया। अंगरेजों ने हिन्दुओं में प्रचार कराया कि ये विद्रोही बहादुरशाह के नाम पर मुस्लिम राज्य स्थापित करना चाहते हैं और मुसलमानों में यह अफवाह फैलायी कि हिन्दू लोग नानासाहब ने नेतृत्व में पेशवा-राज्य कायम करना चाहते हैं। उनकी यह कूट नीति फलवती सिद्ध हुई।

इसमें संदेह नहीं कि यह आंदोलन राष्ट्र-व्यापी नहीं था, परन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि कोई भी आंदोलन अपने आरंभिक काल में ही देशव्यापी नहीं हो जाता। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भी देशव्यापी होने में समय लगा था। यह सोचना सही नहीं है कि सन् 57 की क्रांति का परवर्ती राष्ट्रीय चेतना से कोई सम्बन्ध नहीं है। सच्चाई यह है कि नवजागरण की यह चेतना लोक-मानस से पूर्णतः लुप्त नहीं हुई। सन् 1872 में काला पानी के टापू पर जिस शेर अली ने लार्ड मेयो की हत्या की थी उसमें निश्चय ही अंगरेजों के विरुद्ध क्रांतिकारी-प्रतिशोध-भावना रही होगी। यह भावना लोकगीतों के रूप में भी अभिव्यक्त हुई, जैसे बुन्देलखन्ड का लोकगीत—खूब लड़ी मर्दानी अरे झांसी वाली रानी। उसीसे प्रेरित होकर सुभद्राकुमारी चौहान ने 'झांसी की रानी' लिखी—

बुन्देल हरबोलो के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

जब यह क्रांति हुई तब हरिश्चन्द्र की आयु लगभग सात वर्ष की थी। दिल्ली, झांसी, कानपुर आदि स्थानों में अंगरेजों ने जो भीषण रक्तपात और अमानुषिक अत्याचार किया वह दूर की बात थी। लेकिन बनारस में जनरल नील ने जिस क्रूरता और बर्बरता से दमन-चक्र चलाया—जनता को आतंकित करने के लिए किसानों की फसल नष्ट कर दी गयी, सामूहिक गिरफ्तारियां हुईं, गोली मारकर निरीह नर-नारियों की हत्या की गयी कितने ही लोग पेड़ों से लटका दिये गये और कहते हैं कि महीनों तक गाड़ियाँ शव ले जाने के लिए सड़कों पर घूमती रहीं—उसको यदि हरिश्चन्द्र ने स्वयं नहीं देखा होगा तो उसका रोमांचकारी विवरण प्रत्यक्षदर्शियों और भुक्तभोगियों के मुख से अवश्य सुना होगा। उस स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रति देशभक्त भारतेन्दु की प्रतिक्रिया सामान्य पाठक को हैरानी में डाल देती है। उन्होंने क्रान्ति के बलिदानियों का यशोगान नहीं किया; उलटे आतंककारी अंगरेजों और महारानी विक्टोरिया की मुक्त कंठ से प्रशस्ति की—

कठिन छत्रियन जीति लए जिन बहु गढ़ सहजहि।
सिक्खन दीनी हार लिये मुलतान तनिक चहि॥
तर्जनि अग्र हिलाई लखनऊ छिन महँ लीनो।
तनिक दृष्टि की कोर सकल राजन बस कीनो॥
कठिन सिपाही-द्रोह-अनल जा जल-बल नासी।
जिन भय सिर न हिलाई सकत कहुं भारतवासी॥
... ...
बज्यो बृटिश डंका गहकि धुनि छाई चहुं ओर।
जयति राजराजेश्वरी कियो सबनि मिलि सोर॥[6]

परन्तु, जल्दबाजी में निर्णय कर लेना उचित नहीं है। सैनिक विद्रोह की विफलता भारतेन्दु के सामने थी। पराजय, भय और आतंक की उस परिस्थिति में महाशक्तिशाली अंगरेज शासकों से लोहा लेना आत्मघात के समान था। भारतेन्दु मजबूर थे उनकी विवशता 'भारतदुर्दशा' नाट्यरासक में पुलिस-वेश-धारिणी डिसलायलटी के मुख से ध्वनित हुई है।[7] उनके अंतर्द्वन्द्व की झलक 'प्रिंस के कोमल चरणों में समर्पित', 'मानसोपायन' की प्रस्तावना में द्रष्टव्य है।[8] उन्होंने राजभक्ति और देशभक्ति के समन्वित पथ का अवलम्बन किया। उनकी अंगरेज-भक्ति का एक अन्य बद्धमूल कारण भी था। अन्यायी एवं अत्याचार मुस्लिम शासन की स्मृति से उसका मन अत्यन्त क्षुब्ध था।[9] अंगरेजों ने यवन-सत्ता का अन्त करके अपने व्यवस्थित शासन द्वारा अपेक्षाकृत न्याय, सुख और शांति स्थापित की;[10] शिक्षा-प्रसार, रेल, डाक-तार आदि के द्वारा देश को आगे बढ़ाया।[11] इस तथ्य की अभिव्यक्ति भारतेन्दु ने अनेक स्थलों पर की है। 'बादशाहदर्पण' की भूमिका में उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से मुसलमान बादशाहों तथा अंगरेज शासकों के दोषों और गुणों का उल्लेख करके अंगरेजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की है।[12]

'श्री राजकुमार-सुस्वागत-पत्र'[13]'सुमनोज्जलि:'[14] (संपादित), 'लार्डम्यो साहिव'[15] 'लार्ड लारेंस'[16] 'श्री राजकुमार-शुभागमन-वर्णन'[17] 'दिल्ली-दरवार-दर्पण'[18] 'मनोमुकुल-माला'[19] 'भारतवीरत्व'[20] 'विजयिनी-विजय-वैययंती'[21] रिपनाष्टक'[22] आदि रचनाओं और समस्या-पूर्तियों[23] में उनकी राजभक्ति का प्रकाशन देखा जा सकता है। 'सुमनोऽञ्जलि', मनोमुकुल-माला' और 'मानसोपायन' शीर्षक उनकी मानसिकता के द्योतक हैं। राजभक्तिप्रदर्शन में भारतेन्दु ने कहीं-कहीं अतिरंजना भी कर दी है। उदाहरणार्थ : 'मदालसोपाख्यान' के मुखपृष्ठ पर उनका निर्देश है—

"जिस लड़की को यह पुस्तक दी जाय उससे अध्यापक लोग 5 बेर कहला लें 'राजपुत्र चिरंजीव'।" 'मुद्राराक्षस' का घटनाकाल रानी विक्टोरिया से लगभग बाईस सौ वर्ष पूर्व है फिर भी उसके अंत में विक्टोरिया की प्रशस्ति की है। अनेक संस्कृत नाटकों के भरतवाक्यों में भी समकालीन राजा की प्रशस्ति परपरा-सिद्ध है। भारतेन्दु की विशेषता यह है कि उन्होंने संलग्न गीत में भारतवासियों को विश्व-विद्या अर्जक, कर्मठ, देशाभिमानी, उद्यमी, उन्नतिशील और स्वाधीन होने का संदेश दिया है।[24] प्रस्तुत संदर्भ में यह वात ध्यान देने योग्य है कि उनकी राजभक्ति के मूल में देशभक्ति का सूत्र अनुस्यूत है। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण अफगान-युद्ध में प्राप्त विजय पर लिखित 'विजय-वल्लरी' है। वे प्रश्न करते हैं—

कहा भूमि-कर उठि गयौ कै टिक्कस भो माफ।
जनसाधारन कों भयो किधौं सिविल पथ साफ॥
कै प्रतच्छ गो-वधन की जवनन छांड़ि बानि।
जो सब आर्य्य प्रसन्न अति मन मँह मंगल मानि॥

विडंबनापूर्ण वस्तुस्थिति के कृष्ण-पक्ष का भी उन्हें सम्यक् वोध है—

सुजस मिलै अंगरेज को होय रूस की रोक।
बढ़ै बृटिश वाणिज्य पै हमकों केवल सोक॥
भारत राज मँझार जो कहुं कावुल मिली जाइ।
जज्ज कलक्टर होइहैं हिन्द नहिं तित धाई॥
ये तो केवल मरन हित द्रव्य देन हित हीन।
तासों काबुल-युद्ध सों ये जिय सदा मलीन॥[25]

परन्तु, लाचारी में उसके शुक्ल-पक्ष से आत्मसंतोष-लाभ करते हैं—

दृढ़ करि भारत-सीम वसैं अंगरेज सुखारे।
भारत असु वसु हरित करहिं सब आर्य्य दुखारे॥
खुलिहै 'लोन' न युद्ध बिना लगिहै नहिं टिक्कस।
रहिहै प्रजा अनंद सहित बढ़िहै मंत्री-जस॥[27]

अंगरेजों की पूर्वोक्त विभिन्न स्तुतियों या प्रशस्तियों में उन्होंने प्रसंगतः भारत के महिमामय अतीत, दुर्दशाग्रस्त वर्तमान और मंगलमय भविष्य की व्यंजना की है।

हिंसात्मक और विद्रोहात्मक तरीके से अंगरेजी राज को उलटने का प्रयास राष्ट्रीय नवजागरण का एक रूप था। उसका दूसरा रूप था अहिंसात्मक तथा वैधानिक पद्धति एवं अंगरेज शासकों के सहयोग से देश का उन्नयन और अंततोगत्वा स्वराज्य-प्राप्ति। इस दिशा में भारतेन्दु से बहुत पहले आधुनिक नवचेतना के अग्रदूत राममोहन राय ने आध्यात्मिक-सामाजिक-सुधार-आंदोलन का सूत्रपात किया था और 1830 में ही ब्रह्मसमाज की स्थापना की थी। भारतेन्दु-काल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, केशवचन्द सेन, राजेन्द्रलाल मित्र, महादेव गोविन्द रानाडे, रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बालगंगाधर तिलक आदि सुधारवादियों ने व्यापक स्तर पर समूचे राष्ट्र में आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक चेतना जाग्रत की।

ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन (1851), बॉम्बे एसोसिएशन (1861), भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज (1866), प्रार्थनासमाज (1867), ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन (लगभग 1870), सार्वजनिक सभा (लगभग 1870), आर्यसमाज (1875), इण्डियन एसोसिएशन (1876), साधारण ब्रह्मसमाज (1878), थियोसाफिकल सोसाइटी (भारत में 1879 से), आर्य-महिला-समाज (1882), दक्षिण-शिक्षा-समिति (1884) आदि सार्वजनिक संस्थाओं ने नवजागरण के विकास में यथेष्ट योगदान किया। यद्यपि इन संस्थाओं का आयाम अखिल भारतीय नहीं था, तथापि समग्रतया उन्होंने प्रायः सारे देश में जागृति की लहर दौड़ा दी। इण्डियन नेशनल कांग्रेस की रूपरेखा 1884 में ही बन गयी थी लेकिन उसकी स्थापना भारतेन्दु के बाद 1885 के अन्त में हुई और शीघ्र ही उसने राजनीतिपरक अखिल भारतीय राष्ट्रीय संगठन का स्वरूप ग्रहण कर लिया।

पूर्वोक्त हिंसात्मक एवं अहिंसात्मक नवजागरण के माहौल में भारतेन्दु की राष्ट्रीय-चेतना उद्बुद्ध हुई। उन्होंने पराजित, हताश, कुंठाग्रस्त, हीनताग्रन्थि-पीड़ित देशवासियों का मनोबल ऊँचा करके उनमें आत्मविश्वास, दृढ़ता और साहस का संचार किया।[28]

पराधीन भारत की धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्था नितांत शोचनीय थी। उन्होंने उस अधोगति का जीवंत चित्रण 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती'',[29] 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन'[30], 'स्तोत्रपंचरत्न की भूमिका'[31], 'नये जमाने की मुकरी'[32], 'मुशायरा'[33] 'पाँचवें (चूसा) पैगंबर'[34], 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान'[35], 'अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा'[36] आदि रचनाओं में किया है। उसकी विशद एवं मार्मिक निबन्धना 'भारत-दुर्दशा' हास्यरूपक में लक्षणा और व्यंजना के सहारे साध्यवसान पात्रों के माध्यम से की गयी है।[37]

कभी-कभी भारतेन्दु को भारतीयों की अटूट मोह-निद्रा से घोर निराशा हुई है।[38] किन्तु, यह निराशा उनका संचारी भाव है। वे धैर्य और आशा नहीं खोते। अपनी शक्ति

के कुंठित हो जाने पर मनुष्य अपने से अधिक शक्तिमान-मानव अथवा परमेश्वर की शरण लेता है। भारतेन्दु ने भी भारत के कल्याण के लिये महारानी तथा उनके प्रतिनिधियों[39] और परमेश्वर[40] से बारम्बार प्रार्थना की। यह आर्त मन की परिवेदना थी। प्रार्थनाओं से देशोद्धार संभव नहीं था। 'भारत दुर्दशा' में भारत का कथन इस बात का प्रमापक है—

"हाय ! परमेश्वर बैकुण्ठ में और राजराजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी ?"[41] अतः यथार्थ के धरातल पर उन्होंने देशवासियों का उद्बोधन किया।[42]

भारतेन्दु की दृष्टि में देशव्यापी दरिद्रता, अकाल, मँहगाई, रोग, शोक, फूट, बैर, कलह, आलस्य, सन्तोष, दुःख, खुशामद, कायरता, टैक्स आदि बुराइयों का वास्तविक कारण विदेशी शासन था। 'अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा' ब्रिटिश-राज का प्रतीक है। 'चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते'।, 'चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता।,' 'अन्धाधुन्ध मच्यौ सब देसा। मानहुं राजा रहत विदेसा।' आदि उक्तियों[43] से इसकी सत्यता स्वतःसिद्ध है।'भारतदुर्दशा' का योगी आपाततः ईश्वर को दुःखदाता बतलाता हुआ भी तत्त्वतः अंगरेजी राज को ही दुरवस्था का जिम्मेदार मानता है।[44] भारत दुर्दैव कहता है——

कौड़ी कौड़ी को करूँ मैं सबको मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका तो मैं सच्चा राज।।
मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ महँगा करके अन्न।
सबसे ऊपर टिकस लगाऊँ धन है मुझको धन्न।
मुझे इक राक्षस मानो जी।[45]

उपर्युक्त उद्धरण में व्यवहृत 'सच्चा राज' और 'राक्षस' ब्रिटिश राज्य के द्योतक हैं। 'भारतदुर्दशा' में ही सत्यानाश फौजदार की गर्वोक्ति है——

हमारा नाम है सत्यानास। आये हैं राजा के हम पास।
धरके हम लाखों ही भेस। किया चौपट यह सारा देस।
बहुत हमने फैलाये धर्म। बढ़ाया छुआछूत का कर्म।

वह आगे भी बलबलाता है—"महाराज, इन्द्रजीत सन जो कछु भाखा। सो सब जनु पहिलहिं करि राखा।"[46] 'रामचरितमानस' की अर्द्धाली की ध्वनि सहज-बोधगम्य है। जिस प्रकार तुलसी ने रावण, मेघनाद आदि राक्षसों के माध्यम से आततायी शासकों के अत्याचारों का वर्णन किया है उसी प्रकार भारतेन्दु ने सत्यानाश की फौज के अप्रस्तुत-विधान द्वारा प्रस्तुत ब्रिटिश शासन के दुष्परिणाम की व्यंजना की है।

उन्होंने देशोद्धार के रचनात्मक उपाय भी सुझाये। वे अंगरेजों की अपेक्षा अंगरेजी को अधिक घातक समझते थे। इसका सबूत आज भी हमारे सामने है—अँगरेज चले गये लेकिन अँगरेजी की गुलामी अभी बनी हुई है। भारतेन्दु ने सन्तुलित बुद्धि से मार्ग-दर्शन किया—साधन रूप में अँगरेजी पढ़ो, उसके माध्यम से तार, रेल, तोप, वस्त्र,

कागज, बाँध, फोटोग्राफी आदि विषयक ज्ञान-विज्ञान अर्जित करके अनूदित एवं मौलिक ग्रन्थों द्वारा अपनी भाषा को सम्पन्न करो,[47] किन्तु इस मूल मन्त्र को याद रखो कि—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।[48]

'नील देवी' की भूमिका में उन्होंने नारियों की शिक्षा और शक्ति के विकास की ओर ध्यान आकृष्ट किया।[49] उन्होंने भारतवर्ष की उन्नति के उपायों में 'जातीय संगीत' अर्थात् राष्ट्रीय ग्रामगीतों की भूमिका को महत्त्वपूर्ण बतलाया—देश की सभी भाषाओं में पुरुषों तथा महिलाओं के उपयुक्त ऐसे गीतों का प्रचार किया जाए जिनमें हिन्दुस्तान के दुर्भाग्य का वर्णन हो; बाल–विवाह, जन्मपत्री की विधि, अँगरेजी फैशन, भ्रूण-हत्या, बहुजातित्व, आलस्य, मद्य–सेवन, अदालत आदि की निन्दा की गयी हो और बालकों की शिक्षा, स्वधर्म-चिंतन, मैत्री, ऐक्य, योग्यता, पूर्वजों के गुणगान, जन्मभूमि के प्रति प्रेम, सुधार की आवश्यकता आदि पर बल दिया गया हो।[50]

राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए श्रम, संगठन और आत्मनिर्भरता की अनिवार्य अपेक्षा है। अपने एक व्याख्यान में उन्होंने जोर देकर निर्देश किया :

"बंगाली, मरहट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिससे तुम्हारे यहाँ बढ़े, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे वह करो। ···हाय अफसोस, तुम ऐसे हो गए कि अपने निज के काम की वस्तु भी नहीं बना सकते। भाइयों, अब तो नींद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।"[51]

स्वाधीनता के लिए उन्होंने वैधानिक रीति को ही उपयोगी समझा, किन्तु विशेष परिस्थिति में आवश्यक होने पर हिंसात्मक नीति की ओर भी इंगित कर दिया है। 'नीलदेवी' का पागल कहता है—

"···हम राजा हमारा देश हमारा भेस हमारा पेड़ पत्ता कपड़ा लत्ता, छाता जूता सब हमारा। ले चला ले चला। मार मार मार–जाय न जाय न–सुरज में जाय चन्द्रमा में जाय जहाँ जाय तारा में जाय···जहाँ जाय वहीं पकड़–मार मार मार।"[52] आत्म-रक्षा और देश-हित के विचार से भारतेन्दु को पागल की आड़ लेनी पड़ी, व्यंजना का कवच धारण करना पड़ा।

तत्त्वाभिनिवेशी सारांश यह है कि भारतेन्दु के समकालीन राष्ट्रीय नवजागरण में दो मुख्य प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। एक थी अत्याचारी विदेशी शासन के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति की और दूसरी थी अँगरेज शासकों के प्रसादनपूर्वक स्वदेश-कल्याण एवं स्वाधीनता-प्राप्ति की। आगे चलकर ये दोनों प्रवृत्तियाँ इंडियन नेशनल कांग्रेस के गरम दल और

नरम दल की विचार धाराओं में स्पष्टतया अभिव्यक्ति हुई। युगचेता और दूरदर्शी भारतेन्दु ने सन् 57 की कुंठित क्रान्ति से यह ग्राह्य निष्कर्ष निकाल लिया था कि पहले मार्ग की अपेक्षा दूसरा मार्ग ही श्रेयस्कर है। अतः उन्होंने उसी का अवलम्ब लेकर अपनी कविताओं, नाटकों, लेखों, व्याख्यानों तथा 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका) और 'बालबोधिनी' जैसी प्राभाविक पत्रिकाओं के माध्यम से राष्ट्रीय नवजागरण का मार्ग प्रशस्त किया।

संदर्भ

1. Political Science and Constitutional Law, Vol. I, p. 1.
2. From Empire to Nation, p. 95.
3. The Prospects of Democracy and other essays, p. 84.
4. Political Science and Government, p. 79.
5. Nationalism : A report by a study group of members of the Royal Institute of International Affairs (1963), p. 20.
6. विजयिनी-विजय-वैजयन्ती, भारतेन्दु-ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृ० 808-9.
7. "हम क्या करें, गवर्नमैंट की पालसी यही है। 'कवि-वचन सुधा' नामक पत्र में गवर्नमैंट के विरुद्ध कौन बात थी? फिर क्यों उसे पकड़ने को हम भेजे गये?"
   भारतेन्दु-ग्रंथावली, पहला भाग, पृ० 153.
8. "कभी हिन्दुओं की दशा पर करुणा उत्पन्न होता है, कभी स्नेह कहता है कि यही अवसर है खूब जी खोलकर जो कुछ हृदय में बहुत काल से भाव और उद्गार संचित हैं, उनको प्रकाश करो। पर साथ ही राजभक्ति और आपका प्रताप कहता है कि खबरदार हद से आगे न बढ़ना, जो कुछ विनती करना बड़ी नम्रता और प्रमाण के साथ।"
   —भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 721.
9. भारतेन्दु-ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृ० 699, 723,764,793, तीसरा भाग, पृ० 100.
10. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 743, पहला भाग, पृ० 134, 148, तीसरा भाग, पृ० 98.
11. "इन्हीं राजनीति जानने वाले लोगों के उत्तम प्रयत्नों से हिन्दुस्तान सभ्यता में दिन-दिन बढ़ता जाता है।·· और इन्हीं लोगों के द्वारा पश्चिम देश का शिल्प, सभ्यता और विज्ञान बहुत दिनों तक पूरब के देशों में वहाँ वालों के उपकार के लिए प्रचलित रहेगा।"
    —भारतेन्दु-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृ० 197.

12. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृ 316.
13. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग. पृ० 625–29.
14 भारतेन्दु-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृ० 630.
15. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृ० 98.
16. भारतेन्दु-ग्रन्थावली दूसरा भाग, 102.
17. भारतेन्दु-ग्रन्थावली तीसरा भाग, पृ० 697-700.
18. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 181-210.
19. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 742-47.
20. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 761-6[illegible].
21. भारतेन्दु-ग्रन्थावली दूसरा भाग, पृ० 797-809.
22. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ 815-17.
23. भारतेन्दु-ग्रन्थावली दूसरा भाग, पृ० 817.
24. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 498.
25. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 793.
26. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग. पृ० 795.
27. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 796.
28. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० 133, 155-56, दूसरा भाग, पृ० 405-6, 683-84.
29. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृ० 814.
30. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृ० 836-38.
31. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृ० 841.
32. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 810-12.
33. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृ० 861-63.
34. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृ० 868-73.
35. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 835-36.
36. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० 170.
37. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० 133-61, विशेषतया द्रष्टव्य: अंक 3.
38. "हा ! भारतवर्ष को ऐसी मोह निद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं।"

    भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० 159, और भी देखिये पृ० 115.
39. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 867, 700, 710.
40. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० 120, दूसरा, पृ० 684.
41. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० 136.
42. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० 155, 165.

43. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, तीसरा भाग, पृ० 169, 170, 179.

44. अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल सोग बिस्तारी। दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई। हा हा! भारतदुर्दशा न देखी........जाई॥
भारतदुर्दशा, भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० 134.

45. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० 137.

46. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० 138.

47. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 734-37.

48. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 731.

49. 'जिस भांति अँगरेजी स्त्रियाँ···पढ़ी लिखी होती हैं···अपना स्वत्व पहिचानती हैं। अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहाय देती हैं···उसी भांति हमारी गृह-देवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें।"—भारतेन्दु-ग्रंथावली, पहला भाग, पृ० 102–3.

50. भारतेन्दु–ग्रंथावली, तीसरा भाग पृ० 836–38.

51. भारतेन्दु–ग्रंथावली, तीसरा भाग, पृ० 902–3.

52. भारतेन्दु–ग्रंथावली, पहला भाग पृ० 117.

◆

पुनर्जागरण और भारतेन्दु युग की पत्रकारिता

सूर्यप्रकाश दीक्षित

भारतेन्दु युग में प्रकाशित जिन लगभग 80 हिन्दी पत्रिकाओं का न्यूनाधिक विवरण आज प्राप्त है , उनमें अधिकतर पत्र अत्यायु लघुपत्र थे, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व तो निर्विवाद है ही । यही हिन्दी पत्रकारिता का उद्भवकाल था । यदि 1818 में प्रकाशित दिग्दर्शन को प्रथम हिन्दी का पत्र मान लिया जाये तो यह स्वीकार होगा कि भारतेन्दु युग के आविर्भाव के लगभग 50 वर्ष पूर्व हिन्दी पत्रकारिता का आरम्भ हो चुका था । फिर भी यह अपनी कोशिशावस्था में थी । इस अवधि में उदंतमार्तण्ड, हिन्दी बंगदूत, प्रजामित्र, बनारस अखबार, जगद्दीपक भास्कर, साम्य दंतमार्तण्ड, सुधाकर, बुद्धिप्रकाश समाचार सुधावर्षण, प्रजा हितैषी आदि पत्र प्रकाशित हुए थे किन्तु उनमें अपेक्षित वैचारिक परिपक्वता तथा भाषिक परिप्रौढ़ता नहीं आ पायी थी । उनकी प्रतिपूर्ति हुई 'कविवचन सुधा' के प्रकाशन द्वारा, 1867 से 1885 के बीच, जिसे वास्तविक भारतेन्दु युग की संज्ञा दी जा सकती है ।

इस युग की पत्रकारिता में बड़ा प्रवृत्तिगत वैविध्य दिखाई देता है । भारतेन्दु के पूर्व अधिकतर पत्र बहुभाषी रहे हैं । 'उदंतमार्तण्ड' (1826) में 'मध्यदेशीय भाषा' के बावजूद 'बहुभाषापन' था । हिन्दी बंगदूत (1829) फारसी, बंगला तथा अंग्रेजी के साथ हिन्दी में छपता था । 'मार्तण्ड' नामक पत्र में 5 भाषाएं थी—अंग्रेजी, बंगला, फारसी उर्दू तथा हिन्दी । 'बनारस अखबार' नागरी अक्षरों में उर्दू को प्रश्रय दे रहा था और परिनिष्ठ प्रयोगों का प्रतिवाद करता हुआ हिन्दी को सप्रयास बिगाड़ रहा था । भारतेन्दु युग में पहली बार स्वतन्त्र रूप से हिन्दी पत्रकारिता विकसित हुई और उसके माध्यम से आधुनिक हिन्दी गद्य की रूप रचना हुई जिसे लक्ष्य करके 1873 की 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में भारतेन्दु जी ने घोषणा की थी कि 'अब हिन्दी नई चाल में ढली' । इस युग के हिन्दी पत्रों की सीधी टकराहट उर्दू अखबारों से थी । उस समय तक हिन्दी उर्दू का प्रयोग साथ-साथ होता रहा, किन्तु राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' की भाषा नीति की प्रतिक्रिया में हिन्दी पत्रों ने उर्दू को चुनौती दे दी फलतः राजा लक्ष्मण प्रसाद सिंह ने 'प्रजाहितैषी' के माध्यम और सदा सुखलाल नियाज ने 'बुद्धिप्रकाश' के माध्यम से आज की भाषा की खोज आरम्भ कर दी । यह उल्लेखनीय है कि नियाज की भाषा को आचार्य शुक्ल तक ने काफी सराहा है । 'बनारस अखबार' की स्पर्धा में 'सुधाकर' की भाषा उच्चस्तरीय सिद्ध हुई । अन्य समकालीन पत्रों में पं० प्रतापनरायन मिश्र के 'ब्राह्मण' ने अपनी मुहावरेदार बोल चाल की प्रवाहपूर्ण भाषा की नींव डाली और अपने लेखों में बार-बार यह विश्वास व्यक्त

किया कि 'हिम्मत राखो, एक दिन नागरी का प्रचार होगा ही।' 'विहार बन्धु' ने अपनी सहज, सजीव भाषा द्वारा न्यायालयों में उर्दू की जगह हिन्दी के प्रचलन का आन्दोलन चलाया। 'हिन्दी प्रदीप' में पं० बालकृष्ण भट्ट ने उर्दू का स्यापा छापा। 'आनन्दकादम्बिनी, में प्रेमघन जी ने उर्दू वेगम की नाक काटने की प्रतिज्ञा की और फिर 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (1874) में भारतेन्दु जी ने–'है है उर्दू हाय हाय' कविता लिखी। 'भारतमित्र' में तो यह हिन्दी उर्दू विवाद वर्षों तक चलता रहा। 'दैनिक हिन्दोस्थान' इसका मुखर समर्थन करता रहा और इस बीच 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में मानस हिन्दी का रूप निर्मित होता रहा। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "जिस प्यारी हिन्दी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में हुआ।"

वस्तुतः भारतेन्दु युगीन पुनर्जागरण का मुख्य नारा था–'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ 435) हिन्दी अर्थात् भाषा चेतना तो इसका प्रस्थान बिन्दु था क्योंकि स्वयं भारतेन्दु के अनुसार निज भाषा उन्नति ही सब उन्नति की मूल है।

भारतेन्दु युग की अवतारणा सन् 1857 के गदर की पृष्ठभूमि में हुई थी। प्रारम्भ में भारतेन्दु जी ने गदर की विफलता पर टिप्पणी करते हुए अंग्रेजी राज्य की प्रशस्ति की थी—

कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जल बल नासी।
निज भय सिर न हिलाय सकत कहुँ भारतवासी॥

किन्तु कालान्तर में इसे जातीय युद्ध मान लिया गया था। भारतेन्दु जी ने जातीय को 'नेशनलिटी' का पर्याय बना दिया। उस युग के प्रबुद्ध साहित्यकारों ने यह अनुभव किया कि इस युद्ध द्वारा सामन्तों का निषेध किया गया है और एक धर्म निरपेक्ष जन सेना द्वारा समस्त हिन्दी क्षेत्र में राष्ट्रीय एकता का आह्वान किया गया है। गदर के 10 वर्ष बाद जब 'कविवचन सुधा' का प्रकाशन हुआ तो वर्षों से दबा हुआ नवजागरण का स्वर बरबस फूट पड़ा। तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था अर्थात् विदेशी व्यापार आयात-निर्यात नीति, कुटीर उद्योगों की दुर्गति आदि से प्रतिक्रिया प्रेरित होकर भारतेन्दु जी ने पहली बार महसूस किया था कि 'धन विदेश चलि जाय अहै अति ख्वारी।' उन्होंने 22 फरवरी 1874 की 'कविवचन सुधा' में भारतीय उद्योगों के विनाश का विवरण दिया जो बड़ा जोरदार था इसके पूर्व 1879 में वे 'लेवी प्रणाली' नामक लेख लिखकर अंग्रेजों की वसूली तथा कराधान नीति की निन्दा कर चुके थे। इसकी प्रेरणा से किसान संगठनों पर मुक्त रूप से छपनी शुरू हो गई थी। धीरे-धीरे स्वदेशी आन्दोलन को बल मिला। भारतेन्दु जी ने 16 फरवरी 1874 की 'कविवचन सुधा' में भारतीयों का प्रबोध देते हुए लिखा–हे देशवासियों, इस निद्रा से चौंको अंग्रेजी के न्याय के भरोसे मत फूले रहो।

यदि तुम हाथ के व्यापार सीखोगे तो तुम्हे कभी दैन्य न होगा। 23 मार्च 1874 की 'कविवचन सुधा' में उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का विशेष आग्रह किया और इस प्रकार स्वाधीनता की पहल की। डा० राम विलास शर्मा ने इस राजनीतिक विरासत के आधार पर हिन्दी लेखकों को राजनीतिज्ञों की अपेक्षा कहीं अधिक जागरुक स्वातत्र्य प्रहरी सिद्ध किया है।

भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता में पुनर्जागरण का स्वर उभरा–मूलतः आर्थिक समस्याओं को लेकर लेकिन धीरे-धीरे उसने राजनीतिक रूप धारण कर लिया। साहित्यकारों को यह देखकर कष्ट हुआ कि जहां समूचा भारत अकाल ग्रस्त है अंग्रेज सरकार रानी विक्टोरिया के राजतिलक के उपलक्ष्य में दिल्ली दरवार आयोजित करके अपनी साम्राज्यवादी शक्ति तथा संपदा के प्रदर्शन में व्यस्त है। मालवा के दरबार ने 6 सितम्बर 1876 के अंक में ब्रिटिश दरबार की कड़ी भर्त्सना की। यह क्रम चलता रहा। 11 सितम्बर 1876 की 'कविवचन सुधा' ने भी इस नीति की निन्दा की और जनवरी 1877 की 'काशी पत्रिका' ने भी।

इन पत्रों की राजनीतिक चेतना क्रमशः प्रखर होती रही। आखिर अंग्रेजों के अन्याय के विरुद्ध लिखते 6 जुलाई 1874 की– कविवचन सुधा' में भारतेन्दु जी ने राजनीतिक बगावत का शंखनाद कर दिया। उन्होंने समझाया–बीस करोड़ भारतवर्षों को पचास हजार अंग्रेज शासन करते हैं। इन्हीं के अत्याचार से सब भारतवासी गण दुःखी रहते हैं। यह घोषणा पत्र गदर के बीच सिपाहियों तथा नागरिकों द्वारा प्रसारित (म्यूटिनी रिकार्ड 1911 लाहौर में प्रकाशित) 7 इश्तहारों से बहुत मिलता-जुलता दिखाई देता है। इसका साहित्य जगत पर व्यापक प्रभाव पड़ा। 23 जनवरी 1879 के अंक में 'सारसुधानिधि' नामक पत्र ने विदेशी शासन के अन्त की घोषणा कर दी। इससे राष्ट्रीयता की भावना प्रवल हुई और फिर 9 फरवरी 1878 के अंक में 'बिहार बन्धु' ने साम्प्रदायिक सौहार्द की अपील करते हुए लिखा कि –जो हमारे मुल्क का दोस्त है, वह हमारा भी दोस्त है। जो हमारे मुल्क का दुश्मन है, वह हमारा भी दुश्मन है।

राष्ट्र भक्ति की भावना जैसे-जैसे बलवती होती गई, राजभक्ति का स्वर मन्द पड़ने लगा। साहित्यकारों की दृष्टि प्रशासन की ओर मुड़ी। उन्होंने लक्ष्य किया कि इस गरीब देश की सरकार वैभव विलास में डूबी हुई है। 'अल्मोड़ा अखबार' (30 अक्टूबर 1882) में प्रथम बार इस मँहगे प्रशासन की निन्दा की। वायसराय के लखनऊ भ्रमण पर जो असाधारण व्यय हुआ था, जिससे अवध के ताल्लुकदार तो ऋणग्रस्त्र हुये ही, आम जनता तबाह हो गई थी। पत्रकार इस स्थिति के अब तटस्थ द्रष्टा नहीं रह सकते थे। 'दैनिक हिन्दोस्थान' ने 11 सितम्बर 1885 के अंक में इस प्रथा को लेकर पुरजोर आक्रमण किया और फिर अफरसशाही द्वारा किए जा रहे शोषण का सक्रिय विरोध आरम्भ हो गया। गाँवों में कैम्प लगाने का वहाना करके निर्धन ग्रामीणों से घी, दूध विविध खाद्य पदार्थ,

लकड़ी आदि की जो वसूली की जा रही थी और जो बेगार ली जा रही थी–उसका विरोध होने लगा। 'आर्य दर्पण' ने सितम्बर 1888 के अंक में इसका कटु किन्तु प्रामाणिक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। 'दैनिक हिन्दोस्थान' में सरकारी आयकर, विक्रय कर, लाइसेन्स नीति, नमक कर आदि से असहमत होकर साहित्यकारों ने कई लेख प्रकाशित कराये।

ब्रिटिश शासन विरोधी पत्रों में 'सारसुधानिधि' बहुत सक्रिय था। 'भारतमित्र' तो राजनीतिप्रधान ही हो गया था। अपने 57 वर्षों की दीर्घावधि में कई पाक्षिक, साप्ताहिक तथा दैनिक अंक में उसने अंग्रेजी सत्ता का मुखर विरोध किया। अंग्रेज सरकार यूरोपीय और भारतीय नागरिकों के बीच जो भेदभाव लेकर चल रही थी, वह इन पत्रों को सह्य न था। 'सुधानिधि' के 10 मई 1866 के अंक में निष्पक्षता की मांग की गई। इस बीच अंग्रेजों द्वारा किए गए बलात्कार और धर्षिता, भारतीय नागरिकों द्वारा की गयी आत्महत्याओं के कई प्रकरण प्रकाशित हुए। तत्कालीन अदालतों में हुए पक्षपात पूर्ण निर्णयों से जनता क्षुब्ध हो गयी थी, इसलिए इलाहाबाद से प्रकाशित 'कायस्थ समाचार ने अक्तूबर 1883 के अंक द्वारा न्यायालयों में भारतीय जजों की नियुक्ति की जोरदार मांग की। इसी बीच लेजिस्लेटिव कौंसिल में भारतीय प्रतिनिधियों को लेने की मांग की गई। विवश होकर सरकार ने सर सैयद अहमद खां और राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' को मनोनीत कर किया। 'सितारे हिन्द' के नाम पर विरोध और उग्र हो उठा। 'कविवचन सुधा' ने दिसम्बर 1881 में इस निर्णय की खुलकर कदर्थना की। 'सितारेहिन्द' ने जब कौंसिल में 'इलबर्टबिल' का समर्थन करते हुए भारतीयों को भेड़ की संज्ञा दी तो 'उचित कला' ने 17 मार्च 1883 के अंकों में उनकी जमकर खबर ली। साथ ही 1878 के प्रेस एक्ट का खुला विरोध भी किया। इस बिन्दु पर 'दैनिक हिन्दोस्थान' निरन्तर तत्पर था। उसने ब्रिटिश संसद में भारतीयों को स्थान दिये जाने का अभियान चलाया और एक राष्ट्रीय राजनीतिक संस्था की आवश्यकता का अनुभव करते हुए कांग्रेस पार्टी को मुक्त समर्थन दिया। यह पत्र यद्यपि भारतीय समाज के अंग्रेजी ढांचे का अभिलाषी था। इसके संचालक स्वयं 'हिजहाइनेस' के स्थान पर पर 'अन्नभवान सदासमर विजयी राजा रामपाल सिंह जी' कहलाना पसन्द करते थे, फिर भी वे और उनका पत्र दोनों राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत थे। संसद में जनप्रतिनिधित्व को लेकर 'भारतबन्धु' नामक पत्र ने यह मांग की कि राजाओं के मनोनयन के बजाय चुनाव कराये जायें। इस प्रकार लोकतन्त्र की सम्भावनाएँ सामने आईं। 'हिन्दी प्रदीप' तो राजनीतिक समस्याओं को लेकर क्रमशः उग्र होता चला गया और धीरे-धीरे कांग्रेस के गरमदल से जुड़ गया। इस प्रकार इन पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता की आर्थिक एवं राजनीतिक विसंगतियों का पर्दाफाश हुआ। अपेक्षित स्वातन्त्र्य के अभाव में भी, दण्ड या राजकोष को झेलते हुए इन पत्रकारों ने अभीष्ट ईमानदारी तथा निर्भीकता के साथ भारतीय अस्मिता को वाणी दी जिससे असाधारण का सत्साहस लगा और वही राष्ट्रीय चेतना से परिपूरित नवजागरण का हेतु सिद्ध हुआ।

भारतेन्दु युग की पत्रकारिता सामाजिक पुनर्जागरण की दिशा में विशेष सचेष्ट दिखाई देती है। भारतेन्दु जी ने इसका यथाशक्ति नेतृत्व किया। 'कविवचन सुधा' में अपनी समाज नीति की घोषणा करते हुए उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण सूत्र दिये थे–'नर नारि सम होय' और दूसरे 'स्वत्व निज भारत में है।' भारतीय नारियों के उद्धार या सुधार के लिए उन्होंने 'बालाबोधिनी' नामक एक स्वतन्त्र पत्रिका आरम्भ की। स्त्री जनों की प्यारी, हिन्दी भाषा में सुधारी 1874 ई० में प्रकाशित यह हिन्दी की प्रथम महिलापयोगी पत्रिका है। इस युग की पत्रिकाओं में बाल-कल्याण की ओर भी ध्यान दिया गया और फलतः 1882 में 'बाल दर्पण' नामक एक स्वतन्त्र बालोपयोगी पत्रिका प्रारम्भ हो गयी, इसके पूर्व 1875 ई० से प्रकाशित साप्ताहिक 'काशी पत्रिका' यह दायित्व निभा रही थी।

आलोच्य पत्र-पत्रिकाओं ने समाज सुधार का बीड़ा उठाया। कभी-कभी यथा स्थिति का समर्थन करते हुए ये प्रतिगामी भी हो गईं जैसे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने 987 व्यक्तियों के हस्ताक्षरों द्वारा जब यह मांग की कि विधवा विवाह को कानूनी मान्यता प्रदान की जाय तो इसकी गहरी प्रतिक्रिया तत्कालीन पत्रों में हुई। 'समाचार सुधा दर्पण' ने 36767 हस्ताक्षरों द्वारा इसका विरोध किया, साथ ही विलायती और भारतीय नारी चरित्र की तुलना करते हुये भारतीय सामाजिक पवित्रता को बनाये रखने का आग्रह किया। दूसरी ओर समाज के सुधार अभियान विशेषतः सती प्रथा के समर्थन में इन पत्रों ने बहुत लिखा। सीमान्त पर्वतीय अन्चल से प्रकाशित 'अल्मोड़ा अखबार' ने नवजागरण के क्षेत्र में बड़ा कार्य किया। उसने बेगार प्रथा, कुलियों की दुर्दशा, अशिक्षा, मद्यपान आदि प्रश्नों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। कुछ पत्रों ने तो सामन्ती व्यवस्था के उन्मूलन की मांग की। यह आवाज इतनी प्रभावी हो गई कि इसका विरोध करने के कारण हिन्दी बंगवासी जैसा प्रसिद्ध पत्र कुख्यात हो गया और बन्द हो गया। इसके अतिरिक्त जातीय भेदभाव, खान-पान की छुआछूत, भूत प्रेत, तन्त्र मन्त्र अर्थात मिथ्या विश्वासों से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री प्रकाश में आयी जिससे आधुनिकता की अवधारणा का विकास हुआ। भारतेन्दु युगीन पत्र जहाँ विरोध की भूमिका निभा रहे थे, वहीं रचनात्मक कार्य भी कर रहे थे। इसीलिए 'भारत दुर्दशा प्रवर्त्तक' और 'भारत सुदशा प्रवंतक' दोनों पत्र इस युग में प्रकाशित हुए थे। स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज आन्दोलन, स्वामी श्रद्धानन्द, नवीन चन्द्र राय, राजा राममोहन राय, द्वारका नाथ ठाकुर आदि के चिन्तन का उस युग की पत्रकारिता पर गहरा प्रभाव पड़ा।

भारतेन्दुयुगीन पुनर्जागरण धार्मिक भावना से अपेक्षाकृत अधिक प्रेरित दिखाई देता है। इस युग के पत्रकारों ने अंग्रेजों की पक्षपात नीति की खरी ओलाचना की। उन्होंने महसूस किया कि अंग्रेज प्रशासन मन्दिरों में तो जूते पहनकर जब घुस जाते है किन्तु दूसरी ओर मेरठ के कमिश्नर ने यह व्यवस्था दी है कि उससे मिलने के लिए जूते उतार कर आना होगा। मेरठ गजट के 25 मार्च 1871 के अंक में उस पर कई

लेखकों ने क्रोध प्रकट किया। संभवतः इसके पीछे मंगल पांडे जैसे क्रांतिकारियों की स्मृति सक्रिय थी। कई पत्रकारों ने खृेष्ठ (क्रश्चियन) धर्मोपासकों पर व्यंग्य करते हुए गोमांस की बिक्री का विरोध किया। 'उचितवक्ता' ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के अभियोग को भरसक नैतिक समर्थन दिया। उन्हें अदालत में शालिगराम की मूर्ति लाकर कसम खाने का निर्देश दिया गया था और आज्ञोलंघन कर देने के कारण उन्हें जेल भेज दिया था। अतः सन् 1883 के कई अंकों में 'उचितवक्ता' ने सरकार को ललकारते हुए जनता से श्री बनर्जी का साथ निभाने की अपील की।

इस युग में आर्य समाजी और सनातनी वर्गों के बीच जो सैद्धातिक संघर्ष हुआ, वह चिरस्मरणीय रहेगा। 'उचितवक्ता' के सम्पादक दुर्गाप्रसाद मिश्र कलट्टर सनातनी थे और आर्य समाजियों को प्रायः ललकारते रहते थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जब 1878 ई० में विधिवत आर्य समाज की स्थापना की तो उनके पक्ष और विपक्ष में बहुत से लेख प्रकाश में आये। आर्य दर्पण, सद्धर्म प्रचारक, आर्य मित्र आदि जहाँ उनकी विचारधारा के ध्वज वाहक थे वहीं सारसुधा निधि, धर्म प्रकाश, सुधाकर आदि प्रबल विरोधी बन गये थे। 'बिहार बन्धु' में प्रकाशित आर्य समाजी रुद्र दत्त शर्मा और सनातनी पं० अम्बिकादत्त व्यास का शास्त्रार्थ आज भी पठनीय है। इस वाद-विवाद के मुख्य मुद्दे थे—मूर्ति पूजा, अवतारवाद, श्राद्ध कर्म, पौराणिक आख्यान आदि। इस युग में गोहत्या निषेध को लेकर कई पत्र प्रकाषित हुए। एक विचित्र तथ्य यह है कि धार्मिक कट्टरता के बावजूद साम्प्रदायिक संघर्ष की गन्ध इन पत्रों में नहीं आती। यद्यपि जातियों और समुदायों के अनेक पत्र इस युग मे प्रकाशित हो रहे थे जैसे-ब्राह्मण समाचार, क्षत्रिय पत्रिका, कायस्थ समाचार, वैश्यसुदशा प्रवंतक, खत्री हितकारी आदि, फिर भी इनमें जातीय तनाव न होकर अपना एक निश्चित रचनात्मक कार्यक्रम था। इस बीच ईसाइयों के भी कई पत्र निकले। सन् 1863 में आगरा से प्रकाशित मासिक 'लोकमित्र' शुद्ध हिन्दी भाषा का समर्थक ऐसा ही मिशनरी पत्र था। 'ब्राह्मण समाज' से संबन्धित पत्र भी हिन्दी को समर्थन दे रहे थे। हां, उनकी पारस्परिक नोंक-झोंक बड़ी रोचक और ज्ञानवर्धक थी। स्पष्ट है कि इस युग की पत्रकारिता धर्म आध्यात्म को राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का पोषक तत्त्व मानकर चल रही थी। इन पत्रों की आर्थिक स्थिति यद्यपि बहुत दयनीय थी। 'कविवचन सुधा' जैसे पत्र की ग्राहक संख्या मात्र 275 थी, 'ब्राह्मण' भी किसी तरह 100 ग्राहक जुटा पाया था। उसे हर अंक में अनुग्राहक जजमानों (ग्राहकों) से गिड़गिड़ाना पड़ता था—'अब तो करो दक्षिणा दान, हर गंगा।' बालकृष्ण भट्ट के घर भोजन सामग्री तभी आती थी जब कहीं से 'हिन्दी प्रदीप' का शुल्क आ जाता था। 21 पत्रों के सम्पादक पं० रुद्र दत्त शर्मा को सचमुच पेट के लाले रहे हैं फिर भी एक व्यसन था मिशन था इन पत्रकारों का। वे इनके माध्यम से बराबर पुनर्जागरण की अलख जगाते रहे। अपनी दुर्दशा पर बिना रोये हुए, प्रायः व्यंग्य विनोद द्वारा वे इसका समाधान

खोज लेते थे जैसे–'हिन्दी प्रदीप' का यह संवाद देखिये—

स्वर्ग क्या है—विलायत।
महापाप का फल क्या है—हिन्दुस्तान में जन्म लेना।
महापापी कौन—देश भाषा के अखबारों के एडीटर।

यह उल्लेखनीय है कि उस युग में साक्षरता केवल 6 प्रतिशत था। सर्वत्र उर्दू के पत्रों का आधिपत्य छाया हुआ था। आरम्भ में जब उर्दू के 86 पत्र छप रहे थे तो उत्तर प्रदेश और पजाब में हिन्दी के मात्र 8 पत्र थे। धीरे-धीरे हिन्दी पत्रकारिता ने उसे परास्त कर दिया। इस बीच ईसाइयत की बाढ़ को स्वामी दयानन्द ने रोका और वैचारिक चेतना को गति दी, हिन्दी पत्रकारिता ने। कानून, आरोग्य, ज्योतिष, धर्म, आध्यात्म, इतिहास-भूगोल इन सभी विषयों पर पत्र पत्रिकाएं निकली। 'कविवचन सुधा' पहले जहां प्राचीन कविताओं के संकलन प्रकाशित करती थी, वहीं अब जहाज का सफर और भूकम्प जैसे विषयों पर भी लेख छापने लगी। उसमें पहली बार देवका अष्ट याम, पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, कबीर की साखियां और बिहारी के दोहे छपे। जिससे स्थायी साहित्य की रक्षा की जा सकी। दूसरी आर उसका 'समाचाराव जी' स्तम्भ बहुत सामयिक सिद्ध हुआ। भारतेन्दु ने संस्कृत, मराठी, भोजपुरी, उर्दू, ब्रज, बंगला, अंग्रेजी, आदि के मिश्रण से बनी हुई एक नई भाषा की तलाश की। उन्होंने श्री निवासदास, राधाचरण गोस्वामी, तोताराम वकी, गदाधर सिंह, जैसे कितनी ही प्रतिभाओं को निखारा और भारतेन्दु मण्डल का गठन किया। उसके पूर्व हिन्दी पत्रकारिता जहां समस्यापूर्ति तक सीमित थी, वहाँ अब नाटक, उपन्यास आदि विधाओं पर स्वतन्त्र पत्र प्रकाशित हुए। 'आनन्द कादम्बिनी' ने पुस्तक समीक्षा को रूप में साहित्यालोचन को जन्म दिया और हास्य हरितांकुर, विज्ञापन, वीर बहूरियां, समालोचना, सीकर, सम्मति, समीर जैसे स्तम्भ देकर सांगरूपक का निर्वाह किया।

इन लेखकों के प्रयास से सरकारी गजट या रियासती रिसालें भी साहित्यिक पत्रों के सांचे मे ढल गये। 'मालवा अखबार', 'सज्जन कीर्ति सुधाकर', 'सर्व हित', 'मारवाड़ गजट' आदि इसके उदाहरण हैं। हिन्दी गद्य को विकसित करने में इन पत्रों का योग सर्वाधिक है। खड़ी बोली गद्य के पुरस्कर्त्ता लल्लूलाल के 'प्रेम सागर' की छापने का श्रेय 'सारसुधानिधि' को है। खड़ी बोली की पहली कविता 'बलीबर्द' को प्रकाशित करने का यश हिन्दी पत्र- 'वेंकटेश्वर समाचार' को दिया जाता है। इस युग में ही राधाकृष्णदास द्वारा 'बंगवासी' कारिता का पहला इतिहास लिखा गया है। इस युग के प्रसिद्ध पत्र हिन्दी ने कई लेखकों को व्यावहारिक पत्रकारिता का प्राथमिक प्रशिक्षण दिया। तात्पर्य यह है कि विभिन्न साहित्यिक विधाओं और विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रवंतन में इस युग की पत्रकारिता की अभूतपूर्व देन है।

निष्कर्ष यह है कि इस युग की पत्रकारिता युग चेतना के शलाका पुरुष तथा उनके समकालीन समाज सुधारकों, रचनाकारों, पत्रकारों आदि भारतेन्दु माध्यम से नये युग का का प्रवर्तन किया है। आधुनिक काल की भाषिक संचेतना नवीन दृष्टि की विकसनशील विचारधारा, विभिन्न साहित्यिक विधाओं, आन्दोलनों तथा प्रवृत्तियों के आविर्भाव में प्रकाशान्त से भारतीय समाज के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक अर्थात् सर्वांगीण पुनर्जागरण में इस युग की पत्रकारिता का अनन्य योग रहा है।

●

राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

नजीर मुहम्मद

यह हर्ष का विषय है कि राष्ट्रीय नवजागरण की अमर ज्योति जगाने वाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में प्रमुख भूमिका निभाकर देश को स्वतंत्रता दिलाने वाली कांग्रेस की शताब्दी हम इसी साल साथ-साथ मना रहे हैं। वैसे भारतेन्दु बाबू के स्वर्गवास के लगभग तीन वर्ष पूर्व कांग्रेस की नींव पड़ी थी। आगे चलकर कांग्रेस ने जिन विषयों को लेकर जन आन्दोलन चलाए उनके सशक्त अंकुर भारतेन्दु जी के साहित्य में अंकुरित होते हुए दिखाई देते हैं।

भारतेन्दु जी ने अपनी सात साल की अल्पावस्था में देश के स्वाधीनता संग्राम को असफल होते देखा था। अँगरेजों ने कठोरतापूर्वक अमानवीय अत्याचारों द्वारा जनता का दमन किया, इससे भारतवासी अत्यन्त भयभीत हो गए। उनमें सिर हिलाने की भी हिम्मत न रही। भारतेन्दु जी इस तथ्य को समझ रहे थे तभी उन्होंने स्पष्ट स्वर में कहा था—

कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जल बल वासी।
तिन भए सिर न हिलाय सकत कहु भारतवासी॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के घराने में हुआ था। स्वाधीनता संग्राम में हरिश्चन्द्र के पिता गोकुलदास ने अँगरेजों का साथ देकर सेठ अमीचन्द की परम्परा का निर्वाह किया था। अंग्रेज भक्त महाजन परिवार में देश-भक्त हरिश्चन्द्र का जन्म विष-बेलि अमीफल लागि रहे।

भारतेन्दु जी साहित्य को जन-हित का साधन मानते थे। उन्होंने अपने साहित्य में देश की तात्कालिक दुर्दशा का चित्रण करके देश-वासियों को प्राचीन गौरव का स्मरण कराया और उनकी कुप्रवृत्तियों और बुराइयों के प्रति उन्हें सजग करके देशोद्धार का शंखनाद किया। उन्होंने अपनी कविताओं, निबन्धों, प्रवचनों और नाटकों द्वारा साधारण जनता को अंग्रेजी राज्य के शोषण और अन्याय के प्रति सचेत किया।

भारतेन्दु जी ने अनेक यात्राएं करके देश की दयनीय दशा का अवलोकन किया। उस समय देश की दुर्दशा थी; देश के उद्योग-धन्धे नष्ट हो रहे थे। सस्ते विदेशी माल के प्रचार से भारतीय व्यापार समाप्त हो गया था। खाद्य-पदार्थों के भाव बढ़ रहे थे। करों का भार बढ़ रहा था। लोग कौड़ी-कौड़ी को मुँहताज थे। अंग्रेजों से भयाक्रान्त जनता

त्राहि-त्राहि पुकार रही थी। इस दशा को देखकर भारतेन्दु जी का हृदय पीड़ित हो उठा। उन्होंने देश को यह दुर्दिन दिखाने का कारण अंग्रेजी शासन को माना और अपने साहित्य में सीधे तथा रूपकों, प्रतीकों और व्यंग्य चित्रों द्वारा उसकी निन्दा करके उसके विरुद्ध साधारण जनता को उद्‌बोधित करने की चेष्टा की। भारतेन्दु जी जानते थे कि साहित्य का पठन-पाठन करने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक नहीं होती। काव्य और निबन्धों द्वारा अपने विचार साधारण जनता तक पहुंचा पाना कठिन है। अतः साधारण जनता को प्रभावित करने के लिए उन्होंने नाटकों, प्रहसनों और रूपकों का सहारा लिया। उन्होंने स्वयं नाटक लिखे और उनका अभिनय भी किया जिससे जन-मन प्रवाहित हो उठा। 'भारत दुर्दशा' नामक रूपक इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें 'भारत दुर्दैव' को अंग्रेजी राज्य का प्रतीक माना है। वह अपने मुख से अपने कार्यों और गुणों का बखान करते हुए कहता है—

मरी बुलाऊँ, देस उजाड़ँ, महँगा करके अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ धन है मुझको धन्न॥
कौड़ी कौड़ी को करूँ, मैं सबको मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका तो मैं सच्चा राज॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे एक राक्षस मानो जी।

अँग्रेजी शासन में देश का कच्चा माल बाहर जाता था और उससे बनकर आई हुई वस्तुएँ बहुत मँहगी बिकती थी। इस प्रकार भारत का धन विदेश चला जा रहा था। भारतेन्दु जी को इसी का खेद था—

रोअहु सब मिलकें आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।
अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥

प्रारम्भ में कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं ने अंग्रेज शासकों से देश की दीन-दशा का वर्णन करके सुधार कराने की प्रार्थना की थी। भारतेन्दु जी भी इसी मार्ग को अपनाते हुए प्रतीत होते हैं। अपने 'भारत दुर्दशा' नामक नाटक में वे भारतवर्ष के मुख से कहलवाते हैं—

"मातः राजराजेश्वरी, विजयनि मुझे बचाओ! अपनाए की लाज राखो। आगे वह कहता है, हाय परमेश्वर बैकुण्ठ में और राज राजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी:" दूसरे अंक में भारत कहता है "हाय, मैंने जाना था कि अंग्रेजों के हाथ में आकर हम अपने दुखी मन को पुस्तकों से बहलाएँगे और सुख मानकर जन्म बिताएँगे, पर दैव से वह भी न सहा गया। हाय! कोई बचाने वाला नहीं।" इस समय अंग्रेजों के राज्य में सुख प्राप्त होने की भारतेन्दु जी की आशा समाप्त हो जाती है। उन्हें आक्रोश

है भारतवासियों की बुद्धि पर जो अपनी इस अधोगति में भी परमेश्वर और महारानी विक्टोरिया के सहारे की आशा लिए बैठे हैं। 'भारत दुर्दैव' के इस कथन में कितना तीव्र व्यंग्य है, "कहाँ गया भारत मूर्ख! जिसको अब भी परमेश्वर और राजराजेश्वरी का भरोसा है, देखो तो अभी इसकी क्या-क्या दुर्दशा होती है।" भारत की सहायता के लिए न तो परमेश्वर बैकुण्ठ छोड़कर आते हैं और न राजराजेश्वरी सात समुद्र पार से आती है। भारत भाग्य अन्त में अपनी छाती में कटार भोंक लेता है। प्रकारान्तर से यह सिद्ध कर दिया कि राजराजेश्वरी दीन दुखी भारत को सहारा नहीं दे सकती एकता और संघर्ष का मार्ग ही देश को उन्नत बना सकता है।

भारतेन्दु जी जानते थे कि अंग्रेज शासन को चलाने में भारतीय व्यक्ति ही सहायता कर रहे हैं। कर लगाने वाले मन्त्री, रिश्वत लेने वाले पुलिस के अधिकारी, जी हुजूरी करने वाले चाटुकार सब मिलकर देश को बर्बाद कर रहे हैं। गरीब जनता पर अधिकाधिक अत्याचार करके शासकों की सहायता करने वाले व्यक्ति ही खिताब और पदवियाँ प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार के लोगों पर तीव्र आक्रोश भारतेंदु जी ने अपने 'अन्धेर नगरी' प्रहसन में प्रकट किया है, 'अन्धेर नगरी' अंग्रेजी राज्य ही है। इसमें चना और चूरन बेचने वाले के लटके में ऐसे व्यक्तियों की बहुत खबर ली गई। चना खाकर हाकिम लोग दूना टैक्स लगाते हैं। चूरन खाकर अमले अधिक रिश्वत लेते हैं, पुलिस वाले कानून हजम कर जाते हैं, यही नहीं इसे खाकर साहब लोग (अंग्रेज) तो सारा हिन्द ही हजम कर गए हैं। इसका नाम हिन्दू चूर्ण हैं और इसका काम विलायत को धन से भरते रहना है—

चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते।
चूरन अमले सब जो खावें, दूनी रिश्वत तुरत पचावें।
चूरन पुलिस वाले खाते सब कानून हजम कर जाते।
चूरन साहेब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता।
हिन्दू चूरन इसका नाम, विलायत पूरन इसका काम॥

'अन्धेर नगरी' नाटक में जनता के असन्तोष को तीव्र व्यंग्य के साथ प्रकट किया गया है। अन्त में राजा को फाँसी की टिकटी पर खड़ा किया जाता है, जनता को आत्मिक सन्तोष होता है। उस समय गुरु के द्वारा कहा गया यह कथन कि जिस राज्य में धर्म, नीति, बुद्धि या सज्जनों का समाज नहीं होता वह स्वयं चौपटराज की तरह समाप्त हो जाता है, कदाचित अंग्रेज राज्य के प्रति यह भारतेन्दु जी की विनाशकारिणी भविष्यवाणी ही थी क्योंकि उसका भी इसी प्रकार अन्त हुआ—

जहाँ न धर्म, न बुद्धि, नहिं नीति न सुजन समाज।
ते ऐसेहि आपुहि नसैं जैसे चौपट राज॥

भारतेन्दु जी ने अपने विचारों को जनता में फैलाने में सर्वाधिक सहायता अपनी पत्र-पत्रिकाओं से ली। उन्होंने जनता को जगाने के लिए स्वयं कई पत्र प्रकाशित किए तथा

अन्य विद्वानों को प्रोत्साहित कर पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन कराया। भारतेन्दु जी ने अपनी अठारह वर्ष की अवस्था में ही 'कवि वचन सुधा' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 'कवि वचन सुधा' भारतेन्दु जी के विचारों का प्रसार करने वाली प्रमुख पत्रिका थी। स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करने के लिए भारतेन्दु जी का प्रतिज्ञा पत्र इसी पत्रिका में छपा था। इसी में खानदेश के बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिए अपील छापी गई थी। जब बनारस में लार्ड मेयो का लेवी दरबार हुआ तो हरिश्चन्द्र जी ने उनकी आलोचना करते हुए अपना व्यंग्य लेख 'लेवी प्राण लेवी' इसी में प्रकाशित किया था। बाद में इसी में अंग्रेजी सरकार के विरोध में एक मर्सिया प्रकाशित हुआ जिसे पढ़कर अंग्रेज शासक और उनके पिट्ठू अत्यधिक क्रोधित हुए और उन्होंने सरकारी सहायता देना बन्द कर दिया।

सन् 1873 ई० में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके पहले अंक से ही अंग्रेजी शासन के प्रति कटूक्तियों का प्रयोग हुआ। भारतेन्दु जी 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के प्रकाशनारम्भ से ही 'नयी हिन्दी' का आरम्भ मानते थे। इस पत्रिका में साहित्य, विज्ञान, राजनीति, धर्म, इतिहास, पुरातत्व आदि सभी विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ प्रकाशित होती थी। बाद में इसी का नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया। कुछ समय तक इसके प्रकाशक पं० मोहन लाल विष्णु लाल पंड्या जी रहे किन्तु प्रकाशन सुचारू रूप से न चलने के कारण भारतेन्दु जी ने इसको 'नवोदित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से पुनः प्रकाशित किया।

भारतेन्दु जी ने स्त्रियोपयोगी एक पत्रिका 'बालाबोधिनी' नाम से प्रकाशित की थी। इसमें स्त्रियों को सुगृहिणी बनाने, स्त्रियों में जागृति फैलाने आदि के सम्बन्ध में लेखों के अतिरिक्त काव्य, नाटक आदि प्रकाशित होते थे। अंग्रेजों के क्रोध के कारण बाद में यह भी बन्द हो गई।

इन पत्र-पत्रिकाओं में काव्य, नाटक, समालोचना आदि के अतिरिक्त कला, इतिहास सभ्यता-संस्कृति, विज्ञान, जनजागरण आदि विषयों से सम्बन्धित लेख प्रकाशित होते रहते थे। भारतेन्दु जी का यही प्रयास था कि देश के निवासी अपनी दीनहीन दशा को पहचानकर अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न करें। उन्होंने अपने विभिन्न विषयों से सम्बद्ध लेखन कार्य द्वारा जनता को उसकी वास्तविक दशा का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया। सम्पादन, नाटक, उपन्यास व्यंग्य हास्य लेख आदि सभी साधनों से भारतेन्दु जी ने नवजागरण की ज्योति जगाने का प्रयत्न किया।

भारतेन्दु जी देश की जनता में एकता और भ्रातृत्व भावना का प्रसार करना चाहते थे। हिन्दू मुसलमानों के बीच भ्रातृत्व भावना का प्रचार करने के लिए उन्होंने कई कार्य किये। उन्होंने इस्लाम की पंच पवित्रात्मा हज़रत मुहम्मद साहब, बीबी फातिमा, हज़रत अली, इमाम हसन और हुसैन की संक्षिप्त जीवनियाँ लिखकर प्रदर्शित कराई। उन्होंने

मुसलमानों के धर्म ग्रन्थ कुरान शरीफ का हिन्दी में अनुवाद किया। प्रकाशित होने पर इसकी ग्राहक-संख्या बढ़ाने के सम्बन्ध में एक विज्ञापन 19 जनवरी सन् 1874 ई० के 'कविवचन सुधा' के अंक में छापा था। अपने कई लेखों और भाषणों में उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता बढ़ाने और उन्नति करने पर बल दिया। बलिया में दिए गए अपने स्वागत भाषण में उन्होंने कहा था, "हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए। मुसलमान भाइयों! अपने लड़कों को अच्छी से अच्छी तालीम दो। लड़कों को रोज़गार सिखलाओं। विलायत भेजो। पेंशन, वजीफा या नौकरी का भरोसा छोड़ो।" भाई हिन्दुओं! तुम भी मत-मतान्तर का आग्रह छोड़ो। इस महामंत्र का जय करो। जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। सबकी सहायता करो।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने तन, मन, धन से हिन्दी की सेवा की। उन्होंने अपने नाटक, निबन्ध, उपन्यास, गद्य और पद्य सरस काव्यों द्वारा हिन्दी भाषा का शृंगार किया। वे हिन्दी के सच्चे सेवक थे और हिन्दी की सेवा करने वाले मुसलमानों को उन्होंने अत्यन्त आदर सम्मान प्रदान किया। हिन्दी के मुसलमान कवियों के सम्बन्ध में लिखे गए अपने प्रसिद्ध छप्पय के अन्त में उन्होंने यहां तक कहा—

पीरज़ादी बीबी रास्ती पद-रज नित सिर धारिये।
इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये।।

◆

राष्ट्रीय नव जागरण और भारतेंदु के निबंध

कुँवर पाल सिंह

उन्नीसवीं शताब्दी में पूँजीवादी आर्थिक सम्बन्धों के विकास के साथ भारत में नए सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन अनिवार्य हो गये। फलस्वरूप साहित्य में नई अभिरुचियों और संवेदनाओं का उद्भव और विकास हुआ लेकिन इन आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों का सीधा-सीधा तालमेल बैठा देना उचित नहीं, और न केवल संस्कृति के धरातल पर ही अभिरुचियों का विकास क्रम सरलीकृत करके निर्धारित किया जा सकता है। वस्तुतः आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों में जटिल सम्बन्ध होते हैं। स्थूल रूप से दोनों में कार्य कारण सम्बन्ध स्थापित करके सरलीकरण नहीं किया जा सकता। अतः साहित्येतिहास के सन्दर्भ में दोनों के सम्बन्धों और योगदान का विवेचन बहुत सावधानी की अपेक्षा रखता है। बिना इन सम्बन्धों की जांच पड़ताल के हम न भारतीय नव जागरण को समझ सकते हैं और न उस युग के साहित्य को।

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ इस देश की सामाजिक संघटना में विघटन और परिवर्तन दिखाई देने लगे। पुरातन आर्थिक व्यवस्था धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न होने लगी। इससे भारतीय गांवों का आर्थिक ढांचा जो शताब्दियों तक अपरिवर्तनशील और स्थिर रहा, वह बदलने लगा। गाँव अपने आप में पूर्ण आर्थिक इकाई थे लेकिन नए भूमि सम्बन्धों, यातायात के साधनों और पूंजीवादी बाजार के विकास के साथ गाँव अब एक इकाई नहीं रह गये थे बल्कि धीरे-धीरे इस पूंजीवादी बाजार के प्रभाव में आ रहे थे। अंग्रेज जो आर्थिक परिवर्तन लाये, उनसे पूर्व का कोई शासक वर्ग ऐसा करने में सफल नहीं हो सका था। अंग्रेज अपने साथ एक नई तकनीक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था लेकर आये जो सामन्ती व्यवस्था की अपेक्षा अधिक उच्च और प्रगतिशील थी। उसने भारत में दोहरी भूमिका का निर्वाह किया—विध्वंसात्मक और निर्माणात्मक। इस दोहरी भूमिका की जटिलता की द्वन्द्वात्मकता के अध्ययन से ही हम अपने नव जागरण का वस्तुगत मूल्यांकन करने में समर्थ हो सकते हैं।

नई अर्थ व्यवस्था और आधुनिक शिक्षा पद्धति के कारण भारतीय जनता में एक ऐसी चेतना उत्पन्न हुई जिसने मध्यकालीन धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त कर एक तर्क संगत और भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास किया। वैयक्तिक स्वतन्त्रता इसकी दूसरी उल्लेखनीय देन है। इससे एक धर्म निरपेक्ष और उदार दृष्टिकोण का बुद्धिजीवी वर्ग में विकास हुआ। पुरानी संकीर्ण घेराबन्दी से बाहर निकलकर व्यक्ति के अपने निर्णय को प्रमुखता

मिली। प्राचीन धार्मिक कथाओं को विश्वसनीय बनाने और उन्हें आधुनिक समस्याओं से जोड़ने के मूल में भी यही प्रवृत्ति क्रियाशील थी।[1] रेल और सड़कों ने कृषि को व्यावसायिक बानने में बहुत सहयोग दिया। दुनिया सिमट कर छोटी हो गई और विभिन्न क्षेत्र के लोगों को एक दूसरे से कम समय में मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। छुआछूत, भेदभाव और संकीर्णता में कमी आयी। दैवीय विपदाओं के समय एक स्थान से दूसरे स्थान पर अनाज तथा अन्य आवश्यक सामग्री भेजने में सुविधा प्राप्त हुई। पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं तथा चिट्ठी-पत्रों को देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाने में सहायता मिली। इससे पुराने संकीर्ण विचारों को आघात पहुंचाने में बहुत सहायता ही नहीं मिली बल्कि भारत में पहली बार राष्ट्रीयता का तेजी से विकास हुआ।

इन नए भौतिक परिवर्तनों के कारण भारतीय जनता में एक ऐसी चेतना पैदा हुई जिसके आधार पर लोग अपनी समस्याओं की वास्तविकता को समझने और उनको दूर करने का प्रयास करने लगे। इस कार्य में प्रेस ने बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया। नव जागरण और राष्ट्रीयता के विकास में भारतीय प्रेस का सबसे बड़ा योगदान है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और अधिक होने लगा। इससे नये विचारों के आदान-प्रदान में और सुविधा हुई। सामाजिक नैतिक रूढ़ियों के विरोध में नव जागरण के अग्रदूतों ने इन पत्र-पत्रिकाओं का अच्छा उपयोग किया। इसके साथ ही ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन की उन नीतियों और कलाओं का भी विरोध किया जो देश हित के विरुद्ध पड़ती थीं। पत्र-पत्रिकाओं ने राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार के अतिरिक्त एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने में भी मदद दी।

भारतेन्दु युग में शायद ही कोई ऐसा साहित्यकार हो जिसका सम्बन्ध किसी न किसी पत्रिका से न रहा हो। पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक रचनाओं के प्रकाशन के साथ ही समसामयिक समस्याओं का भी चित्रण और विश्लेषण होता था। इस प्रकार उनके प्रकाशन का अर्थ था दूसरों की समस्याओं में साझीदार बनना और उनके लिए नई वैचारिक भूमि तैयार करना।[2] ये पत्र-पत्रिकाएं एक ओर जनतांत्रिक भावनाओं का पोषण कर रही थीं, दूसरी ओर समाज की रूढ़ियों पर प्रहार करके राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में भी महत्वपूर्ण योगदान कर रही थीं। इसके साथ ही साहित्य में वैयक्तिकता की भावना भी आयी। साहित्य के पाठकों की सीमित संख्या विस्तृत होने लगी। पहले की तरह अब साहित्यकार श्रोता या पाठक का सीधा सम्बन्ध होता था। इस नई परिस्थिति ने सारी स्थिति बदल दी। अब मुद्रण के माध्यम से वे एक दूसरे से जुड़े हुए थे। मुद्रण यन्त्र के आविष्कार से पूर्व साहित्य में यह प्रवृत्ति बहुत कम थी। परन्तु भारतेन्दु तथा उसके सहयोगियों के वैयक्तिक निबन्धों में इस प्रवृत्ति का समावेश देखा जा सकता है।

भारतीय धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में ईसाई मिशनरियों के आक्रामक रुख के कारण नव जागरण के अग्रदूतों के लिए कठिन मार्ग से गुजरना आवश्यक हो गया। एक ओर उन्हें विदेशियों के समक्ष अपने धर्म और संस्कृति की वकालत करनी पड़ी, दूसरी ओर देशवासियों के सामने धर्म का नया अर्थ स्पष्ट करना अनिवार्य हो गया। उन्हें हर बात को तर्क संगत बनाने की दिशा में अग्रसर होना पड़ा। इस संक्रान्ति काल में धर्म का सहारा लेना बहुत आवश्यक था। क्योंकि धर्म अनिवार्यतः समाज सुधार के साथ जुड़ा हुवा था। पुराण पंथी और सुधारक दोनों ने अपने मत के प्रचार के लिए धर्मशास्त्रों की शरण ली। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती आदि समाज सुधारक इसी श्रेणी में आते हैं। इन्हें रूढ़ियों को तोड़ने में अधिक सफलता मिली। जिन प्राचीन राष्ट्रों का वर्तमान दासता की चक्की में पिस रहा होता है वह अपने नव जागरण काल में अतीत के गौरव को जाग्रत करने की ओर उन्मुख हो जाते हैं। भारत की भी यही स्थिति थी। भारतीयों को आत्म सम्मान का बोध और बराबरी के स्तर पर पश्चिम का सामना करने के लिए इस आत्म विश्वास की बहुत आवश्यकता थी। इस आत्म विश्वास के बिना वे स्वतंत्रता की मांग नहीं कर सकते थे। नव जागरण और सुधारवादी दृष्टिकोण ने भारतीय राष्ट्र को विकसित करने में बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया और धीरे-धीरे तमाम सामाजिक समस्याएँ राष्ट्रीयता में समाविष्ट होती गई। अछूतोद्धार, नारी जीवन की विविध समस्याएँ, रूढ़ियों एवं कुसंस्कारों के विरुद्ध संघर्ष—ये उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हमारे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के अंग बन गये। भारतेन्दु और उनके समकालीनों ने समाज सुधार और राष्ट्रीयता को अभिन्न माना है। वे आर्थिक समस्याओं और राजनीतिक उत्थान को इसी राष्ट्रीय नव जागरण का प्रमुख अंग मानते हैं।

भारतेन्दु के निबन्ध

भारतेन्दु के निबन्धों में बहुत विविधता है। गंभीर अध्ययन और अद्भुत प्रतिभा उनके निबन्धों में ज्ञान की उस प्यास का हमें आभास देती है जो भारतेन्दु और उनके सहयोगियों में मिलती है। जीवन के हर क्षेत्र का मूल्यांकन, विश्लेषण और परिचय उन्होंने अपने पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। वे अपने पाठकों को भारतवर्ष के प्राकृतिक सौंदर्य, तथा उसकी साधारण जनता के जीवन के सांस्कृतिक परिवेश से परिचित कराना चाहते हैं। अपने देश और जनता से उन्हें जितना गहरा प्रेम है, वह हमारे साहित्य में कम ही मिलता है। शुक्ल जी इस पर मुग्ध होकर कहते हैं—"हरिश्चन्द्र और उनके सामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या जिन्दादिली। सब में हास्य या विनोद की भाषा थोड़ी या बहुत पायी जाती है।"[8] आचार्य शुक्ल आगे इसे और स्पष्ट करते हैं—"सबसे बड़ी बात स्मरण करने की यह है कि उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक संबंध भारतीय जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा-पूरा बना था। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में पड़ने वाले त्योहार उनके मन में उमंग उठाते, परम्परा से चले आते हुए आमोद-प्रमोद के मेले उनमें कुतूहल जगाते और प्रफुल्लता लाते थे। आजकल के समान उनका

जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप रंग उन्हें सुझाई न पड़ता।"4

भारतेन्दु जी ने इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, आलोचना, खोज, यात्रा, प्रकृति वर्णन, आत्म चरित, व्यंग्य, विनोद इत्यादि सभी विषयों पर निवंध लिखे हैं। विषय विविधता की दृष्टि से उनके निवंधों की काफी संख्या है। अधिकांश निवंध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन हेतु लिखे गये गये थे। काश्मीर कुसुम, उदय-पुरोदय, बादशाह दर्पण, महाराष्ट्र देश का इतिहास, बूँदी का राजवंश, काल चक्र आदि भारतेन्दु जी के ऐतिहासिक निबंध हैं।

ऐतिहासिक निवंधों की रचना में भारतेन्दु जी का यह मूल उद्देश्य निहित था कि तत्कालीन जनता देश के गरिमामय अतीत से पूर्णतः परिचित हो जाएँ और देश की वर्तमान स्थिति पर केवल अश्रुधारा प्रवाहित न करे, बल्कि उसकी उन्नति का कोई साधन ढूँढ निकाले। 'बादशाह दर्पण' निवंध की भूमिका के अन्तर्गत लेखक भारत की तत्कालीन स्थिति पर क्षोभ व्यक्त करता है—"जो भारतवर्ष किसी समय में सारी पृथ्वी का मुकट मणि था, जिसकी आन सारा संसार मानता था और जो विद्या, वीरता और लक्ष्मी का एकमात्र विश्राम था वह आज हीन-दीन हो रहा है, यह भी काल का एक चरित्र है। जब से यहाँ का स्वाधीनता सूर्य अस्त हुआ उसके पूर्व समाज का उत्तम शृंखलाबद्ध कोई इतिहास नहीं है।"5

भारतेन्दु के साहित्यिक निवन्धों में काफी विविधता है। सरयू पार की यात्रा, मेंहदावल, हरिद्वार, वैद्यनाथ की यात्रा, ग्रीष्म ऋतु तथा दिल्ली दरबार-दर्पण। इन निबंधों में वस्तु विषय, वर्णन तथा भाषा शैली की बहुत विविधता है। एक ही निवंध में अनेक प्रकार के वर्णन तथा शैली की अनुपम छटा देखने को मिलती है। सरयूपार की यात्रा, बैद्यनाथ की यात्रा तथा हरिद्वार निबंध तो आज भी हिन्दी के श्रेष्ठ निवंधों में माने जाते हैं। यात्राओं के वर्णन में जीवन की स्वच्छन्दता, सजीवता और चपलता मिलती है। कहीं-कहीं प्राकृतिक वर्णन इतने मनोहर बन पड़े हैं कि निवंध में नया आकर्षण उत्पन्न करते हैं। वैद्यनाथ की यात्रा का एक उद्धरण प्रस्तुत है—"प्रकृति का नाम काली से सरस्वती हुआ, ठंढी-ठंढी हवा मन की कली खिलाती हुई बहने लगी। दूर से धानी और काही रंग के पर्वतों पर सुनहरापन आ चला, कहीं आधे पर्वत बादलों से घिरे हुए, कहीं एक साथ वाष्प निकलने से उनकी चोटियां छिपी हुई और कहीं चारों ओर से उन पर जलधारापात से बुक्के की होली खेलते हुए बड़े ही सुहावने मालूम पड़ते थे। पास से देखने से भी पहाड़ बहुत ही भले दिखाई पड़ते थे।"6

भारतेन्दु के व्यंग्यात्मक निवंध सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। लेवी प्राण लेवी, स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन, ज्ञाति-विवेकनी सभा, पांचवें पैगम्बर, अंग्रेज स्त्रोत तथा कंकड़ स्त्रोत इत्यादि निवंधों में उनका व्यंग्य बहुत ही सशक्त, प्रभावशाली तथा मधुर है। इन निबंधों

में व्यक्ति, समाज और राजनीति सभी पर व्यंग्य किया गया है। इनमें शुद्ध हास्य की कमी है और व्यंग्य बहुत तीखा और मार्मिक है।

'लेवी प्राण लेवी' निबंध में एक राजनीतिक व्यंग्य है। काशी में सरकार का जो दरबार हुआ था, उसमें रईसों की क्या दशा हुई थी, इसका व्यग्यपूर्ण शैली में वर्णन किया गया है। इस निबंध के कारण भारतेन्दु जी को सरकार का कोप भी सहना पड़ा था। निबंध का प्रारम्भ ही तीखे व्यंग्य के साथ होता है—"श्रीयुत लार्ड म्यो साहिब बहादुर गवर्नर जेनरल हिन्द ने काशी में 1 नवम्बर को एक 'लेवी' का दर्बार किया था। यद्यपि दर्बार और लेवी में बहुत भेद है पर यह लेवी और दर्बार दोनों के बीच की अपूर्व वस्तु थी। श्री मन्महाराजाधिराज काशीराज की कोठी में इस लेवी के हेतु एक डेरा दल बादल खड़ा किया गया था जो सूर्य नारायण और श्रीयुन लार्ड साहिब के तेज और प्रताप परम सुशीतल खसखाने की भांति हो गया था और गरमी भी मारे गरमी के इसी खसखाने में छिपी थी। डेरे के बीच में चदवा के नीचे एक सोने की कुरसी धरी थी। नाम लिखने वाले मुन्शी बद्रीनाथ फूले फाले अबा पहिने पगड़ी सजे पुराने दादुर की भांति इधर-उधर उछलते और शब्द करते फिरते थे। बाबू भी वैसे ही छोटे तेंदुए बनें गरज रहे थे।"[7]

'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' एक बहुत प्रसिद्ध निबध है। इसकी कल्पनात्मक शैली उल्लेखनीय है। इस निबंध में केशव चन्द्र सेन तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती पर आक्षेप किया गया है। जब ये दोनों सुधारक स्वर्ग में जाते हैं तो वहाँ बड़ा उपद्रव खड़ा हो जाता है। वहाँ दो दल होते हैं—कंजरवेटिव और लिबरल। इन दोनों दलों के विभिन्न विचार होते हैं। एक दल इन दोनों सुधारकों का घोर विरोधी होता है और दूसरा दल इनके प्रति गहरी आस्था रखता है। दोनों दलों के मेमोरियल तैयार कर स्वक्षरित होकर परमेश्वर के पास भेजे गये। परमेश्वर ने 'सिलेक्ट कमैटी' आयोजित की। सिलेक्ट कमैटी के कई अधिवेशन हुए। अन्त में कमैटी ने इन दोनों की रिपोर्ट इस प्रकार दी—"हम लोगों की सम्मति में इन दोनों पुरुषों ने प्रभु की मंगलमयी सृष्टि का कुल विघ्न नहीं किया वरंच उसमें सुख और संतति अधिक हो, इसी में परिश्रम किया। जिस चडाल रूपी आग्रह और कुरीति के कारण मनमाना पुरुष धर्म पूर्वक न पाकर लाखों स्त्री कुमार्गगामी हो जाती हैं, लाखों विवाह होने पर जन्म भर सुख नहीं भोगने पातीं, लाखों गर्भनाश होते और लाखों ही बाल हत्या होती हैं, उस पापमयी परम नृशस रीति को इन लोगों ने उठा देने में अपने शक्यभर परिश्रम किया। जन्मपत्री की विधि के अनुग्रह से जब तक स्त्री-पुरुष जीयें एक तीर घाट एक मीर घाट रहें, बीच में इस वैमनस्य और असंतोष के कारण स्त्र व्यभिचारिणी पुरुष विषयी हो जायें, परस्पर नित्य कलह हो शान्ति स्वप्न में भी न मिले, वश न चलै, यह उपद्रव इन लोगों से नहीं सहे गये।"[8]

'अंग्रेज स्त्रोत' में अंग्रेजों पर व्यंग्य है। वे (अंग्रेज) चाहते थे कि भारतीय लोग उनके रंग में रंग जाए। उनकी इस स्वार्थ सिद्धि भावना को अत्यधिक हास्यपूर्ण ढंग से प्रस्तु

किया गया है—"हे सौम्य, हम वही करेंगे, जो तुम को अभिमत है। हम बूट पतलून पहिरेंगे। नाक पर चश्मा देंगे, काटा और चिमटे से टिबिल पर खायेंगे, तुम हम पर प्रसन्न हो हम तुमको प्रमाण करते हैं।"[9] भारतेन्दु जी के व्यंग्यों में जितना कटाक्ष निहित है उतना साधारण ढंग से कहने में नहीं है। व्यंग्य करते समय उन्होंने किसी को नहीं बख्शा है। 'कंकड़ स्त्रोत' निवन्ध में उन्होंने काशी की म्यूनिसिपैलिटी के प्रवंध पर छींटाकशी की है। 'मदिरा स्त्रोत' तथा 'स्त्री सेवा पद्धति' भी उनके व्यंग्यात्मक निबंध हैं।

'वैष्णवता और भारतवर्ष' में भी धार्मिक सुधार की बात अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से कही गई है। इस निबन्ध में भारतेन्दु जी ने तत्कालीन दुरवस्था, ब्रिटिश शासन की दरिद्रता तथा भारतीयों की मानसिक संकीर्णता की कटु आलोचना की है। इससे इनकी निर्भीकता का परिचय मिलता है। उनका यह कथन कितना सत्य है "जब पेट भर खाने ही को न मिलैगा तो धर्म कहाँ बाकी रहैगा, इससे जीव मात्र के सहज धर्म उदर पूरण पर अब ध्यान दीजिये। परस्पर का वैर छोड़िए। शैव, शाक्त, सिक्ख जो हों, सबसे मिलो। उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है उसको आर्य क्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं।"[10] भारतेन्दु के लिए धर्म व्यक्तिगत आस्था की वस्तु है। सार्वजनिक प्रदर्शन से अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

भारतेन्दु का सबसे महत्वपूर्ण निबन्ध 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' में उनके वास्तविक दृष्टिकोण और देश के प्रति उनकी चिन्ता का आभास मिलता है। देश के लोगों में आलस्य की प्रवृत्ति पर वे बहुत दुखी है। उनका विचार है कि भारतीय लोगों के लिए अच्छे नेतृत्व की सबसे बड़ी जरूरत है। उनका पूरा विश्वास था कि यदि देश के लोगों को सही रास्ता दिखाया जाये तो ये उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचने में समर्थ हो सकते हैं।

हिन्दुस्तानी राजा महाराजा सेवा के नाम पर जनता को लूटते खसोटते हैं। सरकारी काम काज और अपने आप मे ही लीन रहते हैं। इन्हें आम आदमी की कोई चिन्ता नहीं। भारतेन्दु इस सन्दर्भ में लिखते हैं—"तुम्हें गैरों से कब फुरसत हम अपने गम से कब खाली। चलो बस हो चुका मिलना न हम खाली न तुम खाली।"[11]

आर्य लोगों के समाज की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—"राजा और ब्राह्मणों ही के जिम्मे यह काम था कि देश में नाना प्रकार की विद्या और नीति फैलावें और अब भी ये लोग चाहें तो हिन्दुस्तान प्रतिदिन कौन कहैं प्रतिछिन बढ़ै। पर इन्हीं लोगों को सारे ससार के निकम्मेपन ने घेर रखा है।"[12] आधुनिक युग में जबकि विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक यंत्र, अंग्रेजी विद्या और जगत की उन्नति से सम्बन्धित लाखों पुस्तकें हमें उपलब्ध हैं फिर भी हम कोई सार्थक कार्य नहीं कर पा रहे हैं। मात्र कूड़ा फेंकने वाली चुंगी की गाड़ी बने हुए हैं। भारतेन्दु जी सावधान करते हैं कि "यह वह समय है जब अमेरिकन, अंगरेज, फरासीस आदि तुरकी ताजी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। उस

समय हिन्दु काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जाएगा फिर कोटि उपाय किए भी आगे न बढ़ सकैगा।"13 सामाजिक, राजनीतिक चेतना और समय की कीमत को पहचाना जाना आवश्यक है। समय के सदुपयोग की चर्चा करते हुए भारतेन्दु ने लिखा है—विलायत में गाड़ी के कोचवान भी अखबार पढ़ते हैं। जब मालिक उतर कर किसी दोस्त के यहां गया, उसी समय कोचवान ने गद्दी के नीचे से अखबार निकाला। यहां उतनी देर कोचवान हुक्का पीएगा या गप्प करैगा। सो गप्प भी निकम्मी। वहां के लोग गप्प ही में देश के प्रबन्ध छांटते हैं। वहां के लोगों का यह सिद्धान्त है कि एक छिन भी व्यर्थ न जाय।"14 इन्हें दुख है कि भारत में आदमी जितना निकम्मा हो, उतना ही अमीर समझा जाता है। चारों तरफ दृष्टि डालने पर स्पष्ट दिखाई देता है कि अमीरों की मुसाहबी, दलाली या अमीरों द्वारा किसी की जमा मार लेने के अलावा रुपया इकट्ठा करने का और कोई रास्ता नहीं है। चारों ओर भूखमरी, गरीबी, बेरोजगारी और निकम्मेपन का साम्राज्य छाया हुआ है।

भारतेन्दु का विचार था कि राजा-महाराजाओं तथा पंडित पुरोहितों से हमें कोई भी आशा नहीं करनी चाहिए। आलस्य त्यागकर अपना रास्ता स्वयं खोजने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। देशकाल के अनुरूप और उपयोगी बातों को ही ग्रहण किये जाने पर सबसे अधिक बल दिया लेकिन कुलीन प्रथा तथा बहुविवाह का उन्होंने जमकर विरोध किया है। साम्प्रदायिक विद्वेष के विपरीत वे भाई चारे की भावना से जीवन जीने की सलाह देते हैं। "घर में आग लगे तब जिठानी द्यौरानी को आपस का डाह छोड़कर एक साथ वह आग बुझानी चाहिए।"16 भारतेन्दु स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग के कट्टर समर्थक हैं। उन्होंने विदेश में निर्मित वस्तुओं के उपयोग करने को बुरा बताते हुए लिखा है—"हाय, अफसोस तुम ऐसे हो गये कि अपने निज के काम की वस्तुएं भी नहीं बना सकते।"16

चुंगी और पुलिस के भ्रष्टाचार का हम आये दिन रोना रोते रहते हैं। शायद हम इसे अपने युग की देन समझते हैं परन्तु इस भ्रष्टाचार को तो पूंजीवादी व्यवस्था अपने जन्म के साथ ही लेकर पैदा हुई है और इस व्यवस्था के रहते कोई माई का लाल इसे समाप्त नहीं कर सकता। भारतेन्दु जी को लखनऊ में जो अनुभव हुए उसकी एक झलक प्रस्तुत है—"हम लोग ज्यों ही नगर में प्रवेश करने लगे जमदूतों ने रोका। सब गठरियों को खोल-खोल के देखा। जब कोई वस्तु न निकली तब अंगूठियों पर (जो हम लोगों के पास थीं) आ झुके। बोले इसका महसूल दे जाओ। हम लोग उतर के चौकी पर गये। वहाँ एक ठिगना सा काला रूखा मनुष्य बैठा था। नटखटपन उसके मुखरे से बरसता था। मैंने पूछा क्यों साहब बिना बिकरी की वस्तुओं पर भी महसूल लगता है। बोले हाँ, कागज देख लीजिए। छपा हुआ है। मैंने कागज देखा, उसमें भी यही छपा था। मुझे ंड के यहाँ की गवर्नमेंट के इस अन्याय पर बड़ा दुःख हुआ। मैंने उनसे पूछा कि कहिए

कितना महसूल दूँ। आप नाक गाल फुला कर बोले कि मैं कुछ जवहिरी नहीं हूँ कि इन अंगूठियों का दाम जानूँ। मोहर करके गोदाम को भेजूंगा। वहाँ सुपरेन्टेन्डेन्ट साहब साँझ को आकर दाम लगावेंगे। मैंने कहा कि साँझ तक भूखों कौन मरेगा। बोले इससे मुझे क्या ? कहाँ तक लिखूं इस दुष्ट ने हम लोगों को बहुत छकाया। अन्त में मुझे क्रोध आया तब मैंने उसको नृसिंह रूप दिखाया और कहा कि मैं तेरी रिपोर्ट करूँगा। पहले तो आप भी बिगड़े, पीछे ढीले हुए; बोले अच्छा जो आपके धरम में आवे दे दीजिए। तीन रुपये देकर प्राण बचे तब उनके सिपाहियों ने इनाम मांगा।"[17]

भारतीय राजा और जमींदार अपनी जनता के लिए आदमखोर हैं लेकिन ब्रिटिश सरकार के सामने बिल्कुल मेमने हैं। अपने से शक्तिशाली के सामने दुम हिलाओ और निर्बल पर गुर्राते रहो। इस दास प्रवृत्ति पर भारतेन्दु का व्यंग्य देखिए—"वाह वाह दर्बार क्या था, 'कठपुतली का तमाशा' था या बल्लमटेरों की 'कवायद' थी या बन्दरों का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या 'फौजदारी' की सजा थी।"[18]

भारतीय सामंत जो जड़ और प्रगतिविरोधी हैं, वे आज भी इतिहास विरोधी शक्ति के रूप में विद्यमान है। देश के निर्माण में वर्ग की हैसियत से उनकी भूमिका नकारात्मक है। सामंतवाद अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा और जीवनी शक्ति खो चुका है। इस ऐतिहासिक सत्य को प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में विस्तार से चित्रित किया है। भारतेन्दु हिन्दी के पहले लेखक हैं जिन्होंने इस ऐतिहासिक सत्य का अपनी रचनाओं में उदघाटन किया था। अवध के ताल्लुकेदारों के सम्बन्ध में उन्होंने 1871 ई० में लिखा था—"यहाँ के हिन्दू रईस, धनिक लोग असभ्य हैं और पुरानी बातें उनके सिर में भरी हैं। मुझसे जो मिला उसने मेरी आमदनी, गाँव, रुपया पहले पूछा और नाम पीछे।… …ईश्वर यहाँ के लोगों को विद्या का प्रकाश दें और पुरानी बातें ध्यान से निकालें।"[19]

जन जागरण में भारतेन्दु साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका से भली भाँति परिचित हैं। वे अपने समकालीन साहित्यकारों से ऐसी सार्थक रचनाएँ लिखने का आग्रह करते हैं। वे स्वयं भी जीवन भर इस कार्य में संलग्न रहे—"इसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे गीतों का संग्रह करूँ और उनको छोटी-छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूँ। इस विषय में मैं, जिनको जिनको कुछ भी रचना शक्ति है, उनसे सहायता चाहता हूँ कि वे लोग भी इस विषय पर गीत वा छन्द बनाकर स्वतन्त्र प्रकाश करें या मेरे पास भेज दें, मैं उसको प्रकाश करूँगा और सब लोग अपनी मंडली में गाने वालों को यह पुस्तक दें।……स्त्रियों की भी ऐसे ही गीतों पर रुचि बढ़ाई जाय और उनको ऐसे गीतों के गाने का अभिनन्दन किया जाय। इसका (पुस्तकों का) मूल्य अति स्वल्प रखा जाय। जिन लोगों को ग्रामीणों से संबंध है वे गाँव में ऐसी पुस्तकें भेज दें। इस हेतु ऐसे गीत छोटे-छोटे छंदों में और साधारण भाषा में बनें।"[20] भारतेन्दु कवियों, गायकों और समाज सुधारकों से आग्रह करते हैं कि वे इन रचनाओं के माध्यम से बाल विवाह कुरीतियों, कुसंस्कारों, शिशु हत्या, अंग्रेजी

फैशन, मद्यपान, फूट और बैर भारत की दुर्दशा, जाति प्रथा, आलस, अदालतों में जाकर धन और समय बरबाद करने की रीति के विरुद्ध जनमत तैयार करें। इसके साथ ही शिक्षा का व्यापक प्रचार-प्रसार, स्वदेश की चिंता, जनता में मैत्री और एकता की भावना, जन्म भूमि की उन्नति के उपायों और स्वदेशी व्यापार की उन्नति के उपायों का प्रचार इन गीतों के माध्यम से बहुत सरलता से हो सकता है।

भारतेन्दु साहित्य को जनता की वस्तु मानते थे और उसे देश के करोड़ों लोगों तक पहुंचाने के लिये प्रतिबद्ध थे। ये आवश्यकता पहले के मुकाबले आज और अधिक है। राष्ट्रीय एकता, साम्प्रदायिक सद्भाव, जातिवाद, नारी जाति के प्रति अनाचार और अत्याचार साधारण जन के प्रति अन्यायों का प्रतिकार करने में तथा इसी तरह के प्रयासों की सौ साल के बाद और अधिक आवश्यकता है जो भारतेन्दु ने आरंभ किये थे।

भारतेन्दु का एक कथात्मक निबंध 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' है। निबन्ध के प्रारंभ में गम्भीर शैली है। उसके बाद हास्य रस की सृष्टि हुई है। इस निबन्ध का मुख्य विषय है—अमर होने की अभिलाषा से किसी संस्था या पाठशाला की स्थापना। व्यंग्यात्मक पद्धति पर आधारित यह निबंध ऐसे ही किसी अभिलाषी की खबर लेने के उद्देश्य से लिखा गया प्रतीत होता है। विद्यालय के नाम पर चंदा इकट्ठा करने वालों पर खूब व्यंग्यबाण बरसाये गये हैं। पाठशाला बनाने के लिए इतना धन इकट्ठा हो गया कि पाच पीढ़ी तक इन्तजाम हो गया। पुलिस कचहरी आदि पर अवसर मिलते ही भारतेन्दु जी ने खूब व्यंग्य किया है। तत्कालीन पंडितों पर भी आक्षेप किया गया है—"हे मित्र, मेरे निकट जो महाशय बैठे हैं। इनका नाम पंडित पाखंडप्रिय है। किसी समय इस देश में इनकी बड़ी मानना थी। सब स्त्री-पुरुषों को इन्होंने मोह रखा था।"[21] भारतेन्दु के 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' में हास्य का पुट अधिक है। उनका यह निबंध एक मौज मस्ती में लिखा गया है।

भारतेन्दु जी के निबन्धों का साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से अधिक महत्व है। काव्य और नाटक की अपेक्षा उनके निबन्धों में जन जागृति और राष्ट्रीय चेतना अधिक परिलक्षित हुई है। "वह मिलते हैं शासन की पीठ पर व्यंग्य के कोड़े लगाते हुए। दकियानसी समाज को गुदगुदी करते और धकेलते आगे बढ़ते हुए। वह मिलते हैं हिन्दी के लिए अपना सर्वस्व होम करते हुए, प्रभात से उज्ज्वल और संकल्प से सबल हाथ में जलती मशाल लिए साहित्य को भविष्य का पथ दिखाते हुए।"[22]

शुक्ल जी का भारतेन्दु के संबन्ध में यह मूल्यांकन बहुत वास्तविक है, "अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर, द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्ति माल गूंथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधि-

कारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री शिक्षा, समाज सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाते जाते थे। प्राचीन और नवीन का यह सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए-नये या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।"[28]

सन्दर्भ

1. नगेन्द्र (संपादक)—हिन्दी साहित्य का इतिहास (प्रो० बच्चन सिंह का लेख) 1973 दिल्ली, पृ० 440.
2. वही, पृ० 442.
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास (16 वाँ संस्करण) पृ० 432.
4. वही, पृ० 432.
5. ब्रजरत्न दास—भारतेन्दु ग्रन्थावली, तीसरा भाग 1953 पृ० 315.
6. वही, पृ० 960.
7. वही, पृ० 938.
8. वही, पृ० 836-37.
9. वही, पृ० 856.
10. वही, पृ० 801.
11. वही, पृ० 896.
12. वही, पृ० 896.
13. वही, पृ० 896.
14. वही, पृ० 897-98.
15. वही, पृ० 901.
16. वही, पृ० 902-903.
17. वही, पृ० 946.
18. वही, पृ० 939.
19. वही, पृ० 947.
20. वही, पृ० 935-36.
21. प्रो० शिवप्रसाद सिंह (सपादक)—हिन्दी निबन्ध, 1968 कलकत्ता, पृ० 3.
22. जयनाथ नलिन—हिन्दी निबन्ध 1964 दिल्ली, पृ० 28.
23. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 440-41.

●

राष्ट्रीयता और भारतेन्दु

तपेश्वर नाथ

राष्ट्रीयता का सम्बन्ध मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के साथ है। यह एक निःसर्ग-सिद्ध और जन्मजात भावना है। जंगली मानव को भी अपने निकट के लता-वृक्ष, पशु-पक्षी, नदी-झरने आदि कुटुम्ब सदृश प्यारे होते हैं। हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। वस्तुतः राष्ट्रीयता का विकास प्रायः देश की संकटापन्न अवस्था में होता है। करुणावस्था में ही कविता जन्म लेती है। राष्ट्रीय कविता की भी यही कहानी है।

आदिकाल में तो प्रायः राष्ट्रीयता का अभाव ही रहा क्योंकि उस समय के चारण कवि पराधीनता के दुःखानुभव से प्रायः शून्य थे। जब तक पराधीनता के दुःख का अनुभव न हो, तब तक राष्ट्रीयता का महत्त्व अग्राह्य है। अतः सामान्यतः पराधीनता के बाद ही राष्ट्रीयता का उदय होता है। इसमें अनुभूति का ताप और भावों की चोट होती है।

हिन्दी में राष्ट्रीयता का उदय उस समय होता है जब भारत पराधीनता का गरल पानकर समझ चुका था कि—'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।' वस्तुतः हिन्दी में राष्ट्रीयता का प्रवर्त्तन मध्यकालीन भक्ति–आन्दोलन में होता है। भक्ति–आन्दोलन जन-आन्दोलन था। कबीर, तुलसी आदि कवियों ने जनता में धार्मिक और जातीय भावना उभारी। उत्तर मध्यकाल में भूषण, छत्रसाल जैसे कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा जनता में जागरण पैदाकर जातीय व क्षेत्रीय राष्ट्रीयता की भावना को उभारा। रीतिकाल मुगल साम्राज्य का ह्रासकाल था। वीरता और भक्ति-भावना को छोड़ दरबारी कविगण अलंकृत काव्य लिखने में मशगूल थे। इसी विलास-जर्जर स्थिति में मुगलों ने सत्ता का हस्तांतरण गोरे फिरंगियों को कर दिया। अंग्रेजों ने ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से भारतीय राजनीति को अपनी मुट्ठी में कर लिया।

19वीं सदी के पूर्व भारत में देशव्यापी राष्ट्रीय भावनाओं का विकास नहीं हुआ था। देश में राजनीतिक, सैनिक, आर्थिक दुर्बलता व्याप्त थी। वैसे, राजपूतों व मराठों में देशभक्ति का ओजस्वी रूप मिलता है। पर, उनकी देश-भक्ति क्षेत्रीय थी। सर्वव्यापी राष्ट्रीयता के अभाव में देश छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा था। और, इसी के अभाव में अंग्रेज भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए। देशी सामंतवाद का स्थान विदेशी साम्राज्यवाद और पूँजीवाद ने ले लिया।

भारतीय इतिहास में 19वीं सदी पुनर्जागरण–काल है। इस काल में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व साहित्यिक क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। राष्ट्रीय जागरण की पहली लहर सन् 57 के कथित सिपाही-विद्रोह में व्यक्त हुई। यह राष्ट्रीय आन्दोलन का पहला मोर्चा था। अंग्रेज जैसी सशक्त जाति के साथ पहले बड़े संघर्ष में सदियों से मदहोश भारतीय जनता के शरीर पर एक नया आघात जन्य स्फुरण महसूस हुआ। यद्यपि इसे अंग्रेजों ने बेरहमी से कुचल दिया पर इसकी झनझनाहट भीतर-भीतर और भी फैलती चली गई। यह वह युग था जब विदेशी राज्यसत्ता भारतीयों के खून में नहाकर दर्प से अट्टहास कर उठी थी और लेखनी और जुबान पर ताले जड़ दिये गये थे। ठीक इसी समय हमारे आलोच्य कवि पुण्य श्लोक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का आविर्भाव हुआ। उनका काल सन् 1850 ई० से सन् 1885 ई० के बीच पड़ता है। उक्त विद्रोह के बाद भारत की करोड़ों जनता में राजनीतिक जागरण लानेवाले तीन साहित्यकार हुए—बंगला में बंकिमचन्द्र, हिन्दी में भारतेन्दु और गुजराती में सत्यमूर्ति नर्मद। जब बंकिम अपने दृढ़ स्वरों में मातृभूमि को संबोधित कर कह रहे थे—'के बोले माँ, तुमि अबले?' तब काशी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आंखों में आँसू भरकर कह रहे थे—"आवहु सब मिलि कै रोवहु भारत-भाई। हा–हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।।"[1] इन पंक्तियों के सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दर दास का कथन ध्यातव्य है कि—"हिन्दी की ह्रासकारिणी श्रृंगारिक कविता के प्रतिकूल आन्दोलन का श्रीगणेश उस दिन समझा जाना चाहिये जिस दिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक के प्रारम्भ में देशवासियों को सम्बोधित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बहाने को आमन्त्रित किया। इस देश के और यहाँ के इतिहास में वह दिन किसी अन्य महापुरुष के जयन्ती–दिवस से किसी प्रकार कम महत्त्व-पूर्ण नहीं हो सकता। उस दिन शताब्दियों से सोते हुए साहित्य ने जागने का उपक्रम किया था।·········आज हम जिस साहित्यिक प्रगति पर गर्व करते हैं उसका बीजारोपण इसी शुभ दिवस में हुआ था।"

भारतेन्दु जी के राष्ट्रीय साहित्य के महत्त्वांकन के लिए हम तत्कालीन आर्थिक, राजनीतिक सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों का सर्वेक्षण करते चले तो यह अधिक श्रेयस्कर होगा। पहले आर्थिक परिस्थिति को लें।

आर्थिक परिस्थिति–अंग्रेज शासक एक नवीन पूंजीवादी व्यवस्था लेकर देश में आए। उन्होंने भारत की प्राचीन अर्थ-व्यवस्था को बड़ा आघात पहुंचाया। मुफ्त व्यापार की नीति अपनाकर उन्होंने देश के उद्योग-धन्धों और व्यवसायों का सर्वनाश कर दिया। इधर अकाल, महामारी, टैक्स, बेकारी और उधर अंग्रेजो द्वारा देश के आर्थिक शोषण से गरीब जनता त्रस्त हो उठी। तत्कालीन सभी पत्र-पत्रिकाओं में इसके विरुद्ध आवाज भड़की। हिन्दी साहित्यकारों में भारतेन्दु ने अंग्रेजों की शोषक अर्थनीति के विरुद्ध आवाज उठाई। इन्होंने अपने 'भारत–दुर्दशा' नाटक में इन सभी स्थितियों का कच्चा-चिटठा खोलकर रख दिया है—

"अंगरेज-राज सुख साज सजे सब भारी।
पै सब धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी, काल, रोग बिस्तारी॥
दिन-दिन दूने दुःख ईस देत हा-हा री॥
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा-हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥"[3]

इन यथार्थ चित्रों से उन्होंने जनता को पहले-पहल अंग्रेजों की शोषक अर्थ-नीति से परिचय कराया जिससे जनता चौकन्नी होकर जाग उठी।

राजनीतिक चेतना—कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में पहली बार राष्ट्रीय गीत 'कि आनन्द आज भारत भुवने भारत-जननी जागिल' का गायन हुआ। इस राष्ट्रीय गीत की ध्वनि देश के कोने-कोने में गूँज उठी। राष्ट्रीयता की शखध्वनि से सारा भारत जाग उठा। कांग्रेस-अधिवेशनों में शिक्षित-अशिक्षित समस्त जनता भाग लेने लगी। उनमें राष्ट्रीय जागरण की लहर फैल गई। उधर लोकमान्य तिलक ने 'मराठा' और 'केसरी' नामक पत्रों के द्वारा तो इधर बंकिमचन्द ने अपने 'आनन्दमठ' उपन्यास द्वारा नवयुवकों में राष्ट्रीय जोश और क्रांतिकारी विचारों की बिजली भर दी। उनके स्वर-में-स्वर मिलाकर राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी जनता में स्वराज्य या स्वशासन की भावना का प्रसार किया।

सांस्कृतिक चेतना—उसी समय बंगाल में ब्रह्मसमाज व विवेकानन्द का योगमार्ग और गुजरात में आर्यसमाज की भी ज्योति जली। पाश्चात्य और भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ तत्त्वों का संघात और सम्मिलन हुआ। कुछ विद्वानों के अनुसार इस सम्मिलन से भी राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। भारतेन्दु-युग पर शोधकर्त्ता डॉ० कमला कानोड़िया के अनुसार[4]—"भारत की प्राचीन आत्मा तथा शक्ति ने राष्ट्रीयता के नए शरीर में प्रवेश किया और भारतेन्दु युग राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार-प्रसार का युग बन गया।"

राष्ट्रीयता और पत्रिकाएँ—राष्ट्रीय भावनाओं को विकसित करने के उद्देश्य से हिन्दी भाषा में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशनारम्भ हुआ। इससे राष्ट्रीयता के प्रसार में अद्भुत सफलता मिली। इनमें 'स्वराज्य' और 'स्वभाषा' का आन्दोलन एक साथ उठ खड़ा हुआ।

1868 ई० में भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका 'कवि-वचन-सुधा' से पत्रकारिता और राष्ट्रीय जागरण के क्षेत्र में युगान्तरकारी जागरुकता आई। साहित्य का जनता के साथ इससे निकट सम्बन्ध स्थापित हुआ। चूंकि, इनमें उस युग की देश-दशा का सच्चा प्रतिबिंब उभरकर आया। आधुनिक साहित्य के प्रबुद्ध इतिहासकार डॉ० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में[5]—"उस समय हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता थी, साहित्य को शिक्षित जनता की वस्तु बना देना और यह काम पत्र-पत्रिकाओं द्वारा सम्पन्न हुआ।"

निस्संदेह, उस समय राष्ट्रीय चेतना फैलाने में 'कविवचन सुधा' का बहुत बड़ा योगदान रहा। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार⁰—"'कविवचन सुधा' का प्रकाशन प्रारम्भ करके भारतेन्द ने वास्तव में एक नये युग का सूत्रपात किया।......'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' जनता का सशक्त स्वर बन गयी। सरकार का उन्हें कोपभाजन बनना पड़ा लेकिन देश सेवा का बीड़ा उठाकर उन्होंने इतिहास में अपना नाम अमर कर दिया।" 'कविवचन सुधा' का सिद्धांत वाक्य ही यह था—

"खल-गगन सों सज्जन दुखी मत होहिं, हरिपद मति रहै।
अपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होहिं जग आनन्द लहै।
तजि ग्राम कविता, सुकविजन की अमृतवानी सब कहै॥"

इसमें भारतेन्दु ने 'स्वत्व निज भारत गहै' की घोषणा कर भावी स्वराज्य की सूचना बहुत पहले दे दी थी। इसके राजनीतिक लेखों से जहाँ सर्वसाधारण में राष्ट्रीय चेतना की लहर दौड़ गई वहीं सरकार चौकन्नी भी हो गई और इसके कई लेखों को राजद्रोहपूर्ण बताया। इसका दूसरा अवदान था—साफ-सुथरी गद्य-भाषा का आदर्श। 'कविवचन सुधा' की हिन्दी 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' कहलायी। इसका तात्पर्य था—राजा शिवप्रसाद की उर्दूग्रस्त और राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृतनिष्ठ भाषा के बीच का समन्वयात्मक स्वरूप जिसमें प्रवाह, लचीलापन, सजीवता और सर्वसहजता थी। 1873 में भारतेन्दु की 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के प्रकाशन ने हिन्दी भाषा को विकास के एक नवीन पथ पर अग्रसर किया। उसी पत्र द्वारा भारतेन्दु जी ने 'हिन्दी नई चाल में ढली' की उद्घोषणा की। उक्त दोनों पत्रों की लोक-व्यापकता से प्रेरणा पाकर हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की जैसे बाढ़ आ गई और 'हिन्दी दीप्ति प्रकाश', 'बिहार-बंधु', 'बालबोधिनी', 'मित्र-विलास', 'भारत-मित्र', 'सार सुधानिधि' आदि अनेक पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। जून 1874 ई० की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में 'उर्दू का स्यापा' शीर्षक व्यंग्य प्रकाशित हुआ जिसमें उर्दू और उसके समर्थकों पर बड़ा चुटीला व्यंग्य किया गया।

ये पत्रिकाएं भारतेन्दु युगीन हिन्दी साहित्यकारों के लिए 'स्वदेशी' का नारा बुलंद करने का मुख्य मंच बन गईं। राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यों, प्रस्तावों और मांग पत्रों को जन-प्रचलित करने में इनका बहुत बड़ा सहयोग रहा। इससे अधिवेशन के समय सारे देश में एक हलचल-सी मच जाती थी और इसकी प्रतिक्रिया वर्ष भर होती रहती थी। इससे जनमत द्रुतगति से तैयार होने लगे और राष्ट्रीय आन्दोलन ने जनान्दोलन का रूप ले लिया।

हिन्दी साहित्यकारों का योगदान—भारतेन्दु के प्रभाव से मध्यदेश में जैसे एक विस्तृत साहित्यिक प्रभा-मंडल का निर्माण हुआ और इस राष्ट्रीय यज्ञ में भाग लेने के लिए प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि अनेक साहित्यकार आगे आये। इनमें अतीत-गौरव, राष्ट्रीय स्वाभिमान, मानवीय विचार

धारा, अंग्रेजी राज से घृणा कूट-कूट कर भरी थी। पर इन्होंने अंग्रेजी शासन के दमनकारी रुख और जनमत को ध्यान में रखकर अपनी रचनाओं में राष्ट्रभक्ति की कुनैन राजभक्ति के गुड़ में लपेटकर बाँटी। उन्हें फूंक-फूंककर चलना था। पर इससे उनकी देशभक्ति और राष्ट्रीयता पर आँच न आई। यह उनका भावनात्मक अंतर्विरोध नहीं था। उस युग का साहित्य इसका साक्षी है। इस काल का साहित्य राष्ट्रीयता के उत्तम भावों से अनुप्राणित देशभक्तिपूर्ण साहित्य है जिसका सांस्कृतिक पुनर्जागरण तथा राष्ट्रीय उत्थान में अद्भुत योगदान रहा। इस साहित्य में देशवासियों को, राष्ट्रहित त्याग-बलिदान का अपूर्व सन्देश है तथा देशभक्ति की क्रांतिकारी ललकार है। वस्तुतः भारतेन्दु-मण्डल के सभी साहित्यकार राष्ट्रीय साहित्यकार थे। इन राष्ट्रीय साहित्यकारों ने देशोद्धार के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। उदाहरणार्थ ये प्रायः सभी दुर्भाग्यवश अल्पायु हुए। भारतेन्दु बाबू मात्र 35 वर्ष जिये पर इतनी स्वल्प अवधि में उन्होंने जितना और जैसा लिखा उसे कोई कोई महाप्राण व्यक्तित्व ही लिख सकता था। उनकी यह छोटी-सी उम्र हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में 'चिर युवा लेखक' के नाम लिखी जायेगी।

भारतेन्दु-युग साहित्य में विषय-वैविध्य से भी परिपूर्ण रहा। एक ओर प्राचीन विचार-परंपरा का बहाव तो दूसरी ओर पश्चिम के प्रभाववश नवीन यथार्थवादी भौतिक विचार धारा का प्रसार। इस नवीन चेतना ने प्राचीन परंपरा की गंदगी को दूरकर नयी राष्ट्रीय चेतना और उदार मानवतावादी चेतना का मार्ग प्रशस्त किया। जन्मभूमि के उद्धारक, बलिदानी वीर, अन्याय के विरोधी, देशभक्त वीर रस और राष्ट्रीय काव्य के आलंबन बने। नाटक, निबंध, आलोचना, प्रहसन, गोष्ठी-साहित्य, पहेलियाँ-मुकरियाँ आदि सभी रूप विधाओं और शैलियों में सर्वांगीण लेखन हुआ। इतने अधिक विषयों पर हिन्दी साहित्य में पहले कभी इतनी रचनाएँ नहीं हुई थीं। इन्हें एक-एक कर देखें—

नाटक—सर्वप्रथम, सर्वाधिक जागरूक लोक-प्रचलित विधा नाटक को लें। उन्होंने 17 अगस्त 1872 की 'कविवचन-सुधा' में लिखा —"नाटकों के अभिनय करने में जो स्वच्छंदता होती है उसे छोड़कर उससे देश का कितना उपकार होता है कि हम लिख नहीं सकते।........"

अपने 'भारत-दुर्दशा' नाटक में भारतवासियों और सरकार पर उन्होंने बड़े प्रखर व्यंग्य-प्रहार किये। इसमें व्यंग्य का पहला प्रहार देश-दशा से बेखबर आलसी और भाग्यवादी भारतीयों पर किया गया था जो स्वयं अपने देश की दशा सुधारने के बदले अंग्रेजों पर आस लगाकर पशु जैसा जीवन-यापन कर रहे थे। इस नाटक में भारतेन्दु ने भारतीयों में आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया—[7]

"जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती। तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जहँ देखहुं तहँ दुःखहि दुःख दिखाई। हा-हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।"

इसी नाटक में उन्होंने अंग्रेजी सरकार को 'भारत-दुर्दशा' के लिए जिम्मेदार ठहराया—"भारत दुर्दैव—हा-हा-हा ! कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं।........" उन्होंने अंग्रेजी हुकूमत और आर्थिक शोषण-नीति पर भी आघात किया है—

"चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते ।।
चूरन जबसे हिंद में आया। इसका धन-बल सभी घटाया ।।
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता ।।"[4]

भारतेन्दु युगीन नाटकों में धर्म-प्रेम, भगवत्प्रेम और देशप्रेम की बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई है। कहीं-कहीं देशभक्ति के साथ राजभक्ति भी मिल गई है पर, इससे राष्ट्रीयता लांछित नहीं हुई। इसमें उसके तीनों पहलू उजागर हुए। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी', 'सती प्रताप' और 'धनंजय विजय' आदि नाटक अतीत-गौरव से संवलित हैं। इनके आदर्श पात्रों द्वारा जातीय गौरव की जयगाथा गाई गयी है जो राष्ट्रीय चेतना की प्रेरक है। 'भारत-दुर्दशा', 'भारत-जननी' आदि नाटकों में वर्तमान राष्ट्रीय परिस्थितियों का कच्चा चिट्ठा खोलकर रखा गया है। इनमें राष्ट्रीय अधोगति की निर्व्याज अभिव्यक्ति है। इनमें राष्ट्रीयता का उग्रतम रूप सामने आया है। इनके अतिरिक्त उनकी अनेक हास्य-व्यंग्य-पूर्ण नाट्य कृतियाँ हैं जो 'प्रहसन' कोटि में आती हैं। इनमें 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में सामाजिक पाषण्ड से उबरने की प्रेरणा के साथ-साथ उग्र राष्ट्रीयता अभिव्यक्त हुई है। 'अन्धेर नगरी' में अविवेकी राजा और उसके चाटुकार मन्त्री के कारण जनता की विकट स्थिति का चित्रण है। 'प्रेमयोगिनी' में काशी नगरी में व्याप्त छल-छद्ममय व्यवहारों का चित्र है। कुछ सरकार परस्त चुगलखोरों की कानाफूसी के कारण भारतेन्दु जी को अंग्रेजों का कोपभाजन बनना पड़ा था, उस मनोदशा का भी संकेत है। 'विषस्य विषमौषधम्' में एक देशी राजा और राजकुल की अनैतिकता की छाया है। और, 'पाषण्ड-विडम्बन' में जाति, धर्म, संप्रदाय के नाम पर फूट-परस्तों और अलगाववादियों की भर्त्सना की गयी है।

उक्त मौलिक नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने कुछ नाटकों के मौलिक अनुवाद भी किए। एतदर्थ उन्होंने ऐसे ही नाटकों को चुना जिनमें राष्ट्रीय अभ्युदय को बल मिले। ये नाटक तत्कालीन जीवन और साहित्य के मांगलिक सेतु हैं। पाश्चात्य अनुकरण से क्षुब्ध आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु जी की इसी राष्ट्रवादी विशेषता को लक्ष्य कर कहा था[5] "..... आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अन्धड़ों ने उनकी आँखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश-काल का रूप-रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता।"

निबन्ध—राष्ट्रीय भावों के संचार की दृष्टि से उनके निबंधों का भी अशेष महत्त्व है। इन निबंधों में राष्ट्रीयता, देशानुराग और समाज-सुधार की भावनाएँ ओतप्रोत हैं। इस मण्डल के अधिकांश लेखक निबंधकार हैं। इन्होंने अपने निबंधों द्वारा अज्ञान-तिमिर में डूबे जन-जीवन को नवीन स्फूर्ति से अनुप्राणित किया। भारतेन्दु जी ने देशभक्त

बंकिमचन्द्र के लेख 'अंग्रेज-स्तोत्र' से प्रभावित होकर 'स्तोत्र-पंचरत्न' की रचना को जिसमें 'श्री वैश्यास्तवराजे,' 'स्त्री-सेवा-पद्धति,' 'मदिरा स्तवराज,' 'कंकड़-स्तोत्र' और 'अंग्रेज स्तोत्र' नामक पाँच रत्न हैं। इनमें विशेषतः अन्तिम में अंग्रेजी सरकार और उसकी शोषण-नीति पर तीखे प्रहार किये गये हैं। यथा[10]–

"तुम मूर्तिमान हो! राज्यप्रबन्ध तुम्हारा अंग है, न्याय तुम्हारा शिर है, दूरदर्शिता तुम्हारा नेत्र है और कानून तुम्हारे केश हैं ......कौंसिल तुम्हारा मुख है, मान तुम्हारी नाक है, देश-पक्षपात तुम्हारी मोछ है और टैक्स तुम्हारे कराल द्रष्टा हैं, चुंगी और पुलिस तुम्हारी दोनों भुजा हैं, अमले तुम्हारे नख हैं, अन्धेर तुम्हारा पृष्ठ है और आमदनी तुम्हारा हृदय है, खजाना तुम्हारा पेट है, लालच तुम्हारी क्षुधा है, सेना तुम्हारा चरण है, खिताब तुम्हारा प्रसाद है, अतएव, हे विराट रूप अंग्रेज! हम तुमको प्रणाम करते हैं।"

भारतेन्दु युगीन निबंधकारों ने भी अंग्रेजी शासन के प्रति तीव्र असंतोष व्यक्त कर भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना भर दी। यों, कुछ ने विक्टोरिया व रिपन शासन की सुव्यवस्था के गीत भी गाये हैं।

आलोचना—यहाँ आलोचना से तात्पर्य केवल साहित्यिक आलोचना से नहीं है, बल्कि जीवन की आलोचना से है। भारतेन्दु युग में राजनीति के क्षेत्र में स्वराज्य और स्वभाषा आंदोलन का जोर होने के कारण लोगों में आलोचना करने की आदत-सी पड़ गयी। इस युग में प्रजातन्त्र का अंकुरण हो रहा था और प्रजातान्त्रिक मूल्यों के साथ आलोचना का गहरा संबंध होता है। पुनः पाश्चात्य राजनीति के प्रभाव से भी भारतीयों में अंग्रेजों की स्वार्थपूर्ण राजनीति एवं शासन-व्यवस्था की आलोचना प्रचलित हो गयी। राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी इसकी कटु आलोचना करते हुये विभिन्न सुधारों की माँग की। इस नवीन राष्ट्रीय चेतना से ऊर्जित भारतेन्दु युगीन लेखकों ने जन-प्रतिनिधि की नाईं, अंग्रेजी शासन के दोषों एवं उनकी शोषक अर्थ नीति की व्यंग्यपूर्ण मार्मिक आलोचना की। ये अधिकांशतः हास्य-व्यंग्य-विद्रूप की शैली में निबद्ध हैं। उस युग की आलोचना साहित्य-समालोचना से अधिक तत्कालीन जीवन की विसंगतियों की आलोचना थी। वैसे तो नाटकों की आलोचना भारतेन्दु ने लिखी है, पर उससे अधिक प्रासंगिक है—तत्कालीन विसंगति की आलोचना। आज जिस व्यंग्य को नवलेखन में एक स्वतन्त्र विधा के रूप में रेखांकित किया जा रहा है, उसकी बुनियाद भारतेन्दु युगीन आलोचनाओं में ही द्रष्टव्य है। इनमें विषय वैविध्य और सामयिकता है। जैसे—वेश्यागमन, मदिरापान, बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, जुआ, महाजनी, वैधव्य, खुशामद, उपाधि आदि। 'उपाधि' पर प्रतापनारायण मिश्र के एक व्यंग्य की बानगी है[11]—"उपाधि पाना अच्छा हो सही, पर ऐसा ही अच्छा जैसे गधे पर चढ़के वैकुण्ठ जाना। इसलिए कुछ हिन्दी साहित्यकार गधे पर चढ़कर पर बाद में उससे उतर गये थे और वैकुण्ठ पहुंचकर लौट आये थे।" डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने भारतेन्दु युगीन लेखकों के व्यंग्य पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि[12]—"इनके व्यंग्य में

न कहीं दुराव है और न ही छिपाव और चोट सीधे की गयी है। यह चोट भी सुनार की न होकर लोहार के हथौड़े की है।............इस तरह भारतेन्दु युग के हिन्दी साहित्य में व्यंग्य राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक कुरीतियों को दूर करने के लिए है और जिसका उद्देश्य सुधार था।... .....।" निष्कर्षतः भारतेन्दुयुगीन आलोचना व्यंग्य परक थी। व्यंग्य चोटदार था और चोट सुधार के लिए थी। अतः यह सोद्देश्य और रचनात्मक था।

कविता—जैसा कि ऊपर संकेत किया गया, भारतेन्दुयुगीन कविता शृंगारिक प्रणाली का त्यागकर नवीन राष्ट्रीय भाव-धारा में लोक प्रवाहित हुई थी। उसका कथ्य देशोद्धार और सामाजिक अत्याचार का विरोध था। वीरता और राष्ट्रीयता उसका स्थायीभाव थी, महान् देशभक्त उसके आलंबन थे, सामाजिक करुणा उसका संचारी भाव थी, विसंगति उसका उद्दीपन थी। भारतेन्दु के नाटकों के गीत और स्वतन्त्र कविताओं में ये द्रष्टव्य हैं। 'भारत-दुर्दशा' नाटक का आरंभ निम्न कारुणिक पंक्तियों से होता है।

"रोहहु सब मिलि कैं आवहु भारत-भाई।
हा-हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥"

'नीलदेवी' में वे जातीय दैन्य पर आँसू बहाते हुए अपने लिए नहीं, वरन् देश के लिए ईश्वर से गुहार लगाते हैं[18]—"कहाँ करुणानिधि केशव सोये।

जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए॥
हाय सुनत नहिं निठुर भये क्यों परम दयाल कहाई।
सब विधि बूड़त लखि निजदेसहिं लेहु न अबहुँ बचाई॥"

भारतेन्दु जी 'विजयिनी विजय वैजयन्ती' कविता में, जिसकी रचना मिस्र में भारतीय सेना की विजय पर हुई थी, देशभक्ति की बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई है। इसमें जहाँ एक ओर कवि ने "सहसन बरसन सों सुन्यो जो सपने नहिं कान, सो जय आरज शब्द, फरकि उठि सबकी भुजा खरकि उठी तलवार। क्यों आपुहि ऊँचे भए आर्य मोछ के बार।" इत्यादि लिखकर भारत के प्राचीन गौरव के प्रति गर्व प्रकट किया है वहीं देश की वर्तमान हीन दशा की ओर इंगित कर इस प्रकार क्षोभ भी प्रकट किया है—

"हाय वहै भारत भुव भारी, सब ही विधि ते भई दुखारी।
हाय पंचनद, हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत॥
हाय चितौर निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहि मँझारी॥"

उक्त पद में पंचनद, पानीपत, चित्तौर आदि वीर भूमियों का नाम लेकर कवि ने देशभक्ति के भावों को अतिशय ऊर्जित किया है। इन्हीं भावों को बाँधकर बाद में 'हिमालय' शीर्षक कविता लिखने वाले राष्ट्रकवि दिनकर आजादी की लड़ाई में लोक-ललाम बन गये। भारतेन्दुयुगीन राष्ट्रकवियों की दृष्टि भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों पर लगी थी। उन्होंने कभी देश के अतीत का गौरव गान कर वर्तमान दशा के प्रति क्षोभ प्रकट किया तो

कभी भविष्य की चिन्ता कर देशभक्ति के पुनीत भावों का प्रसार किया। उनके राष्ट्रीय संदेशोंका प्रसार-क्षेत्र अत्यंत व्यापक था। उन्होंने समस्त भारत को एक देश, सभी भारतीयों की एक जन्मभूमि मानकर राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति की। उन्होंने देशवासियों को स्वावलंबन का पाठ पढ़ाया और कहा—(अपना हाथ जगन्नाथ)

"अपनो काम आपने ही हाथन भल होई।
परदेशिन परधर्मिन ते आशा नहि कोई॥
धन धरती निज हरी सुकरिहै कौन भलाई।
जोगी काके मीत कलंदर केहि के भाई॥"[14]

आर्थिक शोषक अंग्रेजों की चालाकी पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने चुटकी ली—

"भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन! नहिं अंगरेज॥"[15]

अंग्रेजी काले कानून की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने कहा—

"नई-नई नित तान सुनावै। अपने जाल में जगत फँसावै।
नित-नित हमें करें बल सून। क्यों सखि साजन, नहिं कानून॥"[16]

इस प्रकार, भारतेन्दुयुगीन हास्य व्यंग्यपूर्ण कविताओं का देशोद्धार और सांस्कृतिक परिष्कार की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। डॉ० कमला कानोड़िया के अनुसार—"भारतेन्दु युगीन व्यंग्य काव्य को, इस दृष्टि से राष्ट्रीय काव्य माना जा सकता है।" होली जैसे अलमस्त त्योहार में भी उन्हें भारत की गरीब जनता की दुर्दशा का विस्मरण नहीं होता—

"जुरि आए फाँकेमस्त होली होय रही।
घर में भूँजी भाँग नहीं है, तो भी न हिम्मत-पस्त।
मँहगी परी, न पानी बरसा, बजरौ नाहीं सस्त।
परबस कायर कूर आलसी अन्धे पेट-परस्त।
सूझत कछु न बसंत माँहि ये भे खराब औ खस्त॥"

उनकी कुछ शलाका पंक्तियाँ तो तत्कालीन बलिदानी स्वतन्त्रता सेनानियों के लिए खलबली मचाने वाली थीं। एक नाटक में आपने अंग्रेजों के नरपिशाच रूप को बेनकाब कर उन्हें ललकारा है—

"दुष्ट जवन बरबस तुव संतति घास-साग सम काटैं।
एक-एक दिन सहस-सहस नर-सीस काटि भुव पाटैं॥
ह्वै अनाथ आरत कुल विधवा विलपहिं दीन-दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं, तुम नहिं लजत खरारी॥"

जिस युग में हमारी जुबान पर ताले जड़े थे, हाथ-पाँव में बेड़ियाँ पड़ी थीं, उस युग में ऐसी दो टूक सच्चाई व्यक्त कर देना दुस्साहस का काम था। और, यह काम हमारे महान् स्वतन्त्रता सेनानी युवा साहित्य-महारथी भारतेन्दु बाबू हरिचन्द्र ने पूरा किया।

भारतेन्दु वस्तुतः एक व्यक्ति नहीं, पूरी संस्था थे। उन्होंने अपने प्रभामंडल के चारों ओर लेखकों, गोष्ठियों, सभाओं आदि का व्यापक मंडान रचाया था जिनसे हिन्दी कविता नाटक और सर्वोपरि राष्ट्रीय उत्थान का पथ प्रशस्त हुआ। 'कवितावर्द्धिनी सभा,' 'हिन्दी उद्धारिणी सभा,' 'देशोपकारिणी सभा' आदि की स्थापना इसके दृष्टांत हैं। बलिया की ऐसी ही एक सभा में यह पहरुआ 'भारतवर्षोन्नति-कैसे हो, इस विषय पर क्रांतिकारी व्याख्यान देते हुए हमें यह शलाका सन्देश दे गया था—"भाइयों! अब तो नींद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो, जिससे तुम्हारी भलाई हो, वैसी किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो, परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो, अपने देश में अपनी भाषा में उन्नतिकरो।"[17] इन वचनों की प्रासंगिकता क्या आज भी नहीं है? तो, जिस काशी नगरी में भारतेन्दु ने ऐसी ज्वलंत पंक्तियाँ रचीं, उसी काशी में 20-25 वर्ष वाद स्व० प्रेमचन्द ने 'ससार का सबसे अनमोल रतन' लिखकर 'सोजे-वतन' के खाक से भारत माँ को विजय-तिलक दिया था। 'भारतेन्दु कालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' पर शोधकर्त्री डॉ० कमला कानोड़िया के शब्दों में—'इस प्रकार लोक संस्कृति तथा राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित भारतेन्दु युगीन साहित्य, जनता के लिए चेतना और प्रगति का अपूर्व संदेश है। सांस्कृतिक चेतना, आभा एवं उज्ज्वलता से परिपूर्ण इस काल के साहित्यिक मुकुर में तात्कालिक जन-जीवन का हर पक्ष, हर यथार्थ, हर आदर्श बड़े ही स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हुआ है।"[18]

संदर्भ

1. 'भारत-दुर्दशा'
2. हिन्दी भाषा और साहित्य-पृ० 467.
3. भारत-दुर्दशा
4. भारतेन्दुकालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 68
5. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० 360-61
6. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० 117
7. 'भारत-दुर्दशा', 'भारतेन्दु ग्रंथावली', प्रथम भाग, पृ० 469
8. 'अंधेर नगरी', भारतेन्दु ग्रंथावली', पहला भाग, पृ० 661-63
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 453.
10. सार-सुधानिधि, 3 मार्च, 1879 ई०.
11. सम्मेलन पत्रिका, संगोष्ठो विशेषांक, पृ० 5 (डॉ० इंद्रनाथ मदान के लेख से उद्धृत)
12. वही, पृ० 4-5-डॉ० मदान का लेख.
13. 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' भाग—1, पृ० 536-37.
14. 'लोकोक्तिशतक,' प्रतापनारायण मिश्र, 'प्रतापपीयूष,' पृ० 217.
15. 'नये जमाने की मुकरी' से, भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग 2 पृ० 811.
16. वही,— पृ० 812.
17. 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका,' संख्या 3, दिसम्बर 1884 ई०.
18. भारतेन्दु कालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 428.

हटो या पिठो

(कंकण स्तोत्र सन्दर्भ : भारतेन्दु हरिश्चन्द)

विजयबहादुर सिंह

चक्रिल गति से अवाध गतिशीलता काल का स्वभाव है। हम अपनी सुविधानुसार काल-चक्र का विभाजन अतीत, वर्त्तमान और भविष्य के रूप में करते हैं। यह विभाजन काल का स्वभाव नहीं अपितु मानव की सामर्थ्य और सीमा का प्रदर्शन है। समय के साथ चलने में अतीत, वर्तमान और भविष्य जैसे विभाजक बिन्दुओं के स्थान पर सिर्फ निरन्तर गतिशीलता का ही बोध होता है, जहाँ रुकने के लिए स्थान नहीं अपितु 'चरैवेति-चरैवेति' के रूप में गति सातत्य विद्यमान रहता है। परन्तु मनुष्य और काल के स्वभाव में स्पष्ट अन्तर है। काल अमूर्त है तो मानव मूर्त, काल परिस्थिति निरपेक्ष है तो मनुष्य परिस्थिति सापेक्ष। यही अन्तर काल और मनुष्य की सामर्थ्य एवं सीमा का निर्धारक है। साधारण मनुष्य जहाँ अपनी परिस्थितिगतविवशता के चलते काल चक्र के आगे समर्पण करने तथा नियति के आगे घुटने टेकने के लिए काफी हद तक स्वतन्त्र है, वहीं साहित्यकार जो समाज की वाणी है—पग–पग पर परिस्थितियों की समीक्षा करते हुए निरन्तर गतिशील रहने के लिए बाध्य होता है। किसी भी साहित्यकार की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह अतीत, वर्तमान और भविष्य जैसे विभाजक बिन्दुओं को कितनी कुशलता से जोड़ पाता है, ताकि इन तीनों में स्पष्ट अन्तर की जगह गति नैरन्तर्य विद्यमान रहे। इस प्रकार काल के स्वभाव के अनुसार ढला हुआ साहित्य और साहित्यकार दीर्घजीवी एवं कालजयी होता है। समय के स्वभाव एवं प्रभाव की सही पहचान ही रचनाकार की प्रामाणिक कसौटी होती है। सृजन प्रक्रिया में रचनाकार को अतीत के शोधक, वर्तमान के बोधक एवं भविष्य के उद्‌बोधक के समन्वित रूप में सक्रिय रहना पड़ता है। साधारण तौर पर इनमें समानुपाती सम्बन्ध है, परन्तु जिस समय वर्तमान जटिल, विषम और दुर्लंघ्य साबित होने लगता है, भविष्य अंधेरी गुफा में कैद अपने जीवन की अन्तिम साँस गिनने के लिए बाध्य हो जाता है, उस समय पूरी जिम्मेदारी अतीत पर आ जाती है और अतीत को ही संजीवनी शक्ति का प्रक्षेपण करके थके हारे वर्तमान को शक्ति प्रदान करनी पड़ती है और मूर्च्छा की हद तक पहुंच गये भविष्य को नव-जीवन प्रदान करना होता है। इस प्रकार रुग्ण वर्तमान और अचेत भविष्य के पोषक तत्व के रूप में अतीत को गुरुतर दायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। इन पोषक एवं शोषक तत्वों की स्पष्ट पहचान जागरूक मनुष्य होने के नाते साहित्यकार को ही करनी पड़ती है। वह

चाहे जिस समय का हो, जिस युग का हो। यानी त्रिकालदर्शी होना सफल एवं कालजयी रचनाकार की प्रथम अनिवार्य शर्त है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को विरासत में मिला हुआ अतीत काफी हद तक शोषण के भरमजाल और भावनात्मक प्रवंचना के आधार पर टिका हुआ था। धर्म, राजनीति और साहित्य आम आदमी की भलाई से हटकर और कटकर अपने उदर-पोषण में ही व्यस्त थे। यानी धर्म, धर्म के लिए था, राजनीति—राजनीति के लिए थी और साहित्य सिर्फ साहित्य के लिए; जनता के दुःख-दर्द और विवशताओं से उसे कुछ लेना-देना नहीं था, इसके बावजूद जनता जी-तोड़ परिश्रम करती हुई इनके लिए सुविधा के साधन मुहैया कराने में सहनशीलता पूर्ण बहादुरी से लगी हुई थी। यानी 'भारतेन्दु' का तत्काल-व्यतीत अतीत काफी हद तक कमजोर हो गया था। राजे-रजवाड़े अपनी जागीर बचाने में लगे थे, साहित्यकार साहित्य बचाने में लगा था, पंडे एवं पुजारी धर्म बचाने में लगे थे; यही नहीं सारी कुरीतियों एवं कुप्रथाओं को झेलती हुई जनता भी अपने को किसी भी कीमत पर बचाने में ही लगी थी। इस प्रकार 'भारतेन्दु' का तत्काल-व्यतीत अतीत विषम वात्याचक्र में घिरा हर स्तर पर अपनी सुरक्षा करने में ही व्यस्त था। इन्हीं स्थितियों में व्यापार और शोषण पर टिकी हुई अंगरेज शासन-सत्ता का अभ्युदय भारतीय क्षितिज पर हुआ। क्रमशः उसका स्वार्थी शिकंजा कसता गया। उसकी शोषक नीति के शिकार राजे-रजवाड़ों से लेकर आम जनता तक हुए। इतना अवश्य है कि इसका कुप्रभाव पहले से ही थकी-हारी जनता पर अधिक पड़ा। अब उसके शोषकों की शृंखला में एक और मजबूत तथा जबर्दस्त कड़ी जुड़ गयी। शोषक के इसी बढ़ते शिकंजे की प्रतिक्रिया था प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम। परन्तु यह सहनशीलता के विस्फोट के अलावा और कुछ नहीं था। इसके सफल हो जाने पर भी बादशाह बहादुर शाह ही बनता, पेशवा नाना साहब ही होते, जागीरदारी और इजारेदारी वैसी ही रहती। यानी व्यवस्था में कोई बदलाव आने वाला नहीं था। हाँ एक बात अवश्य थी कि पूँजी का पलायन रुक जाता, शोषक और शोषित देशी ही रहते, सम्बन्धों के भरमजाल पर टिकी सामन्ती व्यवस्था समाज को पुराने रास्ते पर ही चलाती। परन्तु काल कभी पीछे मुड़कर नहीं देखता, वह निरन्तर गतिशील रहता है, इसलिए ऐसा होना न तो सम्भव था, न ही हुआ। प्रतिगामी ताकतों की तथाकथित एकता की दुःखद पराजय के साथ इस घटना का अन्त हुआ। भारत पूर्णतया अंगरेजी शासन-सत्ता के अधीन हो गया। ब्रिटेन की मलिका विक्टोरिया भारत-साम्राज्ञी बनीं। परन्तु प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम जहाँ अपने तात्कालिक उद्देश्य में असफल रहा वहीं भविष्य के पथ-निर्देशन में काफी हद तक सफल भी रहा। छिट-फुट विद्रोह तो इसके पहले भी हुए थे, परन्तु संगठित विद्रोह की यह पहली मिसाल थी जिसने अंगरेजों, राजनयिकों तथा साहित्यकारों की आँखें समान रूप से खोलने का काम किया। अपनी खूबियों और खामियों के बावजूद भारतीय इतिहास में यही एक-मात्र ऐसा विद्रोह था जिसने जागरूक-लोगों को जनता की ओर आकृष्ट होने के लिए विवश किया।

गदर ने यह साबित कर दिया कि शक्ति का केन्द्र-विन्दु जनता है न कि अन्य कोई। समाज में कोई भी स्पष्ट और सार्थक बदलाव जनता के द्वारा ही सम्भव है, अन्य किसी भी रास्ते से नहीं। आस्था और विश्वास का यही विस्थापन धर्म-सुधारकों, साहित्यकारों, राजनयिकों और यहाँ तक कि अंगरेजों को भी जनता से सीधे-जुड़ने के लिए बाध्य करता है। राममोहन राय के द्वारा जलायी गयी मशाल जहाँ केशवचन्द्र सेन, राना डे, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द के हाथों में आकर और भी अधिक प्रज्वलित हुई एवं सड़ी-गली मान्यताओं के शिकार समाज को झकझोर कर रख दिया, वहीं लार्ड क्लाइव के हाथों मिली मशाल भी डलहौजी, हेस्टिंग्स, कार्नवालिस तथा कर्जन जैसे लोगों के हाथों में आकर और अधिक तीव्र हुई। राजनीतिक स्तर पर संगठनों की भरमार भी इसी प्रक्रिया की एक कड़ी थी। इस प्रकार वह चाहे शोषक हों या शोषित सभी जनता से जुड़ने की प्रक्रिया में थे। अतीत के कोढ़ पर खाज के समान यही वर्तमान मिला था भारतेन्दु हरिश्चन्द को। 'भारतेन्दु' के वर्तमान ने गदर के समय की एकता को शिद्दत से महसूस किया था। अंग्रेजी शासन-सत्ता के स्थायित्व के लिए जहाँ इस एकता को धर्म, जाति, प्रदेश, भाषा के नाम पर खंडित करना आवश्यक था वहीं तत्कालीन जागरूक भारतीय के लिए यह एकता और अखण्डता किसी भी कीमत पर आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी थी। एकता और अखण्डता की स्थापना के लिए हम तत्कालीन धर्म सुधारकों राजनयिकों और साहित्यिकों को समान रूप से चिन्तित पाते हैं। यह एकताजन-गण-मन की एकता थी। अतः आवश्यकता थी उनके बीच भाषा, जाति, धर्म के नाम पर खड़े किये गये अवरोधक तत्वों को समाप्त कर जनता को समान धरातल पर प्रतिष्ठित करने की। ऐसी हालत में यह आवश्यक था कि धर्म राजनीति और साहित्य अपने अन्दर आ गयी खामियों को दूर कर आम जनता के लिए स्वस्थ तथा सरल मार्ग तैयार करना जो बिना किसी भेद-भाव के लोगों को आसानी से जोड़ सके। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि धर्म, राजनीति और साहित्य ने अपने अन्तस् को निर्ममता पूर्वक टटोला और गत्यावरोध को समाप्त कर समय के साथ होने के लिए जड़ता से चेतना की तरफ क्रांतिकारी छलाँग लगायी।

'भारतेन्दु' पूर्व के साहित्यकार बहुत कुछ राजे-रजवाड़ों के दरबार की शोभा से अधिक नहीं थे। हालांकि ब्रजभाषा के रूप में भाषाई एकता तथा तत्कालीन विषम परिस्थितियों में साहित्य की सुरक्षा कर ले जाना ही उनके लिए पर्याप्त था और इस ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह उन्होंने अपनी सामर्थ्य और सीमा के अनुसार बखूबी किया है। लेकिन काफी हद तक ये साहित्यकार अपने गौरवशाली अतीत तथा संभावनाओं से भरे भविष्य से कटे हुए दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार 'भारतेन्दु' पूर्व के रचनाकार यथा-स्थितिवादी एवं वर्तमानजीवी अधिक नजर आते हैं। इसी कारण रीतिकालीन साहित्यकार कालजयी रचना देने में असमर्थ रहे हैं। 'भारतेन्दु' को यही आधारभूमि मिली थी जिस पर खड़े होकर उन्हें वर्तमान को महसूस करना और भविष्य को देखना था। इसके विपरीत सामयिक दबाव और सामाजिक उत्तरदायित्व का जिस कुशलता और सजगता से निर्वाह

भारतेन्दु-साहित्य में हुआ है वह हिन्दी साहित्य के लिए नया भले ही न हो परन्तु अद्भुत तो है ही। सामयिकता के आग्रह और सामाजिक दायित्व के निर्वहण की इस अद्भुत क्षमता ने भारतेन्दु को रीतिकाल के स्वाभाविक विकास की जगह क्रमशः जड़ पड़ते जा रहे साहित्य की क्रान्तिकारी छलांग के रूप में प्रतिष्ठित किया। 'भारतेन्दु' का योगदान कविता के क्षेत्र में भले ही क्रान्तिकारी न हो पर गद्य की सभी विधाओं के परिचायक तथा स्थापक के रूप में अविस्मरणीय तो है ही। 'भारतेन्दु' के पाठक न तो बहुत अधिक प्रबुद्ध थे और न ही उन विधाओं से उनका पुराना परिचय ही था, जिनसे भारतेन्दु उसे परिचित करा रहे थे। अतः मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता का यह तकाजा था कि अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऐसा समन्वय स्थापित किया जाय जो सहज-ग्राह्य हो। सहज ग्राह्यता को ध्यान में रख कर ही 'भारतेन्दु' तथा उनके समकालीन रचनाकार विषय का चुनाव आम-आदमी के रोजमर्रा के जीवन से करते हैं और रोचक उद्धरणों या वर्णनों से उसे व्याख्यायित भी करते चलते हैं। जैसे रीतिकालीन कवियों के लिए 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो' थे, ठीक उसी प्रकार 'भारतेन्दु' तथा तत्कालीन लेखकों के लिए भी विषय सामाजिक खामियों को व्यक्त करने का बहाना मात्र था।

'कंकण स्तोत्र' भी तत्कालीन विसंगतियों को व्यक्त करने का बहाना ही है। स्तोत्र साहित्य से भारतीयों का पुराना सम्बन्ध रहा है। इसकी शुरूआत चाहे जब हुई हो, परन्तु चौथी शताब्दी से हम स्तोत्र साहित्य से विधिवत् परिचित होते हैं। स्तोत्र में सम्बन्धित देवता के गुणों से आकर्षित होकर उसकी स्तुति में रचे गए श्लोक आते हैं। "संस्कृत का स्तोत्र साहित्य बड़ा ही विशाल सरस तथा हृदय-स्पर्शी है। प्रत्येक धर्म में भक्त अपने हृदय की बातें भगवान के सामने प्रकट करने तथा उनकी महिमा के वर्णन में अपने कोमल तथा भक्ति-पूरित हृदय को अभिव्यक्त करता है, परन्तु हमारे भक्तों ने हृदय की जितनी दीनता तथा कोमलता का और भगवान की उदारता का परिचय दिया है वह सचमुच उपमाहीन है।'[1] मयूर भट्ट का सूर्य शतक, बाणभट्ट का चण्डीशतक, शंकराचार्य की स्वर लहरी, मधुसूदन सरस्वती का आनन्द मन्दाकिनी, कल्हण का अर्द्धनारीश्वर स्तोत्र, नागार्जुन का चतुःस्तव आदि स्तोत्र साहित्य के उदाहरण हैं। भारतेन्दु ने 'कंकणस्तोत्र' निबंध में शैली के स्तर पर स्तोत्रों की परम्परा का अनुसरण किया है, महिमाकरण तक भी इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भावना के स्तर पर वे इससे अलग मार्ग का अनुसरण करते हैं। प्राचीन स्तोत्रों में जहां महिमाकरण के केन्द्र में श्रद्धा की भावना थी, वहीं 'भारतेन्दु' के महिमाकरण में व्यंग प्रधान हो गया है। इसी कारण बाहरी ढांचे के कारण पूरा निबन्ध किसी संस्कृत स्तोत्र का श्लोकों के क्रम में हिन्दी-अनुवाद भले लगे परन्तु कथ्य के स्तर पर 'भारतेन्दु' की निजता तथा आधुनिक दृष्टि को ही अधिक प्रदर्शित करता है। प्रथम स्त्रोत में 'भारतेन्दु' ने अपने गृहनगर काशी के कंकर को नगर देवता शंकर के रूप में प्रणाम किया है तथा उसकी वन्दना की है। द्वितीय स्तोत्र में कंकण के नई सड़क से दुर्गा जी तक के विस्तार को चित्रित किया है। तृतीय स्तोत्र में

लीलाकारी कृष्ण के रूप में केशी, शकट, वृषभ, खरादि के नाशक तथा व्यासों की जीविका के रूप में याद किया है। चतुर्थ स्तोत्र में सिर और मुँह तोड़ने, कढ़ी बनाने तथा गृह निर्माण एवं दुष्टों के सिरमौर के रूप में शुभ तथा अशुभ गुणों से सम्पन्न बताया गया है। पंचम स्तोत्र में चूना के रूप में परिवर्तित होकर पान की लाली का कारण होने के नाते सुन्दरी-शृंगार और बड़ी के बड़े के रूप में याद किया गया है। षष्ठम् स्तोत्र में चुंगी नन्दन तथा सार्वजनिक निर्माण विभाग के भ्रष्टाचार उद्घाटक के रूप में याद किया गया है। सप्तम् स्तोत्र में शुद्ध हिन्दू के समान शहर विरुद्ध रूप में चित्रित किया गया है। अष्टम् स्तोत्र में इधर-उधर बिखरे हुए स्वेच्छाचारी के रूप में कंकण को दिखाया गया है। नवम् स्तोत्र में कंकण के विभिन्न आकरों को चित्रित किया गया है। दशम् स्तोत्र में हथियार के रूप में इस्तेमाल किए जाने वाले गुणों को दिखाया गया है। एकादश स्तोत्र में बरसात के समय कुछ डूबे तथा उठे कंकण को द्वीप के रूप में चित्रित किया गया है। द्वादश स्तोत्र में सृष्टि के बृहत्तर प्रपितामह के रूप में दिखाया गया है। त्रयोदश स्तोत्र में सवारी गाड़ियों के विभिन्न अंगों के विनाशक तथा परिणाम स्वरूप उससे सम्बन्धित कारीगरों के रोजगारदाता के रूप में याद किया गया है। चतुर्दश स्तोत्र में चारों वर्णों, आश्रमों तथा जातियों-उपजातियों के विशेषण से सम्पन्न दिखाया गया है। पचदश स्तोत्रमें त्रिदेव, पंचतत्व, के कर्ता, राजपद दायक, तन-मन-धन के कारण, प्रकाश,जल आदि के जनक एवं भोजन के स्वादु कारण के रूप में दिखाया गया है। षोडश स्तोत्र में ब्रिटिश नौकरशाही को भी अंगूठा दिखाकर नवाबी कायम करने वाले के रूप में दिखाया है एव रास्ते से हटने एवं पिटने की विनती भी की गयी है। इस प्रकार सोलह स्तोत्रा के माध्यम से कंकण की वन्दना जहाँ सोलह संस्कारों की सूचक है जो रीतिकालीन ठहराव और जड़ता का काफी हद तक कारणभूत तत्व था।

निबन्ध का मूल कथ्य सार्वजनिक निर्माण विभाग में व्याप्त लूट-खसोट तथा भ्रष्टाचार का उद्घाटन करना है। वर्णन के केन्द्र में काशी में निर्माणाधीन नई सड़क—जो लहुराबीर एवं दुर्गाजी होते हुए गयी है—है। सड़क पर बिछे हुए कंकण जनता को आवागमन में सुविधा के स्थान पर, असुविधा ही अधिक पहुंचाते हैं। इन्हीं कंकणों से पीड़ित जनता की भावना को गहरे स्तर तक इस निबन्ध में व्यक्त किया गया है। 'भारतेन्दु' के हाथ में पड़कर यही कंकण परतदार प्रतीक या प्रतीकों का प्याज के रूप में हमारे सामने आता है। यह कंकण एक तरफ नई व्यवस्था के उस ताने-बाने को व्यक्त करता है जो जनता को सुविधा प्रदान करने के नाम पर खड़ी किए जाने के बावजूद कष्ट ही अधिक पहुँचा रही है। दूसरी तरफ धर्म के पन्थ में आ गये घातक रोगों की भी कहानी इसमें समाहित है। इसके अलावा कंकण आम-आदमी का प्रतीक भी बनता नजर आता है जो नई व्यवस्था के चलते हड्डियों का ढाँचा मात्र बनकर सड़कों पर बिछने के लिए मजबूर है। परन्तु भारत की वास्तिक मानसिकता इस कमजोरी में भी असीम ऊर्जा के दर्शन करती है और कंकर में क्रांति तथा बदलाव के देवता शकर की सम्भावना देखती है। यानी ऐसे ही तमाम प्रतीकात्मक सन्दर्भ

कंकण जैसे छोटे विषय को पिण्ड में ब्रह्माण्ड की क्षमता से पूर्ण महनीयता से मण्डित कर प्रतीक के धरातल पर भी कंकर को शंकर बना देते हैं। ऐसा तत्कालीन परिस्थितियों के कारण ही है। क्योंकि 'भारतेन्दु' के समय छोटी से छोटी चीज भी चौतरफा दबावों से इस तरह आक्रांत तथा अपरिमित संभावनाओं से भरी थी कि एक के उद्घाटन के साथ ही अनेक सन्दर्भ अपने आप जुड़ते चले जाते थे। साथ ही विवेचन में रीति कालीन वैचित्र्य भी काम कर रहा था—जिसमें विषय या शब्द की सारी संभावनाओं का उद्घाटन कर एक अद्भुत विचित्रता का महल खड़ा कर दिया जाता था। परन्तु ये सारी चीजें 'भारतेन्दु' के मूल उद्देश्य—साहित्य समाज के लिए—के चलते—बाधक के रूप में नहीं अपितु साधक के रूप में ही सामने आयी हैं।

एक छोटा सा कंकण पाँव में गड़कर, सर पर गिरकर तथा अन्यान्य तरीके से तात्कालिक दुःख तो पहुंचाता ही है, साथ ही पुराने घाव को ताजा भी कर देता है। सुविधा के नाम पर व्यवस्था ने जब-जब आम आदमी को परेशानियों के तिलिस्म में छोड़ा है, वे सारे के सारे सन्दर्भ ताजे होकर सामने आते हैं। यह व्यवस्था ही है जो कंकण जैसे उपेक्षणीय तत्त्व को भी अपने फायदे के लिए शंकर की उपमा से उपमित कर उसे देव नहीं 'महादेव' के रूप में प्रतिष्ठित करती है। मूल शब्द के पहले लगा 'महा' शब्द अभिधार्थ की जगह व्यंग्यार्थ को ही अधिक उद्घाटित करता है जैसे महापात्र। अन्य देवताओं के बीच शंकर का खान पान, वेष-भूषा तथा रहन-सहन जहाँ उनकी ऊर्जा का मखौल उड़ाता हुआ लगता है वहीं उनका कार्य एक अप्रतिम ऊर्जाशील आदमी की धारा को व्यवस्था के फायदे के लिए मोड़ देने से अधिक नहीं। आदमी-आदमी को जाति, वर्ण और आश्रम के नाम पर अलग-अलग खानों में बांट देना भी व्यवस्था की व्यवस्थित चालाकी का ही परिणाम है, जो कि कंकण जैसी तीक्ष्णता एवं कठोरता के—बावजूद आम जनता को एक-जुट होकर प्रतिरोध करने की शक्ति को घटाने का सोचा समझा प्रयास है। 'ऊबड़-खाबड़ शब्द सार्थकर्ता' जनता की इसी विभाजित शक्ति का व्यंजक है, जो समाज की गतिशीलता के लिए अवरोधक तथा घातक है। भारतीय संस्कृति धारा में समानता तथा मानव एकता की स्थापना का महनीय प्रयास गौतम बुद्ध तथा महावीर ने किया था। उनके मूल मन्त्र अहिंसा को जिस प्रकार व्यवस्था ने कंकण पर पिस्टी लपेटकर अँगूठा दिखाया तथा जनता की हिंसक मनोवृत्ति को जिलाए रखकर सामाजिक असमानता तथा भेद-भाव को जिलाये रखने में अहं भूमिका का निर्वाह किया। वह सही एवं सार्थक दिशा में बढ़ रहे सामाजिक कदम के आगे पुनः गति अवरोधक एवं विराट प्रश्न चिह्न खड़ा करने से कुछ कम नहीं था। हिन्दू धर्म की अतिशय पवित्रता तथा शुद्धतावादी धारणा ने जहाँ भाई-भाई के बीच दीवार खड़ी की वहीं संस्कृति की पाचन क्षमता को भी खराब किया—"हे प्रबुद्ध ! आप शुद्ध हिन्दू हो क्योंकि शङ्कर विरुद्ध हो। आप आया और आप न बर्खास्त हुए इससे आपको सलाम है।"[2] जैसे उद्गार कंकण के माध्यम से हिन्दुओं के बीच जड़ जमाये शुद्धतावादी कठोरता को तो व्यक्त करते ही हैं वहीं कुरान के आगमन के बावजूद अपने चरित्र में कोई

वदलाव न लाने के कारण हिन्दू धर्म की हठवादी नीति को भी उजागर करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि कंकड़ीली राह जहाँ आम आदमी को आसानी से चलने में बाधा पहुंचाती है वहीं साधारण कंकण के माध्यम से संस्कृति के रास्ते में बिछे कंकणों की भी खबर ली गयी है, जो भारतेन्दुयुगीन अनिवार्य आवश्यकता—एकता और अखण्डता—के अवरोधक थे।

कंकण से आयी सामाजिक चोट जहाँ अतीत के घाव को कुरेदती है वहीं घायल वर्तमान पर भी चोट पहुंचाती है। 'चुंगीनन्दन', 'स्वेच्छाचारिन', 'कमानी—भन्जक,' धुरी-विनाशक,' 'केवल गाड़ी ही नहीं, घोड़े की नाल, सुम, बैल के खुर और कटक चूर्ण को भी आप चूर्ण करने वाले हो।”[8] में वर्तमान की सारी विसंगतियां मूर्त्त रूप में सामने आ जाती हैं। अंग्रेजों की चुँगी निर्धारण में धाँधली, तथा वसुलने में निर्दयता ने जहाँ भारतीय व्यापारियों को अंग्रेजी व्यापारियों की होड़ से अलग कर दिया वहीं उनके स्वेच्छाचारी स्वभाव ने तैयार भारतीय मालों की अनाप-शनाप कीमत निर्धारित करके भारतीय—व्यापारियों को सड़क पर ला दिया, बिछे हुये कंकण की तरह। इतना ही नहीं अंग्रेजों के स्वार्थ के कंकण ने येन-केन प्रकारेण गतिशील हिन्दुस्तान की गाड़ी के 'धुरी'-किसान, 'कमानी'-व्यापारी, वारनिश-चूर्णक-राजे रजवाड़े तथा घोड़े एवं वल के रूप में जुते साधारण श्रमिकों को विविध प्रकार से नुकसान पहुंचाकर गति को ही ठप्प कर देने का प्रयास किया। इस प्रकार हिन्दुस्तान की मन्थर गति से विकासमान गाड़ी को गतिहीन कर देने में अंग्रेजी शासन-सत्ता ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। चक्का एकदम जाम न हो जाय इसी कारण 'जोगा, जिवलाल, रामलालादि' 'मिस्त्री समुह'—जो कि भारतीय उद्योग धन्धों को समाप्त कर अंग्रेजों के आवश्यकता की पैदावार थे—स्थापित किए गये, जो समाज की गतिशीलता तथा विकास में सार्थक भूमिका न निभाकर मात्र उदर-पोषक की भूमिका ही निभा रहे थे। भारतीयों पर ही अत्याचार करने के लिए उनके बीच से भर्ती किए गए सिपाही 'गोली-गोला छर्रा' के रूप में, यानी हथियार के रूप में इस्तेमाल किए जाते थे। यानी चारों तरफ स्वार्थ-पोषक, एवं पर-पोषण का माहौल था जिसके चलते भारतीय जन-जीवन अस्त-व्यस्त सा हो गया था। यह सब लूट-खसोट, अंधेरगर्दी तथा अराजकता का माहौल 'अंग्रेजी राज में श्रीमती विक्टोरिया और पार्लमेंण्ट सभा के आछत, था जो हिन्दुस्तान को सभ्य, शिक्षित एवं सुविधाजनक व्यवस्था प्रदान करने के लिए था। इस काम के लिए नौकरशाहों की एक पूरी की पुरी फौज जो छोटे से छोटे स्तर पर भी भ्रष्टाचार एवं अव्यवस्था के निराकरण के लिए थी परन्तु खुद के प्रतिकूल आचरण से 'नियम और शांति का अस्तित्त्व बहाने के साथ' 'नबाबी' राज्य का नवीन तथा क्रूर संस्करण बनती जा रही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक छोटे से कंकड़ से लगा घाव चौतरफा लगे घावों को ताजा करते हुए पिण्ड में ब्रह्माण्ड की क्रूर महनीयता से मण्डित हो जाता है।

'भारतेन्दु' कविता के क्षेत्र में काफी हद तक रीतिकालीन भाषा तथा संस्कारों के कायल थे। कारण था काफी समय से बने हुए जनता के संस्कार को एक झटके से वे तोड़ भी

नहीं सकते थे और न तो ऐसा वैज्ञानिक ही था। उक्ति-वैचित्र्य तथा बाल की खाल निकालने की रीतिकालीन कारीगरी की आदी जनता को एकाएक शुष्क तथा यथार्थ उपदेश रूचते भी नहीं। 'भारतेन्दु' की यही परिस्थितिगत विवशता कंकड़ स्तोत्र में भी हम देख सकते हैं। "हे लीलाकारिण ! आप केशी, शकट, वृषभ, खरादि के नाशक हो।"[4] में जहाँ श्लेष के प्रति उनका मोह दिखाई पड़ता है, तो "आप अनेकों के वृहत्तर प्रपितामह हो क्योंकि ब्रह्मा का नाम पितामह है, उनका पिता पंकज है, उसका पिता पंक है और आप उसके भी जनक हो।"[5] जैसे उद्धरण बौद्धिक कवायद को ही ज्यादा प्रदर्शित करते हैं। वर्णन में सर्वत्र व्याप्त अतिशयोक्ति एवं चमत्कार की बहुलता रीतिकालीन संस्कारों का ही परिणाम है। यह रीतिकालीन शृंगारिकता का ही प्रभाव है कि कंकड़ जैसी कठोर वस्तु को भी 'सुन्दरी-शृंगार !' तथा 'बड़ी के बड़े' के रूप में याद करना नहीं भूले हैं। परन्तु इससे ही हम यह—निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि उन पर रीतिकालीन संस्कार पूरी तरह से हावी था। रीतिकाल में भी 'साँकरी गली में काँकड़ी' गड़ती है परन्तु वह आम आदमी को नहीं अपितु नायिका को ही गड़ती है, वर्णन भी दुःख उपजाने के लिए नहीं अपितु नजाकत दिखाने के लिए किया गया है। यह 'भारतेन्दु' की सामाजिक प्रतिबद्धता ही थी कि काँकड़ी गड़ने के सवाल को नजाकत और नफासत से उठाकर आम-आदमी के जीवनमरण से जोड़ा। जहाँ तक अतिशयोक्ति तथा चमत्कार-पूर्ण वर्णन का सवाल है वहाँ भी वे अपने सामाजिक तथा सामयिक उत्तरदायित्व को बिना भूले एक तरफ जनता के संस्कार के अनुसार वर्तमान की विषमता से परिचित करा रहे थे, वहीं अप्रत्यक्ष रूप से यथार्थ के चित्रण में रीतिकालीन वर्णन पद्धति की निरर्थकता को भी उद्घाटित कर रहे थे।

समग्रतः 'भारतेन्दु' पूरे निबन्ध में तत्कालीन समाज की अनिवार्य आवश्यकता, एकता और अखण्डता को स्थापित करने के प्रति चिन्तित दिखाई देते हैं। हालाँकि उन्होंने कोई निर्देश नहीं दिया है और न ही निष्कर्ष रूप में कोई रास्ता ही सुझाया है फिर भी समाज के उन घावों और गति अवरोधकों की ओर सार्थक अंगुलि निर्देश तो किया ही है, जो पुराण के समय से लेकर कुरान तक और बाइबिल के आने तक विद्यमान हैं। यह 'भारतेन्दु' के वर्तमान की मजबूरी थी कि वह बुराइयों की तरफ इशारा ही कर सकता था तथा अतिशय शक्तिशाली अंग्रेज शासन सत्ता के राज में विनती ही कर सकता था। यही कारण है कि कंकड़ जैसे अवरोधक के प्रति स्तोत्र शैली में लिखना पड़ा और अन्त में विरोध न करके विनती ही करनी पड़ी—"यह लम्बा-चौड़ा स्तोत्र पढ़कर हम विनती करते हैं कि आप सिकन्दरी बाना छोड़ो या हटो या पिटो।"[6] यह बहु-विकल्पी निष्कर्ष ही तत्कालीन समाज की नियति थी। फिर भी क्रमशः सिकन्दरी बाना छोड़ो, हटो और और अन्त में पिटो की स्थिति अन्तिम वैकल्पिक निर्णय तक आते-आते क्रमशः अनुरोध से विरोध में परिवर्तित हो जाती है। इसी एक वाक्य में तत्कालीन वर्तमान भी है और भविष्य का सुखद सपना भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'भारतेन्दु' की सजग जीवन दृष्टि अतीत,

वर्तमान तथा भविष्य का सतर्कता पूर्वक निरीक्षण करती हुई विषय की क्षुद्रता के बावजूद महनीयता के दर्शन कराती है। एक छोटा सा कंकड़ उछालकर भारत के सड़ांध भरे ताल को कँपाकर उन्होंने रख दिया है। समग्रतः वे केदारनाथ अग्रवाल की कविता के मूर्त रूप में हमारे सामने आते हैं—

> "बालक ने कंकड़ फेंक
> ताल को कँपा दिया।
> ताल नहीं उस महाकाल को कँपा दिया।"

संदर्भ

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ० 348.
2. गद्य संकलन, सं० करुणापति त्रिपाठी पृ० 40.
3. वही, पृ० 40.
4. वही, पृ० 39.
5. वही पृ० 40.
6. वही, पृ० 41.

* * *

आधुनिकतावाद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

रामकली सराफ

वर्तमान आधुनिकतावाद एक आयातित प्रवृत्ति है, जो नयी कविता या नयी कहानी के दौर में उभरकर सामने आयी। इस दौर में 'आधुनिकता' या आधुनिकतावाद की जो व्याख्या की गई वह वस्तुतः परम्पराएं अपने परिवेश को अलग-थलग करके स्थापित करने का षड़यन्त्र था। अथवा पूँजीवादी समाज में पनपी यांत्रिकता के कारण, यूरोपीय पूँजीवादियों से जो अलगाव दिखाई दिया, उसी अलगाव से जन्में बोधों, संवेदनाओं को स्थापित करते हुए बुद्धिजीवियों ने इस प्रकार की अवधारणा का प्रचार-प्रसार किया। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक देश की आधुनिकता उसके अपने स्थानीय ऐतिहासिक संदर्भ से युक्त होती है। लेकिन उपर्युक्त तथाकथित 'आधुनिकताबोध' को न तो किसी दार्शनिक आधार पर तर्कसंगत ढंग से वर्णित किया गया और न ही इसे कोई सुस्पष्ट दृष्टिगत आधार ही मिल पाया। इसके बावजूद यूरोपिय साहित्य और भारतीय साहित्य में सर्वत्र बीसवीं शताब्दी के चौथे-पांचवे दशक के बाद से आधुनिकताबोध की खूब चर्चा हुयी। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य सही अर्थों में आधुविकता की विवृत्ति नहीं कर रहा।

वैसे आधुनिता और आधुनिकताबोध में अन्तर है। आधुनिकताबोध जैसाकि कहा गया एक सीमित बोध है, वहीं आधुनिकता एक वस्तुगत सच्चाई है, यह देशकालबद्ध एक वास्तविक अवधारणा है। जिसे प्रत्येक युग का समाज अपने समय को आधुनिक स्थिति से जूझता है। क्योंकि परम्परा और प्रयोग का द्वन्द्व प्रत्येक युग और समाज में देखने को मिलता है। इससे सम्बद्ध समाजगत व रचनागत प्रश्न प्रत्येक युग में पृथक्-पृथक् ढंग से उपस्थित होते हैं। जब इन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो पाता तो प्रतिक्रियास्वरूप आधुनिकता जन्मती है। इस दृष्टि से आधुनिकता किसी युग विशेष की बपौती नहीं है। वरन् प्रत्येक युग में नये सृजन के लिए उद्यत रचनाकार की रचनायें न्यूनाधिक रूप में इस आधुनिकता से सम्पृक्त रहती है।

दरअसल आधुनिकता एक किस्म की जागरूकता और आस्था है जो रूढ़िवादिता, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक विसंगतियों और विषमताओं, गुलामी और पराजय के साथ संघर्ष करती हुई स्थापित होने की चेष्टा करती है। पाश्चात्य विद्वान विलफेल कैन्टवेल स्मिथ लिखता है—आधुनिकता की ताकत एक जागरूकता के सिलसिले में है।

जागरूकता इस सिलसिले में कि हम दुनिया और इतिहास के साथ हैं और भी कि हमें आधुनिक होने की सारी प्रक्रियाओं का ज्ञान है जिनपर हमारा समाज पूरे विवेक, दृढ़ता और निर्णय के साथ चल रहा है। जागरूकता इस सिलसिले में ही है कि हमारे पास हजारों विकल्प हैं जो आधुनिक ज्ञान और तकनीकी कारण ने हमें दिये हैं और अन्त में हम आधुनिक होने की दिशा में वे सारे काम करने के लिए तैयार हैं जिन्हें हमने अपने लिए पूरी नैतिक जिम्मेदारी, आस्था और उत्साह के साथ चुने हैं।

इसी आधार पर हम आधुनिक दुनिया और पुरानी दुनिया के बीच फर्क करते हैं। कालक्रम की दृष्टि से विश्व के पैमाने पर थोड़े भिन्न-भिन्न स्तर आधुनिकता अवश्य विश्लेषित हो सकती है। लेकिन दार्शनिक स्तर समूचे विश्व के पैमाने पर एकसूत्रता की स्थापना भी संभव है। आधुनिकता का आन्दोलन सबसे पहले यूरोप के आधुनिक पूंजीवाद के विकास के साथ जुटता है। जहाँ सामन्तीय समाज-संरचना के भीतर से पूंजीवादी तत्वों का जन्म हुआ और इस पूंजीवादी समाज के विकास के साथ-साथ व्यापक तौर पर वैज्ञानिक सोच का भी जन्म हुआ। यह वैज्ञानिकता केवल भौतिक क्षेत्र या पदार्थ के क्षेत्र में ही नहीं वरन् मस्तिष्क और आत्मा के स्तर पर भी देखी जा सकती है, परिणामतः वैचारिक मानव का अभ्युदय हुआ। जिसके कारण भाव के स्थान पर तर्क को प्रतिष्ठा मिली। परम्परा की ऐतिहासिक यथार्थपरक वैज्ञानिक व्याख्या शुरु हुई और मनुष्य की रचनात्मकता में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। साहित्य बौद्धिक और यथार्थोन्मुख होता जा रहा था। अतीत की चर्चा भी यदि होती तो उसे वर्तमान संदर्भ में देखा जाता। इस प्रकार सामन्तीय समाज का ह्रास हुआ और उसके साथ-साथ सामन्तीय मूल्यों और मान्यताओं को भी नकारा गया। इस प्रकार यूरोप में सामन्तीय समाज इतिहास बन गया और पूंजीवाद आधुनिक सच्चाई। वस्तुतः आधुनिकता का इतिहास इसी कालक्रम से उपस्थित होता है।

जिन देशों में पूंजीवाद का स्वतन्त्र विकास सम्भव न हो सका, औपनिवेशिक शक्तियों ने उस समाज में विद्यमान, पूंजीवादी तत्त्वों को नष्ट करके औपनिवेशिक तन्त्र कायम किया। ऐसे देशों में आधुनिकता का इतिहास भिन्न स्वरूप में प्रकट होता है। अंग्रेजों के आने से पहले भी भारतीय समाज में पूंजीवादी तत्वों का स्फुरण हो गया था। विभिन्न राष्ट्रीयताओं के भीतर उनके संगठित होने का भी संकेत मिलने लगा था लेकिन अंग्रेजी सत्ता के नृशंस अभियान ने भारतीय समाज के स्वाभाविक विकास के तत्त्वों को कुचल डाला। फलतः एक प्रकार की आरोपित या उधार ली हुई आधुनिकता का इतिहास शुरु हुआ। फिर विज्ञान और तकनीकी के प्रवेश से सोचने की प्रक्रिया में परिवर्तन अवश्य घटित हुआ। आधुनिकता और भारतीय नवजागरण दोनों गहरे स्तर पर अन्तर्सम्बद्ध हैं। नवजागरण और इस आधुनिकता ने व्यापक तौर पर भारतीय जीवन, भाषा, साहित्य, दर्शन, संस्कृति और विचारों को प्रभावित किया। जिसके विरोध में परम्परा की

नयी बौद्धिक व्याख्या और साथ-साथ अंग्रेजी साम्राज्यवाद का विरोध और उससे मुक्ति का स्वर प्रधान था। देखना यह होगा कि भारतेन्दु के साहित्य और चिंतन में आधुनिकता किस रूप में क्रियाशील हुयी।

वस्तुतः आधुनिकता एक वैज्ञानिक दृष्टि है। इसी कारण यदि वैज्ञानिक सोच के उत्कृष्टतम् रूप को भारतेन्दु के काव्य में खोजने का प्रयास करते हैं तो यह उचित नहीं। हमें ऐतिहासिक सीमाओं को भी ध्यान में रखना होगा। आज की स्थितियों और गुलाम भारत की स्थितियों में स्पष्ट ही अन्तर है। अतः ऐतिहासिक रूप में उस समय का राष्ट्र आधुनिक होते हुए भी अतीत के गुण गाता रहा और पराधीन स्थिति से मुक्त होने का भी प्रयत्न करता रहा। स्वाधीनता से पहले यह आधुनिकता एक ऐतिहासिक अनिवार्यता का ही प्रमाण थी। पराधीनता के कारण भारतीय जनता परिवेश को अपने-अपने अनुकूल बनाने या निर्माण करने की स्वतन्त्र पहल करने में तो असमर्थ अवश्य थी लेकिन नयी परिस्थितियों के दबाव और औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की चाहत के परिणामस्वरूप पुरानी जकड़न से मुक्त होने लगी था और रचनात्मकता के नये-नये रूपों की ओर उन्मुख हो रही थी। वैज्ञानिक सोच के तहत जन्मी जागरूकता के कारण उपनिवेशवाद से मुक्ति प्राप्त करना उनका लक्ष्य बन गया था। राष्ट्रीयता की भावना लोगों में बल पकड़ रही थी। राष्ट्रीयता की चेतना अनिवार्यतः जातीय विकास की अवधारणा से जुटी हुयी है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उस नवजागरण काल में जातीय भाषा के रूप में खड़ी बोली के प्रचार-प्रसार पर बल देकर राष्ट्रीय भावना को मजबूत बनाया। खड़ी बोली अब क्षेत्रीय भाषा नहीं रह गयी थी। विभिन्न क्षेत्रों में इसका प्रचार-प्रसार बहुत पहले से ही ईसा की चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी से शुरु हो गया था। इसने सम्पर्क भाषा के रूप में स्थान ग्रहण कर लिया था। इसके पूर्व मध्ययुग में ब्रजी-अवधी आदि में साहित्यिक रचनायें होती रहीं। पर ये जनभाषा न बन सकीं। इसके विपरीत हिन्दी भले ही साहित्यिक भाषा न रही हो पर भारत के बड़े-बड़े नगरों में खड़ी बोली बहुत पहले से ही बोली और समझी जाती रही। भारत में पूंजीवाद का जो प्रारम्भ भारतेन्दु युग के पूर्व ही हो चुका था उसे डा० रामविलास शर्मा ने व्यापारिक पूंजीवाद कहा और लिखा—बाजार व्यापारी एक जनपद की भाषा का दूसरे जनपदों के नगरों में प्रसार, जातीय निर्माण के ये उपकरण शुक्लजी की स्थापनाओं में भी मौजूद ह और जातीय भाषा का प्रसार विक्रम की चौदहवीं सदी से शुरु हो जाता है। यदि भारत और यूरोप की अन्य जातियों के निर्माण का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि इससे मिलती-जुलती प्रक्रिया अन्यत्र भी घटित होती है। वह बड़े पैमाने के मशीनरी उद्योग के चलने से पहले घटित होती है। वह पूंजीवाद का ही युग है किन्तु औद्योगिक पूंजीवाद का नहीं, व्यापारिक पूंजीवाद का युग है। सामन्तवाद की कोख से जन्मे इस पूंजीवाद का स्वरूप सत्रहवीं शताब्दी में ब्रिटेन में भी दिखायी देता है जहाँ व्यापारी, कारीगर,

किसान सामन्तों से संघर्ष करते हैं। व्यापारिक पूंजीवाद के द्वारा विकसित होती हुयी खड़ी बोली आधुनिक जातीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुयी। भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों ने जन-मानस से अपना नाता जोड़ा, जातीय साहित्य रचा। लेकिन रीतियुगीन साहित्य जनता से कटकर राज-दरबारों में ही सिमट कर रह गया। भारतेन्दु युग में पुनः रचनाकार जनभाषा में रचना कर जनता से जुटता है और एक वस्तुगत सच्चाई बनकर ऐतिहासिक जरूरत के रूप में हिन्दी राष्ट्र का निर्माण होता है। राष्ट्रीय एकता को मजबूत बनाने के लिए हिन्दी भाषी जाति का निर्माण आवश्यक था। इसके पूर्व तेलुगु बंगाली और मराठी आदि जातियां अपने विकास को प्राप्त कर चुकी थीं, इस दृष्टि से खड़ी बोली काफी पिछड़ी थी, जरूरत भी इसके विकास की। भारतेन्दु ने जनजागरण 'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकाली जिसके माध्यम से अपने समसाययिक यथार्थ स्थिति को प्रस्तुत किया।[1] जनता की पक्षधरता के कारण जनता की रुचि जागी और इसे पढ़ने के लिए होड़ लगी रहती थी। हिन्दी-भाषा के प्रचार-प्रसार में भी इन पत्रिकाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

अंगरेजों ने कच्चे माल के निर्यात और बनी-बनायी वस्तुओं के आयात से भारतीय उद्योग-धन्धों को काफी क्षति पहुंचायी। भारतीय कारीगरों, किसानों की स्थिति अत्यन्त दीन-हीन हो गयी। भारतेन्दु ने युवकों के लिए शिल्प और तकनीकी सम्बन्धी शिक्षा पर जोर दिया, लेकिन उससे भी अहम् बात औपनिवेशिक शासन से मुक्ति प्राप्त करना था तभी आर्थिक और सांस्कृतिक विकास संभव था।

वस्तुतः भारतेन्दु संक्रमणकालीन स्थितियों के बीच खड़े दिखायी देते हैं जहां नये और पुराने का संघर्ष प्रारम्भ हो गया था, यही कारण है उनका पूरा का पूरा व्यक्तित्व युगीन अन्तर्विरोध को प्रकट कर रहा है। एक ओर आधुनिकता बोध और दूसरी ओर मध्यकालीन भाव-सवेदना। इन्होंने व्यंग्य और आलोचना का सहारा लेकर प्राचीन, खोखली रुढ़ियों का विरोध किया और नवीन आधुनिक मूल्य-दृष्टि की ओर जनता को मोड़ने का प्रयत्न किया। हास्य और व्यंग्य की ओट में देश में छायी हुयी कुरीतियों का पर्दाफाश करते हुए अंग्रेजों की जनविरोधी दुरंगी चाल को स्पष्ट करते हुए अंग्रेजों के अन्याय और शोषण के प्रति जनता को सचेत किया। जो लोग ब्रिटिश शासकों की चापलूसी करते थे, आत्मसम्मान खोकर उनके सम्मुख नतमस्तक होते थे, ऐसे लोगों से उन्हें सख्त घृणा थी। ऐसे ही ब्रिटिश हुकूमत के कृपापात्र बने व्यक्तियों की स्वाभीमान शून्य वृत्ति पर व्यंग्य करते हुए 'लेवी-प्राणलेवी' नामक निबन्ध में लिखा—"नाम लिखने वाले मुंशी बद्रीनाथ फूलेफाले अवा पहिने पगड़ी सजे पुराने दादुर की भांति इधर-उधर उछलते और शब्द करते फिरते थे।"[2] गवर्नर जनरल के इस दरबार में आनेररी मजिस्ट्रेट के द्वारा "सीट डॉन" और 'स्टैण्डअप' कहने से उठने-बैठने का भी व्यंग्यात्मक नाटकीय चित्र खींचा है। लोगों ने इस विशिष्ट अवसर पर सहेज कर रखी कीमती पोशाकें धारण कर रक्खी थी जिसके

कारण उनके अंगों से पसीने बह रहे थे तो मानो इसी माध्यम से 'श्रीयुत् को अर्घ्यपाद्य दे रहे थे।

तत्कालीन परिवेश में इस प्रकार का स्पष्ट वर्णन भारतेन्दु जैसे लेखकों के साहस का ही काम था। साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए वे चन्द शिक्षित पढ़े-लिखे लोगों को आहूत न करके व्यापक भारतीय जनता की ताकत पर विश्वास रखते थे 'भारत दुर्दशा' में पढ़े-लिखे लोगों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—'हा–हा–हा ! कुछ पढ़े-लिखे लोग मिलकर देश सुधारा चाहते हैं। हा-हा-हा एक चने से भाड़ फोड़ेंगे।' जनता को उद्बोधित करते हुए लिखते हैं—'तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो, कब तक अपने (को) जंगली हूश, मूर्ख बोदे डरपोकने पुकरवाओगे।'

भारतेन्दु ने बलिया वाले व्याख्यान में पंडे-पुरोहितों और राजा-महाराजाओं पर खुला प्रहार किया जो देश को आगे ले चलने की बजाय उन्हें गुमराह कर रहे थे–"भाइयों, राजा-महाराजों का मुँह मत देखो, मत यह आशा रक्खो कि पंडितजी कथा में ऐसा उपाय बतलावेंगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढ़े।" लोगों में फैले धार्मिक अन्धविश्वासों, रुढ़ियों, ऊंच-नीच का भेदभाव छूआछूत, मठाधीशों, पंडे- पुरोहितों का जनता को दिग्भ्रमित करना आदि की तीखी आलोचना की। क्योंकि ऐसे लोग आधुनिक भारतीय जनमानस के निर्माण की बजाय शासकों के हिमायती सिद्ध हो रहे थे और जनता को रुढ़िवादी, प्रगति विरोधी मार्ग पर ढकेल रहे थे। 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' नामक प्रहसन में लिखते हैं—"महाराज ये गुरु लोग हैं, इनके चरित्र कुछ न पूछिये, केवल दंभार्थ इनका तिलक-मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दण्डवत् न किया होगा पर मन्दिर में जो स्त्रियाँ आयीं उन्हें तकते रहे।" कितनी तीखी अभिव्यक्ति है जो पण्डितों के चरित्र और धर्म के नाम पर होने वाले दुराचारों और कुकृत्यों का खुला पर्दाफाश करती है। वस्तुतः इनके वर्णन सामाजिक सत्य को आधार बनाकर लिखे गये। इसीकारण स्वस्थ दृष्टिकोण लिये हुए पैने, धारदार और मार्मिक है। इन्होंने अपने अनेक निबन्धों कंकड़-स्तोत्र, तदीय-सर्वस्व, वैष्णव-सर्वस्व, दूषणमलिका आदि में भी तत्कालीन धार्मिक विसंगतियों पर तीखी चोट की है—धर्म हमारा ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से या एक चुल्लू पानी से मर जाता है। कच्चे गले सूत या चिउटी की दशा हमारे धर्म की हो गयी है हाय ! 'प्रेमजोगिनी' नाटक में भी काशी के पाखण्डी पण्डितों का बड़ा यथार्थ और व्यंग्यपूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है।

भारतेन्दु ने अपने 'अद्भुद अपूर्व स्वप्न' में समाज सुधारकों पर पाठशाला आदि के निर्माण के बहाने जनता से पैसे ऐंठनेवालों पर व्यंग्यपूर्ण उक्तियों के द्वारा खूब मजाक उड़ाया हैं। छूआछूत और जाति-पांति के भेदभाव फैलाने वाले और ईश्वर के नाम पर जाति बांटकर रुपया वसूलने वाले पण्डितों की भी 'सबै जाति गुपाल' नामक निबन्ध में

व्यंग्यात्मक ढंग से खूब खबर ली। इसी प्रकार 'अन्धेर नगरी' नामक प्रहसन में भी धर्म और जातीयता के रक्षक लोभी ब्राह्मण से टके सेर जात विकवाकर सामाजिक वर्ण-व्यवस्था, धर्म, तथा जातिवादिता के खोखलेपन पर, ब्राह्मणों द्वारा बताये गये स्वार्थ पूर्ण सामाजिक विधानों पर तीखा व्यंग्य किया है—"जात वाला ब्राह्मण-जात के जात टके सेर जात, एक टका से हम अभी अपनी जात बेचते हैं।"

वस्तुतः भारतेन्दु आधुनिक भारत के निर्माण हेतु सांस्कृतिक जागरण लाना चाहते थे, उनका मन्तव्य था हिन्दू-मुस्लिम सभी धर्म वाले एक जुट होकर साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध आवाज उठाये तभी उससे मुक्ति मिल सकती है। आपसी फूट और कलह भीतर से कमजोर और खोखला बना देती है और अंग्रेज इस फूट का नाजायज फायदा उठाकर अपनी जड़ और मजबूत कर रहे थे। लोगों के बीच धार्मिक विद्वेष फैलाते थे। 'भारत-दुर्दशा में भारतेन्दु लिखते हैं—"यह समय इन झगड़ों का नहीं. हिन्दू, जैन, मुसलामान अब आपस में मीलिए।" साम्प्रदायिक भेद-भाव छोड़कर सबको एकजुट होकर संघर्षरत होना चाहिए। छूआछूत और जाति-पाति के भेद-भाव को भूलकर सबको मिलजुलकर रहने की प्रेरणा देते दिखायी पड़ते हैं—"जाति में चाहे कोई ऊँचा हो चाहे नीचा हो सबका उद्धार कीजिए जो योग्य हो उसे वैसा मानिए। छोटी जाति का तिरस्कार करके उसका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मीलिए।" एकता उस युग की जरूरत थी। जिससे स्वाधीनता संग्राम को बल मिलेगा। ऊँच-नीच के भाव के कारण जो अलगाव आ गया थे उसकी खाई को पाटना चाहते थे। राष्ट्रीय मुक्ति के लिए भारतेन्दु ने धर्मग्रन्थों को भी जातीय भाषा में होना जरूरी बताया ताकि लोग उसके सही अर्थ को समझ सकें और पण्डितों द्वारा फैलाये गए भ्रमों से दूर रहे। धर्म के इस पाखंड पूर्ण रूप के खण्डन द्वारा आधुनिक राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया, मध्यकालीन परम्परा पर चोट की। ज्ञान-विज्ञान के द्वारा जन्मी नयी सचेतन दृष्टि को अपनाने और जातीय संस्कृति के निर्माण की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया। भारतवासियों को जागृत होकर निर्मम अत्याचारों को सहन न कर उसका खुला विरोध करना चाहिए। भारतेन्दु ने कूपमण्डूक बने, सहिष्णु चरित्र वाले लोगों को मूर्ख कहते हुए झटकारा और भौतिक उन्नति की ओर अग्रसारित होने की प्रेरणा दी।

भारतेन्दु की कविताओं में भी नया पन था, मध्ययुगीन संवेदना को अपनाते हुए भी खड़ी बोली में भी रचनायें की। रीतियुग में जो साहित्य वर्ग-विशेष के लिए रचा जाता रहा उसे भारतेन्दु ने जनोन्मुख बनाया यह एक आधुनिक बात थी। आचार्य शुक्ल ने भी लिखा कि—भारतेन्दु ने यह बहुत बड़ा काम किया, साहित्य को जनता की ओर मोड़ा, लोकबद्ध किया।

भारतेन्दु ने स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह पर जोर दिया और बाल-विवाह का खुलकर विरोध किया। नवजागरण के दौर में समाज का हर हिस्सा जागृत हो तभी

व्यापक तौर पर आन्दोलन संभव है। स्त्रियाँ भी समाज का ही अंग हैं अतः उनको घर की चाहरदीवारी से बाहर निकालकर समाज के बीच आना और अपनी अहम् भूमिका निभाना बहुत जरूरी था। अतः ऐसे समय में जब स्त्रियाँ मात्र भोग विलास की वस्तु समझी जाने लगी थी तब भारतेन्दु ने स्त्रियों की स्वतन्त्र शिक्षा और नारी मुक्ति की बात की। यद्यपि यह समस्या आज के स्वतन्त्र भारत में भी किसी न किसी रूप में मौजूद है। विधवाओं के प्रति भी परम्परा से अपनाये गये नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन लाने की बात कही। 'नीलदेवी' नाटक इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

भारतेन्दु के साहित्य में उनका राजभक्ति परक रूप भी उभरकर सामने आता है। जिससे ऐसा लगता है कि इन्होंने अंगरेजी शासन की प्रशंसा की है परन्तु यह भारतेन्दु मण्डल के लेखकों की ही एक शैली थी जो ऊपर से स्तुति पर भीतर से व्यंग्यपरक होती थी। फिर अंग्रेजी सरकार सचेतन रूप से कुछ इस तरह का माहौल भी बना रही थी, मस्तिष्क निर्मित कर रही थी जिसके कारण कुछ लेखक सचेतन रूप से, कुछ अचेतन रूप से राजभक्ति को देशभक्ति समझ रहे थे। वस्तुगत स्थिति को न समझ पाने के कारण ही ऐसा हो रहा था। परन्तु यथार्थ का बोध होते ही धीरे-धीरे लोग देशभक्ति की ओर मुड़े और राजविद्रोह हुआ। फिर भी अचेतन रूप में ही सही प्रशासनिक व्यक्ति की सराहना करना गुलाम मानसिकता का ही प्रतीक है। इस प्रकार का अन्तःविरोध भारतेन्दु के साहित्य में दृष्टिगत होता है।

इस प्रकार भारतेन्दु की समूची साहित्यिक देन में जब हम आधुनिकता की खोज करना शुरू करते हैं तो निष्कर्षतः उनके साहित्य की वे विशिष्टतायें जो आधुनिक भारत के निर्माण से जुटी हुयी है अथवा ऐसी मूल्य-मान्यतायें जो पारस्परिक पाखडों की विरोधी और नयी मानसिकता के अनुरूप है आदि आधुनिकता के अन्तर्गत ही विश्लेपित होंगी। अतः भारतेन्दु हिन्दी साहित्य के उन पुरोधा रचनाकारों में है जिन्होंने आधुनिक राष्ट्रीय साहित्य की मजबूत नींव रक्खी। उनके साहित्य की ये विशेषतायें उस युग की जरूरत की पूर्ति कर रही थी और इसीलिए ये आधुनिक हैं। जातीय भाषा के रूप में खड़ी बोली का विकास, सामन्तीय और साम्राज्यवाद विरोधी भावना का विकास, रीतिकालीन प्रवृत्तियों का विरोध कर जनोन्मुखी रचनाओं पर जोर, रुढ़िवादी मूल्य-चेतना का विरोध और ज्ञान-विज्ञान की चेतना का विकास, राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागृति का प्रसार आदि बातें हमारे साहित्य की मूल्यवान विरासत है।

संदर्भ

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्यायें पृ० 21.
2. भारतेन्दु ग्रन्थावली–3, पृ० 938.

राष्ट्रीय नवजागरण एवं भारतेन्दु

सरला शुक्ल

भारतेन्दु युग को राष्ट्रीय जागरण का समय कहना ही अधिक उपयुक्त है क्यों कि शताब्दियों की दासता के बाद विशेष रूप से औद्योगिक एवं आर्थिक झञ्झावात के द्वारा सुप्तप्राय राष्ट्र नवोन्मेषयुक्त हो उठा। जीवनोपभोग की सुविधाओं रेल, डाक, तार, सुरक्षा ठग, डाकू और लुटेरों से त्राण के बाद भी जब सोने की चिड़िया भारत का आर्थिक शोषण प्रारम्भ हुआ तो जनता में जाग्रति सामाजिक एवं धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों के सहारे उठ खड़ी हुई। जन क्रान्ति सन् 1857 से भी सात वर्ष पूर्व भारतेन्दु का जन्म हो चुका था। वे शंकराचार्य की भाँति भारतीय जनता को सांस्कृतिक धरातल पर चाहे वह भाषा, धर्म, साहित्य और संगीत का क्षेत्र हो, चाहे आचरण-व्यवहार का, झकझोर कर, सुनिश्चित मार्ग पर लेखन तथा चिन्तन को प्रस्थापित करके अल्पकाल में ही प्रस्थान कर गये। उनके मन में देश-समाजहित की नई उमंगें थीं। उनके भाव तथा विचार बड़े प्रगतिशील थे, भारतेन्दु ही थे जिन्होंने हमारे जीवन तथा साहित्य का एकबार फिर गठबन्धन किया। काव्य एवं गद्य दोनों में न केवल नूतन विषय प्रस्तुत नूतन शैली का प्रादुर्भाव ही उनकी विशेषता है, चाहे भावावेश शैली हो, चाहे लक्ष्य-निरूपण शैली, चाहे निबन्ध, नाटक, पत्रकारिता हो चाहे काव्य रचना, सर्वत्र उनका सुधारवादी व्यक्तित्व राष्ट्रहित के चिन्तन में तत्पर दिखाई देता है। काव्य के क्षेत्र में—

फूट वैर को दूर करि, बाँधि कमर मजबूत।
भारत माता के बनो, भ्राता पूत सपूत॥

का उद्बोधन देता हुआ कवि अपनी अनेक गद्य रचनाओं में, भाषणों में सामाजिक जागरण को वाणी देता है। अपने बलिया व्याख्यान में भारतेन्दु ने स्त्री-पुरुष का पारस्परिक सहमति से विवाह, विधवा विवाह, तलाक तथा समाजिक समानता की जोरदार अपील की थी—"सो इन बातों को एकबेर आँख खोलकर देखकर और समझ लीजिये कि फलानी बात उन बुद्धिमान महर्षियों ने क्यों बनाई और उनमें से देश और काल के जो अनुकूल और उपकारी हों उनको ग्रहण कीजिये।...कुलीन प्रथा, बहु विवाह को दूर कीजिये।" "भाई हिन्दुओं! तुम भी मतमतान्तर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामन्त्र का जाप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे। चाहे किसी रंग, किसी जाति का हो वह हिन्दू। हिन्दू की सहायता करो, बंगाली, मरहठा, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मो, मुसलमान सब एक हाथ पकड़ो।" राष्ट्रीयता एवं देशोन्नति की भावना जगाना ही उनका उद्देश्य

था । भारतेन्दु ने राष्ट्रीय उत्थान एवं जातीय विकास के लिये लोक प्रचलित काव्यरूपों कजली, चैती, होली, साँझी बिरहा आदि के माध्यम से रूढियों एवं कुप्रथाओं पर प्रहार की योजना भी बनाई थी । अन्धानुकरण एवं पद सम्मान लोलुपता पर वे कटु प्रहार करते हैं। 'अंग्रेज स्तोत्र' में हास्य व्यग्य के माध्यम से उन्होंने एक ओर कटु प्रहार किया है तो दूसरी ओर राष्ट्रीय भावनाओं को जगाया भी है । उनका चुभता व्यंग्य इन पंक्तियों में दृष्टिगोचर होता है—हे मिष्टभाषिण ! हम मातृभाषा त्याग करके तुम्हारी भाषा बोलेंगे ? बाबू नाम छोड़कर मिस्टर नाम लिखावावेंगे, तुम हम पर प्रसन्न हो, हम तुमको प्रणाम करते हैं । हे सुयोजक ! हम चावल छोड़कर पावरोटी खायेंगे । निषिद्ध मांस विना हमारा भोजन ही नहीं बनता कुक्कर हमारा जलपान है । अतएव हे अंग्रेज ! तुम हमको चरण में रक्खो हम तुमको प्रणाम करते हैं ।"

स्वार्थपरता एवं ज्ञान हीनता, अन्ध विश्वास एवं मिथ्या कर्म काण्ड की पोल 'सबै जांति गोपाल की' तथा 'जाति विवेकनी सभा' प्रहसनों में जिस सफलता से उद्घाटित हुई है वह दुर्लभ है । गड़रिया और चमार शब्द की व्युत्पत्ति और दक्षिणा दान से तृप्त ब्राह्मण का बुद्धि चमत्कार अतुलनीय है ।

नारी अधिकार एवं समानता की बात भी भारतेन्दु एवं भारतेन्दु मण्डल के लेखकों ने बहुत सुन्दरता एवं विस्तार से की है । इस युग के सभी लेखक भारतीयता से अनुप्राणित थे और राष्ट्रीय जागरण उनका अभीष्ट था । इस हेतु वे आत्मसम्मान, स्वाभिमान, साम्प्रदायिक एकता, धर्म की सार्वभौमिकता का प्रचार तो करते ही थे, साथ ही समान वेग एवं उत्साह से हिन्दू या मुस्लिम कहें तो भारतीय समाज में प्रविष्ट कुरीतियों, अधविश्वासों एवं रूढ़ियों पर प्रहार भी करते थे । एक ओर वे पण्डितों को ललकारते, अँगरेजियत पर व्यंग्य करते और दूसरी ओर सुकरात, मुहम्मदसाहब, बीबी फातिमा का चरित्र लिखते एव कुरान का हिन्दी अनुवाद भी करते थे ।

पाठशालाओं की स्थापना करते, सभायें करते नाटकों के द्वारा प्रहार करते, पत्र-पत्रिकायें निकालते, व्यक्ति के सम्मान को गुपचुप दान से बनाये रखते और सबसे बड़ा काम एक मण्डल की प्रेरणा बनते थे । बड़ा होना अच्छा है किन्तु ताड़ और खजूर की भाँति नहीं —वटवृक्ष के संस्कार वाले इस देश में 'भारतेन्दु' ऐसे ही व्यक्ति है जिनकी जड़ें गहरी, छाया सुखद एवं थाला विस्तृत है । मण्डल के कवि लेखकों ने दीर्घकाल तक भारतेन्दु की ज्योत्स्ना विकीर्ण की । स्वतन्त्र होने के बाद भी क्या हम राष्ट्रीय जागरण की उस विकीर्ण को दीप्ति दे सके हैं ? क्या वे सारी बुराइयाँ जिनकी ओर उन्होंने इंगित किया था हमने त्याग दी है ? और क्या हम एक बलिष्ठ निर्दोष निष्कलंक राष्ट्र के रूप में उठ खड़े हुए हैं ? यदि नहीं तो यह पुण्यशती समारोह हमारे आत्मालोचन और पुनर्जागरण का पर्व बने यही मेरी कामना है ।

◆

भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताएं

विष्णुकान्त शास्त्री

भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताओं पर आलोचकों ने विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी है। उन्हें लगता रहा है कि भारतेन्दु की बहुमुखी प्रतिभा का यह एक ऐसा उपक्रम था, जो प्रयास की कोटि से आगे नहीं बढ़ पाया अतः इस पर गहराई से विचार करने का प्रयोजन नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि स्वयं भारतेन्दु ने अपनी खड़ी बोली की कविताओं के बारे में अवज्ञापूर्ण मत व्यक्त किया है। अधिकांश आलोचकों ने भारतेन्दु के मत के बाह्यतः दृष्टिगोचर होने वाले पक्ष को स्वीकार कर उनकी खड़ी बोली की कविताओं के कृतित्व को खारिज कर दिया, उसके अन्तर में छिपी कशमकश, प्रचेष्टा और उपलब्धि (?) को पहचान कर उसका प्राप्य उसे देने की तलस्पर्शी सहृदयता नहीं दिखायी।

2 अक्टूबर 1872 की 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु का 'हिन्दी भाषा' शीर्षक निबन्ध छपा था[1] जो बाद में बांकीपुर पटना से पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित हुआ। अपने इस निबन्ध में भारतेन्दु ने खड़ी बोली की कविता के बारे में जो मन्तव्य प्रकट किया, बहुतेरे आलोचकों ने उसे ही उनका अन्तिम निर्णय मान लिया। भारतेन्दु जी ने इसमें लिखा था, 'जो हो मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊं पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी, इससे यह निश्चय होता है कि ब्रज भाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रज भाषा में ही उत्तम होती है।"[2] इसी पुस्तिका में आगे चलकर 'नई भाषा की कविता' शीर्षक के नीचे उन्होंने लिखा था–

"भजन करो श्रीकृष्ण का मिल करके सब लोग।
सिद्ध होयगा काम औ छूटेगा सब सोग॥

अब देखिए यह कैसी भौंड़ी कविता है। मैंने इसका कारण सोचा कि खड़ी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सबसे बड़ा कारण यह जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होती है, इससे कविता अच्छी नहीं बनती।"[3]

भारतेन्दु के इस कथन की प्रतिध्वनि कई आलोचकों ने की है। बाबू शिवनन्दन सहाय ने लिखा है, ''बाबू हरिश्चन्द्र खड़ी बोली की भी कविता करते थे किन्तु इनका कथन था कि ब्रज भाषा में जैसी कविता मधुर होती है, दूसरी भाषा में नहीं।"[4] आगे उन्होंने लिखा 'यह हम भी कहेंगे कि ब्रज भाषा के समान खड़ी बोली में कविता मधुर

नहीं होती। खड़ी बोली का ढंग प्रायः उर्दू फारसी ऐसा हो जाता है।"[5] डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का कथन है, "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य में भी खड़ी बोली का प्रयोग करना चाहा था और स्वयं कुछ कविताओं की रचना भी की …(भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताओं के कुछ उद्धरण)……साथ ही उनकी ब्रज रचनाओं में भी खड़ी बोली के रूप यहां तक कि वाक्यांश भी बराबर मिलते हैं। किन्तु उन्हें खड़ी बोली की कविता भोंड़ी प्रतीत हुई और प्रायः दीर्घ मात्रा के आ जाने के फलस्वरूप उन्हें वह मधुर भी न लगी। इसलिए कविता की भाषा उन्होंने ब्रजभाषा ही स्वीकार की।"[6]

'हिन्दी भाषा' निबन्ध लिखने के 9 वर्ष बाद भारतेन्दु जी ने 1 सितम्बर 1881 को भारतमित्र में प्रकाशनार्थ खड़ी बोली की अपनी कुछ कविताएं भेजते हुए सम्पादक के नाम लिखे पत्र में यह मत प्रकट किया था, "प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। इस विषय में सर्व साधारण की अनुमति ज्ञात होने पर आगे से वैसा परिश्रम किया जाएगा। तीन भिन्न-भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने ही के लिए कि किस छन्द में इस भाषा का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है। मैंने कहीं-कहीं सौकर्य के हेतु दीर्घ मात्राओं को भी लघु करके पढ़ने की चाल रक्खी है। लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और भी लिखने का प्रयत्न करूंगा।"[7] भारतेन्दु जी के इसी पत्र का हवाला देते हुए श्री किशोरी लाल गुप्त ने लिखा है, '1881 ई० से भारतेन्दु बाबू ने खड़ी बोली हिन्दी में कविता लिखने का प्रयास आरम्भ किया। इसके बाद वह प्रायः चार वर्ष तक जीवित रहे। इस अल्पकाल में वे खड़ी बोली हिन्दी में बहुत कम रचनाएं दे पाये। इन रचनाओं की भाषा मंजी नहीं है।"[8] इसके अनन्तर 1881 के पहले की और बाद की खड़ी बोली की भारतेन्दु की कुछ रचनाओं की क्रम संख्या का संकेत देने के बाद उनकी एक रचना का उदाहरण देकर उसकी भाषा की कुछ गलतियां गुप्तजी ने दिखायी है। उनका निष्कर्ष है, "ये सभी दूषित प्रयोग भारतेन्दु बाबू की ढीली ढाली लचर खड़ी बोली का रूप प्रस्तुत करते हैं और सिद्ध करते हैं कि वे अपने प्रयोग में असफल रहे।"[9]

'गुप्तजी' ने हिन्दी भाषा शीर्षक निबन्ध का प्रकाशन काल यदि ध्यान में रखा होता तो वे यह लिखने की गलती नहीं करते कि 1881 ई० से ही भारतेन्दु बाबू ने खड़ी बोली में कविता लिखने का प्रयास आरम्भ किया। निश्चय ही 1872 या उसके कुछ पहले से खड़ी बोली में कविता लिखने का सचेत प्रयास भारतेन्दु करने लगे थे। अतः 1881 के पहले और बाद की भारतेन्दु की खड़ी बोली की रचनाओं के विभाजन का कोई तुक नहीं है। सम्भवतः 'गुप्तजी' की धारणा है कि 1881 के पहले जो कविताएं

भारतेन्दु ने खड़ी बोली में लिखीं वे उनकी खड़ी बोली की सचेत लिखी कविताओं से भिन्न कोटि की हैं क्योंकि भारतेन्दु की लावनियों पर विचार करते हुए उन्होंने यह टिप्पणी जड़ी है, "वस्तुतः उस समय लावनियों की जो प्रचलित भाषा थी उसी में ये लावनियां लिखी गई है। भारतेन्दु बाबू ने इस बात का विचार नहीं किया कि वे खड़ी बोली में रचना कर रहे हैं।"[10] गुप्त जी की यह स्थापना कम से कम 1872 और उसके बाद की भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताओं (जिनमें लावनियाँ शामिल है) के लिए भित्तिहीन है। इसी तरह गुप्त जी ने भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताओं में भाषा सम्बन्धी जैसी त्रुटियाँ बतायी हैं वैसी त्रुटियाँ उनके गद्य में भी काफी मात्रा में मिलती हैं। उनके बावजूद यदि गद्य में हरिश्चन्द्री हिन्दी प्रशंसनीय है तो कविता में वे त्रुटियाँ इतनी विगर्हणीय कैसे मान ली जायें कि उनके कारण ही उनकी कविताओं को 'असफल प्रयोग' घोषित कर दिया जाये ?

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताओं का हल्का सा उल्लेख भर किया है किन्तु यह श्रेय उन्हें दिया है कि हिन्दी साहित्य के गद्य और पद्य के माध्यम अलग-अलग हों, यह बात उन्हें खटकने लगी थी। शुक्ल जी के अनुसार 'गद्य एक भाषा में लिखा जाय और पद्य दूसरी भाषा में, यह बात खटक चली। इसकी कुछ चर्चा भारतेन्दु के समय में ही उठी थी, जिसके प्रभाव से उन्होंने 'दशरथ-विलाप' नाम की एक कविता खड़ी बोली में (फारसी छन्द में) लिखी थी।[11] इसके पहले भी उन्होंने लक्षित किया था कि "गाने की चीजों में भारतेन्दु ने कुछ लावनियां और ख्याल भी लिखे जिनकी भाषा खड़ी बोली होती थी"[12] शुक्ल जी के इन चलते-चलाते किये गये कथनों से यही झलकता है कि वे भी भारतेन्दु के इस पक्ष को बहुत महत्त्व नहीं देते थे क्योंकि खड़ी बोली की भारतेन्दु की कविताएं एक तो उनकी दृष्टि में संख्या में बहुत कम थीं, फिर वे गंभीर कवितायें न होकर 'गाने की चीज़ें' भर थीं और खड़ी बोली की कविता के लिये फारसी छन्द का सहारा लेने को वे विवश हुए थे। मैं यही कह सकता हूं कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के सन्दर्भ में इस विषय को अधिक विस्तार दे पाना शायद उनके लिए सम्भव न था किन्तु इन मन्तव्यों की ध्वनियों से मैं सहमत नहीं हूं क्योंकि भारतेन्दु की खड़ी बोली की कवितायें पर्याप्त मात्रा में सुलभ हैं वे केवल 'गाने की चीजें' ही नहीं हैं तथा फारसी छन्दों के अलावा बहुतेरे हिन्दी छन्दों में भी रचित हैं।

मेरे मतानुसार इन सम्मान्य आलोचकों के इन मतों से कहीं अधिक सारवान् और सत्य के निकट डा० रामविलास शर्मा की यह स्थापना है, "भारतेन्दु की समूची खड़ी बोली की कविता परिमाण में कम नहीं है। उन्होंने खड़ी बोली की सरल लोकप्रिय कविता में सफलता पायी थी।" [13]

भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताओं का मूल्यांकन करने के पूर्व खड़ी बोली की कविता रचने की प्रेरणा उन्हें क्यों कर मिली और उसके प्रति उनकी प्रतिबद्धता कितनी गहरी थी, इस पर विचार कर लेना समुचित होगा।

आचार्य शुक्ल का यह अनुमान संगत प्रतीत होता है कि एक ही साहित्य के गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की भाषा ब्रजी हो, यह द्वैध भारतेन्दु को खटकने लगा था। इसीलिए उन्होंने 'प्रचलित साधु भाषा' में अर्थात् शिष्टों की बोल चाल की एवं गद्य की भाषा के रूप में स्वीकृत खड़ी बोली में कविता लिखने का उपक्रम किया था। किन्तु इसी के साथ-साथ यह भी समझ रखना चाहिये कि भारतेन्दु को यह मुगालता नहीं था कि वे खड़ी बोली में कविता रचने का सूत्रपात कर रहे हैं। खड़ी बोली की उर्दू शैली और लावनी शैली की कविता परम्परा उनके पहले ही पर्याप्त पुष्ट थी। खड़ी बोली में प्राचीन कीर्त्तन भी मिलते हैं, इस तथ्य का उल्लेख भी भारतेन्दु ने 'हिन्दी भाषा' शीर्षक निबन्ध में किया था।[14] इस कीर्त्तन परम्परा में स्वयं उनके पिता बाबू गिरधर दास जी की रचनायें भी मिलती हैं। उद्धृत हैं ऐसे दो कीर्त्तनों की कुछ पंक्तियां—

जाग गया तब सोना क्या रे।
जो नरतन देवन को दुर्लभ सो पाया अब रोना क्या रे॥
ठाकुर से कर नेह अपाना इन्द्रिन के सुख होना क्या रे।
जब बैराग ज्ञान उर आया तब चाँदी औ सोना क्या रे॥[15]

तथा—

चोरी दही मही की करना, घर–घर घूमना हो लाल।
पर नारिन सों नेह लगाना, सुन्दर गीत मनोहर गाना,
यमुना तट ग्वालन को लेके, घूमना हो लाल॥[16]

बाबू ब्रजरत्न दास ने गिरिधर दास जी की रचनाओं का विवरण देते हुए उनके 'कीर्तन के पद' के परिचय में स्पष्ट लिखा है कि कीर्तन के 62 पदों में ब्रज भाषा तथा खड़ी बोली दोनों ही में पद रचे गये हैं।"[17] भारतेन्दु को अपने पिता के कवि रूप का पूर्ण परिचय और प्रचुर गौरव बोध था। उन्होंने प्रेमघन जी को लिखे एक पत्र में सम्भवतः अपने पिता के ही खड़ी बोली के एक कीर्त्तन की पंक्तियां उद्धृत करते हुये लिखा था, बाबू जी का यह तुक बहुत ही ठीक है,

है संसार का यह मजा। घन सरिस दुख, तड़ित सम सुखमोह छाजन छजा।'[18]

अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि सामयिक साहित्यिक प्रयोजन के साथ-साथ परिवार से मिली कीर्त्तन रचना की ओर अपने नगर बनारस में सरगर्मी के साथ होने वाले लावनीबाजों के दंगलों से प्राप्त लावनी रचना की जीवन्त प्रेरणा ने भी उन्हें खड़ी बोली की कविताओं की ओर उन्मुख किया था।

बहुत से विद्वानों की यह धारणा है कि खड़ी बोली में कविता करना भारतेन्दु की एक अल्पकालिक प्रचेष्टा भर थी। तथ्य इसके विपरीत है। 1872 के लेख में उन्होंने खड़ी बोली में कविता लिखने का 'कई बेर परिश्रम' करने का उल्लेख किया है। इससे यह

निष्कर्ष निकालना संगत ही है कि यदि 1872 के पहले से वे खड़ी बोली में कविता न भी लिखते रहे हो तो भी 1872 में उन्होंने उसमें कई कवितायें लिखने की कोशिश की थी। यह ठीक है कि वे कवितायें उनके काव्य-मर्मज्ञ मन के अनुकूल नहीं बन पायी। इस पर खींझ कर भारतेन्दु केवल अपनी रचना को भौंड़ी कहा बल्कि यह फैसला भी कर लिया कि ब्रज भाषा ही में कविता करना उत्तम होता है। किन्तु इसके बाद भी वे न केवल खड़ी बोली में कविताएँ लिखते रहे बल्कि इसकी छानबीन भी करते रहे कि कौन-कौन सी कसर निकाल कर किस उपाय का अवलम्बन किया जाये कि 'इस भाषा में काव्य सुन्दर' बन सके। 1881 में 'भारत मित्र' के सम्पादक को खड़ी बोली की अपनी कविताएँ भेजते समय इसके लिए उन्होंने तीन भिन्न-भिन्न छन्दों में रचना की, सौकर्य के लिए दीर्घ मात्राओं को भी लघु करके पढ़ने की चाल चलानी चाही और यह आश्वासन भी दिया कि यदि सम्पादक और पाठक स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और भी लिखने का यत्न करूँगा। यह हार मानकर खड़ी बोली में कविता करना छोड़ देने का स्वर है कि उसके लिए अधिक सजग, कलात्मक प्रयास करने की घोषणा ? यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अपने इस पत्र में खड़ी बोली में कविता लिखने में ब्रज भाषा की तुलना में दूना समय लगने की शिकायत तो वे करते हैं किन्तु अपनी रचनाओं को भौंड़ी नहीं करते। भारतेन्दु मृत्यु पर्यन्त खड़ी बोली में कविता लिखते रहे, यह श्री राधाकृष्ण दास की साखी से साबित होता है। उन्होंने भारतेन्दु की अन्तिम कविता के सम्बन्ध में अपना अनुमान व्यक्त करते हुए लिखा है, जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, निम्नलिखित पद के पीछे कोई कविता नहीं की—

डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।
देखो लाद चले पन्थी सब तुम क्यों रहे भुलाई ॥"[18क]

यह ठीक है कि इस पद में ब्रज भाषा का मिश्रण भी है लेकिन यह भी भारतेन्दु की खड़ी बोली कविता की एक शैली थी। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि खड़ी बोली के पद्यों, गीतों की योजना उन्होंने अपने नाटकों में भी बराबर की है। सत्य हरिश्चन्द्र, भारत दुर्दशा भारत जननी, अन्धेर नगरी, नील देवी आदि में ही नहीं श्रीचन्द्रावली जैसी प्रेमा भक्ति प्रधान नाटिका में भी खड़ी बोली के गीत की योजना निश्चय ही तात्पर्य पूर्ण है। अपने कई निबन्धों में भी भारतेन्दु ने खड़ी बोली के पद्यों का उपयोग किया है। मदालसा का जीवन चरित्र लिखते समय मदालसा की लोरी उन्होंने शुद्ध खड़ी बोली में रखी है, समग्र भारतेन्दु साहित्य को दृष्टिपथ में रखने पर खड़ी बोली की कविता रचना के प्रति उनका लगाव कितना गहरा और दीर्घकालिक था, यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

अच्छी और बड़ी कविता की रचना तभी सम्भव होती है जब कवि अपने चेतन और अचेतन मन के संश्लेषण द्वारा किसी बड़े सांस्कृतिक मूल्य को अभ्याससिद्ध माध्यम में कुशलतापूर्वक अभिव्यक्त कर पाता है। कवि भारतेन्दु के लिए ऐसा कर पाना ब्रजभाषा के

पदों और कवित्त-सवैयों में प्रेम और भक्ति की रचनाओं में ही सम्भव हुआ है। स्वभावतः उनकी सर्वोत्कृष्ट कविताएं इन्हीं क्षेत्रों में उभरी हैं। ब्रज भाषा में भी चेतन स्तर पर केवल बुद्धि के अनुरोध से समाज सुधार या राजभक्ति आदि विषयों पर रचित उनकी कविताएं दुर्बल और रूखी प्रतीत होती हैं। अवश्य ही देश भक्ति की उनकी ब्रज भाषा की भी कुछ कविताएं मार्मिक हैं क्योंकि उनमें उसी अनुपात में हृदय का भी योग है। ऐसी स्थिति में खड़ी बोली की उनकी कविताएं बहुत अच्छी कैसे हो सकती थीं। वे मूलतः एक बड़े साहित्यिक उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए नये और अनमंजे माध्यम में बुद्धि के अनुरोध से रची गयी हैं अतः उनमें मर्मस्पर्शिता और परिष्कार दोनों की कमी एक सीमा तक है ही। किन्तु विचार करने पर यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि खड़ी बोली की उनकी कविताएँ भी निरन्तर विकासोन्मुखी रही हैं और अन्तिम काल की उनकी खड़ी बोली की कविताओं में भी विदग्धता झलकने लगी थी।

भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताओं की भाषा में ब्रज भाषा का मिश्रण होता था, यह आरोप कई आलोचकों ने लगाया है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतेन्दु की ब्रज भाषा की कविता में भी अन्य बोलियों का मिश्रण मिलता है। सच तो यह है कि रीति कालीन ब्रज भाषा काव्य में ऐसे मिश्रण को स्वाभाविक मानकर स्वीकार कर लिया गया था और उसके प्रति दोष दृष्टि नहीं रखी गयी थी। इसीलिए मिश्रित भाषा का समर्थन करते हुए तुलसी और गंग का उदाहरण देकर आचार्य भिखारी दास ने कहा था—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार,
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार ॥"19

भारतेन्दु को इसी मिश्रित ब्रज भाषा का संस्कार काव्य की विरासत से मिला था। काशीवासी होने के कारण खड़ी बोली का भी मिश्रित व्यावहारिक रूप ही उन्हें सुलभ था। अतः खड़ी बोली की हिन्दी कविता में ही नहीं उनकी उर्दू की कविता में भी ब्रज, अवधी का मिश्रण यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। उनकी उर्दू कविता के संशोधक मौलवी फायज का भी मत था, "बाबू हरिश्चन्द्र के शैरों में ख्यालात जरूर बहुत ऊँचे होते थे लेकिन चूंकि उन्होंने उर्दू जुबान बाकायदा नहीं सीखी थी इसलिए उनकी जुबान चुस्त नहीं थी।"20 साम्प्रतिक हिन्दी कविता में विशेषतः नवगीतों में जिस प्रकार क्षेत्रीय बोलियों का मिश्रण दृष्टिगोचर होता है, उससे यही प्रतीत होता है कि काव्य भाषा में अति शुद्धकरण की नीति नहीं चल सकती।

भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताओं को हम मोटे तौर पर दो भागों में बांट सकते हैं, (1) पारम्परिक शैलियों में रचित (2) नवीन उद्भावनाओं के अनुरूप रचित। परम्परा से भारतेन्दु को खड़ी बोली कविता के दो प्रवाह प्राप्त हुए थे (क) लावनी और पदावली जैसी गेय रचनाओं का प्रवाह और (ख) फारसी छन्दों में मुख्यतः फारसी साहि-

त्यिक आदर्शों के अनुरूप रचित उर्दू काव्य प्रवाह। इन दोनों प्रवाहों में रचित भारतेन्दु की कविताएँ अपेक्षाकृत रूप से प्रौढ़ हैं क्योंकि उन्हें परम्परा का बल प्राप्त है। नवीन उद्भावनाएँ उन्होंने परम्परा के आधार पर ही की थीं किन्तु इन क्षेत्रों में वे करीब करीब पहल कर रहे थे, नयी जमीन तोड़ रहे थे अतः इनमें सरसता कम है। इनमें देश भक्ति, समाज सुधार आदि की नयी भावनाएं भी झलकी हैं और खड़ी बोली की हिन्दी शैली को नये छन्दों में भी ढाला गया है। ऐसी कविताओं को भी दो भागों में बांटा जा सकता है (क) फारसी छन्दों में रचित (ख) हिन्दी छन्दों में रचित। अतः भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताओं को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

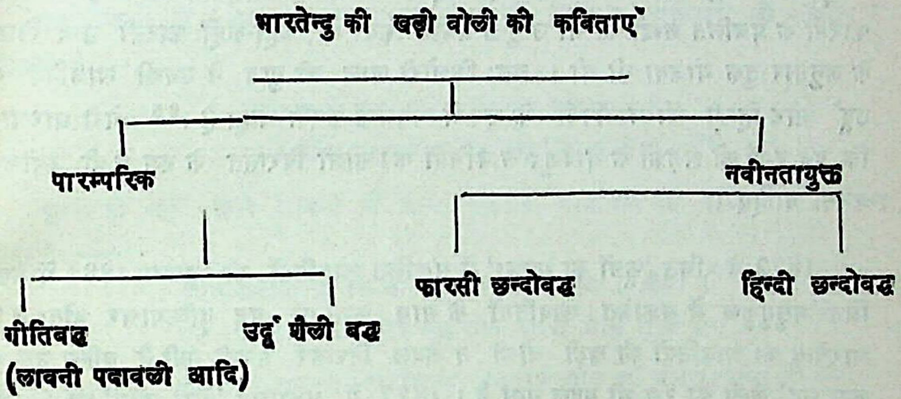

संख्या में सबसे अधिक खड़ी बोली की कविताएँ भारतेन्दु ने गीतिबद्ध शैली में ही रची है। इनमें लावनी और पदावली की अपेक्षाकृत मंजी हुई परम्परा के साथ ही लोक गीतों की अनुगूंज वाली तथा विवाह आदि में महिलाओं द्वारा गायी जाने वाली रचनाएं भी शामिल है। लावनी का विकास भी लोक गीत परम्परा से ही हुआ था किन्तु डा० रामखेलावन पाण्डेय के अनुसार तानसेन ने इसको शास्त्रीयता प्रदान कर दी थी।[21] आचार्य शुक्ल ने बताया है कि (संगीत से) लावनी की लय लेकर तुकनगिरि गोसांई ने सधुक्कड़ी भाषा में ज्ञानोपदेश के लिए उसका उपयोग किया। उनके रिसाल गिरि और देवी सिंह नामक शिष्यों ने क्रमशः ब्रह्मज्ञान तथा भक्ति और प्रेम की रचनाएं खड़ी बोली की लावनियों में की। लावनी बाजों में काशी गिरि उपनाम बनारसी का बड़ा नाम हुआ।[22] श्री शिवनन्दन सहाय के अनुसार लोगों की मान्यता थी कि 'लावनी रचना में' भारतेन्दु की तुलना बनारसी दास से की जा सकती है।[23] उन्होंने यह भी बताया है कि 1872 ई० में बनारसी लावनी बाजों की लावनियों की बड़ी चरचा थी। उसी समय इन्होंने (भारतेन्दु ने) 'फूलों का गुच्छा' नामक लावनियों का एक ग्रन्थ बनाया था, "प्रतीत होता है कि 1882 ई० में उस पुस्तक की कोई नूतन आवृत्ति हुई थी क्योंकि

खड्गविलास में जो संस्करण हुआ है, उसमें हमारे चरित्र नायक की 1939 संवत् की लिखी हुई भूमिका देखी जाती है।"[24] इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु की लावनियाँ अपने समय में पर्याप्त समादृत थीं (इसीलिए उस विधा के उस्ताद बनारसी दास से उनकी तुलना की जाती थी) और लोकप्रिय भी थीं, तभी 'फूलों का गुच्छा' का दूसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। भारतेन्दु की लावनियों में विषय की दृष्टि से सगुण भक्ति परम्परा की प्रधानता है, साथ ही निर्गुणियों और सूफियाना रंग भी आये हैं। कुछ आलोचकों का यह समझना ठीक नहीं है कि लावनियों में निर्गुण भक्ति और सूफी परम्परा की ही प्रधानता रहती थी। उसमें सगुण भक्ति परक रचनाएं भी मिलती हैं और भारतेन्दु जी ने तो वल्लभ सम्प्रदाय के अनुरूप भी बहुत सी लावनियाँ लिखी थीं। भाषा की दृष्टि से संस्कृत के सरल तत्सम एवं तद्भव शब्दों के साथ-साथ भारतेन्दु ने अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों का भी उन्मुक्त प्रयोग किया था, कहीं-कहीं फारसी छन्द विधान के अनुसार तुक योजना भी थी। अतः किशोरी लाल जी गुप्त ने उनकी लावनियों को उर्दू और हिन्दी की लावनियों के रूप में विभक्त करना चाहा है।[25] मेरी धारणा है कि इन रंगों की झलकों के बावजूद लावनियों को सांझी विरासत के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

1872 में रचित 'फूलों का गुच्छा' में संकलित लावनियों की तुलना 1881 में प्रकाशित 'मधुमुकुल' में संकलित लावनियों के साथ करने पर यह दृष्टिगोचर होता है कि भारतेन्दु की लावनियों की खड़ी बोली न केवल निरन्तर मंजती गयी है बल्कि उस पर चढ़ा उर्दू शैली का रंग भी बदल गया है। 1877 में प्रकाशित 'प्रेम तरंग' की 6 लावनियों में उर्दू की झलक है तो पाँच लावनियां बिलकुल हिन्दी रंग में हैं जो प्रेम प्रलाप 'मधु मुकुल' और 'वर्षा विनोद' में पायी जाने वाली लावनियों में भी सुलभ है। यह ठीक है कि इन लावनियों में ब्रज भाषा की झलक बल्कि कहीं-कहीं पंक्तियां भी मिलती हैं किन्तु इसे भारतेन्दु का वैशिष्ट्य मान लेना चाहिए। आखिर वे इनकी रचना उन साधारण जनों के लिए कर रहे थे जो ऐसे मिश्रण के अभ्यस्त थे।

'फूलों का गुच्छा' की लावनियों की भाषा और तुक विधान की त्रुटियों का विवेचन श्री किशोरीलाल गुप्त ने बड़े युक्ति युक्त ढंग से किया है किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है कि "ये सभी की सभी निर्गुण परम्परा का पालन करती हुई रहस्यवादी हैं।"[26] उन पर सूफी रंग है यह निर्विवाद है। उसके समर्थन में—

कोई मजाजी कहता हकीकी नाम किसी ने है रक्खा
कोई मसजिद कोई बुतखाने में नित है जाता॥
पै हमने तो सीधा ताका उस साकी का मै खाना।
मजा न पाया क्यां जिसका गूँगे का गुड़ खाना॥[27]

जैसी बहुत सी पंक्तियां उद्धृत की जा सकती है। किन्तु इसी पुस्तक में ऐसी भी कई लावनियां हैं जिनमें इस रंग का समावेश सगुण भक्ति परम्परा में कर दिया गया है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत है ये प्रसिद्ध पंक्तियां—

"श्री राधा-माधव जुगल-चरन-रस का अपने को मस्त बना।
पी प्रेम-पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मजा॥"[28]

इस लावनी में सूफी साधना को वल्लभ सम्प्रदाय की साधना से ओत-प्रोत कर दिया गया है। इसी के साथ-साथ इस दूसरी लावनी पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

"तुम गर सच्चे हो तो जहां को कहते हैं सब क्यों झूठा,
तुम निर्गुन हो तो फिर यह गुन जग में सब है किसका॥"[29]

इन पंक्तियों में नन्ददास के भ्रमर गीत की विख्यात पंक्तियों की अनुगूंज मिलती है,—

"जो उनके गुन नाहि और गुन भये कहां ते।
बीज बिना तरु जमें मोहि तुम कहो कहाँ ते॥[30]

इतना ही नहीं, इसी लावनी में आगे चलकर मायावाद का खण्डन भी किया गया है——

तुमने बनाया था कि बने खुद तो यह माया है कैसी।
एक जो हो तुम तो फिर यह कौन दूसरी आके घुसी॥

इसी लावनी में और आगे चलकर विवर्त्तवादी रज्जु-सर्प-न्याय को नकारा गया है——

सभी शोर करते हैं सांप का रस्सी में यह धोखा है।
भूले है वह, जहां गर दो हो तो यह बात बनै।
यह तो तब हो जब कि सांप रस्सी यह कायम हो दोऊ।
यहाँ तुम्हारे सिवा है कोई दूसरा कौन कहै॥[31]

वल्लभ सम्प्रदाय के अविकृत परिणामवाद के द्वारा शुद्धाद्वैत का यह समर्थन निर्गुण परम्परा का पालन करता हुआ रहस्यवाद नहीं कहा जा सकता।

गुप्त जी ने प्रेम तरंग की जिन लावनियों को उर्दू का घोषित किया है, उनमें से एक की कुछ पंक्तियाँ देखिये——

जहां देखो वहीं दगा और फरेब औ मक्कारी है।
दुख ही दुख से, बनाई यह सब दुनिया सारी है॥
आदि, मध्य औ अंत एक रस दुख ही इसमें जारी है।
कृष्ण भजन बिनु, और जो कुछ है वह ख्वारी है।
'हरीचन्द' भव-पंक छुटै नहिं बिना भजन रस के धोए।
मुँह काला कर बखेड़े का हम भी सुख से सोए॥[32]

इन पंक्तियों की भाषा को उर्दू कहना कैसे उचित माना जा सकता है ? यह ठीक है कि इस पुस्तक की भी कुछ लावनियों में उर्दू शैली की झलक है किन्तु उसका रंग उतना गाढ़ा नहीं है जितना 'फूलो का गुच्छा' में था। हिन्दी की शैली में जो निखार आया है, उसका भी एक नमूना पेश है—

क्या करें कोई तदबीर न और दिखाती।
दिन रोते कटता रात जागते जाती ॥
विरहा से सब छिन हाय दहकती छाती।
कोई उनसे जा यह मेरी बिथा सुनाती ॥
हरिचन्द उपाय न चलै रही पछताई।
उस निरमोही की प्रीत काम नहिं आई ॥[४४]

ब्रज भाषा का हलका सा पुट इसकी पांचवीं पंक्ति में अवश्य मौजूद है किन्तु अन्य पंक्तियों की भाषा की चुस्ती प्रशंसनीय है। नहीं को 'नहिं' लिखना गलती नहीं, भारतेन्दु की अपनी मान्यता है, जिसका समर्थन होना चाहिए। भारतेन्दु ने क्रियाओं की दीर्घता को खड़ी बोली कविता का एक प्रधान दोष बताया था किन्तु अनभ्यास के कारण ही भारतेन्दु का आरम्भिक खड़ी बोली की रचनाएं नीरस ज्ञात होती थी। इन पंक्तियों में विरहिणी गोपिका की व्यथा का जो मार्मिक चित्रण है, उसे कोई 'मत्सरी' आलोचक भी नीरस नहीं कह सकता।

''वर्षा—विनोद' की लावनियों की भाषा में और सफाई झलकती है। विरहिणी का एक मार्मिक चित्र इसमें भी भारतेन्दु ने अंकित किया है—

बीत चली सब रात न आये अब तक दिल जानी।
खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा पानी ॥
अंधेरी छाय रही भारी।
सूझत कहूं न पंथ सोच कर मन मन में नारी ॥
न कोई समझा बनवारी।
चौकि चौंकि के उझकि झरोखा झांक रही प्यारी ॥[४५]

किस सहृदयता से बरसते पानी में अकेली खड़ी पिया की राह देखती, चौंक चौंक कर झरोखे से उझक झांकती प्यारी की छवि भारतेन्दु ने इन पंक्तियों में उरेही है। क्या यह कविता भी भौंड़ी है ? इसी लावनी में घने अन्धकार की व्यंजना भारतेन्दु ने इन चुटीली पंक्तियों में की है—

सूझै पंथ न कहीं हाथ से हाथ न दिखलाता।
एक रंग धरती अकास का कहा नहीं जाता ॥

जब अपना ही हाथ अपने को न दिखे तो भला पंथ कैसे दिख सकता है, खास कर जब धरती और आकाश का रंग एक दम एक हो गया हो, तब अन्धकार का बखान कैसे हो, कुछ कहा नहीं जाता। ये अर्थ गर्भ पंक्तियाँ आज भी किसी कवि को सम्मान्य बना सकती हैं।

भारतेन्दु ने लोक गीतों के संकलन और प्रकाशन का उद्योग ही नहीं किया था, स्वयं भी लोक गीतों की शैली में कई गीतों की रचना की थी जिनमें से कुछ खड़ी बोली में भी है। 'नजरहा छैला रे नजर लगाए चला जाय' और 'नशीली आँखों वाले सोए रहो, अभी है बड़ी रात'[35] की जीवन्तता भारतेन्दु के चुलबुले प्रेमी हृदय को उजागर कर देती है। जिस तरह तुलसीदास ने भक्त महाकवि की गरिमा को अपने लिए बन्धन न बताते हुए महिलाओं के लिए 'रामलला नहछू' की रचना में संकोच नहीं किया था, उसी तरह भारतेन्दु ने भी महिलाओं के लिए विवाह-गीत रचे थे। बना (दूलह) की नेह भरी प्रशंसा में महिलाओं के कंठ मुखरित हैं—

'बना मेरा व्याहन आया वे। बना मेरा सब मन-भाया वे।
बना मेरा छैल छबीला वे। बना मेरा रंग रंगीला वे।[36]

लोक गीतों की परम्परा में 'बारह मासा' अत्यन्त लोकप्रिय है। भारतेन्दु ने भी अपने बारह मासे में विरहिणी ग्राम वधू की पीड़ा को मर्मस्पर्शी वाणी दी है। ब्रजी और खड़ी का मिश्रण इसमें भी है किन्तु खड़ी बोली जहां आयी है, वहां वह निखरी हुई है। अगहन के वर्णन में भारतेन्दु की विरहिणी कहती है—

अगहन आया सब मन भाया, पड़ा जोर पाला।
लपट लपट पीतम से सोई घर घर में बाला।।
ओढ़ कर शाल औ दुशाला।
मैं घर बीच अकेली तड़पूं बिना नन्दलाला।।
भई सो जुगकी इक राती।
कैसे रैन कटै बिनु पिय के नींद नहीं आती।।[37]

लावनी बाजों और लोकगीतकारों को कवि का प्रतिष्ठित पद साहित्य के इतिहास में नहीं मिल सका। पदकर्त्ताओं के लिए किन्तु यह बात नहीं कही जा सकती। बहुत से महान् भक्त कवियों ने पद ही रचे है। भारतेन्दु को 'अष्ट छाप की नवीं वीणा' कहा गया है। स्वभावतः उनके अधिकांश पद ब्रज भाषा में ही हैं। फिर भी भक्ति और शान्त रस के उफान में कई बार खड़ी बोली में भी उनका मन उमड़कर बहा है। श्रीकृष्ण उनके नैनों के तारे और प्राण प्यारे थे, उनके दर्शन का अविच्छिन्न सुख लूटते समय प्राणों को न्योछावर करते भारतेन्दु कह उठे थे—

दरस सुख रैन-दिन लूटै, न छिन भर तार यह टूटै है,
लगी अब तो नहीं छूटै, प्रान हरिचन्द वारा है।
मेरे नैनों का तारा है, मेरा गोविन्द प्यारा है।[38]

इसी पद में 'घूंघर वालियाँ अलकें, और 'झोके वालियां पलकें' जैसी शब्दावलियां भी आयी हैं जिन पर कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती है। इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' में भी पंजाबी का यह प्रभाव मौजूद है।

भक्ति तो कर्म और योग में अटकती नहीं, उनका अतिक्रमण करती है। उसकी चरम परिणति तो दीन बन कर भगवान की शरण ग्रहण करने में ही है। किस सहजता से भारतेन्दु ने इस पद में धर्म का सच्चा मर्म समझाया है—

यारो यह नहिं सच्चा धरम,
छू-छू कर या नाक मूँद कर जो कि बढ़ाया भरम ।।
बंधन ही में डालेंगे यह बुरे भले सब करम ।
प्रान नहीं सुधरा तो कोरा बैठे धोओ धरम ।।
झूठे साधन छोड़ों, जी से दीन बनो तुम परम ।
हरीचंद हरि-सरन गहो इक यही धरम का मरम ।।[39]

बाबू राधा कृष्ण दास के अनुसार "मरने से महीना डेढ़ महीना पहिले इनका हृदय कुछ शांति रस की ओर अधिक फिर गया था, 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की अन्तिम संख्याओं में प्रकाशित शान्तरस की कविता सब इसी समय की बनी हुई हैं।"[40] राधाकृष्ण दास के अनुसार इनकी अन्तिम कविता है "डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई"। उसे तथा शान्त रस की बहुत सी कविताओं को बाबू ब्रजरत्न दास ने 'विनय प्रेम पचासा' में संकलित किया है और उसका रचना काल सं० 1938 (1881 ई०) बताया है जो ठीक नहीं जान पड़ता। ऐसा ही सन्देह श्री किशोरीलाल गुप्त ने भी प्रकट किया है।[41] मेरी मान्यता है कि श्री राधाकृष्णदास द्वारा संकेतित शान्त रस की कविताएँ विनय प्रेम पचासा में ही संकलित हैं, इस दृष्टि से उसका रचना काल 1884 होना चाहिए।

श्री किशोरी लाल गुप्त ने इन पदों को सन्त काव्य परम्परा का बताया है। यह भी ठीक नहीं लगता। श्रीमद्भागवत में शरणागत में भक्ति, भगवान के अनुभव और संसार के प्रति विरक्ति के त्रिक् को उसी प्रकार एक ही काल में उत्पन्न बताया है जिस प्रकार भोजन करने पर पुष्टि, तुष्टि और क्षुधा निवृत्ति एक ही साथ होती है।[42] अतः भारतेन्दु के वैराग्य के इन पदों को कृष्ण भक्ति से काट कर देखने की कोई आवश्यकता नहीं है। भारतेन्दु की ये रचनाएँ भी यही कहती हैं। मृत्यु के बजते नगाड़े को सुनकर गफलत छोड़कर इस सत्य का अनुभव करने की प्रेरणा भारतेन्दु देते हैं कि शब्द से उत्पन्न सृष्टि

जब शब्द में समा जायेगी तब भी सच्चिदानन्द घन कृष्ण एक मात्र सत्य के रूप में विराजते रहेंगे। काव्य और दर्शन का समाहार है इन पंक्तियों में—

यह जग के सामान बीच ही भए बीच मिट जावैंगे।
परख रूप रस गंध अन्त में शब्दहिं माहि समावैंगे।।
काल रूप सच्चिदानन्द घन सांचो कृष्ण अकेला है।
हरीचन्द जो और है कुछ वह चार दिनों का मेला है।।[43]

मौत की आँखों से आँखे मिला कर भारतेन्दु ने चढ़ती जवानी में किये भोग-विलास को वितृष्णा की दृष्टि से देखते हुऐ मुक्त भोगी की व्यथा इन शब्दों में प्रकट की है—

यारो इक दिन मौत जरूर।
फिर क्यों इतने गाफिल होकर बने नशे में चूर।।
यही चुड़ैलें तुम्हें खायेंगी जिन्हें समझते हूर।।
माया मोह जाल की फांसी इससे भागो दूर।।

जान बूझकर धोखा खाने और बबूल लगा कर आम खाने की दुराशा की भरसर्ना करते हुए भारतेन्दु ने इस पद का भी समाहार 'हरि प्रेम' में ही किया है—

झूठा झगड़ा, झूठा टंटा, झूठा सभी गरूर।
हरीचन्द हरि प्रेम बिना सब अन्त धूर का धूर।।[44]

'हरिमाया भठियारी' की बनायी हुई संसार–सराय में बसने वालों की बौरायी मति पर तरस खाते हुए भारतेन्दु उससे रिहाई पाने का एक ही तरीका बताते हैं—

'अजब भँवर है जिसमें पड़ कर सब दुनिया चकराई है।
हरीचन्द भगवंत भजन बिनु इससे नहीं रिहाई है।।[45]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ये पद ब्रज भाषा के उनके पदों के समान ही प्रौढ़ और कवित्व युक्त हैं। मृत्यु की छाया में खड़ी बोली के प्रति भारतेन्दु के मन में उमड़े प्रेम को मैं परवर्ती हिन्दी कवियों के लिये उनकी वसीयत मानता हूँ।

पद रचना की ही तरह उर्दू शैली में कविता लिखने की प्रेरणा भी भारतेन्दु को अपने समय के साहित्यिक परिवेश के साथ-साथ अपने पिता गिरधर दास से भी मिली होगी। भारतेन्दु ने 1867 ई० से विधिवत् साहित्य रचना शुरू की थी। उस समय तक उर्दू कविता सुप्रतिष्ठित हो चुकी थी और मीर, सोदा, अनीस, दबीर, गालिब, जौंक जैसे बड़े उस्तादों के कलाम उर्दू कविता के प्रतिमान बन चुके थे। 'रसा' उपनाम से भारतेन्दु ने उर्दू परम्परा के अनुसार 34 गजलें और कुछ छटे तरजीहबन्द, सवाइयां आदि लिखी थीं। मेरी दृष्टि में भारतेन्दु की उर्दू को सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने उसमें भी भारतीय

भावना और रीति-नीति की कविताएँ लिखीं। उनकी स्वच्छन्द प्रेमी प्रकृति और उनकी कृष्ण भक्ति भी इन गजलों में उसी प्रकार झलकी है जिस प्रकार उन्होंने उर्दू कविता की नजाकत और तर्जेअदा को अपनाया है। भारतेन्दु द्वारा आयोजित मुशायरों से वे तथा उर्दू के कविगण अपनी रचनाएँ सुनाया करते थे। उर्दू की अच्छी गजलों का एक संग्रह गुलजारे पुरबहार' के नाम से भारतेन्दु ने प्रकाशित किया था।

भारतेन्दु ने 'झूठी है सब शायरी अगर नहीं दिल कहीं फिदा'[46] लिखकर केवल चमत्कार के प्रति अपनी अरुचि घोषित कर दी थी। प्रेम उनके अनुसार जगत को पवित्र करता है तो कविता को प्राणवन्त बनाता है। प्रेम का उज्ज्वल रूप उन्हें भक्ति की ओर ले जाता है। उर्दू कविता में भी वे बेझिझक लिखते हैं—

जहाँ देखो वहाँ मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है,
उसी का सब है जलवा जो जहाँ में आशकारा है[47]

श्री कृष्ण ही जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं, वे ही सारी सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं, यही भाव इस गजल के केन्द्र में हैं। इसी भाव से प्रेरित होकर वे निस्संकोच कह उठते हैं कि शंख बजा कर हिन्दू तेरा ही दम भरते हैं, अजान देकर शेख तुझे ही पुकारते हैं और गिरजे में भी तुम्हारे जलवागर हैं। इस गजल का समापन करते हुए उन्होंने सम्बधमूला भक्ति के बल के आधार पर कहा है कि मैं भला या बुरा जैसा भी हूँ, तुम्हारा हूँ। प्यारे, मेरे अपराधों को क्षमा करो और अपने चरणों में मुझे स्थान दो—

गुनह बख्शो रसाई दो 'रसा' को अपने कदमों तक
बुरा है या भला है, जैसा है प्यारे तुम्हारा है।

अपने को पतित या गुनहगार मान कर ही प्रभु की दया की याचना की जा सकती है। हिन्दू हो या मुसलसान शव तो कन्धों पर ही जाते है चाहे अर्थी पर, चाहे ताबूत में और उन्हें कफन से ढांक कर ले जाया जाता है। भारतेन्दु की एक बहुत ही मार्मिक रूबाई है इस स्थिति पर—

रहमत का तेरी उम्मीदवार आया हूँ।
मुँह ढांपे कफन में शर्मसार आया हूँ।।
आने न दिया बारे गुनह ने पैदल।
ताबूत में कांधों पे सवार आया हूँ।।[48]

अर्थात् प्रभु मैं तुम्हारी दया पाने की आशा लेकर आया हूँ, अपना यह कलंकित मुँह, तुम्हें दिखाने का साहस ही नहीं जुट पाया, इसीलिए लज्जित हो उसे कफन से ढांककर आया हूँ। जीवन भर पाप ही तो कमाया है, उसका बोझ मेरे उठाये उठता नहीं इसीलिए ताबूत में लोगों के कन्धों पर सवार होकर आया हूँ। प्रभु जब तुम दया करो, मुझे माफ कर दो, अपना लो। एक भक्त हृदय से ही ऐसी पछतावा भरी प्रार्थना निकल सकती

है। होली पर उनकी गजलें भी उर्दू को भारतीय परिवेश की स्निग्धता प्रदान करती हैं।

उर्दू की अपनी शोखी को भी भारतेन्दु ने सफलता पूर्वक शब्दबद्ध किया हैं। किस अन्दाज से वे लिखते हैं कि वह जालिम शोख माशूक अपनी प्यारी चमकीली घुंघराली जुल्फों को हाथ में लेकर बोला कि किसी के भी दिल को यदि बन्दी बनाना हो तो उसे काकुल से बाँधना चाहिये, जिसका बाँधा कभी छूट नहीं सकता—

जुल्फों को लेके हाथ में कहने लगा वह शोख।
गर दिल को बाँधना हो तो काकुल से बांधिए ॥[49]

उर्दू-फारसी-परम्परा के अनुरूप प्रेम-निवेदन करने वाली कई गजलें भारतेन्दु ने लिखी हैं। उनके एक शेर में आशिक प्रेम की अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए कहता है कि मेरा दिल उस सितमगर माशूक़ की नजरों के तीरों से छिद गया है और उससे दिल लगाना मेरे लिए तो जान की आफत हो गया है—

दिल मेरा तीरे सितमगर का निशाना हो गया।
आफते जां हक़ में मेरे दिल का लगाना हो गया ॥[50]

किन्तु उर्दू की अपनी जमीन पर भारतेन्दु का कृतित्व प्रशंसनीय होकर भी अनछुई ऊंचाइयों तक नहीं पहुंचा है।

'प्रचलित साधु भाषा' या खड़ी बोली की हिन्दी शैली में अर्थात् अपेक्षाकृत अनमंजे माध्यम में काव्य रचना का पथ प्रशस्त करते समय भारतेन्दु के समक्ष विषय के साथ ही साथ छन्दोविधान के चयन का भी प्रश्न था। इसको हल करने के लिए उन्होंने दो दिशाओं में प्रयास किया। एक ओर तो उन्होंने फारसी छन्दों का उपयोग किया क्योंकि उर्दू शैली में खड़ी बोली उनकी रचनाओं में मंज चुकी थी, दूसरी ओर उन्होंने हिन्दी के ही कुछ छन्दों को इस कार्य के लिए चुना।

राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द जैसे उर्दू प्रभावग्रस्त सज्जनों को पहली दिशा में किया गया उनका प्रयास अधिक रुचा। भारतेन्दु ने 56 पंक्तियों में 'दशरथ-विलाप' नामक एक लम्बी कविता लिखकर इस दिशा में पहल की। करुण रस की यह कविता वर्णनात्मकता के कारण भाव सघन तो नहीं हो सकी किन्तु फिर भी प्रभावित करती है। 'मेरी आँखों की पुतली कहां है। बुढ़ापे की मेरी लकड़ी कहां है।' जैसी पंक्तियों में यदि मुहावरों का समर्थ प्रयोग हुआ है तो नीचे लिखी पंक्तियों में भावना का प्रबल उद्‌गार है—

कहां हो राम मेरे राम ऐ राम।
मेरे प्यारे मेरे बच्चे मेरे श्याम ॥
मेरे जीवन मेरे सरबस मेरे प्रान।
हुए क्या हाय मेरे राम भगवान ॥

कहां हो राम हा प्रानों से प्यारे।
यह कह़ दशरथ जी सुरपुर को सिधारे ॥[51]

आजकल हिन्दी गजलों का काफी जोर है। भारतेन्दु ने यद्यपि ऐसा नामकरण तो नहीं किया था किन्तु उनकी कई गजलों में हिन्दी शब्दों का काफी प्रयोग हुआ है। खासकर नीचे लिखी गजल को तो बेखटके हिन्दी गजल कहा जा सकता है। इसमें कृष्ण भक्ति की मधुरता और मार्मिकता पूर्ण मात्रा में विद्यमान है—

वह अपनी नाथ दयालुता तुम्हें याद हो कि न याद हो।
वह जो कौल भक्तों से था किया तुम्हें याद हो कि न याद हो ॥
सुन गज की जैसे ही आपदा न बिलम्ब छिन का सहा गया।
वहीं दौड़े उठ के पियादे-पा तुम्हें याद हो कि न याद हो।[52]

भारतेन्दु ने मदालसा की लोरी का एक अंश भी बंत में लिखा था। इसकी भाषा का परिष्कार लक्षितव्य है—

अरे जीव तू आतमा शुद्ध है। निरंजन है तु और तु बुद्ध है ॥
फँसा है तू खाकर के भौजाल में। निराला है तू इनसे पर चाल में ॥
न माया में इनके अरे कुछ भी भूल। न सपने की संपत पै इतना तू फूल ॥
तेरा कोई दुनिया में साथी नहीं। तेरा राज घोड़ा व हाथी नहीं ॥[53]

किन्तु मेरा विश्वास है कि भारतेन्दु को हिन्दी के स्वाभिमान के अनुरूप यह नहीं लगा होगा कि वह उधार के छन्दों से काम चलाये। उन्होंने हिन्दी के अपने छन्दों में खड़ी बोली को ढालना शुरू किया। उनकी प्रतिभा का ही एक निदर्शन है यह कि कवित्त-सवैये लिखने से सिद्धहस्त होने पर भी इन वर्ण वृत्तों को उन्होंने खड़ी बोली के लिये नहीं चुना। उन्हें संभवतः लग गया था कि खड़ी बोली के लिये मात्रिक छन्द ही उपयुक्त हैं। दोहा, चौपाई, विष्णुपद, ताटंक जैसे छन्दों के साथ-साथ लोक गीतों का भी उपयोग भारतेन्दु ने खड़ी बोली की नयी कविताओं के लिये किया है। यह उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु की खड़ी बोली की रचनाओं के रूप में इन्हीं में से कुछ छन्दों की चर्चा बार-बार की गयी है और उन्हीं के आधार पर खड़ी बोली सम्बन्धी उनके काव्य प्रयोग को असफल घोषित किया गया है।

इस सन्दर्भ में यह याद रखना चाहिये कि बोली और छन्द के स्तरों पर इस क्षेत्र में नयी जमीन तोड़ने के कारण इनकी रचना करते समय भारतेन्दु स्वयं बहुत आश्वस्त नहीं थे। फिर इनमें कई बार उन्होंने नये विचारों का भी समावेश किया है। विचार, भाषा, छन्द तीनों नये होंगे तो सृजन का कार्य बुद्धि के स्तर पर ही होगा। हृदय का, अवचेतन मन का, परम्परा का सहयोग कम होने के कारण ऐसी रचना में रूखापन एक सीमा तक रहेगा ही। कहना सिर्फ यह है कि 'भजन करो श्रीकृष्ण का' जो दोहा उन्हे स्वयं भौंड़ा

लगा था उससे कितना विकास उनकी इस कोटि की रचनाओं में हुआ, यही विचारणीय होना चाहिये ।

1881 ई० में भारतेन्दु ने भारत मित्र में जो दोहे प्रकाशनार्थ भेजे थे उनमें यदि

बीर बहूटी मखमली, बूटीसी अति लाल ।
हरे गलीचे पै फिरैं, सोभा बड़ी रसाल ॥[54]

करीब-करीब मध्यकालीन काव्य चेतना की अनुकृति सा है तो—

खोल-खोल छाता चले, लोग सड़क के बीच ।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघमें नीच ॥[55]

जैसे दोहे में आधुनिकता का स्पष्ट पुट है । वर्षा का जल सड़क के किनारों पर जमा हो गया है फिर भी पानी बरस ही रहा है अतः लोग छाता खोलकर सड़क के बीचों-बीच चल रहे हैं किन्तु सड़क या तो कच्ची है, या टूटी है अतः जूते उसके कीचड़ में उसी तरह फँस रहे हैं जैसे पाप कर्मों में नीच लोग फँसे रहते हैं । इस यथार्थवादी चित्रण का विकास ही निराला की 'बहुत दिनों बाद खुला आसमान' जैसी कविताओं में हुआ है ।

बसन्त ऋतु के वर्णन के लिए भारतेन्दु ने 16, 10 मात्राओं पर विराम वाला विष्णुपद छन्द चुना था । बसन्त की सहज विशेषताओं को इंगित करते हुए भारतेन्दु ने लिखा–

गरमी के आगम दिखलाये, रात लगी घटने ।
कुहू-कुहू कोयल पेड़ों पर, बैठ लगी रटने ॥
ठंडा पानी लगा सुहाने, आलस फिर आई ।
सरस सुगन्धी सिरिस फूल की, कोसों तक छाई ॥
उपवन में कचनार बनों में टेसू हैं फूले ।
मदमाते भौंरे फूलों पर फिरते हैं भूले ॥[56]

इसकी भाषा का सहज प्रवाह प्रमाणित करता है कि भारतेन्दु खड़ी बोली के माध्यम को अपने अनुकूल बनाने लगे थे ।

मदालसा की लोरी का उत्तरार्ध चौपाई छन्द में है । उसकी भाषा भी उपर्युक्त निष्कर्ष का समर्थन करती है—

पुत्र भूल तू जग में आया । माया ने तुझको भरमाया ।
तू है अलख निरंजन बेटा । जग माया ने तुझे लपेटा ॥
है तू शरीर से न्यारा । परमातमा शुद्ध अविकारा ॥
वही जतन तू कर सुत मेरे । जिससे छूटैं बन्धन तेरे ॥

परमात्मा को परमातमा, यत्न को जतन बनाकर भारतेन्दु ने भाषा के क्षेत्र में लचीलेपन का प्रतिपादन किया है । जिससे की 'जिस्से' लिखना उस समय की चाल थी ।

भारतेन्दु ने इस परिपाटी की कुछ ऐसी रचनाएँ भी की है जो खड़ी बोली की अगीत कविताओं में उनकी उपलब्धियाँ कही जा सकती हैं। अवश्य ही इनके भाव भक्ति और वैराग्य के हैं किन्तु लावनी पदावली से भिन्न होने के कारण उनका अपना स्वतंत्र महत्व है। इनमें 16, 14 मात्राओं के विराम वाले ताटंक छन्द में लिखित 'राम बिना बेकाम सभी' की समस्या पूर्तियां सर्वोत्कृष्ट है।

इस कविता में भारतेन्दु ने निरूपित किया है कि भले ही राज-पाट, हाथी घोड़े हीरा मोती किसी के पास हो, भले ही वह खाने-पीने ऐश आराम में डूबा हो, उसे इस सत्य का बोध होना ही चाहिए कि "जैसे बिजन नमक बिना त्यों राम बिना बेकाम सभी।" सिद्धान्त उनका यही है कि यह संसार मोह जाल की फांसी है, इसके नाते रिश्ते, धनधाम झूठे हैं, और उन सबके प्रति आसक्त रहने वालों की जिन्दगी हराम हो जाती है क्योंकि वे आखिर सांस तक झगड़ों टन्टों में फँसे रहते हैं, आंखे मुंदते समय ही यह सूझता है कि राम के बिना ये सब बेकाम, निस्सार, निरर्थक थे—

यह जग मोह जाल की फाँसी झूठे सुत धव धाम सभी।
नाटक इसमें मर पचके करते हैं जीस्त हराम सभी॥
जब तक दम में दम था झगड़े टन्टे रहे तमाम सभी।
आंख मुंदी तब यह सूझा है राम बिना बेकाम सभी॥[57]

इसे अपने समय से जोड़ने के लिए इक्कीस तोपों की सलामी, क्रास बाथ इस्टार के तमगे महाराज बहादुर की उपाधि आदि को भी गिना कर भारतेन्दु ने निष्कर्ष यही निकाला है 'राम बिना बेकाम सभी'। इन छन्दों में सवैया जैसी सफाई और गहराई मिलती है। गणों में आबद्ध वर्णवृत्त सवैया खड़ी बोली में मुश्किल से निभेगा यह अनुभव करके ही भारतेन्दु ने उसके स्थानापन्न के रूप में ताटंक का प्रयोग किया और सचमुच सफलता-पूर्वक किया।

भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताओं का एक अच्छा खासा अंश उनके नाटकों में बिखरा हुआ है। उन्होंने समकालीन पारसी नाटकों में उर्दू गजलों और पद्यात्मक संवादों का प्रचुर प्रयोग देखा था। उनके समानान्तर अपने नाटकों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण चरित्रों द्वारा गाये जाने वाले गीत (और पद्यात्मक सवाद भी) ब्रजभाषा में ही रखे थे क्योंकि वे मानते थे अच्छी कविता ब्रज भाषा मे ही संभव है। इधर उन्हें यह भी प्रतीत होता था कि सीधे दर्शकों से साक्षात्कार करने वाली इस विधा में खड़ी बोली में गीतों, गजलों, पद्यात्मक संवादों का न होना अटपटा लगेगा क्योंकि जनसाधारण में खड़ी बोली के गीतों आदि की मांग बढ़ती जा रही थी। उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने एक मध्यमार्ग निकाला। उनके नाटकों के मुस्लिम पात्र तो उर्दू गजलों या पद्यात्मक संवादों का प्रयोग करते हैं तथा साधारण जनता के प्रतिनिधि खड़ी बोली के पद्यों का उपयोग करते हैं। स्वभावतः ऐसे स्थलों की रचनाएं काव्य की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट नहीं हो सकतीं।

केवल दो स्थलों पर उनके महत्त्वपूर्ण चरित्र भी खड़ी बोली के गीत या गीतांश गाते हैं। 'श्रीचन्द्रावली नाटिका' में श्रीकृष्ण स्वयं 'जोगिन' बन कर आते हैं और संसार में प्रचलित जोग से अलग 'प्रेम जोग' का उपदेश देते हुए जो गीत गाते हैं उसका पूर्वार्ध तो ब्रज भाषा में है किन्तु उत्तरार्ध खड़ी बोली में है। उसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

यह है सुहाग का अचल हमारे बाना।
असगुन की मूरति खाक न कभी चढ़ाना॥
सिर सेंदुर देकर चोटी गूँथ बनाना।
कर चूरी मुख में रंग तमोल जमाना॥
पानी प्याला भर रखना वही खुमारी।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी॥[58]

ब्रज भाषा से आरम्भ कर खड़ी बोली में गीत को समाप्त करना संभवतः साभिप्राय है। हो सकता है कि प्रेम के उपदेश की प्रधानता के कारण ब्रज का प्रयोग और जोगिन-वेष के कारण खड़ी बोली का उपयोग किया गया हो। यह गीत मार्मिक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रियतम के वियोग में प्रिया परम व्यथित तो हो सकती है किन्तु सौभाग्य-चिह्नों का त्याग नहीं कर सकती क्योंकि उससे प्रियतम के लिए असगुन होगा। प्रचलित योग में तो नेत्र बन्द किए जाते हैं, निराकार का ध्यान किया जाता है किन्तु प्रेम जोग में तो 'नैनों के मत' की.........उनके विषय साकार रूप की ही प्रधानता है। लोक परलोक की उपेक्षा कर एकनिष्ठ विरह की प्रेमिका शिव जी के सदृश योगी को भी (प्रेम) योग की दीक्षा दे सकती है क्योंकि 'ऐसे वियोग पर लाख जोग बलिहारी।'

'सती प्रताप' के सातवें दृश्य में सत्यवान के प्राणों को लेकर यमराज के जाने के बाद नेपथ्य में गान होता है—

'तुझ पर काल अचानक टूटैगा।
गाफिल मत हो, लवा बाज ज्यों हँसी खेल में लूटैगा॥
कब आवेगा, कौन राह से प्रान कौन विधि छूटैगा।
यह नहिं जानि परैगी बीचहि यह तन दरपन फूटैगा॥
तब न बचावेगा कोई जब काल दण्ड सिर कूटैगा।
'हरीचन्द' एक वही बचेगा जो हरिपद रस घूटैगा॥[59]

निश्चय ही काल के आकस्मिक आक्रमण के समक्ष प्राणी की असहायता को चित्रित करने की दृष्टि से यह प्रभावशाली पद है। प्राणी को लवा के सदृश और काल को बाज के समान बताकर काल की दुर्घर्षता को और तन को दर्पण के समान फूटने वाला बता कर तन की नश्वरता को, मूर्त कर दिया गया है। भक्त हरिश्चन्द्र के अनुसार बचेगा वही जो हरि पद रस घूटैगा। यह ठीक है कि आज की भाषा में टूटैगा, लूटैगा आदि के स्थान पर

टूटेगा, लूटेगा जैसे प्रयोग होते हैं किन्तु तत्कालीन व्यवहार के अनुरूप भाषा का प्रयोग करने का अधिकार भारतेन्दु का था, इसे मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेख्य है कि भारतेन्दु 'सती प्रताप' की रचना चौथे दृश्य तक ही कर पाये थे, शेष तीनों दृश्यों की सर्जना बाबू राधाकृष्णदास ने की थी। अतः सातवें दृश्य में इस गीत की योजना राधाकृष्ण दास जी ने की होगी। यह गीत भारतेन्दु कृत 'विनय प्रेम पचासा' का है। हो सकता है भारतेन्दु ने 'सतीप्रताप' को दृष्टि में रखकर इसकी रचना की हो और उनके संकेतानुसार ही राधाकृष्णदास जी ने इसका उपयोग किया हो या यह भी संभव है कि राधा कृष्ण दास जी ने अपने ही विवेक से उस उपयुक्त अवसर पर इस गीत को संयोजित किया हो। जो हो, यह गीत उक्त प्रसंग में बहुत सार्थक है।

भारतेन्दु ने नाटकों में खड़ी बोली के पद्यों का उपयोग सशक्त व्यंग्य के लिए भी किया है। 'अंधेर नगरी' का चना वाला घासीराम यदि कहता है कि 'चना हाकिम सब खा जाते। सब पर दूना टिकस लगाते'[60] तो उसके पाचक वाले के अनुसार—

चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते॥
चूरन खावें एडिटर जात। जिनके पेट पचै नहिं बात॥
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता॥
चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥[61]

आदि लोक गीत शैली का ऐसा प्रभावशाली आधुनिक प्रयोग करना भारतेन्दु की प्रतिभा का ही काम था। व्यंग्य के लिए उन्होंने गजलों का भी उपयोग किया है। 'भारत दुर्दशा' नाटक में 'आलस्य' की गजल के कुछ शेर हैं——

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा॥
बिस्तर पर मिस्ले लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा॥[62]

भारतेन्दु के इन व्यंग्यों का प्रमुख उद्देश्य जनता को जगाकर देश सेवा में प्रवृत्त करना था। इसीलिए इस गजल के अन्त में आता है—

'मिल जाय हिन्द खाक में हम काहिलों को क्या
ऐ मीरे-फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा।

इसी दृष्टि से 'भारत दुर्दशा' नाटक के 'भारत दुर्दैव' और 'सत्यानाश फौजदार' के पद्यों को भी देखना चाहिए। भारत दुर्दैव हिन्द को छारखार करने के इरादे से आया है। अपनी दुरभि सन्धि को पूर्ण करने के लिए वह यह सब करने की घोषणा करता है—

फूट बैर औ कलह बुलाऊं, ल्याऊं सुस्ती जोर।
घर-घर में आलस फैलाऊं, छाऊं दुख घनघोर॥

× × ×

मरी बुलाऊं देस उजाड़ महंगा करके अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगाऊं, धन है मुझको धन्न॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी॥[68]

अब यह दर्शकों, पाठकों पर निर्भर करता है कि वे समझें कि चूंकि फूट, बैर, कलह, सुस्ती और आलस्य उनमें व्याप्त है इसीलिए अंग्रेज शासक अन्न मंहगा करके देश उजाड़ पा रहे हैं, सबके ऊपर टैक्स लगाकर तथा दूसरे प्रकारों से भी शोषण कर सबको कौड़ी-कौड़ी का मुंहताज बना रहे हैं। राक्षस कौन है और उससे मुक्ति कैसे मिल सकती है, यह सोचना और तदनुरूप आचरण करना समझदारों का कर्त्तव्य हो जाता है।

भारतेन्दु ने एक जबर्दस्त व्यंग्य 'इन्दर सभा' की सस्ती विलासी मनोवृत्ति पर 'बन्दर सभा' लिखकर किया था। इसी तरह 'मुशायरा' नामक हास्य रचना में भी उन्होंने कई बोलियों की छौंक देकर कुछ चटपटी गजलें लिखी हैं। माशूक के न आने के पुराने बहाने तो सभी को मालूम हैं, भारतेन्दु के दिल जले आशिक ने दो ऐसे कारण भी बताये हैं जो असाधारण हैं—

फिर उन्हें हैजा हुआ, फिर सब बदन नीला हुआ।
फिर न आने का मेरे घर में नया हीला हुआ॥

× × × ×

फिर उन्हें आया पसीना सब बदन ठंडा हुआ,
मुफलिसी में फिर मसल आंटा अजी गीला हुआ॥[69]

भारतेन्दु ने कई नाटकों में पद्यात्मक संवाद खड़ी बोली में रखे हैं जिनका प्रमुख उद्देश्य चरित्रों की विशेषताओं को उजागर करना या घटनाओं की सूचना देकर कथा को आगे बढ़ाना है। अतः उनके संयोजन की सार्थकता यही प्रतीत होती है कि भारतेन्दु इस बात के कायल हो गये थे कि जनसाधारण में खड़ी बोली के पद्यों के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है और लोक संग्रही नाटककार को उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

निष्कर्षतः यह अनायास कहा जा सकता है कि भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताएं यदि प्रथम श्रेणी की नहीं भी हैं तो भोंडी और उपेक्षणीय भी नहीं है। खड़ी बोली की उनकी कविता में निरन्तर परिष्कार तथा उसके क्षेत्र में सतत् विस्तार होता जा रहा था। ऐसा उसके प्रति उनके अध्यवसायपूर्ण गहरे लगाव के कारण ही संभव था। इस

क्षेत्र में जब उनका कृतित्व पर्याप्त संभावनाशील हो चला था तभी वे काल कवलित हो गये। फिर भी यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि खड़ी बोली कविता के क्षेत्र में उनके द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को आगे बढ़ाकर ही परवर्ती कवियों ने खड़ी बोली को हिन्दी कविता का प्रधान माध्यम बनाने में सफलता प्राप्त की। मेरा विश्वास है कि खड़ी बोली की कविता के उस संकोचशील, द्विधाग्रस्त भगीरथ की आत्म-भर्त्सना को दुहराकर नहीं इस क्षेत्र के उनके समग्र कृतित्व को देखकर ही अब सहृदय उनकी खड़ी बोली की कविता का यथार्थ मूल्यांकन करेंगे।

संदर्भ

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लें० डा० रामविलास शर्मा, पृ० 81.
2. हिन्दी भाषा—लें० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० 2.
3. हिन्दी भाषा—लें० भारतेन्दु हरिचश्न्द्र, पृ० 10.
4. हरिश्चन्द्र लें० बाबू शिवनन्दन सहाय, पृ० 157.
5. वही, पृ० 158.
6. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय कृत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (चौथा संस्करण) पृ० 146.
7. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लें० श्री ब्रजरत्नदास, हिन्दुस्तानी एकेडमी, पृ० 302–3.
8. किशोरीलाल गुप्त कृत भारतेन्दु ओर अन्य सहयोगी कवि, पृ० 336.
9. वही, पृ० 337.
10. वही, पृ० 271.
11. हिन्दी साहित्य का इतिहास—लें० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 596 (सं० 2003 का संस्करण)
12. वही, पृ० 581.
13. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, लें० रामविलास शर्मा, पृ० 92.
14. हिन्दी भाषा पृ० 3.
15. भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र लें० श्री राधाकृष्ण दास प्र० हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश, पृ० 42.
16. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लें० श्री ब्रजरत्न दास, पृ० 59.
17. वही, पृ० 58.
18. भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र, पृ० 93.

18क. वही पृ० 93.

19. आचार्य शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 239 पर उद्धृत

20. श्री ब्रजरत्न दास कृत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ० 305.
21. हिन्दी साहित्य कोश (पहला भाग) पृ० 683.
22. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 598.
23. हरिश्चन्द्र पृ० 356.
24. वही, पृ० 143.
25. भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० 270.
26. वही, 270.
27. भारतेन्दु ग्रंथावली (दूसरा खण्ड), पृ० 563.
28. वही, पृ० 563.
29. वही, पृ० 570.
30. नन्ददास ग्रन्थावली सं० ब्रजरत्न दास, पृ० 177.
31. भारतेन्दु ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) पृ० 570–71.
32. वही, पृ० 206.
33. वही, पृ० 196.
34. वही, पृ० 196.
35. वही, पृ० 488–89.
36. वही, दोनों पृ० 188.
37. वही, पृ० 527.
38. वही, पृ० 491.
39. वही, पृ० 553.
40. भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र, पृ० 93.
41. भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० 43.

42. भक्ति : परेशानुभवो विरक्तिः अन्यत्र चैषत्रिक एक कालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतो स्युः तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघातम् ॥
श्रीमद्भागवत 11/2/42

43. भारतेन्दु ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) पृ० 552.
44. वही, पृ० 552–53.
45. वही, पृ० 551.
46. वही, पृ० 569.
47. वही, पृ० 851.
48. वही, पृ० 858.
49. वही, पृ० 859.
50. वही, पृ० 850.
51. भारतेन्दु सुधा सं० ब्रजरत्न दास, पृ० 160–62.

52. भारतेन्दु ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड), पृ० 548–50.
53. भारतेन्दु ग्रन्थावली (तीसरा भाग), पृ० 811.
54–55. हरिश्चन्द्र, लेखक—बाबू शिवनन्दन सहाय, पृ० 158.
56. वही, पृ० 158.
57. भारतेन्दु ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) पृ० 865.
58. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० 212.
59. भारतेन्दु नाटकावली पृ० 510 तथा भारतेन्दु ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) पृ० 551.
60. भारतीय नाटकावली (प्र० भा०) पृ० 461.
61. वही, पृ० 463.
62. वही, पृ० 396.
63. भारतीय नाटकावली (प्र० भा०) पृ० 388–89.
64. भारतेन्दु ग्रन्थावली (तीसरा भाग) पृ० 867.

◆

भारतेन्दु एवं भारतेन्दु युगीन भाषा-चिन्तन का महत्व

सुधाकर सिंह

भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी गद्य का सर्वमान्य रूप सामने आ चुका था। परन्तु उसम कुछ कमियां थी। साथ ही उसमें संस्था और परिवार के साथ अनेक प्रकार की साहित्य-रचना की क्षमता भी नहीं थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि भाषा का निखरा हुआ, शिष्ट सामान्य रूप, भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेन्दु जी ने अपनी 'काल-चक्र' नामक पुस्तक में लिखा है कि "हिन्दी नई चाल में ढली—सन् 1873 में।" आशय यह कि एक ओर उन्होंने गद्य की भाषा को परिमार्जित किया और दूसरी ओर साहित्य को नया मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए। भारतेन्दु जी के इस कथन का स्पष्टीकरण हमें डा० रामविलास शर्मा के कथन से मिलता है—'हिन्दी भाषा थी, उसका व्यापक चलन भी था। कमी यह थी कि देश और समाज की नई परिस्थितियों के अनुकूल उसमें नए साहित्य की रचना न हुई थी। यह काम न लल्लू लाल जी के किए हो सकता था, न राजा शिव प्रसाद के। इसे किया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने। हिन्दी नई चाल में ढली। सन् 1873 ई० में। अर्थात् हिन्दी में नई चाल की रचना आरम्भ हुई 1873 ई० में।' विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु 1873 ई० तक खड़ी बोली में प्रचुर गद्य साहित्य खिलने लगा था। वैसे सन् 1873 ई० के बहुत पहले से अठारहवीं सदी में ही ब्रजभाषा में समान्तर गद्य और पद्य दोनों में व्यापक रूप से विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खड़ी बोली का व्यवहार होता था। राम प्रसाद निरंजनी का 'भाषा योग वशिष्ठ' खड़ी बोली में लिखा हुआ कोई अपवाद ग्रन्थ नहीं है। यह खड़ी बोली के प्रसार और व्यवहार की विकास भाव परम्परा की एक कड़ी है। आचार्य शुक्ल ने इसे परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक स्वीकार की है। कुछ लोगों ने इसके पूर्व 1699 में रचित 'गीतावार्त्तिक' की भाषा को सजीव और स्तरीय हिन्दी माना है। अब तक की खोजों में खड़ी बोली-गद्य रचना के जो प्रमाण मिले हैं अथवा मिल रहे हैं उनसे कम से कम इतना तो अवश्य प्रमाणित होता है कि खड़ी बोली में गद्य-रचना की परम्परा भारतेन्दु से कम से कम डेढ़ सौ पूर्व से तो चली ही आ रही थी। इसलिए जो लोग यह मानते हैं कि अंगरेजों की प्रेरणा से अथवा उनके शुभागमन के परिणाम स्वरूप खड़ी बोली में गद्य-लेखन की परम्परा चली, उन्हें अपनी भूल सुधार लेनी चाहिए। अन्य प्रमाणों से भी यह तथ्य परिपुष्ट है। डॉ० शितिकंठ मिश्र ने अपने शोध-प्रबन्ध "खड़ी बोली-आन्दोलन' में लिखा है 'जनता अपना मनोरंजन, पत्र-व्यवहार सब कुछ इसी भाषा में करने लगी थी। विशाल

मुगल साम्राज्य के ध्वस्त होने पर दिल्ली, आगरा आदि पश्चिमी शहरों की स्थिति उजड़ गई और व्यापारी, लेखक तथा साहित्यिक अपनी जीविका के लिए पूरब की ओर लखनऊ, प्रयाग, काशी से बढ़ते-बढ़ते क्रमश: बंगाल तक पहुंचे। इन लोगों के साथ ही इन बड़े-बड़े शहरों के बाजारों की व्यावहारिक भाषा खड़ी बोली हो गई। परस्पर पत्र-व्यवहार भी खड़ी बोली में होने लगा और लोगों को खड़ी बोली में पत्र लिखने का ढंग सिखाया जाने लगा।" अकबर के समय में आगरा एक बहुत बड़ी सल्तनत की राजधानी और व्यापारिक कन्द्र था। इसलिए सहज ही एवं जिज्ञासा उठती है कि अकबर के दरबार में आने वाले देश-देशान्तर के लोगों, और यहां आने वाले व्यापारियों के परस्पर विचार-विनिमय की वह कौन सी भाषा थी जो उस समय काम मे लाई जा रही थी। डॉ० चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार "प्रजा के काम-काज, लेन-देन, बनिज-व्यापार आदि की वह भाषा खड़ी बोली ही थी। फारसी की जरूरत तो तब नजर आती थी जब हुजूर के फरमान निकलते थे या जब हुजूर से किसी खास रहम की हाजत की जाती थी।" डॉ० पाण्डेय मानते हैं कि खड़ा बोली के चलन को अकबर स्वय अनुभव करता था। एक बार अकबर ने जहाँगीर कं पास उसके एक पत्र के उत्तर में यह रुबाई खड़ी बोली में लिखकर भेजी थी–

पूछी जो घड़ी मुझसे बराह आदल
तो बरत्र की सायत नहीं कुछ हाजत
हो जाती है मिलने से मुबारक सायत
सायत का बहाना नहीं खुशहर सायत ।।'

इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है ब्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद से पूरा तरह परिचित हुए बिना आधुनिक हिन्दी साहित्य की सम्यक् और समुचित जानकारी नहीं हो सकती। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का भी अभिमत कुछ उसी प्रकार है। उनके अनुसार "रामचरित मानस की टीका करने वाले श्री शुकदेव लाल ने संवत् 1749 में जिस प्रकार के खड़ी बोली गद्य का व्यवहार अपनी टीका में किया है, उससे स्पष्ट है कि खड़ी बोली भी धीरे-धीरे व्यवहार में बढ़ती चली आ रही थी।"

भारतेन्दु जी प्रज्ञा और प्रतिभा के चक्रवर्ती सम्राट थे। उन्होंने इस परिस्थिति को अच्छी तरह समझा और बहुत महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया। उन्होंने पद्य में ब्रजभाषा और गद्य में खड़ी बोली के प्रयोग को प्रोत्साहित किया। खड़ी बोली का पद्य के क्षेत्र में उस समय कम व्यवहार होता था। वैसे भारतेन्दु जी ने भी खड़ी बोली में पद्य रचना की है, पर वह कम है और जो है भी वह प्रायोगिक अवस्था में है। परन्तु उन्होंने 'रसा' उपनाम से तथाकथित उर्दू में जो रचनाएं की हैं, वे खड़ी बोली में ही है। हिन्दी और उर्दू के इस एकीकरण को भाषा विज्ञान के महापण्डित डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने भी स्वीकार

किया है। इस विषय में उनका विचार है कि—"यह ऐसी कृत्रिम भाषा ननीं थी जिसका उद्‌भव दिल्ली के तुर्क शासकों तथा फौजी डेरों में हुआ है। इसका नाम सर्वप्रथम 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' था जिसका अर्थ 'हिन्द' या 'भारत की' अयवा हिन्दुओं की भाषा था। दूसरा नाम 'जबान-ए-उर्दू" (फौजी डेरे की भाषा) उस समय प्रचलित हुआ जबकि मुगल सम्राट ने दक्षिण के मुसलमान राज्यों तथा मराठों का दमन करने के लिए दल पर दल भेजना आरम्भ किया और मुगल सेना के साथ दक्षिण में दिल्ली की बोली सर्वत्र दृष्टि-गोचर होने लगी।"

इस विषय में यह ध्यातव्य है कि खड़ी बोली हिन्दी की इस व्यापकता से प्रभावित होकर ही ईसाई धर्म प्रचारकों ने इसे अपनाया था और मुंशी सदासुख लाल और लल्लू लाल जी की विशुद्ध भाषा को अपना आदर्श माना। प्रायः इसी समय राजा शिव प्रसाद 'आम फह्म' और 'खास-पसन्द' भाषा की हिमायत का रहे थे। भाषा इस समय एक दिशा विशेष की ओर जाना चाहती थी और भाषा को सच्चे दिशा निर्देश का निदर्शन भारतेन्दु जी ने किया।

भारतेन्दु जी ने एक साथ कई महत्त्वपूर्ण कार्य किए। उनके पहले साहित्य-रचना की जो स्थिति थी वह बहुत स्पष्ट नहीं थी। हिन्दी में इन दिनों अधिकांशतः जैसा साहित्य लिखा जा रहा था, वह या तो धार्मिक था अथवा प्राइमरी, मिडिल अथवा नार्मल स्कूलों में काम आने वाला था। साहित्य की दृष्टि से जो कुछ लिखा गया था, उसके रचनाकारों में विशेष रूप से राजा लक्ष्मण सिंह और गदाधर सिंह जैसे कुछ लोगों का उल्लेख किया जा सकता है। भारतेन्दु जी ने अनेक मौलिक उपक्रमों के द्वारा हिन्दी-पत्रकारिता, हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य को आधुनिकतम युग-बोध के साथ गहन भाव से जोड़ दिया और लेखकों का एक ऐसा मंडल तैयार कर दिया जो उन्हीं की भांति उत्साह से हिन्दी भाषा और साहित्य के उन्नयन के काम में लग गया।

भारतेन्दु जी ने हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और 'भारतेन्दु मैगजीन' निकालकर जो युगान्तरकारी कार्य किया उसका सही-सही मूल्यांकन अभी तक नहीं हो पाया है। उनके कृतित्व के मूल्यांकन का सबसे प्रथम और महत्त्वपूर्ण प्रयास आचार्य शुक्ल ने और तत्पश्चात् डा० राम विलास शर्मा ने किया है। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में भारतेन्दु जी ने कविता, नाटक, कहानी, विज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्व, जीवनी, यात्रा आदि विषयों पर अनेक लेख प्रकाशित किए। विशेष रूप से उन्होंने अपने समकालीन लेखकों को प्रोत्साहित किया। उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में एकरूपता आए और उसका मानकीकरण हो।

भारतेन्दु जी ने एक बहुत बड़ा काम यह किया कि उन्होंने अपने संगठित प्रयत्नों से सर सैयद अहमद और गार्सा द तासी जैसे विदेशी लेखकों के उस षड्यन्त्र को विफल कर दिया जिसके द्वारा वे हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखाने की व्यवस्था करना चाहते थे और उर्दू

को इस बहाने स्थाई रूप से राजभाषा बनाना चाहते थे। यद्यपि अयोध्या प्रसाद खत्री, नवीनचन्द्र राय, राजा लक्ष्मण सिंह आदि ने उक्त प्रयास को विफल करने का प्रयत्न किया था परन्तु भारतेन्दु के आविर्भाव से हिन्दी आन्दोलन और सशक्त हुआ और उर्दू का पक्ष धीरे-धीरे क्षीण होता गया।

भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों का भाषा-चिन्तन राष्ट्रीय भावना से प्रेरित और भाषा विज्ञान की ठोस भूमि पर आधारित था। भारतेन्दु ने 'कुरान शरीफ' का हिन्दी अनुवाद कर उसे सस्ते मूल्य पर बेचने की योजना बनाई थी ('कविवचन सुधा' 19 जनवरी 1874)। इसके अतिरिक्त 8 सितम्बर 1873 को 'कविवचन सुधा' में उन्होंने लिखा था "हिन्दी और उर्दू में अन्तर क्या है? हम बिना संकोच के उत्तर देते हैं कि भाषाओं में कुछ अन्तर नहीं है क्योंकि व्याकरण की विभक्तियाँ और नियम दोनों के एक हैं। पर अन्तर इतना ही है कि हिन्दी में जिसके लिये हिन्दी शब्द नहीं मिलता वहाँ संस्कृत शब्द काम में आते हैं और उर्दू में सहज हिन्दी शब्द होने पर भी तथा जहाँ शब्द नहीं मिलते वहाँ तो अवश्य अरबी-फारसी के शब्द लिखे जाते हैं। यही हमारा उत्तर है।" पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी फरवरी 1884 के 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से इस मत का समर्थन करते हुए लिखा—"यह कौन कहता है कि उर्दू कोई दूसरी वस्तु है। सच पूछो तो उर्दू भी इसी हिन्दी का रूपान्तर है।"

दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य जो भारतेन्दु जी ने किया वह हिन्दी गद्य के स्वरूप के स्थिरीकरण का था। आचार्य शुक्ल का विचार है कि "अब तक हिन्दी-गद्य की भाषा का स्वरूप ही झंझट में पड़ा हुआ था। राजाशिव प्रसाद और लक्ष्मण सिंह ने जो कुछ गद्य लिखा था, वह एक प्रकार से प्रस्ताव के रूप में था। जब भारतेन्दु अपनी मंजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए, तब हिन्दी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्ताव-काल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।" इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि जब किसी भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाता है और साहित्य की रचना कुछ परिमाण पा लेती है, तभी भाषा में शैलियों का भेद, लेखकों की व्यक्तिगत विशेषताएँ आदि परिलक्षित होती हैं। भारतेन्दु जी के जीवन काल में ही उनके मण्डल के सहयोगी लेखकों में शैलियों का भेद तथा उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होने लगी थी। इस समय के लेखकों ने गद्य की प्राचीन परम्परा की ओर ध्यान अवश्य दिया रहा होगा। उनके सामने संस्कृत गद्य की प्राचीन परम्परा और प्राकृत भाषाओं में संस्कृत के सामासिक गुम्फन की परम्परा विद्यमान थी, जो अपभ्रंश काल में कम हो चुकी थी। भारतेन्दु जी ने स्वयं अपने गद्य की भाषा को सुष्ठु साहित्यिक रूप देने का प्रयास किया। शैली की दृष्टि से भारतेन्दु एवं भारतेन्दु-मण्डल के लेखकों का गद्य बहुत समृद्ध है। शैली का वैशिष्ट्य और वैविध्य तत्कालीन लेखकों की विशिष्ट प्रतिभा का परिचायक स्तम्भ है।

भारतेन्दु जी और उनके मण्डल ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भाषा विषयक अत्यन्त गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किए। यह भाषा-चिन्तन बड़े घनिष्ट और व्यापक रूप में बहु आयामी राष्ट्रीय नव जागरण के साथ जुड़ा हुआ था। यह भाषा चिन्तन कोरा कल्पना-विलास नहीं था अपितु वह देश की तत्कालीन समस्याओं के समाधान का एक माध्यम था। इसीलिये इस काल में एक ओर हिन्दी गद्य का स्वरूप स्थिर हुआ और दूसरी ओर उसके शब्द साहित्योपयोगी और व्यवहारोपयोगी रूपों की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। इस युग में पत्रकारिता की जो उन्नति हुई उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार "किसी भी भाषा के इतिहास में इतनी अल्प अवधि में होने वाली यह प्रगति गर्व की बात मानी जायगी। यह सब कब नहीं है। किन्तु यह भी ध्यान रखना होगा कि यह सारा मन्थन सुप्त राष्ट्र के जागरण की भूमिका मात्र है। यह आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य का प्रथम उत्थान था। इस उत्थान में सबसे मूल्यवान तत्व था साहित्यकारों का अदम्य उत्साह। उन्होंने हँसते-हँसते अपने को उत्सर्ग करके हिन्दी के विशाल भवन का निर्माण किया।

इस युग में साहित्योपयोगी भाषा का स्वरूप, विशेष रूप से नाटकों और निबन्धों के माध्यम से निखर कर सामने आया। भारतेन्दुकालीन निबन्धों में तत्कालीन सर्वतोमुखी संघर्ष का बिम्ब हमारे सामने आया। भारतेन्दु युग को यदि संघर्ष का युग कहा जाय तो अप्रासंगिक न होगा।

यह संघर्ष निम्नलिखित क्षेत्रों में था :—

1. भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति का संघर्ष
2. भारतीय और नवीन जीवन परम्परा का संघर्ष
3. सामन्तवादी जीवन दृष्टि और जन साधारण के सुख-दुख की चेतना का संघर्ष।

भारतेन्दु जी विविध आयामों पर इस संघर्ष की प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु थे। स्वयं एक सामन्त-वादी परिवार में जन्म लेकर भी उन्होंने अपने को सामान्य जन-जीवन के साथ जोड़ दिया और उनके मण्डल के अन्य सहयोगियों ने स्वयं को पूरी तरह उनके साथ प्रतिबद्ध किया। भारतेन्दुकालीन निबंध तत्कालीन जनचेतना की गम्भीर और आमोदमयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वैविध्य की दृष्टि से विलक्षण मौलिकता इस युग के निबंधों की मौलिक विशेषता है। अनेक निबंधों में उपेक्षित और गौण विषयों का प्रमुख और प्रभावी रूप में प्रस्तुतीकरण किया गया है। ऐसे लेखों में लेखकों की आत्मा वस्तु से अधिक, वस्तु बोधक संसार में परिभ्रमण करती है। इस काल में निबंधों में व्यंग्य और विनोदपूर्ण वक्तृता के माध्यम से कही हुई सच्चाई अद्यावधि अनुपमेय है। मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक निबंधों में इस युग के लेखक प्रायः साफ-सुथरी और मुहावरेदार भाषा के प्रयोक्ता थे। इस काल में लिखे गये नाटक भी राष्ट्रीय, सामाजिक और ऐतिहासिक चेतना के कारण जीवन-अस्तित्व पाने में समर्थ हुए हैं। भारतेन्दु-युग, काल खण्ड की एक छोटी सी अवधि का

अभिधान है। इस अभिधान में जितने नाटकों की सर्जना हुई, फिर कभी नहीं हुई। पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रतीकात्मक आदि अनेक प्रकार के नाटक इस युग में लिखे गए। इनके साथ ही कुछ ऐसे भी नाटक लिखे गए जिनके माध्यम से हिन्दी-उर्दू विवाद को बड़े ही मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किया गया। यह सब मिलाकर यह प्रमाणित होता है कि भारतेन्दु युगीन भाषा-चिन्तन का प्रसार कितना बहुस्पर्शी था।

कथा साहित्य भी इस युग में अस्तित्व में आ चुका था। इस युग का कथा साहित्य भी निरुद्देश्य मनोरंजन का माध्यम मात्र नहीं था। यह जीवनोपयोगी था। उस समय कथा साहित्य के माध्यम से समाज में फैली हुइ विकृतियों का यथार्थवादी चित्रण ही उद्देश्य था। इस युग में संस्कृत के कथा साहित्य की परम्परा पर आधारित उपन्यास भी लिखे गए। इस क्रम में डा० जगमोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अम्बिकादत्त का 'आश्चर्य वृत्तान्त' भी इसी शैली में लिखा गया। इन उपन्यासों की कथावस्तु के आधार पर आचार्य शुक्ल का यह कथन अक्षरशः सही प्रतीत होता है—"लोक संस्कृति तथा राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित भारतेन्दुकालीन साहित्य जनता के लिए प्रगति और चेतना का अपूर्व सन्देश है। सांस्कृतिक चेतना, आभा एवं उज्ज्वलता से परिपूर्ण इस काल के साहित्यिक मुकुर में तत्कालीन जनजीवन का हर पक्ष, हर यथार्थ, हर आदर्श बड़े ही स्पष्ट रूप में प्रतिबिम्बित हुआ है। सांस्कृतिक परिवेश में आबद्ध भारतेन्दुकालीन नव-लेखनशील-हिन्दी-साहित्य आज भी युग के लिए उतना ही प्रेरणादायक एवं मंगलकारी है। जितना वह भारतेन्दु काल में था।"

भारतेन्दु युगीन भाषा चिन्तन की प्रमुख विशेषता यह थी कि इस युग के सभी लेखक अपनी भाषा की प्रकृति से सम्यक् रूपेण परिचित थे। संस्कृत के शब्दों का यद्यपि वे अपनी भाषा में प्रयोग करते थे परन्तु उन्हीं शब्दों का जो शिष्ट समाज के बीच व्यवहृत होते थे। जिन शब्दों का भाषा प्रवाह के साथ सम्यक् निर्वाह नहीं होता था उसका प्रयोग वे नहीं करते थे। आचार्य शुक्ल ने उनके भाषा-सौष्ठव के विषय में लिखा है 'उनकी लिखावट में न 'उड्डीयमान' 'अवसाद' ऐसे शब्द मिलते हैं न 'औदार्य', 'सौकर्य' और 'मौर्ख्य' ऐसे रूप।"

भारतेन्दु और भारतेन्दु-युग के लेखकों ने जिन परिस्थितियों में रहकर साहित्य और समाज की सेवा की, वह उत्साहविहीन और निराशा के कुहासे से घिरे हुए साहित्यिकों को एक प्रबल सम्बल प्रदान करती है। स्वयं भारतेन्दु ने और उनके सहयोगियों ने पत्र-पत्रिकाओं का जाल सा बिछा दिया था। इन पत्रों ने जनता को नई राष्ट्रीय चेतना से अवगत कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन्ही के माध्यम से स्वदेशी का प्रचार सम्भव हुआ। इस प्रसंग में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि लोगों को न तो किसी प्रकार की राजकीय सहायता मिलती थी और न तो किसी राज्य का खजाना ही इनके लिए खुला था। इन्हें शासन का विरोध तो सहना ही पड़ता था साथही सरकार के चाटुकार भारतीयों का भी

कोप-भाजन बनना पड़ता था। जन सामान्य में व्याप्त अन्धविश्वासों से समाज को मुक्त कर, समाज-हित के लक्ष्य को प्रत्यक्ष मान वे समाज के लिए अहितकर बातों का विरोध करना अपना धर्म समझते थे। डा० रामविलास शर्मा ने भारतेन्दुयुगीन साहित्य के विषय में लिखा है—"यह साहित्य भारतीय जनता के अधिकारों की लड़ाई से जुड़ा हुआ है, इसमें हमारे रोष, हमारे स्नेह, हमारे त्याग की भावनाएँ स्पन्दित हैं। यह उन लोगों का साहित्य है जो पैंतीस, छत्तीस साल की आयु में अपने प्राणों की होली खेलकर चल दिए, जिन्होंने अपने दीर्घ जीवन को कुछ घने वर्षों में केन्द्रित कर दिया। उनकी वह आहुति अग्निशिखा सी आज भी प्रज्वलित है, हिन्दी भाषा और साहित्य को उससे आज भी जीवन और प्रकाश मिल रहा है।"

इस युग के भाषा-चिन्तकों ने कई दिशा में अपना प्रभाव दिखाया था। उन्होंने अपने चिन्तन के माध्यम से व्यापक राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया है। हिन्दी-उर्दू विवाद पर भारतेन्दु युगीन लेखकों ने दो टूक निर्णय किया। अंग्रेजों की राजनीतिक भेदनीति और आर्थिक शोषण प्रणाली के प्रति सभी को सचेत किया, स्वदेशी के प्रयोग का आह्वान किया और अनेकानेक गद्य शैलियों के रचना-विधान का सूत्रपात किया और हिन्दी गद्य को गहन-चिन्तन को वहन करने में सामर्थ्यशील बनाया। इनकी यही साधना आज अनेक रूपों में फलवती हो रही है।

सन्दर्भ

हिन्दी साहित्य का इतिहास —	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा —	डॉ० रामविलास शर्मा
खड़ी बोली का आन्दोलन	डॉ० शितिकंठ मिश्र
ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली	डॉ० कपिलदेव सिंह
हिन्दी साहित्य का अतीत—दूसरा भाग	आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी .	डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी
हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ० नगेन्द्र
भाषा और समाज	डॉ० रामविलास शर्मा

भारतेन्दु कालीन ब्रजभाषा कविता

विष्णुदत्त राकेश

भारतेन्दु को विरासत में जो ब्रजभाषा काव्य मिला वह परम्परित ढर्रे का था। रीतिकालीन परम्परा का ह्रासोन्मुख रूप भक्ति साहित्य तथा शृंगारी साहित्य में स्पष्ट परिलक्षित होता है। कृष्ण भक्त कवियों में महन्त सीतलदास, ईश्वरदास, संतोष सिंह, लक्ष्मी नारायण, परम हंस, वेणीदत्त झा तथा गिरिधरदास जैसे कवि जहां प्रेम के लौकिक तथा आध्यात्मिक सूफियाना रूप का मांसल चित्रण कर रहे थे तो रामभक्ति में भी मधुरोपासना का उद्दाम स्वर श्री स्वामी भगवतदास, श्री युगलानन्द शरण, बनादास, रसरंग, रघुनाथ दास महन्त, महाराज विश्वनाथ सिंह, श्री राम निवास, काष्ठजिह्वा स्वामी तथा प्रताप कुँवरि बाई की रचनाओं में फूट पड़ रहा था। शृंगार, अलंकृति तथा अध्यात्म का मिला-जुला रूप इनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता है। सीतलदास की लावनी में तो ब्रजभाषा, खड़ी, अरबी और फारसी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। गुलजार चमन की कुछ पंक्तियां लीजिये—

दिलबर अब क्यों पछताता है तुझ जुल्फ जाल से सैद गया।
अब किसको दरद दिखाता है वह दरद बूझता बैद गया।
जानी इस परदे अदम बीच बा कैद गया बेकैद गया।
खूबी इस जाम जहानों की ले गया जहाँ जमशैद गया।

इसी प्रकार युगलानन्द शरण जी की रचना का नमूना प्रस्तुत किया जा सकता है—

उठ दरद तब जरद तन हरद बराबर होय।
गरद बिसाल बिहार नित हित हरसाइत जोय।

19 वीं शती के संत कवियों में भी शृंगार भावना की प्रधानता है और यह स्वाभाविक भी था कि परम्परित कविता का वर्ण्य बाद की रचनाओं में भी उसी रूप में प्रवाहित रहता। रीति परम्परा का निर्वाह करने वाले कवि ग्वाल, चन्द्रशेखर वाजपेयी, गुलाब, प्रताप साहि, सेवक, सरदार कवि, लछिराम भट्ट, गोविन्द गिल्ला भाई, तथा नवनीत चौबे ने आचार्यत्व और कवित्व के दायित्व का सफल निर्वाह किया है। नखशिख, नायिका भेद, रस-अलंकार, राज प्रशस्ति, नीति, भक्ति तथा प्रकृति चित्रण इनका प्रमुख विषय रहा। एक बात जो द्विजदेव, गुमान मिश्र, तथा लछिराम में दिखाई पड़ती है वह है प्रकृति का सरस निरलंकृत वणन। भारतेन्दु युगीन कवियों में इस प्रवृत्ति का प्रचुर विकास हुआ। गुमान मिश्र की कुछ पंक्तियां लीजिये—

कालिंदी उठती अनन्द करती देखो तरंगें घनी।
तैसी सोहति है बयारि बहती मीठी सुगंधी सनी।
राजैं जे अरविन्द वृंद विकसे लै मत्त भृंगे जहाँ।
फूली हैं नव मल्लिका पुलिन में बाहैं सुगंधै महाँ।।

द्विजदेव का प्रकृति वर्णन तो प्रसिद्ध है ही। भावोद्बाधक छन्दों में प्रकृति का सूक्ष्म चित्रण करने की उनमें अपूर्व सामर्थ्य है। वसंत की मादकता का एकचित्र लीजिए जिसमें सुरीला बोलने वाले तोतों के स्वर भार से दबे शब्द मन्दिर के बाहर तक नहीं जाते, मन्दिर में ही गूंजकर रह जाते हैं। मोगरे, मरुए तथा दौने के पौधे पुष्प रसों के भार से झुक गए हैं। चाँदनी के भार से चन्द्रमा झुक गया है तथा सुगंध के भार से दबा पवन भी मद मन्द चलता है—मन्थर गति से।

सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के,
मन्दिरन त्यागि करै अनंत कहूँ न गौंन।।
द्विजदेव त्यौं ही मधु-भारन अपारन सौं,
नैकु झुकि झूँमि रहे मोंगरे मरुअ दौंन।।
खोलि इन नैननि निहारौ तो निहारौं कहा,
सुखमा अभूत छाइ रही प्रति भौंन—भौंन।।
चांदनी के भारन दिखात उनयौ सौ चन्द।
गंध ही के भारन बहत मन्द मन्द पौन।

पुरातन विषय होने पर भी इस युग के कवियों ने ब्रजभाषा को अद्भुत सामर्थ्य प्रदान की। ब्रज की गउओं के विरह का एक हृदय द्रावक चित्र श्री नारायण चतुर्वेदी ने आधुनिक हिन्दी का आदिकाल पुस्तक में उद्धृत किया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रजभाषा कविता के लिए उपयुक्त माध्यम थी।

धौरी भई कल बौरी जु प्रात ही नन्द की पौरी निहारन लागी,
बेर भई तो रम्हाइ रम्हाइ कैं देहरी सौं सिर मारन लागी।
आंगन सों उठिधाई जसोमति प्रेम भरी पुचकारन लागी,
आंसुन सों भरि आयोगरी हिचकीन में स्याम पुकारन लागी।

इसी प्रकार सरदार कवि के शिष्य नारायण कवि द्वारा वर्णित गोचारण का एक उदाहरण लीजिए—

काछनी कछोटी कसे कामरी कंधा पै धरे अति अनियारे दृग तारे कजरारे हैं।
ठुटकि चलत लट लटकै कपोलन पै कर में लकुट मोर मुकुट सुधारे हैं।
खेलत खिलत जात खिरक नारायन जू कुटिल कटाछ कचकारे घुंघरारे हैं।
घूमि चुंचकारत चरावत धरापै धेनु धाई धरैं धूमरी कलिन्द जा किनारे हैं।

ब्रजभाषा में विषय वस्तु का परिवर्तन भारतेन्दु से पूर्व ही हो चला था। राजा लक्ष्मण सिंह ने शकुन्तला का अनुवाद ब्रजभाषा में गदर के आसपास ही किया था। बाद में ठाकुर जगमोहनसिंह ने मेघदूत का कवित्त-सवैयों में सरल अनुवाद किया। सरदार कवि की विद्वत्तापूर्ण टीकाएं तथा काष्ठजिह्वा स्वामी का क्रोडपत्रीय मानस संपादन इस युग की नवीन प्रवृत्ति परक रचनाएं हैं। रीतिकालोत्तर काव्य साहित्य में ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश सेवक कवि से ही हो जाता है। उनकी वाग्विलास कृति जिसका रचनाकाल संवत 1921 के लगभग है, में विद्रोह की चर्चा है। उनके आश्रयदाता हरिशंकर सिंह विद्रोहियों के दमन में अंग्रेजों के साथ थे उन्होंने टामसन तथा विक्टोरिया का नामोल्लेख अपनी रचना में किया है।

श्री मलिका विक्टोरिया छायो तेज ललाम।
समर कृपानादिकन को रह्यो न अब कछु काम।
आयो है इनके भवन लाट गवरनर बीर
टामसेन साहव विदित जो जग में रन धीर।

सरदार कवि ने काशी वर्णन कर परम्परित कविता प्रवाह को नई दिशा दी। रीति पद्धति की श्लेष अर्थवाही व्याख्या के तहत उनका एक कवित्त प्रमाण स्वरूप यहाँ उद्धृत किया जाता है—

मनिकर्निका ते असी अरुना विचारो आनि
मुकुत बसाये अंग अंग छवि छान की।

सेवें विश्वनाथ गयान वापिका भरी है सुद्ध,
दीपत दुजन वान अति हित खान की।

कवि सरदार सुद्ध सुरनभबारी सोमग
पूजत विदेह नेह रुचि घनमान की।

सुगन प्रकासी पुन्यारासी जान धासी,
मह्रा उत्तरा सुवासी ऐसो कासी जान जानकी।

ब्रिटिश कालीन भारत भूखमरी, राजनीतिक अस्थिरता, रुढ़िवादिता, कृषि साधनों के अभाव, तथा निर्धनता के विकराल दानव से ग्रस्त था। बाबू पतनलाल, रामकृष्ण वर्मा द्वारा संपादित समस्यापूर्ति से एक छन्द उदधृत कर इस बिगड़ती हुई दशा की ओर डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने ध्यान आकृष्ट किया है–

आयो विकराल कालभारी है अकाल पर्‌यो पूरै नांहि खर्च घर भर की कमाई में।
कौन भांति देव टैक्स इन्कम लैसन औ पानी की पियाई लैटरन की सफाई में:
कैसे हैल्थ साहब की बात कछू कान करैं पड़ैन सुसील भूमि पौंडैं चारपाई में।
किमि कै बचावैं स्वांस और कौन ओर घुसें सोवै साथ चार चार एक ही रजाई में॥

इतना होने पर भी सामन्ती प्रभाव और उच्च वर्गीय विलास दृष्टि की प्रधानता ही ब्रजभाषा काव्य में रही। अयोद्धा दरबार के कवि श्री लछिराम की रचना इस पद्धति की प्रतिनिधि रचना है और उसमें शृंगार नायिकाभेद का ही प्राधान्य है। हाँ, इन कवियों ने वर्णन को स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की है तथा कल्पना करने में गत्यात्मकता का ध्यान रखा है। लछिराम का एक उदाहरण लीजिए—

औघट अकेली नीर तीर यमुना के भरि,
  ली लौं कड़ी कहर कराल मग हाली तें।
कवि लछिराम तौ लौं तीरवन फलानी फन्द,
  वारपार फैली फूलि फुफकार लाली तें।
गिरि गई गागर बिगरि गई बेंदी सिर,
  फिरि गई पूतरी प्रकास परसाली तें।
बूझि बनमाली सों लुटान मुकताली बड़े,
  भागत बची हौं भाजि विषधर काली तें।

मंडन की भूत सुरत संगोपना से लछिराम की नायिका अधिक कल्पनाशीला है; वह यमुना जल लेने और बादलों के अचानक घिर आने के कारण गागर फूट जाने की कल्पना करती है पर कुघाट पर अकेली जाने वाली लछिराम की नायिका सर्प की फुफकार की उद्भावना कर प्रकृत कारण की कल्पना करती है। लछिराम की रचनाओं में ऐसे अनेक चित्र हैं। प्रकृति पर आरोप-विधान के अनेक उदाहरण है। कहीं वह 'नागर वसन्त, रतनाकर सुघर' के दर्शन करते हैं तो कहीं पावस कालीन श्यामघन उन्हें "झूमि झूमि गुंजरत आसमान मंडल में आले स्याम घन मतवाले से फिरत हैं" मत्त मतंग दिखाई पड़ते हैं। समस्या पूर्ति इस काल के कवियों की प्रमुख विशेषता थी। प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर कवियों को इसी में मिलता था। प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा में समस्यापूर्ति करने की परम्परा का निर्वाह भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवियों ने किया है। ऐसी ही एक समस्या पूर्ति देखिए—

पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीओं सदा विक्टोरिया रानी।
सूरजचन्द प्रकास करैं जब लौं रहे सात हूं सिन्धु में पानी।
राज करो सुख सों तब लौं निज पुत्र औ पौत्र समेत सयानी।
पालौ प्रजागन कों सुख सों जग कीरति गान करें गुनगानी।

कानपुर के रसिक समाज में प्रतापनारायण मिश्र द्वारा पूर्ण की गई "यह बयारि तबै बदलेगी कछू पपिहा जब पूछि है पीव कहां समस्या आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में उद्धृत की है। प्रेमघन की "हेरत दोउन को दोउ औचक ही मिलें आनिकै कुंज मझारी" तथा अम्बिका दत्त व्यास की "मूंदि गई आँखै तब लखै कौन काम की" समस्याओं की रामनरेश त्रिपाठी ने कविता कौमुदी में चर्चा की है। नवनीत चतुर्वेदी दयानन्द के सहपाठी

और विरजानन्द के व्याकरण-शिष्य थे। सोमनाथ कवि के निशाभिसारक वर्णन के प्रसिद्ध सवैया "कान्ह दिवारी की रैन चले बरसाने मनोज को मन्त्र जगावन" की कमियों को देखते हुए चतुर्वेदी जी ने सांगरुपक द्वारा अपनी पूर्ति में ऐसा ठाठ बांधा कि पद्मसिंह शर्मा उस पर सौजान से फिदा हो गए।

अच्छत आनन्द फूल सो फूल सुचाह को चंदन चोप चढ़ावन।
त्यों नवनीत जूलाग की लांग उमंग सिंदूर को रंग रचावन।
धावन धूप संयोग सुगंध लै केलि कपूर की जोति जुरावन।
कान्ह दिवारी की रैन चले बरसाने मनोज को मंत्र जगावन॥

ठाकुर जगमोहनसिंह कृत "मोहनि मूरति के बिना कैसे कटे दुख की रतियां" तथा बलवीर कवि कृत "देखिये बिहारी चलि रसिक रसीले लाल अरुन उदै की कंज कली सी लसति हैं" संज्ञक समस्यायें कवि समाज की प्रातिभ स्पर्धा के नमूने हैं। कभी-कभी तो समस्यायें इतनी कठिन होती थी कि पूर्ति असंभव जान पड़ती थी। इस युग के कवियों में प्रतिभा अपूर्व थी तभी तो "पावज पंक में पंकज फलें" या "मंजन गिरा में करि मानों मैनवाला मंत्र मोहन जपति ज्वाल माला की लपट में" अथवा "गंगधार मानो चारु चंपा को धनुष है", "बीस रवि दस ससि संग ही उदै भए" जैसी समस्याओं की पूर्ति में इन कवियों ने अपनी उर्वर कल्पना शक्ति का परिचय दिया है।

भारतेन्दु का कवि दरबार इसी पृष्ठभूमि पर खड़ा हुआ था। कविता को सामंती सिंहासन से उतारकर जन-जन तक ले जाने का काम भारतेन्दु ने किया। नवजागरण का शंखनाद करने वाले दयानन्द जैसे सुधारवादी महापुरुषों से उनका सम्पर्क हुआ। उन्होंने केशवचन्द्र सेन और दयानन्द के मन्तव्यों का विरोध भी किया। इस दृष्टि से उनका निबन्ध 'स्वर्ग में केशवचन्द्र सेन और स्वामी दयानन्द' पठनीय है। भारतेन्दु ने जन संगठन को अपना लक्ष्य बनाया पर कट्टरता उनमें न थी। डा० रामविलास जी ने लिखा है कि वह एक उदार और विकासोन्मुख धार्मिक परम्परा में सारी जनता को संगठित करना चाहते थे।[1] भारतेन्दु ने लिखा भी है "अब वह काल नहीं है कि हम लोग भिन्न भिन्न अपनी खिचड़ी पकाया करें। अब महा घनघोर कलिकाल उपस्थित चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अब सब लोग एकत्र हो। भीतर तुम्हारे चाहे जो भाव और जैसी उपासना हो, ऊपर से सब आर्य मात्र एक रहो।" दयानन्द का ही प्रभाव कहिए कि बालकृष्ण भट्ट जैसे साहित्यकार पौराणिक साहित्य और संस्कृति के घातक रूप का विरोध कर सके। राधाचरण गोस्वामी ने 'यमपुर की यात्रा' लिखकर कट्टर पंथियों की नींद हराम करदी। जनता को राजनीतिक आर्थिक, धार्मिक और साहित्यिक जागरण के लिए तैयार करना ही इन सबका लक्ष्य था। यही कारण है कि आर्य सभाओं की तरह राधा चरण गोस्वामी ने यदि कवि कुल कौमुदी की स्थापना की तो भारतेन्दु ने कविता वर्धिनी, तदीय समाज; सुधाकर द्विवेदी ने विज्ञान प्रचारिणी सभा

तथा अम्बिकादत्त व्यास ने कवि-समाज की स्थापना कर रूढ़िवाद के विरुद्ध एक जोरदार अभियान चलाया। भारतेन्दु युग के अन्य लेखकों कार्तिक प्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा, गदाधर सिंह ने मित्र समाज के अतिरिक्त बाद में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना कर भाषा, देश, समाज और साहित्य के लिए जन आन्दोलन की भूमिका तैयार की। भारतेन्दु का हिन्दी पर व्याख्यान प्रयाग की हिन्दी वर्द्धिनी सभा में हुआ था। बलिया में ददरी के मेले में स्वदेश की समस्या पर व्याख्यान देते हुए अपने राजनीतिक विचारों को उन्होंने व्यक्त किया। भारतेन्दु नें हिन्दू राष्ट्र की कितनी उदार परिकल्पना की थी वह उनके इस व्याख्यान के अंश से स्पष्ट हो जाती है कि "इस महामंत्र का जप करो जो हिन्दुस्तान में रहे चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो वह हिन्दू। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठी, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।" स्वदेशी का महत्व समझाते हुए उन्होंने कहा—"जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हर तरह से इंग्लैण्ड, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दियासलाई जैसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती हैं। जरा, अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो, वह अमेरिका की बनी है। जिस लंक लाट का तुम्हारा अंगा है, वह इंगलैंड का है। फरांसीस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी, की बनी चरबी की बत्ती से तुम्हारे सामने बन रही है।" और अन्त में कहा—"परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।" यह विचारधारा वह है, जिसने भारतेन्दु को एक युग का प्रवर्तक बनाया और नव जागरण के पुरस्कर्ताओं में उन्हें प्रतिष्ठित किया। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने ठीक कहा है कि हिन्दी नवोत्थान को इस प्रथम चरण की अवतारणा में उनका हाथ था। भारतीयता और भारत की दुरवावस्था का ध्यान उन्हें सदैव बना रहता था। उन्होंने अपने चारो ओर रुढ़ि ग्रस्त मूढ़ जनता, मानसिक दासत्व, और निष्क्रियता के बंधन में जकड़े हुए लोगों, पाश्चात्य सभ्यताओं के गुलामों, पुलिस और अदालती लोगों की लूट खसोट, देश के स्वार्थी अमीरों, सर्वत्र धार्मिक मिथ्याचार, अनाचार, छल और कपट, भारत की दीन आर्थिक अवस्था आदि मर्मान्तक, पीड़ोत्पादक एवं हृदय विदारक दृश्य देखे। भारतेन्दु में कालज्ञान था, विचार स्वातंत्र्य था और वे भारत की स्वाधीनता के स्वप्न देखने लगे थे। वे अपने समय के एक आदर्श देशभक्त थे। उन्होंने देशभक्ति, लोकहित, समाज सुधार, मातृभाषोद्धार, स्वतंत्रता आदि की वाणी सुनाई। अन्य कवियों और लेखकों ने उनके स्वर में स्वर मिलाया! यद्यपि अपने सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक जीवन में पुरातनत्व का बंधन एकदम न तोड़ सके तो भी उन्होंने अपने जीवन और साहित्य को नवीनोन्मुख किया। जिस नवीन विचारधारा को उन्होंने जन्म दिया वही एक से दो और दो से शतधा होकर प्रवाहित हुई।[2]

भारतेन्दु कालीन कवियों की रचनाओं मे अंग्रेजीराज की प्रशंसा देखकर कुछ लोग उनकी राष्ट्रभक्ति पर संदेह करते हैं। भारतेन्दु ने 'भारत भिक्षा में' "ब्रिटिश सुशासित भूमि से आनंद उमंगो जात" तथा प्रिस आफ वेल्स के आगमन पर "घर घर में मनु सुर भयो,

घर-घर में मनु व्याह," "घर-घर बाढ़ी संपदा तुअ आगम नरनाह" कहकर अंग्रेजी राज्य के प्रति अपनी भावना व्यक्त की। ड्यूक आफ एडिनबरा के भारतागमन पर भी उन्होंने सोल्लास कहा—

नैन बिछाए आपु हित आवहु या मग होय।
कमल पौवड़े ये किये अति कोमल पद जोय।।

1857 के गदर का वह परिणाम देख चुके थे। वैजयन्ता रचना में उन्होंने इस बात का संकेत किया।

कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जल बलनासी।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुं भारतवासी।

अंग्रेजों की सैनिक शक्ति के आतंक से अभिभूत हो उनका यह कहना स्वाभाविक था कि "प्रबल प्रताप भारतेश्वरी तिहारे क्रोध ज्वाल काल आगे रोम मोम रुस फूस है।" इतना होने पर भी वह अवसर मिलने पर जनता की भलाई की माँगें सरकार के सामने रखते और जनता को जगाने की पूर्ण चेष्टा करते। मुस्लिम सरकार की अपेक्षा ब्रिटिश शासन उदार था। न्यायपद्धति, नव्य शिक्षा, वैज्ञानिक साधनों का उपयोग तथा समान अवसर प्रदान करने के कारण मुसलमानी राज्य से बेहतर व्यवस्था अंग्रेजी राज्य में थी। बोलने और धार्मिक मामलों की स्वतंत्रता देकर पहली बार हिन्दुओं को सरकार ने आकृष्ट किया। अतः राहत की सांस लेते हुए अंग्रेजों की प्रशंसा की गई[8] पर अंग्रेजों द्वारा किए गये शोषण को इन कवियों ने नजर अन्दाज नहीं किया। उन्होंने कहा—

अंग्रेज राज सुख साज सबै विधि भारी
पै धन विदेश चलि जाति यहै अति ख्वारी।
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी
दिन-दिन दूनै दुख ईस देत हाँ हारी।।

+ + +

सुजस मिले अंगरेज को होय रुस की रोक
बढ़े ब्रिटिश वाणिज्य पै हमको केवल सोक।

प्रतापनारायण मिश्र ने एक ओर विक्टोरिया की प्रशंसा की तो दूसरी ओर विक्टोरिया के पौत्र प्रिंस फ्रेडरिक के आगमन पर लिखा—

सो दरिद नित रहत देस कहं दस दिसि घेरे।
हैं माटी के चूल्ह यहाँ घर में सब केरे।
तिस पर दुसह दुकाल रहत नित सिर पर ठाढ्यो।
प्रजा पुंज दिनमीच मस्त पेटागिन डाढ्यो।

दिन-दिन दूनी दीन दसा ह्यांके लोगन की ।
देखत छाती फटत सकत नहिं रहति वचन की ।
भली होय तुम भली भांति भारत न निहारो ।
बालक हौं जनि सहम जाय कहुं हृदय तुम्हारो ।।

चार्ल्स ब्राडला के भारत आगमन पर लिखी गई रचना से तत्कालीन भारत का सही चित्र सामने आता है—

तब लखिहौ जँह रह्यो एक दिन कँचन बरसत ।
तँह चौथाई जन रुखी रोटिहुँ कहुँ तरसत ।।
जहँ आमन गुठली अरु बिरछन की छालें ।
ज्वार चून मँह मेलि लोग परिवारहिं पालें ।
लोन तेल लकड़ी घासहु पर टिकस लगत जहँ,
चना चिरोजी मोल मिलत जहँ दीन प्रजा कहँ ।
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब मांहीं ।
देशिन के हित कछू तत्व कहुं कैसेहुं नांही ।

पुनर्जागरण का उद्देश्य उनकी 'हिन्दी, हिन्दू, हिंदुस्तान,' रचना से स्पष्ट हो जाता है। और इसीलिए गट्टूलाल चतुर्वेदी जैसे प्राचीन शैली के विद्वान ने भी आर्य जाति के पुनरुत्थान की बात कही ।[4] इतना ही नहीं साम्राज्यवादी व्यापारी भूख का इससे सुन्दर चित्रण और क्या हो सकेगा ।

मारकीन मखमल बिना चलत कछू नहिं काम ।
परदेसी जुलहान के मानहुं भये गुलाम ।
वस्त्र काँच कागज कलम चित्र खिलौने आदि ।
आवत सब परदेस सों नितहिं जहाजन लादि ।
इतकी रुई सींग अरु चरमहिं नित लै जाय ।
जाहि स्वच्छ करि वस्तु बहु भेजत इतहिं बनाय ।

अंग्रेजी प्रभाव से आच्छन्न हिन्दुस्तानी नवयुवक का खाका खींचते हुए प्रेमघन जी ने एक व्यंग्य रचना 'कजली कादम्बनी' में दी है। इसमें तत्कालीन सभ्यता के विरुद्ध एक आक्रोश का भाव व्यक्त होता है—काले अंग्रेज का चित्रण देखिए—

सोहै न तोके पतलून साँवर गोरवा !
कोट बूट जाकेट कमीच क्यों पहन बने बैबून ।
काली सूरत पर काला कपड़ा देत किए रंग दून ।
अंग्रेजी कपड़ा छोड़हु कितौ, ल्याव लगाव मुँहे चून ।
दाढ़ी रखिके बार कटावत और बँढ़ाये नाखून ।
चलत चाल बिगरैल घोड़ सम बोलत जैसे मजनून ।

चंदन तजि मुँह ऊपर साबुन काहे मलहु दुओ जून।
चूसहु चुरुट लाख पर लागत पात बिना मुँह सून।
अच्छर चारि पढ़ेहु अंगरेजी बनि गये अफलातून।
मिलहि मेम तोहें कैसे जेकर फेयर फेस लाइक दी मून।
डियर प्रेमघन हियर दया कर गीत न गावो लेम्बून।

काले-गोरे के भेद तथा अंगरेजों के प्रति प्रशासनिक पक्षपात का यथार्थ चित्रण प्रतापनारायण मिश्र ने किया है। वे कहते हैं—

गोरे स्याम रंग भेद भाव अस दस दिस छायो।
जिहि नेटिव नामहि कों तुच्छ प्रतच्छ दिखायो।
वे बधहू करि कबहुं कबहुं कोरे बचि जाहीं।
पै ये कहुं कहुं लकुट लेत हूं धमकी खाहीं।

भारतेन्दु की बुआ के बेटे राधाकृष्ण दास ने भारतेन्दु की देख रेख में ही हिन्दी, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और बंगला में दक्षता प्राप्त की। भारत दुर्दशा का चित्रण, भाषण-नीति तथा स्वाधीनता का संकल्प उनकी कविताओं के प्रमुख विषय बने। प्रताप-विसर्जन कविता की यह पंक्ति उनका हार्दिक संकल्प मालूम पड़ती है—

जो लौं, तन, स्वाधीनता तौं लौं रखौं बचाय
संक करिये न कछु।

भारतेन्दु ने सामाजिक जागरण के अतिरिक्त हिन्दी की महत्ता पर भी प्रकाश डाला। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं पर लेख छापकर उन्होंने भाषा सबंधी आन्दोलन चलाया। बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप' तथा प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' इसी दिशा में आगे बढ़े। दयानन्द, भारतेन्दु की पत्रिका 'कवि वचन सुधा' में लिखते ही थे। आर्य समाज अजमेर के प्रथम प्रधान मन्त्री मुन्नालाल शर्मा ने 1881 में स्वामी जी की प्रेरणा से 'देश हितैषी' मासिक पत्र निकाला। इस पत्र के प्रत्येक अंक के आर्य विचार धारा को अपनाने की प्रेरणा जिस कविता द्वारा दी जाती थी वह इस प्रकार है—

अप्रीति रीति कुरीति छाड़ो आर्यपन में चित धरो।
बहु दिवस सोये मत्त ह्वा अब सभ्यता में रुचि करो।

स्वामी दयानन्द और आर्य समाज को लेकर एक समय बड़ा विरोध हुआ। स्वामी जी ने ईसाई और मुसलमान धर्म प्रचारकों द्वारा किए जा रहे हिन्दू धर्म पर निरन्तर आक्षेपों का कड़ा उत्तर दिया और निर्ममता से उन धर्मों की आलोचना की। सनातन धर्म की भी उन्होंने पुनर्जागरण की भावना से आलोचना की। इतना होने पर भी जब स्वामी जी काशी पधारे तो उन्हें लेने के लिये स्टेशन पर दो सनातनी विद्वान गये। एक थे भारतेन्दु और दूसरे थे डा० भगवान दास जी के पिता बाबू माधवदास जी। पण्डित श्रीनारायण

चतुर्वेदी ने इस आंदोलन का सुपरिणाम यह माना कि अतीत के प्रति आकर्षण और उसके गौरव को पुनः स्थापित करने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा।[5] दयानन्द जी के विरुद्ध भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में खूब लिखा था पर प्रभावित भी वह दयानन्द से हुये थे। भारतेन्दु पत्र के सम्पादक राधाचरण गोस्वामी भी स्वामी जी के विरोधी थे पर उनके दृष्टिकोण के समर्थक भी थे। डा० रामविलास जी ने गोस्वामी जी के इस आशय का मन्तव्य उद्धृत किया है—स्वामी जी के देशोपकारी होने में जो संदेह करे वह नारकी है और आर्यसमाज के देशोन्नति करने में किसी को भ्रम हो तो वह साक्षात् पशु है।[6] प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर पर एक आल्हा लिखी है। उसमें कट्टर पंथियों पर प्रहार करते हुए मिश्र जी ने लिखा है —

मरत-मरत दयानन्द मरिगे हिन्दू रहे आजु लगि सोय।
पूत वियाहैं पाँच बरस को गहनें धरत फिरै घरबार।
रुपया फेंके जल्लादन पर घर भरि देय पतुरियन क्यार।
वेद मंगैबे के चन्दा को सुनतै नाम सूखि जिउ जाय॥

हिन्दी और उर्दू के मामले पर भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवि दयानन्द के साथ थे। यद्यपि भारतेन्दु ने उर्दू में 'रसा' उपनाम से कविता की है तथापि उर्दू परस्त अंग्रेजीदा सरकार तथा भारतवासियों का उन्होंने खुलकर विरोध किया। भारतेन्दु की 'उर्दू का स्यापा' शीर्षक रचना से इस आन्दोलन को बढ़ावा मिला। शिवप्रसाद सितारे हिन्द सरकार के साथ थे, उसकी भाषानीति के समर्थक थे। भारतेन्दु ने इस नाजुक स्थिति में भी जनमानस का साथ नहीं छोड़ा। मुस्लिम राजकाल से ही हिन्दू सामत और नौकरशाही फारसी तथा उर्दू की दीवानी रही और फिर वह अंग्रेजी प्रभाव से घिरती चली गई। कचहरियों में फारसी उर्दू का ही प्रयोग होता था। कर्मचारी और कचहरियों का अमला फारसी भाषा और लिपि का ही अभ्यस्त था। भारतेन्दु ने इसका विरोध किया। प्रयाग की हिन्दी प्रवर्द्धिनी सभा में भारतेन्दु ने हिन्दी के पक्ष में अपना पद्यात्मक भाषण दिया। उनका यह दोहा हिन्दी प्रेमियों का पुनीत मन्त्र है।

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ग्यान के मिटत न हिय को सूल॥

एक समस्यापूर्ति में सरकार तथा सरकारपरस्त देशवासियों द्वारा की जा रही हिन्दी की अवहेलना पर उन्होंने यह पीड़ा व्यक्त की थी—

भोज मरे अरु विक्रमहू किनको अब रोइ कै काव्य सुनाइये।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रंथनि नीर डुबाइये।
राजा भये सब स्वारथ पीन अमीरहु हीन किन्हैं दरसाइये।
नाहक देनी समस्या अबै यह ग्रीषम प्यारे हिमन्त बनाइये।

आचार्य पण्डित किशोरीदास बाजपेयी ने लिखा है। भारतेन्दु ने दूर-दूर के हिन्दी प्रेमियों को अपनी ओर आकर्षित किया। एक प्रेम संगठन हो गया। इस संगठन में जादू का असर था। हिन्दी के रूप में राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। अंग्रेज बड़ा दूरदर्शी होता है। वह विरोध के तरीके जानता है। भेद पैदा करना उसे खूब आता है। डर राष्ट्रीयता के उदय से था। उस समय राजा शिवप्रसाद साहब उच्च राजकर्मचारियों में थे। शिक्षा विभाग पर राजा साहब का प्रभाव था। आपकी सेवाओं से प्रसन्न होकर सरकार ने राजा तथा सितारे हिन्द के खिताब दे रखे थे। राजा साहब ने हिन्दी के स्थान पर हिन्दुस्तानी का समर्थन सरकारी इशारे पर किया।

न खास हिन्दी न खास उर्दू
जबान गोया मिली जुली हो।

हिन्दी के उदयकाल में यह भेद बड़ा भयानक था। राजसत्ता हिन्दुस्तानी के पक्ष में थी, शायद भेद डालकर क्षीण करने के लिए ही इधर भारतेन्दु मण्डल ने हिन्दी का पक्ष लिया। इसी सन्दर्भ में विजयी होने पर जनता ने बाबू हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु पद से विभूषित किया। राजा साहब भारत के नक्षत्र (सितारे हिन्द) बनाए गए सरकार की ओर से, तो जनता ने अपने प्रिय नेता को "भारतेन्दु" बना दिया। यह भारतेन्दु युग हुआ।[7] भारतेन्दु ने इस खिताबों पर गहरा व्यंग्य किया है।[8]

हिन्दी का जब कचहरी में प्रवेश हुआ तब प्रेमघन ने उसकी आवश्यकता महसूस करते हुए एक रचना लिखी। कुछ पंक्तियाँ यहाँ उल्लिखित हैं—

लह्यो देश भाषा अधिकार सबै निज देसन।
राज काज आलय विद्यालय बीच ततच्छन।
पै इत विरचि नाम उर्दू को हिन्दुस्तानी।
अरबी बरनहु लिखित सके नहिं बुध पहचानी।
जासु बरनमाला गुन खानि सकल जग जानत।
बिनु गुन गाहक सुलभ निरादर मन अनुमानत।
राजसभासों अलग कई सौ बरस बितावत।
दीन प्रवीन कुटीन बिच सोभा सरसावत।
कियो न बदन मलीन पीन बरु होत निरन्तर।
रही धीरता धारि ईस इच्छा पर निर्भर।

भारतेन्दु का हिंदी प्रेम इतना प्रगाढ़ था कि फ्रेडरिक पिंकाट ने उन्हें ब्रजभाषा में पत्र लिखा था।

भारतेन्दु मण्डल के ब्रजभाषा कवियों ने भक्तिभावना का साहित्य लिखकर राष्ट्र प्रेम, तथा प्रकृति चित्रण को काव्य का विषय बनाकर स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के बीज

का वपन भी किया है। भारतेन्दु का गंगावर्णन, यमुनावर्णन, काशीवर्णन तथा धार्मिक सहिष्णुता का चित्रण आधुनिक दृष्टि का परिचायक है। स्वामी दयानन्द के खण्डन-मण्डन का तीखापन उनके उदार दृष्टिकोण में नहीं है। एक पद देखिए—

खंडन जग में काको कीजै।
सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै।
तासों बाहर होइ कोइ जब तक कछु भेद बतावै।
ह्यां तो वही सवै मत ताके तहँ दुजो क्यों आवै।
अपुने ही पै क्रोधि बावरे आपुनो काटै अंग।
हरीचन्द ऐसे मतवारेन को कहौ कीजै संग॥

प्रेमघन की 'भारतवंदना' रचना अतीत के गौरव का स्मरण कराती है। अम्बिकादत्त व्यास ने 'भारत सौभाग्य' लिखकर इस ओर ध्यान आकृष्ट कराया। ठाकुर जगमोहन सिंह ने प्रकृति के नैसर्गिक चित्र खींचे। पर्वत शृंखला का एक चित्रण देखिये—

पहार अपार कैलास को कोटिन ऊँची शिखा लगि अम्बर चूम।
निहारत दीठि भ्रमै पगिया गिरिजात उतंगता उपर झूम।
प्रकास पतंग सों चोटिन के बिकसैं अरविन्द मलिन्द सुझूम।
लसै कटि मेखला के जगमोहन कारी घटा घन घोरत घूम॥

भारतेन्दु ने शुकदेव के माध्यम से अपने व्यक्तित्व की झलक देने का प्रयत्न कर व्यक्तिवादी काव्य रचना का संकेत भी किया। आत्मवृत्ति सूचना परक सूक्तियां उनके पूर्ववर्ती कवियों में उतनी नहीं है।[9] तात्पर्य यह कि भारतेन्दु परम्परागत और नवीन भावबोध के सीमास्थल पर खड़े थे उन्होंने ब्रजभाषा कविता का विषयगत संस्कार किया। उसे समाजोन्मुखी बनाया। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन को वहन करने की सामर्थ्य ब्रजभाषा को मिली। सुधारवादी आन्दोलन के साथ शृंगार का भक्तिपरक रूप, धार्मिक उदारता तथा जनजीवन की समस्याओं और आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करने वाली रचनाएँ उन्होंने लिखी। अम्बिकादत्त व्यास तथा सुधाकर द्विवेदी जैसे भाषाकाव्य को हेय मानने वाले पण्डित भाषा में रचना करने लगे। उर्दू के रचनाकार ब्रजभाषा की ओर आकृष्ट हुए। भोपाल के नवाब की वेगम शाहजहाँ वेगम रूपरतन तथा काशी की वेश्या हुस्ना नागरी ने भारतेन्दु की प्रेरणा से ब्रजभाषा में लिखना प्रारंभ किया। अर्लजान "माधवी" तथा वंगला भाषा भाषी मल्लिका उपनाम चन्द्रिका ने ब्रजभाषा में काव्य रचना भारतेन्दु के सम्पर्क से ही प्रारम्भ की। आचार्य शुक्ल के शब्दों में भारतेन्दु युग में कविता सचमुच नई चाल में ढली। ब्रजभाषा कविता को पहली बार बृहत्तर आयाम मिला। यह सामाजिक विद्रोह का नहीं, जन संगठन और लोक चेतना के जागरण का था। अन्त में नागरी के शब्दों में भारतेन्दु को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा जा सकता है—

कैसे नैन लखब सुस्याम घुंघरारे बार।
हाय नागरी के नाह छाड़ि कै कितै गयो।

संदर्भ

1. भारतेन्दु युग—पृष्ठ 107.
2. भारतेन्दु की विचारधारा—पृष्ठ 47.
3. जैसे आतप तपित को छाया सुखद गुनात।
   जवनराज के अंत तुव आगम तिमि दरसात। भारतेन्दु
   राजा चाहत दैन सुख, पर परजा मति हीन,
   पर जामत ही चहत हैं भूमि करन पगतीन।
   एहि सुराज मंह एक रस पीअत बकरी बाघ।
   छन मंह्व दौरत बीजुरी सागरहू को लांघ॥ सुधाकर द्विवेदी
4. मनुजो ! मनसत विनय परो।
   आर्य करौ औदार्य कार्य करि देश—उदय सिगरो।
   वेद पुरि पढ़ि खेद दूरि करि द्विज निज विजय करो।
   शास्त्र वस्त्र करि अस्त्र शस्त्र धरि भूप अनूप लरो।
   वैश्य वरन दुःख हरन करन सुख धन भण्डार भरो।
   शूद्र दास गहि ग्राम धाम विसराम काम निबरो।
   यंत्र कला कुल सकल निराकुल सीख भीख न परो।
   आर्यं भूमि में सकल सिद्धि सुम धन सम्पत्ति पसरो॥
5. आधुनिक हिन्दी का आदिकाल पृष्ठ 37.
6. भारतेन्दु युग पृष्ठ 43.
7. हिन्दी शब्दानुशासन पृ० 53.
8. इनकी उनकी खिदमत करो, रुपया देते देते मरो।
   तब आवै मसेहि करन खराब, क्यों सखि सज्जन नहीं खिताब।
9. परम प्रेमनिधि रसिकबर अति उदार गुन खान।
   जग जन रंजन आशु कवि को हरिचंद समान॥

खड़ी बोली हिन्दी काव्य भाषा की मूलचेतना तथा भारतेन्दु युग

योगेन्द्र प्रताप सिंह

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि भारतेन्दु युग में गद्य की भाषा खड़ी बोली तथा पद्य की भाषा ब्रज प्रयोग के स्तर पर एक विशेष प्रकार की रचनात्मक उलझन खड़ी किए हुए थी। भाषा के ये दो प्रयोग रूप परस्पर आधुनिकता तथा परम्परा से जुड़े थे। यह आश्चर्यजनक तथा उपहासास्पद दोनों है कि एक ही साहित्यिक समुदाय के अन्तर्गत दो विधाओं के लिए दो भाषाओं का प्रयोग किया जाता रहा है। विशेषकर ऐसे कालखण्ड में जहाँ थोड़ी बहुत वैज्ञानिक प्रबुद्धता, प्रेस, पत्र-पत्रिकाएं, रेल, तार, डाक आदि का प्रसार प्रचार शुरु हो चुका हो और पारस्परिक सम्पर्क के लिए उनका उपयोग भी किया जाता रहा हो, दो भाषिक माध्यम विभ्रम उत्पन्न करते हैं। भारतेन्दु युग में हिन्दी गद्य के प्रयोग में पर्याप्तरूपेण स्थिरता आ भी चुकी थी। अतः यह उस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता थी कि दोनों के बीच वर्तमान अन्तराल समाप्त किया जाए।

गद्य और पद्य की इन दो भाषाओं के अलगाव के कई कारण गिनाए जा सकते हैं और गिनाए भी जाते हैं, किन्तु यहां उन सभी कारणों पर विचार करना सम्भव नहीं है। अन्य कारणों से भिन्न एक विशेष तथ्य की ओर जहाँ ध्यान आकर्षित करना आवश्यक समझता हूँ—जिसका सम्बन्ध भाषा रचना और कलात्मक संवेदना से है। काव्यकृति वह कलात्मक भाषिक व्यवस्था है जो लोग प्रचलन के बीच अपने कलात्मक वृत्त के अन्तर्गत विकसित होती है। भारतेन्दुयुग के गद्य और पद्य की भाषाओं का यह अलगाव एक बहुत बड़ा साक्ष्य इस सन्दर्भ में भी प्रस्तुत करता है कि अनुभव के सम्प्रेषण के लिए रची हुई भाषा एवं व्यवहार की सामान्य भाषा में एक बृहत्तर अन्तराल वर्तमान है। भारतेन्दु-युग के रचनाकारों को स्वानुभव के सम्प्रेषण के लिए रचनात्मक शक्ति-सामर्थ्य से परिपूर्ण ब्रजभाषा परम्परा से मिली थी और यह ब्रजभाषा अपने स्वरूप, लयात्मक संचेतना, अर्थ प्रभुत्व शैली, भाषिक बनावट, प्रयोग तथा मुहावरों सभी दृष्टियों से खड़ी बोली से सर्वथा भिन्न प्रकार की थी। यही नहीं, उसकी रचना परिपाटी, काव्य-प्रौढ़ि एवं साहित्यिक अभिप्राय, वर्ण्य-विषय, भाव दृष्टि, वैचारिक शक्तिमता भी खड़ी बोली से भिन्न प्रकार की थी और वह लगभग 500 वर्षों के व्यापक अन्तराल के बीच अपनी कलात्मक अन्तर्सामर्थ्य को पूरी तरह से विकसित कर चुकी थी। उसको अपने भाषिक कलात्मक विकास और विन्यास के सैकड़ों वर्षों के भिन्न प्रकार के रचनात्मक अनुभव संचित थे। कला की दृष्टि से ये संचित रचनात्मक अनुभव एवं संस्कार भले ही समृद्ध

माने जाएँ किन्तु भारतेन्दु-युग में इनके साथ जो सबसे बड़ी दिक्कत आ रही थी, वह यह कि इनका सम्बन्ध सम-सामयिकता से नहीं जुड़ पा रहा था। सारी बातों के बावजूद इस ब्रजभाषा में आधुनिक हिन्दी खड़ी बोली की वैचारिक संस्कारिता नहीं थी। युग विशेष के मानव समुदाय के बोध और उसकी पहचान से भी यह ब्रजभाषा दूर थी। युग बोध से सम्बन्ध अनुभव, उसको स्थापित तथा सम्प्रेषित करने के लिए रची गई भाषिक प्रकृति, मुहावरे, व्याकरणिक शैली, अर्थ और अनुभव विस्तार आदि का नयापन ब्रजभाषा में नहीं था। भारतेन्दु-युग में खड़ी बोली अनुभव एवं सम्प्रेषण की भाषा बनकर प्रतिष्ठित हो चुकी थी, फिर भी 95% प्रतिशत काव्य ब्रजभाषा में ही लिखा गया। दूसरी ओर, यह भी सत्य है कि हिन्दी के अग्रदूत बाबू हरिश्चन्द्र के कंठ से खड़ी बोली-काव्य का स्रोत फूटने के लिए विवश हो रहा था। उनके युग के अनेक कवियों में भी यह छटपटाहट रह-रह कर उभर रही थी। भारतेन्दु ने सन् 1881 में कुछ कविताएँ 'भारत मित्र' के सम्पादक के पास खड़ी बोली में लिखकर भेजीं और उन कविताओं के साथ उनके द्वारा लगाई गई निम्नलिखित टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविताएँ भेजी हैं, देखिएगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इसमें काव्य सौन्दर्य बन सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से वैसा परिश्रम किया जावेगा।"

भारतेन्दु की इस टिप्पणी से स्पष्ट है कि साधु (शिष्ट) अर्थात् खड़ी बोली काव्य का प्रयोग उनके विचार से सर्वथा नए काव्य पैटर्न की अपेक्षा करता है और उसमें वे उन उपायों को समाविष्ट कराने के लिए चिंतित थे जिनसे उसमें काव्य-सौन्दर्य संघटित हो सके। उनकी यह चिन्ता स्पष्ट करती है कि किसी भाषा को काव्य की भाषा के स्तर तर पहुंचाने के लिए एक विशेष प्रकार की कलात्मक तथा भाषिक सजगता की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही, काव्य भाषा की यह अपेक्षित कलात्मक सजगता उस भाषा विशेष में बड़े परिश्रम के बाद उत्पन्न होती है। यह सत्य है कि भारतेन्दु-युग के कवियों में खड़ी बोली काव्यभाषा के रूप में ढालने के प्रति सजगता तो थी ही, दूसरी ओर ब्रजभाषा एवं अवधी दोनों प्रकार के लिखे जा रहे काव्यों में खड़ी बोली चुपचाप प्रवेश भी करती जा रही थी—

प्रतापनारायण मिश्र—

सर्वसु लिए जात अँगरेज।
हम केवल लेक्चर के तेज।

प्रेमघन—

सूखे वे मुख कमल केश रूखे जिन केरे।
बेश मलीन छीन तन छवि इत जात न हेरे।

दुर्बल रोगी नंग धड़ंगे जिनके शिशुगन।
दीन हीन दिखराय हृदय पिघलावत पाहन।

भारतेन्दु—

वैसे, रीतिकालीन कवि रेख्ता, मरहट्ठी, देसी भाषा सभी में छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं किन्तु यहाँ मूल विचारणीय दृष्टि यह है कि भारतेन्दु-युग की स्वीकृत काव्य भाषा ब्रज में खड़ी बोली अन्दर-ही-अन्दर अपना स्थान बनाने की दिशा में कैसे सचेष्ट हो रही थी।

काव्यभाषा की प्रायोगिकता के लिए भाषिक प्रचलन एक महत्वपूर्ण तत्व है। विशेष रूप से जब एक ही साथ दो भाषाएँ दो विधाओं में चल रही हों, प्रचलन जो मूलतः लोक व्यवहार का अंग है, कलात्मक अनुभव को अपने अनुरूप ढलने के लिए विवश कर देता है। वह कौन-सी बात थी जिसने 10 वर्ष में ही 95 प्रतिशत कवि समुदाय द्वारा स्वीकृत तथा कलात्मक दृष्टि से पूर्णतः परिमार्जित ब्रजभाषा को खड़ी बोली के समक्ष समर्पित होने के लिए विवश कर दिया। इस दृष्टि से भाषा का व्यावहारिक प्रचलन एक महत्वपूर्ण तथ्य है। आम आदमी जो जीवन जीता है, जिस अनुभव एवं भाषा के बीच अपनी आदमियत का विश्लेषित करता है और जिस संस्कार रचना को वह भाषिक यथार्थ के साथ जोड़कर अपने अनुभव को आगे बढ़ाता है, उससे कटकर उसके लिए जीवित रहना सम्भव नहीं है। भारतेन्दु-युग में ही अयोध्याप्रसाद खत्री ने सन् 1987 में खड़ी बोली का काव्यान्दोलन शुरू किया। कवियों के दो वर्ग बन गए। ब्रजभाषा का प्रतिनिधित्व पं० प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी आदि कर रहे थे, और दूसरा ओर खत्री साहब के साथ श्रीधर पाठक, बदरीनाथ भट्ट आदि थे। सन् 1887 में शुरू किया गया आन्दोलन 1888 में एक निर्णय पर पहुँच गया कि गद्य और पद्य की भाषा का अलगाव निरर्थक है। सन् 1888 से 97 अर्थात् 10 वर्षों के बीच खड़ी बोली कविता की बाढ़ सी आ गई। इस प्रकार, इन दस वर्षों में वह जो भारतेन्दु-युग में 5 प्रतिशत के औसत पर था, 50 प्रतिशत के आस-पास पहुँच गया। मूलतः काव्य-भाषा जीवन और व्यवहार के साथ जुड़े अनुभव के विकास के साथ-साथ ही विकसित होती है। यदि भाषा में यह सार्थकता नहीं है अर्थात् वर्तमान एवं सामयिक जीवन जीने के लिए उसे कृत्रिम तथा आरोपित संस्कारिता के बीच से होकर गुजरना पड़ता है तो उसको वह किसी भी समय लबादे की तरह उतारकर फेंक सकती है। जीवन जीना एक अनुभव प्रक्रिया है और भाषा उसी अनुभव का ही जीवन्त साक्ष्य है। कलात्मक अनुभव भी इसी प्रक्रिया से जुड़ा है। भारतेन्दु-युग में खड़ी बोली लोक संस्कार, अनुभव तथा व्यवहार से जुड़कर जहाँ आगे बढ़ रही थी, कलात्मक अनुभव एवं रचनात्मक समृद्धि से सम्पन्न ब्रजभाषा को छोड़ने के लिए हमारी अपनी विवशता नए ढंग से जीवन जीने तथा उसको भिन्न ढंग से विश्लेषित करने के संस्कारों के बीच नए आयामों के साथ उभरना शुरू कर चुकी थी। यह दृष्टि ब्रजभाषा में सम्भव नहीं थी। कला की श्रेष्ठता का आधार

उसकी सम्भ्रान्तता नहीं है, जीवन-अनुभव तथा संस्कार रचा है। अनुभवों से हटकर तथा भोगी जा रही संस्कारबद्धता से कटी हुई कला दृष्टि इतिहास की वस्तु है। ब्रजभाषा इस आधुनिक युग के नए चरण में इतिहास की वस्तु थी किन्तु कुछ ऐसी विवशताएं थी, जिनके कारण वह अपने ढंग से चलती जा रही थी। इन विवशताओं में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है, खड़ी बोली हिन्दी की कलात्मक भाषिक प्रकृति से परिचयहीनता। संक्षेप में यहां इसी प्रवृत्ति पर विचार अपेक्षित है।

खड़ी बोली हिन्दी की लयात्मक प्रकृति ब्रजभाषा से निश्चित रूप से भिन्न है, ब्रज की भाषिक आकृति, वाक्य संगठन, व्याकरणिक कोटियाँ, शब्दार्थ संगठन प्रकृति, आन्तरिक लय विधान, छन्द रचना आदि सभी कुछ खड़ी बोली से भिन्न है। कारण कि ब्रजभाषा के साथ मानव समाज, सांस्कृतिक दृष्टि, लोक अनुभव तथा प्रकृति बीसवीं शती की नहीं है। इस भाषा में अर्थ तथा अनुभव का विस्तार भी उतना नहीं है, जो आज अपेक्षित है। भाषा को भोगने वाला मन, स्वभाव एवं मानवीय परिस्थितियाँ सभी कुछ जब बदल चुके थे, तब ब्रज की वह ऐतिहासिक लयात्मक चेतना हमारे लिए एक निरर्थक सी वस्तु थी। भारतेन्दु-युग के कवि भाषागत प्रयोग के इस संक्रमण में नएपन को जिस दृष्टि से देखना चाह रहे थे, इतनी जल्दी खड़ी बोली में सम्भव भी नहीं थी। जो कुछ सम्भव था वह प्रतिष्ठित भी नहीं हो पा रहा था क्योंकि उधर अभी हमारी दृष्टि ही नहीं जा रही थी। इस युग के कवियों को लगता था कि कहाँ ब्रजभाषा की कलात्मक जीवन्तता, कहाँ दूसरी ओर आभिजात्य भाषिक संस्कार से च्युत खड़ी बोली। स्वय भारतेन्दु जी 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों से सम्बद्ध इस दृष्टिकोण को प्रच्छन्न भाव से व्यक्त करते हैं। जहाँ कवि काशी की गंगा का वर्णन करता हुआ कहता है—

सुंदरि ससिमुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत।
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥

वहीं वह, गंगा-श्मशान का वर्णन करता हुआ कहता है—

हम चौधरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनो पार।
धन तेरस औ रात दिवाली। बलि चढ़ाय के पजें काली।
सो हम तुमको लेंगे मोल। देंगे मुहर गाँठ की खोल॥

इन दोनों दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि आभिजात्य कलात्मक विलास से दूर हटकर खड़ी बोली जीवन तथा यथार्थ के बीच अपने को रच रही थी। जैसा कि अभी ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है ब्रजभाषा की अपनी लयात्मक प्रकृति खड़ी बोली से नितान्त भिन्न है। खड़ी बोली की भाषिक प्रकृति वितरणात्मक, विश्लेषण प्रधान, दीर्घान्त है जबकि ब्रजभाषा की प्रकृति लघ्वन्तप्रधान, अल्प संश्लेषणात्मक एवं लयात्मक है। वह एक आदिम अनुभव तथा संस्कार से जुड़ी अतीत की लोकभाषा है किन्तु खड़ी बोली वैज्ञानिक मानस, साम-

यिक संश्लिष्ट जीवन के सूक्ष्मतम अनुभवों से सम्पन्न सतत् विकासशील भाषा है। दोनों के कलात्मक, लयात्मक, व्याकरणिक एवं भाषिक गठन भिन्न रूपों एवं भिन्न प्रकारों से विकसित हुए हैं।

ब्रजभाषा आन्तरिक संगठन, गति एवं प्रवाह से सम्पुष्ट है। काव्य रचना के स्तर पर रचनाकारों ने अधिकांशतया उसके लघ्वन्त रूप को निरन्तर विकसित करने का प्रयास किया है। हिन्दी खड़ी वोली दीर्घान्त बहुल भाषा है जबकि ब्रजभाषा में स्वरधारणा के नियम के अन्तर्गत सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण दीर्घान्त भी लघ्वन्त में परिणत हो जाता है मारिहैं=मारिहइं, मारौ=मारउ, चलिहौं=चलिहउ, कौ-कउ पै=पइ आदि। द्वित्वप्रधान शब्दों में विलोपीकरण तथा सरलीकरण की प्रवृत्तियाँ लय को सर्वथा भिन्न रूप में ले जाती है। जैसे अच्छा—आछ्यो, कच्छा=काछ्यो आदि। खड़ी बोली मूलतः तीन भाषाओं के मिश्रण का प्रतिफल है—बिजनौर, मेरठ, रामपुर आदि अंचलों की लोकभाषा, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी की भाषिक सफाई एवं संस्कृत के तत्सम संज्ञापदों का सम्पूर्ण भण्डार एवं पद-रचना में अधिकांशतया संस्कृत के तद्धितीय तथा कृदन्तीय प्रयोगों से संवर्धित और आगे संवैधानिक अनिवार्यता के रूप में मिली-जुली सांस्कृतिक पदावलियों से युक्त राष्ट्रभाषा और इस प्रकार इसका नागरी रूप ब्रजभाषा से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। संज्ञा तथा क्रियापदों में लम्बी दीर्घान्तता जैसे—"राम रोटी खा रहा है" वाक्य में भाषिक लयात्मकता की जो सृष्टि हो रही है—वह 'राम रोटी खाई रह्यो है" में नहीं है। दोनों वाक्य दो रिद्म बनाते हैं, एक में भाषा स्वर एवं समय के अन्तराल को फैला रही है, दूसरी में अन्तराल को समेटती है। यही नहीं ब्रज एवं खड़ी बोली के 'आकारान्त समान; शब्दों के भी रिद्म परस्पर पृथक-पृथक हैं।

हिन्दी क्रियापद रूप—

खाता, पीता, खाया, पिया, खाएगा, पिएगा फिर, इसके बाद, है, था तथा गा की क्रियाएँ अनिवार्य हैं और परम्परित रिद्मों में इनको पूरी तरह से पचाना आसान काम नहीं है। ब्रजभाषा की लय रचना का मूलाधार संश्लेषात्मक प्रकृति है। सामासिकता से युक्त, लघु संज्ञापदों का निरन्तर प्रयोग उसकी कलात्मक प्रकृति का मुख्य अंग है। दीर्घान्तता यहाँ भी मिलती है, किन्तु वह कम है, जहाँ है भी लयात्मकता में वह पूरी तरह समर्पित। ब्रजभाषा के लयविधान के पक्षमें जो अन्य बातें आती हैं, वे हैं कलात्मक शब्द भण्डार, भावों के अनुरूप सिद्ध शब्द, वचन, रचना विदग्धता, विषयवस्तु एवं भाव योजना की दृष्टि से श्रृंगार रस का सर्वग्राही स्वरूप। इसी के साथ भक्ति भावना से मंडित पदावली को भी जोड़ा जा सकता है। किन्तु कुल मिलाकर ब्रजभाषा की कलात्मक श्रेष्ठता के लिए उस कालखण्ड में जो मानदण्ड निर्दिष्ट तथा उनके पक्ष में जो भी तर्क प्रस्तुत किए गए हैं उन तर्कों तथा तथ्यों से भारतेन्दु-युग की उस व्यापक लोक-चेतना के उसमें समाहार की पुष्टि नहीं हो पाती, जो खड़ी बोली की भाषिक संचेतना के रूप में जन-जीवन के बीच दैनन्दिन के व्यवहार में उतरी थी। एक नए युग तथा नए जीवन की शुरुआत के साथ

एक भिन्न प्रकार की सामन्ती जीवन चेतना से हटकर अनुभव की व्यापकता तथा विशाल लोक व्यवहार को समेटे हुए खड़ी बोली भिन्न रचना फलक की माँग कर रही थी। भारतेन्दु-युग में खड़ी बोली की प्रकृति को न तो पहचानने का कार्य किया गया, न तो कलात्मक शब्द-भण्डार को विकसित किया जा सका और न ही प्रायोगिक स्तर पर उसे गढ़ने का ही कार्य किया गया। प्रारम्भ में ब्रजभाषा के पैटर्न पर इसे गढ़ने की चेष्टा अवश्य की गई 'बिहार बन्धु' पत्रिका में छपी सन् 1876 की एक कविता की बानगी इस प्रकार है—

आठ पख उनका असह दुःख देख घटा रोती है।
सूर्य की तापग्रसित छिन्न छटा होती है।

इसी 'बिहारबन्धु' में कवित्त शैली में लिखी गई खड़ी बोली की दूसरी कविता है—

मुख मलीन मृग लोचन शुष्क
शशी की कला में बहार नहीं थी।

अम्बिकादत्त व्यास द्वारा सम्पादित 'पीयूष प्रवाह' में खड़ी बोली के दोहों का सन् 1881 का रूप इस प्रकार मिलता है—

दीन दुखी असहाय को करो सदा उपकार।
जानो बेद पुरान का यही एक है सार॥
चन्दन तरु के संग से होता चन्दन और।
तू भी सज्जन संग कर होवेगा सिरमौर॥

भारतेन्दु-युग के कवियों में अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ी बोली रचना का आन्दोलन चलाया और उन्होंने सन् 1888 में 'खड़ी बोली पद्य" नाम से एक संकलन किया जिसके सम्पादक फेडरिक पिंकाट थे और यह लन्दन से प्रकाशित हुआ। दुर्भाग्य की बात यह थी कि तक तक अर्थात् सन् 1885 में भारतेन्दु का देहावसान हो चुका था अन्यथा इसकी शुरुआत और भी सशक्त ढंग से होती।

भारतेन्दुयुगीन या उसके ठीक बाद के कवियों को भाषिक आधार पर तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम वर्ग उन कवियों का है जो पूर्णतया खड़ी बोली के हिमायती थे। अयोध्याप्रसाद खत्री, पण्डित श्रीधर पाठक, बदरीनाथ भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त; ब्रजभाषा के समर्थक कवि जिनमें पण्डित प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास आदि सैकड़ों कवियों की तालिका रखी जा सकती है। भारतेन्दु जी का इन कवियों को प्रारम्भिक समर्थन प्राप्त था। तीसरे वे कवि जो ब्रजभाषा और खड़ी बोली में समान अधिकार से कविताएं करते थे। देवीप्रसाद पूर्ण, लाला भगवानदीन "दीन" आगे चलकर गया प्रसाद शुक्ल सनेही आदि इस वर्ग में रखे जा सकते हैं।

भारतेन्दु-युग में खड़ी बोली की प्रसिद्ध कविताओं में 'फूलों का गुच्छा' तथा नाटकादि की अन्य कविताएं (भारतेन्दु विरचित), प्रेमघन विरचित जीर्ण जनपद, मयंक महिमा, श्रीधर पाठक विरचित एकान्तयोगी, बालमुकुन्द गुप्त-स्फुट कविताएं तथा कुछ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित घनाक्षरियाँ, दोहे, गजल, लावनियाँ आदि हैं। यह वर्गभेद तो बाद में बना। प्रारम्भिक स्तर पर प्रायः सभी ब्रजभाषा में काव्यरचना प्रस्तुत कर रहे हैं। इस सामान्य परिचय के बाद मूल समस्या कि हिन्दी खड़ी बोली काव्य की लयात्मक चेतना इस सम्पूर्ण साहित्य में कितनी है, विचारणीय है।

भारतेन्दु-युग के कवियों ने खड़ी बोली काव्य की लयात्मक चेतना को पकड़ने का एक प्रयास उर्दू की गज़लों, रेख़्ता, लोकगीतों आदि के पैटर्न पर किया लोकगीत के अन्तर्गत् लावनियों, विरहा, मुकरियों, आल्ह–छन्द आदि प्रमुख थे। इस पद्धति से जो कुछ विकसित किया गया था, वह आगे चलकर संस्कृतनिष्ठता के आडम्बर के समक्ष समर्पित हो उठा लेकिन यह सत्य है कि यदि इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता तो खड़ी बोली काव्य रचना में भाषिक सफाई और पहले आ गई होती। लोकभाषा के प्रसिद्ध वीर छन्द ''आल्ह छन्द'' में बालमुकुन्द गुप्त लिखते हैं—

हे धनिकों क्या दीन जनों की 'नहिं" सुनते हो हाहाकार।
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन के धिक्कार॥

प्रथम पंक्ति में 'नहिं' द्रष्टव्य है। खड़ी बोली की दीर्घान्तता का प्रयोग अर्थात् ''नहीं' रूप लगा देने से पूरी कविता में गतिभंग का भय बालमुकुन्द गुप्त जी को है। भाषा दूषित हो जाए, किन्तु छन्द ठीक-ठीक रहे, यह भाषा और छन्द की आन्तरिक संगति के प्रतिकूल बात है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने उर्दू और हिन्दी के विवाद के सन्दर्भ में उर्दू को जबाव लिखा था, उदाहरण इस प्रकार है—

न बीबी बहुत जी में घबराइये, सम्हलिए जरा होश में आइये।
करो और कलियों का पाज़ाम चुश्त, वह धानी दुपट्टा और नकसक दुरुस्त।
वह दाँतों पर मिस्सी घड़ी, पर घड़ी, रहे आंख आइने में ही लड़ी।
मगर इतना जी में रखो अपना ध्यान, यह बाजारी पोशाक है मेरी जान॥

स्वयं भारतेन्दु जी ने उर्दू पैटर्न पर अनेक रचनाएँ लिखीं—

श्री राधा माधव युगल चरण रस का अपने को मस्त बना।
पी प्याला भर-भर कर कुछ इस मै का देख मजा॥

इस पैटर्न की कविताओं में खड़ी बोली की सफाई अपनी जगह मौजूद है, लेकिन यह शैली अधिक विकसित न हो सकी। बाद में हरिऔध, वियोगी हरि आदि ने इस दिशा में थोड़ा सा प्रयास किया। छायावाद युग में रूबाइयां मुक्तक के रूप में और नवगीत में गज़ल को अपने ढंग से विकसित किया गया।

भारतेन्दु-युग और उसके परवर्ती कवियों ने खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा के मिश्रण का प्रयोग करके मार्दव को उत्पन्न करने की दिशा में भी प्रयोग किया था। ब्रजभाषा के क्रियापदों, कृदन्तीय रूपों, लघ्वन्त संज्ञापदों, लघ्वन्त परसर्गों की प्रयोग विवृति तथा संस्कृत की परिनिष्ठित शब्दावली के मेल से भाषिक प्रयोग विशेष रूप से द्रष्टव्य है। पण्डित श्रीधर पाठक की ही प्रसिद्ध कविता 'काश्मीर सुषमा' जो ब्रजभाषा की कविता कही जाती है, का उदाहरण ले लिया जाए तो बात बहुत कुछ स्पष्ट हो सकती है—

प्रकृति यहाँ एकान्त वैठि निज रूप सँवारति।

पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति।

प्रथम पंक्ति में "प्रकृति यहाँ एकान्त" यह पद खड़ी बोली का है। "निज रूप" भी खड़ी बोली में खप जाता है। किन्तु 'वैठि" तथा "सँवारति" और द्वितीय चरण में "पलटति, छनिक, छिन-छिन धारति" आदि पद खड़ी बोली के नहीं हैं। भाषा का यह प्रयोग खड़ी बोली की खिचड़ी है और रोला छन्द की रक्षा के निमित्त इस खिचड़ी को स्वीकार करने में उसे हिचक नहीं है। परम्पराबद्ध छन्द की लयात्मक अन्विति वह मोह के कारण तोड़ नहीं सकता। भाषा की विकृति कवि को ग्राह्य है। खड़ी बोली की दीर्घान्त लयात्मकता में इस छन्द को फैलाकर आगे बढ़ाना संभव है किन्तु रोला छन्द की रक्षा नहीं हो सकती। जिसे हम काव्य भाषा की रक्षा के नाम से पुकार रहे हैं वह भाषा की अपनी लयात्मकता है जो किसी परम्पराबद्ध छन्द से नहीं जुड़ी है केवल भाषिक आकृति परिवर्तन के बाद इस प्रकार बनता है उक्त रोले का रूप—

प्रकृति जहां एकान्त बैठकर अपना रूप सँवारती।

पल-पल पलटे वेष क्षणिक छवि क्षण-क्षण में ही धारती।

छन्द के पारखी इस तथ्य से अवगत हैं कि मात्र लघु एव गुरू स्वराघात एवं बलाघात के परिवर्तन से छन्द के नए लय का जन्म हो जाता है। प्रत्यय प्रस्तार आदि के नियम काव्य के लिए बाध्यता नहीं है, काव्य की भाषिक लयात्मकता को समझाने के वे माध्यम मात्र हैं। पिंगल मोह खड़ी बोली काव्य का सर्वाधिक विघातक तत्व रहा है और भारतेन्दु ही नहीं द्विवेदी युग तक के कवि इसे छोड़ने के लिए किसी भी प्रकार से तैयार नहीं थे। इसी प्रकार के दृष्टान्त अन्य प्रकार के छन्दों से भी दिए जा सकते हैं। बाबू बालमुकुन्द गुप्त जी की एक कविता है —

विश्व निकाई विधि ने की एकत्र बटोर।

बलिहारौं त्रिभुवन धन उस पर वारौं काम करोर। (स्फुट छन्द)

इसमें निकाई, बलिहारौं, वारौं, करोर शब्द ब्रज के हैं और इनके स्थान पर दूसरे खड़ी बोली के शब्दों को रख देने पर यह छन्द टूटकर दूसरी शक्ल ले लेगा। बटोर जैसे

ग्राम्यत्व दोष से युक्त शब्द की संगति के साथ ब्रजभाषा का "करोर" खड़ी बोली के करोड़ से भिन्न दूसरी रिद्म देता है।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, ब्रजभाषा की लयात्मक प्रकृति खड़ी बोली से नितांत भिन्न है। आगे चलकर ब्रजभाषा की काव्यात्मक रिद्म पर खड़ी बोली को ढालकर छन्दों को बनाने की कोशिशें की गई। इस सन्दर्भ में बाद के गया प्रसाद शुक्ल सनेही आदि कितने कवियों के नामोल्लेख किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए इनका एक छन्द देखें :—

बिगड़े कुछ हैं कविता न छपी कुछ चित्र निकालने को मचले हैं।
कुछ देख के बी० ए० हुए भयभीत बहाने बताकर बीसों टले हैं।
धनहीन बने कुछ सूम भी हैं निरसे कुछ हैं रस में न पले हैं।
इससे कवि और कवीन्द्र मिटे कविता के न पत्र चलाए चले हैं।

इस सुन्दरी सवैये में सगणाष्टक और अन्त में दो गुरू (या 25 वर्ण) का क्रम चलता है, किन्तु खड़ी बोली का दीर्घान्त प्रयोग कुछ चित्र निकालने को मचले हैं, तथा कुछ देख के बी० ए० हुए भयभीत में सगणाष्टक क्रम भंग नष्ट कर देता है, और अन्तिम पंक्ति में 25 वर्णों का भी क्रम भंग हो जाता है और अन्त में यह लयप्रधान सवैया ही रह जाती है। खड़ी बोली की लयात्मक प्रकृति सम्पूर्ण पिंगल व्यवस्था को अपनी दीर्घात्मक पद संघटना के द्वारा तोड़ती है। यह टूटना छन्द दोष नहीं, खड़ी बोली हिन्दी कविता की लयात्मक चेतना की अपनी पहचान है। हास्य व्यंग्य की अनेक कविताएं आज इसी पैटर्न पर लिखी जा रही हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् एक तीसरा प्रयास खड़ी बोली के लयात्मक स्वरूप विन्यास के लिए संस्कृत वाङ्मय के तत्सम संग्रह को आधार बनाकर किया गया। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से हरिऔध जी ने इस दिशा में अथक प्रयास किया। भाषा कहीं-कहीं तत्सम शब्द भण्डार वाली और कहीं तद्भव, देशज एवं अपूर्णार्थक क्रिया के साथ उपहासास्पद हो जाती है। उदाहरण के लिए हरिऔध जी के इस छन्द को देखें —

यों ही प्रबोध करते पुरवासियों को,
नाना कथा परम शान्तिकारी सुनाते।
आए ब्रजाधिप निकेत पास ऊधो,
पूरा प्रसार करती करुणा जहाँ थी॥

यह वसन्ततिलका छन्द हृदय के भावात्मक प्रवाह से न निकलकर मात्रा गणना से निकला है और खड़ी बोली का अपना निजी लयात्मक स्वरूप इसमें कहीं भी प्रतिबिम्बित नहीं होता। छन्द की अन्तिम पंक्ति का औचित्य कोई मतलब नहीं रखता।

यह सत्य है कि ब्रजभाषा, उर्दू, संस्कृत तथा खड़ी बोली के सम्मिश्रण से काव्यभाषा की आन्तरिक तथा बाह्य लय को प्रतिष्ठित करने का अनेक रूपों में प्रयास इस कालखण्ड की देन है किन्तु सबसे बड़ी विडम्बना इस युग में यही रही है कि इन कवियों ने ब्रजभाषा या अन्य काव्यकृतियों तथा शैलियों के सापेक्ष्य में हिन्दी कविता को देखने की चेष्टा की। हिन्दी भाषा की प्रकृति स्वतन्त्र एवं उसकी आन्तरिक तथा बाह्य लयात्मकता भिन्न प्रकार की है और यह भी सही है कि भारतेन्दु युग के कवियों को इसका थोड़ा सा आभास लग चुका था कारण कि इस युग के कवि सामाजिक विघटन, यथार्थ, विद्रूवता को ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली में चित्रित करते हैं, लेकिन इस सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने के लिए ये कवि जिस खडी बोली के रिद्म को खोज रहे ये वह उन्हें नह मिल सका था। द्विवेदी युग में भी इस आन्तरिक भाषिक लयात्मकता को प्रतिष्ठित करने के अनेक प्रयास किए गये किन्तु विशेष सफलता नहीं मिल पाई। हिन्दी खड़ी बोली काव्य की भाषिक लयात्मकता को पहचानने एवं उनको रूपायित करने की शुरूआत छायावाद युग में की गई, और उसे अब तक एक रास्ता मिल चुका है, किन्तु इस रास्ते तक पहुंचने में भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग द्वारा जो भी प्रयास किए गये हैं, उनको महत्वहीन कहकर नकार देना हमारी कृतघ्नता होगी।'

●

भारतेन्दु की काव्यभाषा

सियाराम तिवारी

हिन्दी में 'काव्यभाषा' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक अर्थ में वह सामान्य भाषा अथवा माध्यम भाषा है। इस अर्थ में हिन्दी-काव्य-साहित्य में ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली आदि काव्यभाषाएं कही जाती हैं। दूसरे अर्थ में काव्यभाषा सामान्य भाषा के भीतर एक भाषा है। काव्यभाषा मूलतः सामान्य भाषा होते हुए भी उससे उसी प्रकार विशिष्ट हो जाती है जिस प्रकार लहर जल में रहकर भी उससे भिन्न दिखायी पड़ती है। इस अर्थ में काव्यभाषा वह सामान्य भाषा है जो काव्य बन गयी है। काव्यभाषा के इन दोनों स्तरों पर भारतेन्दु विशिष्ट हैं। प्रथम स्तर पर भारतेन्दु की विशिष्टता यह है कि उन्होंने सहजता के साथ ब्रजभाषा, खड़ी बोली, उर्दू, पंजाबी, राजस्थानी, बंगला, गुजराती और संस्कृत में कविताएं लिखीं। उनकी मुख्य काव्यभाषा तो ब्रजभाषा है, अन्य भाषाओं में उन्होंने प्रयोग के लिए ही लिखे हैं परन्तु वे प्रयोग उनके अधिकार को भी सूचित करते हैं। 'काव्यभाषा' का जो दूसरा सूक्ष्म अर्थ है उसी आधार पर भारतेन्दु की काव्यभाषा का विवेचन यहाँ उद्दिष्ट है।

भारतेन्दु ने काव्यभाषा के प्रायः सभी साधनों का उपयोग किया है। जिन उपादानों से काव्यभाषा का निर्माण होता है, प्रायः सारे उपादान भारतेन्दु की काव्यभाषा में खोजे जा सकते हैं। उनकी विशेषता यह है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित काव्यभाषीय तत्व उनमें द्रष्टव्य है तो आधुनिक शैली वैज्ञानिक विधान भी उसमें देखे जाते हैं। जिस प्रकार काव्यभाषा को उसके स्थूल अर्थ में एक व्यापक परिप्रेक्ष्य दिया उसी तरह सूक्ष्म अर्थ में भी उसको एक आकर्षक नमनीयता दी। काव्यभाषा में लचीलापन होने के कारण ही विषयानुसारिणी गतिशीलता आती है, विविध प्रकार के भावबोधों को व्यक्त करने की उसमें शक्ति उत्पन्न होती है। भारतेन्दु की काव्यभाषा में यह शक्ति और सामर्थ्य है। अब हम उन विधानों की जांच-पड़ताल करेंगे। जिनसे भारतेन्दु ने अपनी काव्यभाषा को गढ़ा है, उसको साजा सँवारा है।

सामान्य भाषा में वर्ण का स्वतन्त्र महत्त्व नहीं होता किन्तु कविता में इसका भी उपयोग होता है और इसके महत्त्व को प्राचीन काल से समझा जाता रहा है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि की व्यापकता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक मानी है। शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक पूर्णतया वर्णचमत्कार के ही अलंकार हैं। कुंतक ने भी वक्रताविधान का आरम्भ वर्ण से ही किया है और वर्णविन्यासवक्रता के रूप में वर्णों से उत्पन्न होने वाले

नादसौंदर्य के विविध रूप प्रस्तुत किए हैं। वर्ण पर सर्वाधिक विस्तार तथा सूक्ष्मता से विचार करने वाला सिद्धान्त वर्णविन्यासवक्रता है। इसका प्रचुर उपयोग भारतेन्दु ने किया है। कुंतक ने इसके छह प्रकारों का विधान किया है और भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित वर्ण-विषयक सभी विधानों को इसके अन्तर्गत समेट लिया है। भारतेन्दु की कविता से इसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

धनि-धनि री सारिस-गमनी।
गरि मध पसरी साम मनी सारी रेसम सनि सरिस सनी॥
निस मनी यम निसि धरि-धरि मगमधि परी परी पग मगनि गनी।
निसरी साम साध सानी गनि "हरीचन्द" सरिगम पधनी॥[1]

यहाँ अलंकार की दृष्टि से वृत्त्यनुप्रास है और वक्रोक्ति की दृष्टि से वर्णविन्यासवक्रता का तीसरा भेद है। जो भी हो, अनेक वर्णों की बार-बार आवृत्ति से जो यहाँ श्रुतिपेशलता आ गई है वह दर्शनीय है।

शैली विज्ञान काव्यभाषा के तत्त्वों में चयन को एक स्थान देता है। यह चयन इकाइयों और व्यवस्था में देखा जाता है। इकाइयों का चयन वर्ण और शब्द, दोनों स्तरों पर हो सकता है। वर्ण के स्तर पर जो चयन होगा वह वर्णविन्यासवक्रता के क्षेत्र से बिलकुल बाहर नहीं जा सकता, वह इसके किसी न किसी प्रकार में आ ही जायेगा। फिर भी ध्वनि-चयन की सार्थकता की स्वतन्त्र व्याख्या का कुछ अवकाश मिल जाता है। वर्ण योजना के द्वारा नाद-सौंदर्य के अतिरिक्त अथवा इतर जो प्रभाव-सृष्टि होती है उसकी व्याख्या ध्वनि-चयन के द्वारा ही हो सकती है। निम्नांकित उदाहरण में ध्वनि-चयन का इस प्रकार का औचित्य देखा जा सकता है। 'प्रेम-मालिका' के एक पद में एक चरण इस प्रकार है—"कीरति की कन्या जग-धन्या अन्या तुला न वाकी।"[2] राधा के सौंदर्य का वर्णन है। सौंदर्य की अतिशयता तथा अलौकिकता दिखाने के लिए दीर्घ ध्वनियों की आवृत्ति हुई है। काव्यभाषा में व्यजन ध्वनियों की अपेक्षा स्वर ध्वनियों का विशेष महत्त्व होता है। विराटता, विस्तार, विपुलता आदि की व्यंजना के लिए दीर्घ स्वर आवश्यक होते हैं। यहाँ अर्ध स्वरों 'य' और 'व' की दीर्घता के द्वारा यह कार्य सिद्ध किया गया है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भले ही ये अर्ध स्वर कहलाएँ किन्तु व्यवहारतः तो ये स्वर का ही कार्य करते हैं। कई दीर्घ व्यंजन ध्वनियाँ भी यहां उस प्रभाव को पुष्ट कर रही हैं।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है। 'प्रेम-माधुरी' में कृष्ण के आकर्षण का वर्णन वाला एक छन्द है जिसमें एक चरण इस प्रकार है—

'हरिचन्द' बोलनि चलनि बतरानि पीत—
पट फहरनि मिलि धीरज मिटाए लेत।[3]

कृष्ण के बोलने, चलने, बात करने आदि क्रिया-कलापों में जो आकर्षण और माधुर्य है उसकी व्यंजना सभी क्रियासूचक शब्दों के अन्त में संलग्न 'नि' ध्वनि कर रही है। कहीं-

कहीं तो भारतेन्दु ने ध्वनि-चयन की विशेषता के द्वारा वर्णित परिस्थिति को बिल्कुल मूर्त कर दिया है। 'प्रेम-माधुरी' के एक छन्द में एक ऐसी नायिका का वर्णन है जिसके चित्त में प्रेम उत्पन्न हो गया है। इस कारण नायिका जो अनमनी बनी रहती है उसको निम्नांकित छंद में साकार कर दिया गया है—

भूली सी भ्रमी सी चौंकी जकी सी थकी सी गोपी
दुखी सी रहत कछू नाहीं सुधि देह की।
मोही सी लुभाई कछु मोदक सों खाए सदा
बिसरी सी रहै नेक खबर न गेह की।।[4]

कहना न होगा कि नायिका की इस अनमनी स्थिति को साकार करने का सारा श्रेय 'सी' की आवृत्ति को है। अधिक क्या कहा जाय, वर्णचमत्कार एवं ध्वनि-चयन के उदाहरण भारतेन्दु की काव्यभाषा में भरे पड़े हैं।

काव्यभाषा की इकाई शब्द है। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य की जितनी परिभाषाएं दी गई हैं उनमें एक-दो अपवादों को छोड़कर सबमें काव्य को केवल शब्द अथवा शब्द और अर्थ के रूप में देखा गया है। वस्तुतः काव्य में शब्द कथ्य का एक अंग होता है। इसीलिये सार्त्र ने कहा है कि कवि शब्दों को वस्तु के रूप में मानता है, चिह्न के रूप में नहीं।[5] भारतेन्दु की काव्यभाषा भी इसका प्रमाण है! काव्यभाषा के निर्माण में भारतेन्दु का सबसे बड़ा साधन शब्द ही रहा है। काव्यभाषा के शब्दों के विषय में जितनी बातें कही गयी हैं, वे सभी भारतेन्दु के शब्द-चयन में पायी जाती हैं। काव्य भाषा के शब्दों की दो कसौटियां होती हैं— आवश्यकता और एकमात्रता। मम्मट ने अधिकपदता एवं अपुष्ट पद दोषों के द्वारा इसी आवश्यकता की ओर संकेत किया है। भारतेन्दु काव्यभाषा में शब्दों की आवश्यकता के महत्त्व को खूब समझते हैं। इसीलिए उनकी कविता में अनावश्यक एवं भर्ती के शब्द दृष्टिपथ में नहीं आते। जिस तरह काव्यभाषा में उतने ही शब्द आने चाहिए जितने आवश्यक हैं उसी प्रकार काव्यभाषा में वे ही शब्द आने चाहिए जो उस स्थान के लिए एकमात्र शब्द हैं, जिनका कोई अनुकल्प (substitute) नहीं। काव्यभाषा में एकमात्र शब्द का प्रयोग होता है, किसी शब्द का नहीं। इस एकमात्र शब्द को प्राप्त करने के लिए कवि परिनिष्ठित भाषा का आलोडन करता है, लोकभाषा की ओर दृष्टि दौड़ाता है, पुरातन भाषा की ओर झांकता है और जब किसी तरह उसकी आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तो वह शब्द का निर्माण भी करता है। भारतेन्दु ने ये सारे कार्य किये हैं।

सर्वप्रथम उनके शब्द-चयन के कुछ नमूने देखे जायं। 'प्रेम-मालिका' का एक छन्द कृष्ण प्रेम में पगी हुई एक नायिका का वर्णन करता है -

छिपाए छिपत न नैन लगे।
उघरि परत सब जानि जात है घूंघट में न खगे।।

कितनों करो दुराव दुरत नहिं जब ये प्रेम पगे।
"हरीचन्द" उधरे से डोलत मोहन रंग रंगे।[6]

यों तो इस पद के सारे मुख्य शब्द कवि के शब्द-चयन की सटीकता का साक्ष्य दे रहे हैं किन्तु 'डोलत' और 'मोहन' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। किसी चीज को पाने की आशा में दीनभाव से इधर-उधर फिरने को डोलना कहते हैं। कृष्ण के दर्शनों की आशा में आँखे चारो ओर फिरती रहती हैं। इस स्थिति को व्यंजित करने के लिये यहाँ 'डोलत' शब्द कितना सार्थक है। इसी तरह कृष्ण के लिए यहाँ 'मोहन' से अधिक उपयुक्त कोई शब्द नहीं हो सकता था। नायिका की आखिर ऐसी दशा क्यों है क्योंकि कृष्ण ने उसे मोह लिया है वे मोहन हैं। 'मोहन' में आकर्षण का जो भाव है वह अन्य पर्यायों में नहीं है। 'डोलना' क्रिया का प्रयोग भारतेन्दु खूब करते हैं। एक दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—"अरी बावरी सी क्यों डोलत यह घर नाहिं क्यों घुसी आई।"[7] कृष्ण ने नायिका के पास दूती के द्वारा पत्र भेजा है। अनाड़ी दूती ने माता-पिता के सामने ही नायिका को पत्र दे दिया। नायिका लाज में पड़ गयी। वह छिपाने के उद्देश्य से दूती को डाँटती हुई कहती है कि तुम पगली के समान इधर-उधर क्यों घुम रही हो तुमको जिस घर में जाना था वह यह नहीं है।

कवि की शब्द-चयन की सूझ की परीक्षा वहां हो जाती है जहां अनेक पर्यायों वाले शब्द से उसका पाला पड़ता है। एक शब्द को दूसरे का पर्याय तो शब्दकोश बताता है, सत्य बात यह है कि कोई शब्द किसी का पर्याय नहीं होता। इसीलिए तथाकथित पर्यायों के सूक्ष्म अंतर को पहचानने की शक्ति अपेक्षित होती है। इस दृष्टि से भारतेन्दु किसी से उन्नीस नहीं हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है—

करत मिलि दीप-दान ब्रज-बाला।
जमुना सों कर जोरि मनावत मिलैं पिया नंदलाला॥[8]

वर के रूप में कृष्ण को पाने की कामना का वर्णन है। इस प्रसंग में 'नंदलाला' शब्द की सटीकता और मधुरता अवर्णनीय है। कृष्ण का और कौन पर्याय यहाँ इसकी टक्कर का हो सकता था? ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है—

सखी मन-मोहन मेरे मीत।
लोक वेद कुल-कानि छाँड़ि हम करी उनहिं सों प्रीत॥
बिगरो जग के कारज सगरे उलटो सबही नीत
अब तो हम कबहूँ नहिं तजि हैं पिय की प्रेम प्रतीत॥
यहै बाहु-बल आस यहै इक यहै हमारी रीत।
"हरीचंद" निधरक विहरेंगी पिय-बल दोऊ जगजीत॥[9]

पद-शैली के छंदों में प्रथम चरण सम्पूर्ण पद का सार रहता है। उपर्युक्त पद भी इसका अपवाद नहीं है। फिर, इस सार अंश का भी सार है 'मीत' शब्द। 'मीत' शब्द

'मित्र' का तद्भव रूप है। 'मित्र' की अपेक्षा 'मीत' शब्द में सहस्रगुणामाधुर्य तो है ही 'प्रिय' के लिये 'मीत' (मित्र) शब्द के प्रयोग में जो चमत्कार है वह तो अनुभव करने की चीज है। मित्र की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—मिन्दयति, मेदयति, मादयति वा स्नेहाधान्। अर्थात् स्नेह से स्निग्ध अथवा चिकना बनाने वाला मित्र है। प्रस्तुत प्रकरण, जिसमें नायिका का कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम वर्णित है में 'मीत' शब्द का प्रयोग काव्यभाषा--विषयक सूझ का प्रकर्ष है। 'मित्र' शब्द का कोई भी पर्याय इसके प्रसंग में भी नहीं आ सकता है। इनकी अनुप्रास-योजना निष्प्राण नहीं, वरन् शब्द-चयन की सप्राणता लिये हुई है। एक उदाहरण अलम् है—

परसों को बिताय दियो बरसों
तरसों कब पाँय पिया परसों।[10]

भारतेन्दु की शब्द योजना की उत्कृष्टता के दिग्दर्शन के लिए ये कुछ उदाहरण पर्याप्त हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि जब प्रचलित शब्द-समूह में कवि को अभीष्ट शब्द अप्राप्त रहता है तो बोलचाल की ओर उसकी दृष्टि जाती है। भारतेंदु ने भी बोलचाल के शब्दों और प्रयोगों से अपनी काव्यभाषा को जीवंत और शक्तिमान् बनाया है। बोलियों में संज्ञा पदों का एक विशेष प्रयोग होता है। किसी वस्तु अथवा जीव को विशिष्टीकृत करने के लिए उसके वाचक शब्द के अंत में 'वा', 'आ०' आदि लगा देते हैं। यथा—'घोड़ा' से 'घोड़वा', 'गाय' से 'गइया' आदि। जब कहते हैं कि घोड़ा जाता है तो इसका अभिप्राय होता है कि एक सामान्य घोड़ा जा रहा है किन्तु जब कहा जाता है कि 'घोड़वा' जाता है तो वक्ता किसी विशेष घोड़े की ओर संकेत करना चाहता है। भारतेन्दु ने इस प्रकार के प्रयोग की सटीकता को परख कर काव्य में इसकी योजना की है। एक उदाहरण देखा जाय -- 'मेरे प्यारे सों संदेसवा कौन कहै जाय।"[11] जिस संदेश को प्रिय तक भेजने की समस्या है वह सामान्य संदेश नहीं है। वह विशेष संदेश है और वह क्या है, यह तो बस नायिका ही जानती है, दूसरा कौन जानेगा? इसी विशेष संदेश को प्रिय तक पहुंचाने की चिंता है। यह चिन्ता 'संदेसवा' प्रयोग से ही ठीक-ठीक व्यक्त हो सकती थी। एक दूसरी बोली का प्रयोग है—"पावस समय जानि सब बेगहि सोए नर नारी पट तान।"[12] 'पट तान कर सोना' बोली का एक मुहावरा है जिसका अर्थ है निश्चिन्त होकर सोना। बोलचाल के कुछ प्रयोग ऐसे होते हैं जिनका प्रतिरूप परिनिष्ठित भाषा में दुर्लभ होता है। भारतेन्दु ने इस प्रकार का प्रयोग यह चुना है—"पावस सों बदि बदि के होड़ सी लगाई।"[13] वर्षा ऋतु में कृष्ण के नृत्य करने का वर्णन है। 'बदि बदि के' का अर्थ है ललकार ललकार कर। पावस ऋतु के पास जितने साज-सामान है, सब कृष्ण के पास भी हैं। पावस को कोकिला की सुन्दर तान है तो कृष्ण के पास वंशी की मधुर ध्वनि है, पावस को नृत्य के लिए मयूर है तो कृष्ण स्वयं नटराज

हैं, पावस के पास विद्युत की चमक है तो कृष्ण के पास उसको भी मात करनेवाला पीला वस्त्र है, पावस के पास घन-नाद है तो कृष्ण के पास मृदंग का गम्भीर स्वर है। इस प्रकार कृष्ण ने ललकार-ललकार कर होड़ लगा रखी है। 'ललकार' शब्द के द्वारा यहाँ वह व्यंजना नहीं करायी जा सकती थी जो 'बदि बदि के' द्वारा हुई है। 'बदि बदि के' में यह व्यंजना है कि कृष्ण पावस की एक-एक वस्तु का नाम ले लेकर ललकार रहे हैं कि तुम्हारे पास ये चीजें हैं तो मैं क्या कम हूँ, मेरे पास भी ये सब चीजें हैं। इस तरह के प्रयोग भारतेन्दु की काव्यभाषा में भरे पड़े हैं। अपनी काव्यभाषा गढ़ने में यह भारतेन्दु का प्रधान उदाहरण रहा है। उनकी काव्यभाषा की जीवंतता का यह आधार है।

जिस तरह बोलचाल की शब्दावली तथा प्रयोगों से भारतेन्दु ने अपनी काव्यभाषा का शृंगार किया है उसी प्रकार पुरातन भाषा से भी उसको सँवारा है। 'विनय-प्रेम-पचासा' के एक पद में जीव की भर्त्सना की गई है। भर्त्सना के भाव को तीव्र करने के लिए आदिकालीन चारण काव्यों में प्राप्त शब्द-रूप ग्रहण किये गये हैं। उक्त पद इस प्रकार है—

जीव तू महा अधम निर्लज्ज।
अब तो लाजु कछुक सिर गरज्यो आई काल को वज्ज।।
फुलि न जो तू ह्वै गयो राजा बाबू अमला जज्ज।
सब बकरी ही से मरि जैहैं ले दिन चार गरज्ज।।
विष से विषयन कों तजिये तो डूबन ही के कज्ज।
"हरीचन्द" हरि-चरन-अमृत-सर तजि जग छीलर मज्ज।।[14]

यहाँ 'वज्र' के लिए 'वज्ज', 'जज' के लिए 'जज्ज', 'गरज' के लिए 'गरज्ज' 'काज' के लिए 'कज्ज' प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं। इनमें अंतिम वर्णों को द्वित्व करके सम्बद्ध शब्दों पर बल दिया गया है।

भारतेन्दु ने शब्दों का निर्माण भी किया है। एक ऐसा शब्द 'विनय-प्रेम-पचासा' के एक पद में देखिए—"जुगल—केलि—रस वल्लभियन बिनु और कहा कोउ जाने।"[15] वल्लभ—मत के मानने वाले के लिए 'वल्लभी' शब्द बनाया और उसे ब्रजभाषा-व्याकरण के नियमानुसार बहुवचन-रूप दिया 'वल्लभियन'। एक दूसरा चमत्कारपूर्ण उदाहरण इस प्रकार है— "देव पितर सब ही दुखी कष्टित भारत माय।"[16] 'कष्ट' भाववाचक संज्ञा से विशेषण बनाया गया है 'कष्टित' जिसका अर्थ कष्ट में पड़ा हुआ किन्तु 'कष्टित' शब्द जो व्यंजना दे रहा है वह 'कष्ट में पड़ा हुआ' कहने में नहीं है। 'कष्टित,' शब्द से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि भारत माता कष्ट में जकड़ी हुई है और उससे छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं दीख रहा है। काव्यभाषा में नवनिर्मित शब्दों का एकमात्र औचित्य होता है आवश्यकता। जहां न तो प्रचलित शब्दावली से काम चले और न बोलचाल की अथवा

पुरातन भाषा में कोई उपयुक्त शब्द मिले वहीं नव निर्माण में प्रवृत्त होना उचित है अन्यथा वह प्रमाद है । भारतेन्दु का शब्द-निर्माण आवश्यकताजनित है ।

काव्य-रचना में कवियों का शब्द के साथ क्या सम्बन्ध होता है, इस पर पाश्चात्य आलोचकों ने बड़ी मनोरंजक बातें कही हैं । सी. डे. लेविस[17] तथा आर. एस. टॉमस[18] ने तो कवि और शब्द के मध्य प्रेम-व्यापार देखा है । इस सम्बंध में डब्ल्यू. एच. ऑडेन ने बड़ी व्यावहारिक बात कही है । उनका कहना है कि वास्तविक मौलिक प्रतिभा की पहचान यह नहीं है कि कोई मौलिक कहना चाहता है वरन इसमें है कि वह शब्दों के साथ क्रीड़ा करने में रुचि रखता है ।[19] यह बात सुनने में कुछ अटपटी लग सकती है किन्तु सचमुच कविगण अपनी क्षमता तथा प्रतिभा के अनुसार शब्द-क्रीड़ा करते पाये जाते हैं । भारतेन्दु की काव्यभाषा को देखकर तो लगता है कि ऑडेन का कथन अक्षरशः सत्य है । भारतेन्दु की काव्यभाषा में शब्द-क्रीड़ा के विविध रूप देखे जाते हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि निश्चय ही उन्होंने इसमें रुचि ली है । लगता तो ऐसा है कि भारतेन्दु के समान कवियों को ही ध्यान में रखकर ऑडन ने यह सिद्धांत निकाला ।

अस्तु, भारतेन्दु में शब्द-क्रीड़ा के विविध रूप द्रष्टव्य हैं । उनकी शब्द-क्रीड़ा को तीन प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं । एक प्रकार तो वह है जहाँ शब्द-क्रीड़ा मात्र है, जहाँ पुनरुक्त शब्द की बहुत अर्थ-संगति नहीं है । इसको निरर्थक पुनरुक्तिमूलक कहा जा सकता है । इस प्रकार का एक पद है—

आजु कछु मंगल घन उनए ।
गरजत मंद-मंद सोई मंगल मनवत कुंज छए ॥
बरसत बूंदन मनु अभिसेचत मंगल कलस लए ।
चमकि मंगलामुखी दामिनी मंगल करत नए ॥
मंगल बैरख बग की पंगत मंगल दादुर गान गए ।
मंगल नाचत मोर मोरनी मंगल कुंज वितान ठए ॥
मंगल ब्रज वृन्दावन जमुना मंगल गिरिवर नाम लए ।
"हरीचंद" मंगल बल्लभ-पद जा बल जुगल विहार भए ॥[20]

उनसठ पदों के इस छंद में बारह बार 'मंगल' शब्द आया है । इस पुनरुक्ति में कोई चमत्कार नहीं है । यहाँ तक कि कहीं-कहीं अर्थ-संगति भी नहीं है । इस 'मंगल' शब्द को लेकर भारतेन्दु ने कई पदों में क्रीड़ा की है ।

भारतेन्दु की शब्द-क्रीड़ा का जो दूसरा प्रकार है उसको अनुप्रासमूलक की संज्ञा दी जा सकती है । अनुप्रास-योजना स्वयं में भी एक प्रकार की शब्द-क्रीड़ा ही है । यह जब बहुत दूर तक चले अथवा वह कवि का उद्देश्य ही हो जाय तो वहाँ अलंकार नहीं, शब्द-क्रीड़ा ही कहने योग्य है । भारतेन्दु की काव्यभाषा में इस प्राकर की शब्द-क्रीड़ा भी उपलब्ध

है। भारतेन्दु की काव्यभाषा दूर तक चलने वाली और उद्देश्य बन जाने वाली, दोनों प्रकार की अनुप्रास-योजना है। प्रथम के उदाहरण-स्वरूप 'प्रेम-माधुरी' का निम्नांकित छन्द प्रस्तुत है—

काले परे कोस चलि–चलि थक गये पाय
सुख के कसाले परे ताले परे नस के।
रोय–रोय नैनन में हाले परे जावे परे
मदन के पाले परे प्रान पर-बस के॥
"हरीचंद" अँगहू हवाले परे रोगन के
सोगन के भाले परे तन बल खसके।
पगन छाले परे नाँधिवे को नाले परे
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के॥[21]

"ल" से अन्त होने वाले शब्दों को जुटाकर कवि ने ऐसी शब्द–क्रीड़ा की है। दूसरे प्रकार की शब्द–क्रीड़ा करने के लिए कवि ने दो रचनाएं की हैं—'अपवर्गदाष्टक' और 'अपवर्ग–पंचक'। एक उदाहरण इस प्रकार है—

फनपति फनपति फूँकि बाँसुरी नृत्य प्रकासन।
फनपति-नाथ फनीश-शयन फानि बैरि कृतासन॥
फैली फिरि–फिरि चंद्रसेन सी बदन-कांतिवर।
फलस्वरूप फबि रहा फूल-माला गल सुन्दर॥
पुरुषोत्तम प्यारे भाखिए सक तजै "हरिचंद" जिमि।
तुम नाम पवर्गी पाइ प्रिय अपवर्गी गति देत किमि॥[22]

कृष्ण भगवान् के सारे ऐसे नाम जुटाये गये हैं जिनका आरम्भ 'फ' से होता है। यही नहीं, यहाँ क्रिया तथा अव्यय पद भी कई ऐसे हैं जो 'फ' से आरम्भ होते हैं। इतर शब्दों में से कई पवर्ग के ही किसी अन्य वर्ण से आरम्भ होने वाले हैं। वास्तविक शब्द-क्रीड़ा, जिसमें कुछ कवित्व भी है, यदि कोई है तो यही है। निश्चय ही ऐसी योजनाओं में शब्द-क्रीड़ा ही उद्देश्य है किंतु एक वर्ण से आरम्भ होने वाले शब्दों का अम्बार लगाने से रसमग्नता तो नहीं ही आती, पर थोड़ा बौद्धिक चमत्कार अवश्य होता है।

एक तीसरे प्रकार की शब्द-क्रीड़ा भी भारतेन्दु में है जो बिल्कुल खिलवाड़ है। किसी शब्द के एक अंश को किसी अन्य लिपि-चिह्नों से प्रकट किया गया है और बाद वाले अंश को देवनागरी लिपि में लिखा गया है। अंकों को मिलाकर भी ऐसा खिलवाड़ किया गया है। इसको अनेक भाषामूलक शब्द-क्रीड़ा कह सकते हैं। 'मनोमुकुल-माला' नाम से भारतेन्दु ने जो रचना की थी उसमें इसका उदाहरण है। एक इस प्रकार है—

जीवहु ईस असीम बल हरहु प्रजन की पीर।
सरयू जमुना गंग में जब लौं थिर जग नीर॥

इस दोहे को निम्नांकित प्रकार से लिखा गया है—

Gवहु Eस अCस बल हरहु प्रजन की Pर
सरU जमुना गंग मैं जब लौं थिर जग नीर ॥[23]

जिस प्रकार यहाँ रोमन लिपि का उपयोग हुआ है उसी प्रकार कुछ छन्दों में फारसी लिपि का उपयोग हुआ है। अंकों के उपयोग का एक उदाहरण निम्नांकित है—

करि वि४ देख्यौ बहुत जग बिनु २स न१ ।
तुम बिनु है विक्टोरिये नित ९०० पथ टेक ॥[24]

इसका वास्तविक रूप इस प्रकार है—

करि विचार देख्यौ बहुत जग बिनु दोस न एक ।
तुम बिनु है विक्टोरिए नित नौ सौ पय टेक ॥

भारतेन्दु की काव्यभाषा अपनी समग्रता में भी शब्द-क्रीड़ा की ही उदाहरण है। एक ओर तो उन्होंने 'श्रीनाथ-स्तुति[25]' जैसी कविता लिखी है जो निन्यानवे प्रतिशत संस्कृत है तो दूसरी ओर ऐसी भाषा भी लिखी है जो निन्यानवे प्रतिशत बोलचाल की है।[26] भारतेन्दु की काव्यभाषा इन दो छोरों के बीच संचरण करती है। उसमें जो यह लचीलापन है वही उसकी शक्ति है। महान् प्रातिभ कवियों में ही काव्यभाषा की ऐसी शक्ति देखी जाती है। भाषा की अपार क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करने वाले तुलसीदास के बाद भारतेन्दु दूसरे और एकमात्र कवि हैं।

शब्द के बाद भारतेन्दु की काव्यभाषा का दूसरा बड़ा साधन मुहावरा है। उनकी भाषा या काव्यभाषा मुहावरेदार है, यह कहना पर्याप्त नहीं है। किसी-किसी की भाषा-विषयक आदत होती है पग-पगपर मुहावरे का प्रयोग। यह दूसरी बात है। मुहावरे की व्यंजना को परखकर अवसर के अनुकूल इसके प्रयोग से चमत्कार की सृष्टि करना एक अलग बात है और यही भारतेन्दु में है। मुहावरा किसी भाषा का सत्व होता है। इसी से स्पष्ट है कि मुहावरे का काव्यभाषा में कितना महत्वपूर्ण स्थान है। मुहावरे अनेक प्रकार के कार्य करते हैं। वे चित्र की सृष्टि करते हैं, उनमें ऐसी नोक होती है जो सम्प्रेषण को तीव्र बना देती है। मुहावरों के इस प्रकार्य से काव्यभाषा में इनकी उपयोगिता का पता चलता है। भारतेन्दु ने मुहावरों से अपनी काव्यभाषा में ये सारे कार्य लिये हैं। उन्होंने मुहावरों के प्रयोग का अवसर भी पहचाना है। गम्भीर, करुण एवं दैन्य के प्रसंगों के लिए ये मुहावरे उपयुक्त नहीं होते। प्रेम के प्रसंगों के लिये ये बड़े उपयुक्त होते हैं। भारतेन्दु ने ऐसा ही किया भी है। उद्धव-गोपी-प्रसंग के एक छन्द में प्रयुक्त एक मुहावरा देखने योग्य है—

एक जौ होय तो ज्ञान सिखाइहैं
कूप ही में यहाँ भाँग परी है ॥[27]

'कुएं में भाँग पड़ना' एक मुहावरा है जिसका अर्थ होता है किसी स्थान के सारे लोगों को एक ही प्रकार की भांति होना। इस मुहावरे में कितनी व्यंजना है। किसी स्थान पर कुएं में ही भाँग पड़ जायेगी तो वहाँ के सारे लोग नशे में होश-हवाश गँवा देगें क्योंकि उसी कुएं का पानी तो सभी पियेंगे। जो नशा नहीं भी चाहेंगे वे करेंगे क्या! इस मुहावरे के द्वारा गोपियाँ उद्धव को कहना चाहती हैं कि उन सभी पर कृष्ण-प्रेम का नशा चढ़ा हुआ है, कोई उनकी बात समझने वाली नहीं है। इस मुहावरे में इतनी व्यंजना है कि स्वयं में यह कविता है और इस छन्द में स्थान पाकर तो यह इसे अद्‌भुत चमत्कार दे रहा है। मुहावरों के चमत्कारपूर्ण प्रयोगों के अनेकानेक उदाहरण भारतेन्दु की काव्यभाषा में मिलेंगे।

एक विचलन को छोड़कर आधुनिक शैलीविज्ञान द्वारा निरुपित काव्यभाषा के सभी प्रमुख तत्त्व भारतेन्दु की काव्यभाषा में मिल जाते हैं। 'चयन' की चर्चा ऊपर के एक प्रसंगों मे हो चुकी है। ऐसे तत्त्वों में चयन के बाद समानांतरता (Purallelism) का उपयोग भारतन्दु ने भरपूर किया है। किसी रचना में समान या विरोधी भाषिक इकाइयों का समावांतर प्रयोग समानांतरता है। यह प्रथमतः दो प्रकार की होती है—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य समानांतरता वहाँ होती है जहाँ एक अथवा अनेक वर्णों शब्दों-रूपों, वाक्यांशों अथवा वाक्यों की आवृत्ति होती है। अर्थात् इसमें समान भाषिक इकाई की एक अथवा अधिक आवृत्ति होती है। वर्णों की आवृत्ति अनुप्रास अलंकार भी है। शब्द-क्रीड़ा के अन्तर्गत विश्लेषित कुछ उदाहरण समावांतरता के अन्तर्गत भी समाविष्ट हो सकते हैं। शब्दों की आवृत्तिवाली बाह्य समानांतरता का एक उदाहरण इस प्रकार है——

पियारो पेये केवल प्रेम मैं।
नाहि ज्ञान मैं नाहि ध्यान में नाहि करम—कुल—प्रेम मैं॥
नहि भारत मैं नहि रामायन नहि मनु मैं नहि वेद मैं।
नहि झगरे मे नाहि युक्ति मैं नाहि मतन के भेद मैं॥
नहि मन्दिर मैं नहि पूजा में नहि घन्टा की घोर मैं।
"हरीचन्द" वह बाँध्यो डालत एक प्रीति के डोर मैं॥[28]

यहाँ 'नाहि' और 'नहि' की आवृत्ति शब्द-क्रीड़ा नहीं, वरन् आवश्यकता है। भगवान प्रेम मे है, अन्य स्थानों पर नहीं, इस बात पर बल देने के लिए जहाँ-तहाँ पर लोग भ्रमवश भगवान् का होना समझते हैं उन सबका नाम ले-लेकर नकारा गया है। इस नकार पर बल देने के लिए ही उक्त शब्द को बार-बार दुहराया गया है।

वाक्यांश की आवृत्ति का एक उदाहरण देखने योग्य है——

आए कहाँ सों आज प्रात रस-भीने हो।
बति जँभात अलसात, लाल रस-भीने हो॥

कित खेले तुम रैन फाग रस-भीने हो।
कौन को दियो सोहाग लाल रस-भीने हो॥
आज भहो बिनही गुलाल रस-भीने हो।
नैन दोउ लाल लाल रस-भीने हो ॥[३९]

यह चौबीस चरणों की रचना है और प्रत्येक चरण के अन्त में 'रस-भीने हो' वाक्यांश आया है। खंडिता नायिका अन्य नायिका के साथ रात बिताकर आनेवाले धृष्ट नायक का मखौल उड़ा रही है। 'रस-भीने हो' कहने का तात्पर्य यह है कि जिस नायिका के साथ रात बिताकर तुम आये हो उसके प्रेम में तुम अभी भी मस्त हो। नायक की इस मनःस्थिति को नायिका ने लक्षित कर लिया है। इसको चमकाने के लिए ही उक्त वाक्यांश की पुनः पुनः आवृत्ति हुई है।

वाक्य की आवृत्ति वाली समानांतरता भी भारतेन्दु में मिलती है। 'प्रेम-तरंग' में चार छन्दों की एक रचना है जिसका आरम्भ इस प्रकार है—

मोंहि छोड़ि प्रान-पिय कहूँ अनत अनुरागे।
अब उन बिनु छिनछिन प्रान दहन दुख लागे ॥[४०]

विरह की तीव्रता व्यंजित करने के लिए दूसरे चरण को बाद के तीनों छन्दों में दुहराया गया है।

आन्तरिक समानांतरता अर्थगत समानातरता है। यह भी दो प्रकार की होती है—सम अथवा साम्यमूलक और विषम अथवा वैषम्यमूलक। साम्यमूलक आन्तरिक समानांतरता में दो समान भाव तथा वैषम्यमूलक आन्तरिक समानांतरता में दो विरोधी भाव समानांतर चलते हैं। भारतेन्दु ने एक छन्द में साम्यमूलक की योजना की है—

लाल महिं नेको रथहिं चलावे।
गली साँकरी अटकि रह्यो रथ नहिं कहुँ इत उत जावै।
उत वृषभानु-कुमारि अटा पै ठाढ़ी दृष्टि नै टारै।
इत नँदलाल रसिकवर सुन्दर इक टक उतहि निहारै॥
ये हँसि हँसिके कमल फिरावत वे दोउ नैन नचावै।
ये पीतांबर लै जु उड़ावैं वे मधुरे सुर गावैं॥
रीझे रसिक परस्पर दोऊ "हरीचन्द" मन माहीं।
ये इत अपनो रथ न चलावत वे न अटा सों जाहीं ॥[४१]

द्वितीय और तृतीय चरणों में साम्यमूलक आन्तरिक समानांतरता है। इधर सँकरी गली में कृष्ण का रथ अटक गया है उधर झरोखे पर खड़ी राधा की दृष्टि नहीं टल रही है। फिर, पचम और षष्ठ चरणों में साम्यमूलक आंतरिक समानांतरता है। इधर कृष्ण हँस-हँसकर अपने दोनों हाथों को फिरा रहे हैं तो उधर राधा दोनों नयनों को नचा रही है। इधर कृष्ण पीताम्बर उड़ा रहे हैं तो उधर राधा मधुर स्वर में गा रही है। अर्थात्

राधा और कृष्ण दोनों अपनी-अपनी चेष्टाओं से एक-दूसरे पर अपना प्रेम प्रकट कर रहे हैं।

आधुनिक शैलीविज्ञान सादृश्य-विधान अथवा अप्रस्तुत विधान को भी काव्यभाषा का एक तत्त्व स्वीकार करता है। यह भारतीय काव्यशास्त्र में निरुपित अनेक अलंकारों के मूल में है और इसलिए कोई नयी चीज नहीं है। एक साथ दो प्रकार की वास्तविकताओं का साक्षात्कार करते हुए दोनों का संयोजन यही सादृश्य-विधान का उद्देश्य होता है। इसमें चार प्रकार के संयोजन हो सकते हैं—मूर्त का मूर्त के साथ संयोजन, मूर्त का अमूर्त के साथ संयोजन, अमूर्त का अमूर्त से संयोजन और अमूर्त का मूर्त के साथ संयोजन। संयोजन अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं होता। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें अन्तर्निहित यथार्थ कितना अधिक चमत्कृत करता है। इसीलिए कहा जाता है कि किसी भी वस्तु के अद्वितीय यथार्थ का अद्वितीय रूप में प्रस्तुतीकरण ही सादृश्य विधान में कवि का लक्ष्य होता है। इसीलिए देखने की बात यह नहीं है कि किसी कवि ने कितने व्यापक रूप में सादृश्य विधान किया है वरन् देखने की बात यह है कि उसमें यथार्थ की पकड़ कैसी है। भारतेन्दु ने इसमें भी अपनी अद्भुत शक्ति का परिचय दिया है। एक-दो उदाहरणों से यह बात सिद्ध हो जायेगी। राधा की भौंह का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—"वृश्चिक सी कसकत मोहन हिय भौंह छबीली जाकी।"[32] राधा की कटीली भौंह कृष्ण के हृदय में बिच्छू के डंक के समान कसक रही है। यहाँ उपमान की नवीनता का जो आकर्षण है सो तो है ही, टेढ़ी भौंहों के प्रभाव की तुलना बिच्छू के डंक से करने में जो वास्तविकता-बोध है उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम ही है। जिस प्रकार इस उदाहरण में कवि ने अनुभूति की क्षमता का परिचय दिया है उसी प्रकार निम्नांकित उदाहरण में उसने अपनी पर्यवेक्षण की शक्ति दिखलायी है—

यह मन पारद हू सों चंचल।
एक पलक में ज्ञान बिचारत दूजे मैं तिय-अंचल॥
ठहरत कतहुं न डोलत इत उत रहत सदा बौरानो।[33]

यहाँ मूर्त पारद का अमूर्त मन के साथ संयोजन है। सादृश्य-विधान के लिए तीन बातें आवश्यक होती हैं—दो सदृश कोटियों का ज्ञान, उनके बीच सादृश्य की प्रतीति और इस प्रतीति को व्यक्त करने के लिए किस प्रकार की अभिव्यक्ति अधिक संगत है, इसका ज्ञान। यहाँ ये तीनों ही बातें हैं। मन और पारद, दोनों के लक्षणों को कवि अलग-अलग ठीक तरह से जानता है। दोनों में अस्थिरता का जो सादृश्य है उसकी प्रतीति भी कवि को है। इस प्रतीति को व्यक्त करने के लिए प्रथम चरण में दोनों का सादृश्य दिखाकर शेष चरणों में मन की चंचलता का आख्यान किया गया है जिससे प्रथम का प्रतिपादन पुष्ट हो जाता है। प्रथम चरण मानो सूत्र है और शेष उसका भाष्य प्रत्येक चरण में सादृश्य-प्रतिपादन करने की अपेक्षा प्रस्तुत अभिव्यक्ति-विधान ही अधिक संगत है।

भारतेन्दु ने अलंकारों एवं काव्य-बिम्ब का भी प्रचुर उपयोग किया है। यह ध्यान देने की बात है कि उन्होंने उन्हीं अलंकारों का अधिक उपयोग किया है जो भाषामूलक हैं। उनके प्रिय अलंकारों में उत्प्रेक्षा, रूपक, संदेह और वीप्सा प्रतीत होते है। वीप्सा तो शब्दालंकार ही है, उपर्युक्त शेष अलंकार भी भाषा के ही चमत्कार पर आश्रित हैं। बिम्ब भी काव्यभाषा का ही उपकरण है। वस्तुतः काव्यभाषा को काव्यभाषा बनाने में बिम्ब का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। बिम्ब शब्दों के द्वारा उत्पन्न वह मानस-प्रतिमा है जिसका प्रभाव ऐंद्रिय होता है। इंद्रिय से इसका सम्बन्ध होने के कारण पाँच ज्ञानेंद्रियों के आधार पर इसके पांच भेद हो जाते हैं जिनमें से चाक्षुष और श्रोत प्रमुख हैं। भारतेन्दु की काव्यभाषा में दोनों के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध हैं। चाक्षुष बिम्ब का एक उदाहरण इस प्रकार है——

निज कर सों न कपोल उठावै।
नव ससि साँझ गहे मनु भावै ॥[34]

कोई सखी राधा के विरह का हाल कृष्ण को सुना रही है। राधा अपने हाथ पर से कपोल नहीं उठाती। शोक की दशा में व्यक्ति कहीं बैठता है तो तन कर, मस्तक उठाकर नहीं बैठता, वह सिर झुकाकर और कपोल को हाथ पर टिकाकर बैठता है। उपर्युक्त अवतरण में अंकित राधा का यह चित्र पंक्ति पढ़ते ही आँखों के सामने नाच उठता है। इसी तरह श्रोत बिम्ब का एक उदाहरण इस प्रकार है—

ततधा ततधा ततधा बाजै मृदंग सरस तकिटधा
तकिटधा तकिटधा छवि लखि महामोद माँचै री ॥[35]

यहाँ मृदंग के बजने की ध्वनि सुनायी पड़ने के कारण श्रोत बिम्ब है। भारतेन्दु की बिम्ब-सृष्टि के संबन्ध में स्मरणीय है कि अधिकतर उनके द्वारा रचित बिम्ब अलंकारमूलक हैं। जैसे ऊपर के ही दो उदाहरणों में से पहले के साथ उत्प्रेक्षा अलंकार संलग्न है। अनेकत्र उन्होंने सांग रूपक से बिम्ब-रचना का कार्य लिया है।

अन्त में, भारतेन्दु की काव्यभाषा के सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातें कहकर इस निबंध को समाप्त किया जायेगा।

1. भारतीय काव्यशास्त्र, पाश्चात्य आलोचना और शैलीविज्ञान, इन सबने काव्यभाषा के जितने उपकरण बताये हैं उनमें से अधिकांश का उपयोग भारतेन्दु ने कर दिया है।

2. उन्होंने काव्यभाषा के क्षेत्र में कहीं भी औचित्य की सीमा का अतिक्रमण नहीं किया है। अर्थात् उनके काव्यभाषीय प्रयोग एतद्विषयक प्राच्य एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं है।

3. भारतेन्दु को भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। विनय के पदों में देखा जाता है कि जहाँ दैन्यभाव है वहाँ तो भाषा तत्सममयी ब्रजी है किन्तु जहाँ जीव को झाड़-फटकार

है वहाँ भाषा खड़ी बोली के अत्यंत निकट चली गयी है और अरबी-फारसी के शब्द धड़ल्ले से आये हैं। 'विनय-प्रेम-पचासा' के अनेक पदों में ऐसी योजना देखी जाती है। झाड़-फटकार, भर्त्सना, चेतावनी आदि के भाव की तत्सममयी ब्रजभाषा में मूर्त नहीं किया जा सकता था। इसके लिए अरबी-फारसी की शब्दावली से भरी हुई खड़ी बोली ही उपयुक्त थी।

4. भारतेन्दु का ध्यान भाषा की साधुता पर जितना न था उतना विवक्षा को ठीक-ठीक प्रकट करने की आवश्यकता पर था। इसलिए ऐसा उदाहरण भी दिखायी पड़ जाता है जहाँ उन्होंने ब्रजी में खड़ी बोली का व्याकरण घुसा दिया है। ऐसा एक प्रयोग निम्नांकित है—

नेह लगाय लुभाय लई पहिले ब्रज की सब ही सुकुमारियाँ।[36]

'सुकुमारी' को खड़ी बोली व्याकरण के अनुसार बहुवचन बनाया गया है। 'सुकुमारियाँ' के आकारांत होने के कारण इससे बहुवचनत्व की जो व्यंजना हो रही है वह ब्रजी के नियमानुसार इसे बहुवचन बनाने पर सम्भव न थी।

5. भारतेन्दु की काव्यभाषा की शक्ति और सम्पन्नता उसकी ब्रजभाषा की तथा शृंगारिक कविताओं में ही देखी जाती है।

6. कहा जाता है कि भारतेन्दु ने काव्य को लोकजीवन से जोड़ दिया। यह कार्य उन्होंने काव्यभाषा के क्षेत्र में भी किया।

7. भारतेन्दु की काव्यभाषा में यहाँ से लेकर वहाँ तक विशेषतायें ही विशेषतायें हैं। जिस कोण से भी देखा जाय, भारतेन्दु की काव्यभाषा पुष्ट ही दिखाई पड़ती है।

टिप्पणियां

1. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 842.
2. उपरिवत्, पृ० 45.
3. उपरिवत्, पृ० 147.
4. उपरिवत्, पृ० 160.
5. सार्त्र, उद्धृत, रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'भाषा और संवेदना' (भारतीय ज्ञानपीठ, 1964), पृ० 31.
6. 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' दूसरा भाग, पृ० 68-69.
7. उपरिवत्, पृ० 74.
8. उपरिवत्, पृ० 81.
9. उपरिवत्, पृ० 115.
10. उपरिवत्, पृ० 166.

11. उपरिवत् पृ० 62.
12. उपरिवत्, पृ 112.
13. उपरिवत्, पृ० 128.
14. उपरिवत्, पृ० 551.
15. उपरिवत्, पृ० 538.
16. उपरिवत्, पृ० 737.
17. सी० डे० लेविस, उद्धृत, क्लाइव सैंसम, 'दि वर्ल्ड ऑफ पोयट्री' (लंदन, 1959), पृ० 200.
18. आर० एस० टामस, 'वर्ड्स ऐंड दी पोयट' (कार्डिफ, 1964) पृ० 21.
19. डब्ल्यू० एच० ऑडेन, 'दि डायर्स हैंड ऐंड अदर एस्सेज'; (न्युयार्क, 1962) पृ० 22
20. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० 114.
21. उपरिवत्, पृ० 170.
22. उपरिवत्, पृ० 739.
23. उपरिवत्, पृ० 742.
24. उपरिवत्, पृ० 743.
25. उपरिवत्, पृ० 754.
26. उपरिवत्, 740, छंद 43 ।
27. उपरिवत्, पृ० 165.
28. उपरिवत्, पृ० 136.
29. उपरिवत्, पृ० 375.
30. उपरिवत्, पृ० 204.
31. उपरिवत्, पृ० 473.
32. उपरिवत्, पृ० 45.
33. उपरिवत्, पृ० 618.
34. उपरिवत्, पृ० 31.
35. उपरिवत्, पृ० 505.
36. उपरिवत्. पृ० 151.

भारतेन्दु का नाट्यादर्श

नर्वदेश्वर राय

भारतेन्दु-युग दो संस्कृतियों का संक्रमण-काल था। दो संस्कृतियाँ आपस में सीधी टक्कर ले रही थीं। पुरातन की अपेक्षा नवीन के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा था। यह नवीन संस्कृति पाश्चात्य यूरोपीय संस्कृति थी। शासक-वर्ग की संस्कृति होने के कारण इसके प्रचार-प्रसार के लिए अपेक्षाकृत अनुकूल अवसर था। इस काल का अन्तर्द्वन्द्व साहित्य में अधिक उभरा है। इस युग में विविध साहित्यिक विधाओं का विकास हुआ। यही कारण है कि भारतेन्दु-युग में अभूतपूर्व साहित्यिक जागृति आयी। ऐसी जागृति पहले कभी नहीं आयी थी। यह इसकी महती उपलब्धि थी जो भविष्य के लिए ऐतिहासिक और आदर्श बनकर रह गयी।

यह युग संस्कृति, साहित्य और कला के नवोत्थान का था। नवीन मान्यताएं स्वीकृत और प्राचीन रूढ़िगत मान्यताएं बहिष्कृत हो रही थीं। अनेक क्षेत्रों में समन्वय के प्रयास हो रहे थे। इसी समय उर्दू पारसी-रंगमंच के रूप में एक दुर्घटना हुई जिसने नवीनता के लोभ में मर्यादा-अमर्यादा का प्रश्न ही विस्मृत कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि इसके विरुद्ध भारतेन्दु और तत्कालीन लेखकों में गहरी प्रतिक्रिया हुई। भारतेन्दु ने उस युग के नाटक, रंगमंच और अभिनय को नयी मान्यता दी जो अपने समय से आगे की चीज थी।

भारतेन्दु के समक्ष तीन नाट्य-परम्पराएं उपस्थित थीं—भारतीय अर्थात् संस्कृत-नाट्य की परम्परा, लोकनाटकों की परम्परा और पाश्चात्य अर्थात् शेक्सपीरियन नाट्य-परम्परा। संस्कृत–नाट्य-परम्परा शताब्दियों पूर्व विच्छिन्न हो गयी थी। इसके परिणाम-स्वरूप उसका रंगमंचीय स्वरूप समाप्त हो गया था, किन्तु उसका सैद्धान्तिक पक्ष अपने मूल रूप में यथावत् सुरक्षित था। संस्कृत-नाट्य की रसवत्ता से विद्वद्वर्ग परिचित था। अतः इसके प्रति नाटककारों का आकर्षण स्वाभाविक था, किन्तु संस्कृत नाट्य-शास्त्र के ज्ञान के लिए जिस गहन अध्ययन की अपेक्षा थी, उसका नितान्त अभाव था। ऐसी स्थिति में सामान्य नाट्य-प्रेमियों की ग्राह्यता के लिए उसके सरलीकरण की आवश्यकता थी। इसके साथ ही उस युग में यथार्थ का आग्रह बढ़ता जा रहा था। अतः काल्पनिक, आदर्शवादी और आभिजात्य सूचक नाट्यशैली प्रेक्षकों को तुष्ट नहीं कर सकती थी। अब उसे कुछ ऐसा चाहिए था जिसे वह दैनिक जीवन में भोग सकें। इस प्रकार यह नाट्यशैली शिथिल पड़ गयी थी। अतः उसमें युगानुरूप संशोधन की आवश्यकता थी जिसे भारतेन्दु

ने समझा। हिन्दी नाट्य-जगत् को उनका प्रथम नाट्यशास्त्र-'नाटक'[1] (1881 ई०) इसका प्रमाण हैं।

इसी समय हिन्दीभाषी जनता का शेक्सपीरियन नाटक से परिचय हुआ। यह सर्वथा नवीन रूप में उपस्थित हुआ था। इसके कथ्य से लेकर रंगमंच तक सम्पूर्ण विधान आश्चर्यजनक थे। इसमें किसी प्रकार का निषेध नहीं था। यह अपेक्षाकृत यथार्थ के अधिक समीप था। इसके नाट्यशिल्प ने भारतीय जनता को आकृष्ट किया। भारतेन्दु और उनकी मण्डली के लेखकों ने इस परिवर्तन को स्वीकार किया। भारतेन्दु ने इसके समर्थन में लिखा—

"जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप मे चलता रहे, उस समय में सहृदयगण के अन्तःकरण को वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन आलोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है।"[2]

परन्तु भारतेन्दु को यह मान्य नहीं था कि संस्कृत-नाट्यशास्त्र का सर्वथा परित्याग कर दिया जाय। उन्होंने आगे लिखा—

"नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन हो तो प्राचीन समस्त रीति परित्याग करें यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी। नाट्य-कला-कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखना उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती है, वर्तमान काल में नहीं होती।

"अब नाटककादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सभ्य-मण्डली को नितान्त अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं है।............प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।"[3]

इस उद्धरण में दो बातें महत्वपूर्ण हैं। नाटककार को देशकाल का ज्ञान होना चाहिए। जिस काल में जैसा दर्शक हो, जैसा परिवेश हो, नाटक वैसा ही लिखा जाना चाहिए। इससे सामाजिक में ग्रहण करने की क्षमता बढ़ती है। वह अपनी सीमा से अवगत होता है। उसे अपनी दुर्बलताओं और सामर्थ्य का बोध होता है और वह करणीय के प्रति सजग हो जाता है।

उस काल में अलौकिक दृश्यों के प्रस्तुतीकरण का विधान था। इसके मूल में दो परम्पराएं कार्य कर रही थीं। एक संस्कृत-नाट्य-साहित्य से विरासत के रूप में मिली थी और दूसरी विक्टोरियन रंगमंच से प्राप्त हुई थी और जिसका प्रयोग पारसी-रंगमंच पर

धड़ल्ले से हो रहा था । यह प्रवृत्ति नाटक के यथार्थ में बाधक थी । वह अलौकिक दृश्य-विधान इस धरती की वस्तु नहीं था । अतः भारतेन्दु ने इसका निषेध किया और नाटक की रंगमंचीय योग्यता एक पग आगे बढ़ गयी ।

इस प्रकार भारतेन्दु की समन्वयात्मक दृष्टि थी । उन्होंने संस्कृत एवं आंग्ल नाट्यादर्शों के तत्कालीन उपयोगी सन्दर्भों के समन्वय से हिन्दी नाट्य को एक नया रूप दिया जो उनकी प्रगतिशीलता का परिचायक है । उन्होंने अपने "नाटक" निबन्ध में नाट्यात्मा, नाट्य-प्रयोजन, नाट्य-वस्तु, नाट्य-भेद और अभिनयादि अन्यान्य विषयों का प्रतिपादन किया है । इन विषयों के प्रतिपादन में उन्होंने प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाये हैं ।

यद्यपि भारतेन्दु ने अभिनय के उपादानों पर विस्तार-सहित नहीं लिखा है, फिर भी निम्नलिखित तथ्यों पर अधिक बल दिया है । रंगशीर्ष के नेपथ्यगृह की उपयोगिता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा—

"रंगस्थल के पश्चात् भाग में जो एक गुप्त स्थान हैं उन सबका नाम नेपथ्य है । अलंकारयिता इसी स्थान पर पात्र को वेश-भूषणादि से सजाते हैं । जब रंगभूमि में आकाशवाणी, दैवीवाणी अथवा और कोई मानुषीवाणी का प्रयोजन होता है तो वे नेपथ्य में से गाई या कही जाती हैं ।"[4]

इस उद्धरण से यह अनुमान होता है कि भारतेन्दु के समय भी नेपथ्य रंगमंच के पीछे होता था । प्राचीनकाल में भरत ने जिस नेपथ्य की कल्पना की थी, भारतेन्दु ने भी उसका समर्थन किया है ।

दृश्यबन्ध

उस समय पृष्ठभूमि के रूप में एक ऐसे चित्र-खचित परदे का उपयोग होता था, जिस पर नदी, पर्वत, झरने, उपवन आदि के मनोहर चित्र अंकित होते थे । ये परदे दृश्य के अनुसार परिवर्तित होते थे । भारतेन्दु ने रंगमंच की सफलता के लिए इन चित्रपटों को आवश्यक माना है ।

"किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन, या उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं । इसी का नामांतर अंतःपटी वा चित्रपट वा दृश्य वा स्थान है । यद्यपि महामुनि भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र में चित्रपट द्वारा प्रासाद, वन, उपवन किंवा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है, किन्तु अनुधावन करने से बोध होता है कि तत्काल में अन्तःपटी-परिवर्तन द्वारा वन, उपवन वा पर्वतादि की छाया अवश्य दिखलायी जाती थी ।......................ये चित्रपट नाटक में अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु हैं ।"[5]

इस प्रकार भारतेन्दु ने दृश्यबन्ध को नाटक के लिए अत्यन्त आवश्यक तत्व माना है । इसके अभाव में नाटक अपनी प्रभावोत्पादकता में समर्थ नहीं हो सकेगा साथ ही विभिन्न

उदाहरणों से इसे भारतीय सिद्ध करते हुए इसकी उपादेयता की पुष्टि की है। यहाँ ऐसा लगता है कि भारतेन्दु शेक्सपीरियन अथवा बंगला-रंगमंच से प्रभावित थे।

यवनिका

'यवनिका' के लिए भारतेन्दु ने 'जवनिका' शब्द का प्रयोग किया है। यवनिका रंग-भूमि के सबसे आगे वाले परदे को कहते हैं। पारसी-नाटक वाले इसको "ड्रापसीन" कहते थे। भारतेन्दु भी इसके समर्थक थे। वे इसे आकर्षक बनाना चाहते थे।

"कार्य-अनुरोध से समस्त रंगस्थल को आवरण करने के लिए नाट्शाला के सम्मुख जो चित्र प्रक्षिप्त रहता है उसका नाम जवनिका या बाह्यपटी है। जब रंगशाला में चित्र-पट-परिवर्तन का प्रयोजन होता है उस समय यह जवनिका गिरा दी जाती है।"[6]

यहाँ दृश्यपट और यवनिका का विवेचन करते हुए भारतेन्दु ने उनके पारस्परिक सम्बन्धों को तो स्पष्ट किया, पर विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त हैं।

अभिनय के भेद

अभिनय के प्रकारों का उल्लेख करते हुए भारतेन्दु ने नाट्यशास्त्र के अनुसार अभिनय को चार प्रकार का बताया—आंगिक अभिनय, वाचिक अभिनय, आहार्य अभिनय और सात्विक अभिनय।

आंगिक अभिनय—इसके अन्तर्गत अंग-संचालन सम्बन्धी क्रियाएं आती हैं। नेत्र, मुख आदि अंगों द्वारा सम्पादित समस्त क्रियाएं और उठना, बैठना, चलना आदि इसी में समाविष्ट होती हैं। भारतेन्दु ने लिखा : "केवल अंगभंगी द्वारा जो अभिनय-कार्य साधन करते हैं, उसका नाम अंगाभिनय है। जैसे सती नाटक में नंदी। सती ने शिव की निन्दा श्रवण करके देहत्याग किया। यह सुनकर महावीर नंदी ने जब त्रिशूल हस्त में ले करके रंगस्थल में प्रवेश किया तब केवल आंगिक भाव द्वारा क्रोध दिखलाना चाहिए।"[7] आंगिक अभिनय का विवेचन भारतेन्दु ने तीन उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया है :

पात्रों की पुष्टि—यद्यपि परस्पर वार्ता करने में पात्रों को दर्शकों की ओर देखकर कहने पड़ेगें। इस अवसर पर अभिनय चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखें, तथापि यह न बोध हो कि वे बातें दर्शकों से कही जा रही हैं।

पात्रों के भाव - नृत्य की भांति रंगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख, नेत्र, भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अंगभंगी भाव ही दिखलाने चाहिए।

पात्रों का फिरना—"यह एक साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने वा जाने के समय जहाँ तक हो सके पात्रगण अपनी पीठ दर्शकों को बहुत कम दिखलावें किन्तु इस

नियम का पालन का इतना आग्रह न करें कि जहाँ पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहाँ भी न दिखलावें ।"[8]

अभिनय की स्वाभाविकता के रक्षार्थ यह आवश्यक है कि अंग-संचालन से किसी प्रकार की कृत्रिमता का बोध नहीं हो । अभिनेता को यथासम्भव तटस्थता का भाव प्रदर्शित करना चाहिए । अभिनेता का प्रेक्षकों की ओर दृष्टि-निक्षेप इसमें व्यवधान उपस्थित कर देता है । अंग-संचालन में भी सावधानी अपेक्षित है । नृत्य की भांति भ्रू, नेत्र आदि के सूक्ष्म भावों का प्रदर्शन घातक होता है । इनका उपयोग आवश्यकता के अनुसार भावों की बोधगम्यता के लिए होना चाहिए । रंगपीठ पर पात्रों का गमनागमन उठना, बैठना आदि रंगक्रियाओं का सम्पादन इतनी कुशलता से होना चाहिए कि प्रेक्षकों के समक्ष, यदि आवश्यकता नहीं पड़े तो अभिनेताओं का पृष्ठभाग नहीं आने पायें । इस प्रकार आंगिक अभिनय के लिए भारतेन्दु ने संतुलित दृष्टिकोण अपनाकर अपने रंगज्ञान का सुन्दर परिचय दिया है ।

वाचिक अभिनय

भारतेन्दु ने लिखा है कि "केवल वाक्य-विन्यास द्वारा जो अभिनय-कार्य सम्पादित होता है, उसका नाम वाचिकाभिनय है ।"[9] उन्होंने आगे लिखा :—

"ग्रन्थकर्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत रचना करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी उसकी बात भी विरचित हो । नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पण्डित का मौनीभाव विडम्बना मात्र है । पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है" ।[10]

"देश और वाणी दोनों ही पात्र के योग्यतानुसार होनी चाहिए । शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय में पात्रों को स्वर भी घटाना-बढ़ाना उचित है । जैसे स्वाभाविक स्वर बदलते हैं, वैसे ही कृत्रिम भी बदलें "आप ही आप" ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो कि धीरे-धीरे कहता है, किन्तु तब इतना उच्च हो कि श्रोतागण निष्कंटक सुन ले ।"[11]

भारतेन्दु के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि संवाद पात्र के अनुकूल होना चाहिए । यदि कोई नाटककार उसके अनुकूल नहीं बरत सका तो प्रबुद्ध प्रेक्षकों के लिए हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो जाएगी । यह सिद्धान्त भरत के नाट्यशास्त्र से पोषित है । भरत ने नाट्यशास्त्र में इस तथ्य पर विचार करते हुए इसका स्पष्ट उल्लेख किया ।[12] मारजोरी बाल्टन भी यही कहते हैं ।[13] सामान्य व्यवहार में भी यह बात पायी जाती है ।

आहार्य अभिनय

वस्त्राभरण आदि रचना द्वारा प्रकृत मूर्ति के अनुकरण को आहार्य अभिनय कहते

हैं ।[14] "वेश और वाणी दोनों ही पात्र के योग्यतानुसार होनी चाहिए । यदि भृत्यपात्र प्रवेश करे तो जैसे बहुमूल्य परिच्छेद उसके लिए अस्वाभाविक है वैसे ही पण्डितों के सम्भाषण की भांति विशेष संस्कृत-गर्भित भाषा भी उसके अस्वाभाविक है ।"[15] पात्र की वेशभूषा उसकी नाटकीय स्थिति के अनुकूल होनी चाहिए । जिस कोटि की भूमिका में पात्र उतरा हो, उसकी रूपसज्जा उसी के अनुरूप होनी चाहिए । किसी राजा अथवा राजसी व्यक्ति के लिए सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभरण होना चाहिए जिससे प्रेक्षकों को पात्र के मंच पर आगमन के साथ ही उसकी स्थिति का बोध हो जाय । इसी प्रकार भृत्य, योगी आदि के लिए तद्रूप वस्त्र-विन्यास अपेक्षित है । बहुत बार ऐसा भी होता है कि किसी पात्र को मंच पर संवाद-कथन का अवसर नहीं मिलता, पर प्रेक्षकवर्ग को उसके परिचय की आवश्यकता होती है । ऐसे पात्रों का उनके आहार्य से भी दर्शकों को भान हो जाता है । उदाहरण के लिए 'सत्य हरिश्चन्द्र' में अपने परिकर सहित महाराज हरिश्चन्द्र का आगमन होता है ।[16] उसमें उनकी वेषभूषा उनकी अवस्था के अनुरूप है जिससे मंच पर प्रवेश के समय ही सामान्य प्रेक्षकवर्ग सबकी कल्पना कर लेता है और समूहीकरण में किसी प्रकार की त्रुटि का समावेश नहीं हो पाता । हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त उनमें से कोई भी पात्र कुछ नहीं बोलता किन्तु वस्तु स्थिति अबोध नहीं रह जाती । उनकी रूपसज्जा इस प्रकार है :—

"मन्त्री—नीमा, पाजामा, कमरबन्द, दुशाला, पगड़ी, सिरपेच सजे ।"
दो मुसाहिब—साधारण सभ्यों के वेश में ।
एक निशानवाला—सेवक के भेष में । निशान पर सूर्य के नीचे "सत्ये नास्ति भयं क्वचित्" लिखा हुआ ।[17]
चार शस्त्रधारी अंगरक्षक ।
दो सेवक ।"

इस प्रकार प्रत्येक पात्र का अपना परिचय है जो दर्शकों को पूर्वाग्रह के कारण किंचित प्रयास से स्वतः स्पष्ट हो जाता है ।

भारतेन्दु के मतानुसार वेश-रचना सम्बन्धी निर्देश देना नाटककार का ही कर्तव्य नहीं है । इसका उत्तरदायित्व निर्देशक पर भी है जो अवस्था के अनुसार निर्धारित करता है । उसके लिए एक भिन्न निर्देशक (वेषविधायक) की आवश्यकता होती है, जिसे वस्त्राभूषण सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान हो और साथ ही उसे नाटक की रसात्मक स्थिति से परिचित भी होना चाहिए । यदि निर्देशक नाटकीय स्थितियों का अनुधावन करने में सफल नहीं रहा तो वेश-विन्यास सम्बन्धी नैपुण्य प्राप्त नहीं कर सकेगा । इसको स्पष्ट करते हुए भारतेन्दु ने लिखा :—

"नाटकान्तर्गत कौन पात्र कैसा परिच्छद पहरे यह ग्रन्थकार कर्तृक उल्लिखित नहीं होता, न किसी प्राचीन नाटककार ने इसका उल्लेख किया है······अभिनय में वेश-रचयिता

या पात्रगण का स्वभाव और अवस्था विचार करके वेश-रचना कर दें। नेपथ्यकार्य सुन्दर रूप से निर्वाह के हेतु एक रसज्ञ वेषविधायक की आवश्यकता रहती है।"[18]

इस प्रकार भारतेन्दु की आहार्याभिनय–सम्बन्धी धारणा से अभिनय के प्रति जागरूकता सिद्ध होती है।

सात्विक अभिनय

भावों को प्रदर्शित करने वाले अभिनय को सात्विक अभिनय कहते हैं, जैसे रोमांच, स्तम्भ, स्वेद आदि। भारतेन्दु ने सात्विक अभिनय की व्याख्या करते हुए लिखा :

"स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्प और अश्रु प्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्विकाभिनय है।"[19]

चर्चरिका

"चर्चरिका" की उपयोगिता पर विचार करते हुए भारतेन्दु ने लिखा :

"जब-जब एक-एक विषय समाप्त होगा जवनिकापात करके पात्रगण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे तब पटाक्षेप के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक है, क्योंकि बिना इसके अभिनय शुष्क हो जाता है। जहाँ बहुत स्वर मिलाकर कोई बाजा बजे या गान हो उसको चर्चरिका कहते हैं। इसमें नाटक की कथा के अनुरूप गीतों का वा रागों का बजना योग्य है।"[20]

नाटकों के अभिनय के समय अंक अथवा दृश्य-परिवर्तन के अनन्तर एक अन्तराल उत्पन्न हो जाता है, परन्तु अंकों के परिवर्तन पर अधिक समय, लगभग पांच से दस मिनट तक लग जाता है। यह अवधि प्रेक्षकों की शांति भंग करने और उनमें ऊब पैदा करने के लिए पर्याप्त होती है। रंगशाला में दर्शक मुख्यतः मनोरंजनार्थ ही जाता है। इसलिए उनकी यथावत् स्थिति के लिए यह आवश्यक होता है कि उन अवकाश के क्षणों में भी प्रेक्षकों का मनोविनोद किया जाय। उस समय, जबकि सम्पूर्ण नाट्य-व्यापार स्थगित रहते हैं, संगीत ही उपयुक्त होता है। इसी को दृष्टि में रखकर भारतेन्दु ने वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी 'चर्चरिका' की उपयोगिता को स्वीकार किया है। इसे आजकल पार्श्व संगीत कहते हैं। उस समय चर्चरिका का प्रयोग पारसी और शेक्सपीरियन नाटकों में अधिक होता है। ऐसा लगता है कि इसी से प्रभावित होकर भारतेन्दु ने इसकी उपयोगिता स्वीकार की है।

संगीत

यद्यपि भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में संगीत की उपयोगिता पर विचार नहीं किया है, फिर भी उनके नाटकों में संगीत की स्थापना देखकर उसके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संस्कृत नाटकों में भी संगीत के मूल्य को स्वीकार किया गया, लेकिन भारतेंदु के नाटकों पर संगीत का प्रभाव अंग्रेजी-नाट्य-साहित्य से आया

प्रतीत होता है। यह प्रभाव पारसी-नाटकों से होकर आया है। जहाँ तक उसके स्वरूप का प्रश्न है, उन्होंने भारतीय शास्त्रीय संगीत को ही सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। इसमें दोनों परम्पराओं का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

निरोधक

(वर्जित दृश्य)

भारतीय नाट्याचार्यों ने रंग-मंच पर ऐसे दृश्यों के मंचन का निषेध किया है जिनके प्रदर्शन से नाटकीय व्यापार में व्याघात उत्पन्न होता है। उनके अनुसार रसास्वादन में अवरोध उत्पन्न करने वाले और अश्लील तत्व तथा ऐसे दृश्य जो रंगमंचीय व्यापार के अनुकूल नहीं हों, उनका प्रदर्शन वर्जित है। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा।

"दूराह्वानं वधो युद्धं ताज्येदर्शादिविप्लव:।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यूरतं तथा ॥
दंतच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यदव्रीड़ाकरं च यत:।
शयनाधरयानादि नगराघवरोधनम् ॥
स्नानानुत्येपने चैभिर्वर्जितो नाति विस्तर: ॥[21]

भारतेन्दु ने उन्हें निरोधक की संज्ञा दी है। उन्होंने लिखा :

"नाटक में जिन विषयों का वर्णन निषिद्ध है, उनका नाम निरोधक है। उदाहरण-दूराह्वान, अतिविस्तृत युद्ध, राज्येदशादि का विप्लव, प्रवल वात्या, दंतच्छद, नखक्षत, अश्वादि वृहत्काय जन्तु का अतिवेग से गमन, नौका-परिपालन और नदी में संतरण प्रभृत अधरसीय विषय।"[22]

भारतेन्दु का यह मन्तव्य भारतीय नाट्यशास्त्र समर्थित है। यद्यपि भारतेन्दु-युग में पारसी-रंगमंच पर असम्भव से असम्भव दृश्यों का प्रदर्शन होने लगा था, तथापि भारतेन्दु ने उक्त वर्जित दृश्यों को रंगमंच पर प्रदर्शित करने का समर्थन नहीं किया, क्योंकि उनके सामने एक सरल रंगमंच की कल्पना थी। वे ऐसे ही दृश्यों को मंच पर उपस्थित करना चाहते थे जो रसनिष्पत्ति में सहायक होते हैं। ये सब कुछ होते हुए भी नाटक में स्वाभाविकता के प्रति विशेष अनुग्रह होने के कारण अपने नाटकों में इस सिद्धान्त का निर्वाह नहीं कर सकें। उदाहरणार्थ—'पाखण्ड विडम्बन' में रंगमंच पर आलिंगन है, 'नील-देवी' में युद्ध और हत्या के दृश्य हैं और 'भारत दुर्दशा' में आत्महत्या का दृश्य है।

निष्कर्ष

भारतेन्दु की उपर्युक्त मान्यताओं से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने भारतीय संस्कृत-नाट्याभिनय और पाश्चात्य नाट्याभिनय-सम्बन्धी आदेशों का युगानुरूप समन्वय किया है। भारतीय परम्परा के प्रति विशेष निष्ठा द्योतित होती है, किन्तु दुराग्रह की किंचित् झलक नहीं मिलती। उन्होंने तद्युगीन आवश्यकताओं के अनुसार रूढ़ियों को त्याग आंग्ल-नाट्य-

शिल्प को सादर अपनाया है। डॉ०भानुदेव शुक्ल के शब्दों में, "भारतेन्दु का दृष्टिकोण यही रहा है कि अपनी परम्परागत शिल्प विधि को सर्वाधिक महत्व दिया जाय, किन्तु इसमें अपने परिवेश के अनुकूल ही अनुशासन स्वीकार किये जाएं। उपयुक्त विदेशी एवं विजातीय शिल्पगत उपलब्धियों को भी अपने ढंग से स्वीकार कर अपने नये शिल्प में आत्मसात् किया जाय। अपने युग की आवश्यकताएं उनके लिए कदाचित् सर्वाधिक महत्त्व की है।"[23]

वे अपने युग के एक सफल अभिनेता और निर्देशक भी थे। उन्होंने सम्पूर्ण रंगमंचीय पद्धतियों को देखा, परखा था, भारतीय और आंग्ल-अभिनय प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन किया था। इस प्रकार उनकी अभिनय सम्बन्धी मान्यताएं स्वानुभूत हैं। उन्होंने दोनों आदर्शों के समन्वय से एक नवीन नाट्यशास्त्र की रचना की। डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल का मत इनको पुष्टि करता :

"भारतेन्दु जी समन्वयात्मक बुद्धि लेकर नाट्यक्षेत्र में अवतरित हुए। किसी भी प्रकार का अन्धानुकरण उन्हें रुचिकर न प्रतीत हुआ। इसीलिए देश, काल और समसामयिक स्थिति के अनुसार-प्राचीन भारतीय नाट्य पद्धति में से आवश्यक और उपयुक्त तत्व ग्रहण कर हिन्दी के नवीन नाट्य-विधान की स्थापना की।"[24]

इस प्रकार भारतेन्दु ने अभिनय ही नहीं, सम्पूर्ण नाट्य-क्षेत्र में जिस समन्वयात्मक प्रवृत्ति और विश्लेषण का परिचय दिया, वह हिन्दी नाट्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने नाटक के लेखन और अभिनय को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया जिसके आलोक में हिन्दी-रंगमंच अद्यावधि प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। वे हिन्दी नाटक के प्रथम आचार्य ही नहीं, बल्कि हिन्दी नाट्य अभिनय और रंगमंच के प्रथम उद्भावक और प्रयोक्ता भी थे।

संदर्भ-संकेत

1. "हिन्दी में नाट्यशास्त्र की दिशा में पहला प्रयत्न कवि और एक नाटककार उद्भट साहित्यज्ञ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ही है। उनके निबन्ध का ही शीर्षक है 'नाटक'। यह निबन्ध 1883 में प्रकाश में आया। यह लेख अपनी मूल प्रकृति में व्याख्यात्मक होते हुए भी समीक्षात्मक और कुछ दूर तक सैद्धान्तिक बन गया है।"
   से० गोविन्ददास : नाट्यकला–मीमांसा; पृ० 109.
2. भारतेन्दु : नाटक; भारतेन्दु ग्रंथावली, सं० श्यामसुन्दर दास.
3. वही .
4. वही .
5. वही .

6. भारतेन्दु : नाटक, भारतेन्दु ग्रन्थावली (पहला खण्ड); ब्रजरत्न दास .
7. वही, पृ० 731.
8. वही, पृ० 741.
9. वही, पृ० 734.
10. वही, पृ०741.
11. नाट्यशास्त्र, अध्याय 25.
12. ऐन इम्पारटेण्ट एक्सपेक्ट ऑव डायलाग इज दी डिफरेंशिएशन ऑव दि स्पीच ऑव इण्डिविजवल, एवरी स्पीच, ऐटलिस्ट आइडियली, इज कैरेक्टेरस्टिक ऑव दि स्पीच ।"—दि एनाटामी ऑव ड्रामा, पृ० 108.
13. भारतेन्दु : नाटक, भारतेन्दु ग्रन्थावली (पहला खण्ड), सं० ब्रजरत्न दास.
14. वही.
15. वही, पृ० 273.
16. वही.
17. वही, पृ० 733.
18. वही, पृ० 739.
19. भरत: नाट्यशास्त्र, 18/19. धनंजय: हिन्दी दशरूपक; अनु० भोलाशंकर व्यास.
20. वही.
21. विश्वनाथ : हिन्दी साहित्य-दर्पण, व्याख्याकार डॉ० सत्यव्रत सिन्हा.
22. भारतेन्दु : नाटक, भा० ग्रं० (पं० सं०) सं० ब्रजरत्न दास, पृ० 762-63.
23. डॉ० भानुदेव शुक्ल : भारतेन्दु के नाटक, पृ० 19,
24. डॉ० विरेन्द्र कुमार शुक्ल : भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य : पृ० 42.

◆

भारतेन्दु की नाट्य-कला

भोलाशंकर व्यास

भारतेन्दु के समय तक भारत की समृद्ध साहित्यिक नाट्य परम्परा, जिसकी अविच्छिन्न धारा भरत के नाटकों से लेकर लगभग 10 वीं शताब्दी तक संस्कृत, रंगमंच से जुड़ी रही, वह लुप्त हो चुकी थी। दसवीं शताब्दी के बाद संस्कृत में जो नाटक लिखे गए उनका रंगमंच से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहा और वे मात्र नाट्य-शास्त्र एवं नाट्य-शास्त्र के परवर्ती ग्रन्थ 'दशरूपक', 'साहित्यदर्पण' आदि में वर्णित नाटक के तत्वों को ही आधार बनाकर लिखे गए थे तथा मंच की दृष्टि से अभिनेय नहीं थे, यद्यपि इन नाटकों में काव्य-पक्ष में कलात्मकता का समावेश अवश्य मिलता है। इस तरह हिन्दी साहित्य की जो परम्परा संस्कृत नाटक और रंगमंच की मिलनी चाहिए थी, वह सदियों पहले ही लुप्त हो चुकी थी। अतः मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में साहित्यिक नाटकों की परम्परा संस्कृत नाट्य साहित्य के दाय के रूप में हमें नहीं मिल पायी। इसका अर्थ यह नहीं है कि नाट्याभिनय ही परम्परा ही सर्वथा लुप्त हो गई थी। वह वस्तुतः इस युग में भी लोक नाट्य के रूप में जीवित थी जो सदियों से संस्कृत के शास्त्रीय नाटकों के समानान्तर सामान्य जनता के मनोरंजन के लिए तत्तत् प्रादेशिक क्षेत्रों में अविच्छिन्न रूप में प्रचलित थी और जिसका स्वरूप आज भी हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र में एक ओर धार्मिक रासलीलाओं आदि में और दूसरी ओर नौटंकी, ख्याल आदि के रूप में उपलब्ध है। यह लोक नाट्य परम्परा मध्ययुग के अभिजात कवियों द्वारा बिल्कुल नहीं अपनाई गई, न इसके साथ कोई शिष्ट प्रयोग ही किए गए इसका एक कारण यह भी था कि मध्ययुग में अभिजात रंगमंच के केन्द्र ही लुप्त हो चुके थे। भारत का अंग्रेजों से सम्पर्क होने के बाद एक भिन्न नाट्य परम्परा अपने रंगमंच के साथ सबसे पहले शेक्सपियर के नाटकों के मंचन के साथ बंगाल में शुरू हुई। इन्हीं के प्रभाव से पारसी नाटक कम्पनियों का विकास हुआ और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ये पारसी नाटक कम्पनियां शेक्सपियर के नाटकों के हिन्दी रूपान्तर के साथ हमारी पौराणिक कथा वस्तु को लेकर भी कुछ नाटक खेलने लगीं। इन नाटक कम्पनियों का अभिनय इतना अधिक पाश्चात्य प्रभावापन्न और अतिनाटकीय था कि उससे नाट्य-वस्तु की भारतीय आत्मा ही लुप्त होने लगी थी। भारतेन्दु के विषय में यह घटना प्रसिद्ध है कि पारसी नाटक कम्पनी द्वारा शकुन्तला नाटक का अभिनय देखकर भारतेन्दु को इतना क्षोभ हुआ कि उन्होंने स्वयं एक ओर नाटकों की रचना और दूसरी ओर हिन्दी के अपने रंगमंच के निर्माण की ओर ध्यान देने का विचार किया।

स्पष्ट है कि भारतेन्दु के समक्ष नाट्य साहित्य की तीन परम्पराएं थीं, 1. साहित्यिक संस्कृत नाटकों की परम्परा जो आरम्भ में भरत के नाट्य शास्त्रीय सिद्धांतों के अनुसार और बाद में परवर्ती नाट्य शास्त्रीय ग्रंथों के अनुसार लिखे गए थे, 2. लोक नाट्य की परम्परा जिसकी भी भारतेन्दु को पूरी जानकारी थी. 3. अंग्रेजी के रोमाण्टिक नाट्य साहित्य की परम्परा जिनमें मुख्यतः शेक्सपियर के नाटक थे। रंगमंच की दृष्टि से भारतेन्दु के समक्ष केवल दो परम्पराएं थी, एक लोक नाट्य के रंगमंच की परम्परा जो गांवों की नाट्य मण्डलियों में जीवित थी और दूसरी ओर पारसी नाट्य कम्पनियों के रंगमंच की परम्परा। भारतेन्दु के सामने यह प्रश्न था कि इन नाटकों और रंगमंचों की परम्पराओं में से किन्हें चुनकर वे अपने नाट्य प्रयोग करें। संस्कृत नाट्य परम्परा के ढंग पर भारतेन्दु से पूर्व लिखे दो नाटक अवश्य उनके समक्ष थे जिनमें एक 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक था, जिसके पात्र पद्य के अतिरिक्त व्रज भाषा में गद्य संवादों का भी प्रयोग करते थे। उसी संस्कृत की साहित्यिक नाट्य परम्परा की शैली में भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने भी 'नहुष' नाटक की रचना की थी जिसके विषय में भारतेन्दु ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'नाटक' में लिखा है—''विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य चरण श्री कविवर गिरधरदास का है।'' इससे स्पष्ट है कि यद्यपि भारतेन्दु 'नहुष' नाटक को हिन्दी का पहला नाटक मानते थे तथापि वे हिन्दी नाटक के लिए स्वयं परती जमीन तोड़ रहे थे और उसके प्रयोग के लिए हिन्दी के स्वतन्त्र रंगमंच का निर्माण भी करने जा रहे थे क्योंकि उनके पिता का 'नहुष' 'नाटक भारतेन्दु की अपनी नाट्य कला का आदर्श कतई नहीं रहा।

भारतेन्दु का साहित्यिक व्यक्तित्व मात्र साहित्य का नहीं है। वे एक ऐसे कवि, नाटककार, निबन्ध लेखक और पत्रकार के रूप में हमारे समक्ष अवतरित होते हैं जो अपने युग और समाज की आशाओं-आकांक्षाओं को, तनाव और संघर्षों को अपनी रचनाओं द्वारा वाणी दे रहे थे। एक ओर वे समाज की गलित मध्ययुगीन सामन्ती रूढ़ियों का विरोध कर रहे थे, यद्यपि वे स्वयं सामन्ती वर्ग के उस अवशेष से जन्मे थे जो 19 शती के उत्तरार्द्ध में अभिजात मध्यवर्ग की शक्ल ले रहा था, तो दूसरी ओर उन्हें अपने समय की राजनीतिक परिस्थितियों का भी पूरा अहसास था। विदेशी साम्राज्य के आर्थिक और राजनीतिक शोषण के शिकन्जे में जकड़ी राष्ट्रीय चेतना से उनका हृदय निरन्तर उद्वेलित हो रहा था। यद्यपि भारतेन्दु की राष्ट्र भावना में हमें अन्तर्विरोध अवश्य दिखाई पड़ता है तथापि यह अन्तर्विरोध भारतेन्दु का मात्र अपना न होकर उस समग्र युग का है जो एक ओर ब्रिटिश हुकूमत से आर्थिक शोषण के कारण घृणा करता था, किन्तु दूसरी ओर उसकी शासन व्यवस्था की अच्छाइयों को भी स्वीकार करता था। भारतेन्दु ने अपने नाटकों को इस दृष्टि से अपने सामाजिक और राष्ट्रीय विचारों के वाहक अस्त्र के रूप में भी इस्तेमाल किया है।

भारतेन्दु ने इसे बखूबी महसूस किया था कि संस्कृत नाटकों की परम्परा समृद्ध होते हुए भी उसकी तकनीक का प्रयोग कर आज उनके समय में नाटकों की रचना करना

समीचीन नहीं है, किन्तु इसके साथ वे यह भी स्वीकार करते थे कि पुरानी भारतीय नाट्य परम्परा का सर्वथा परित्याग भी ठीक नहीं होगा क्योंकि उस स्थिति में भारतीय नाट्य परम्परा की आत्मा ही लुप्त हो जायगी। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध में इस मान्यता को स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित किया है —"वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, उससे सम्प्रति प्राचीन मतावलम्बन करके नाटकादि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता…… जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदय गण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति, इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटक आदि दृश्य काव्य का प्रणयन करना योग्य है।" वहीं दूसरी ओर भारतेन्दु यह भी कहते हैं—"नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे, यह आवश्यक नहीं है क्योंकि जो सब प्राचीन रीति व पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी, वह सब अवश्य ग्रहण होंगी।"

भारतेन्दु की नाट्य कला का आधार उनके उपर्युक्त सिद्धान्त हैं। स्पष्ट है कि वे भारतीय नाट्य-परम्परा की कड़ी जहाँ टूट चुकी है, वहीं से सूत्र लेकर युगानुरुप हिन्दी नाट्य परम्परा के विकास के लिए अभिनव प्रयोग करने जा रहे थे। उनकी समस्त नाट्य-कृतियाँ इसी विकास क्रम की दृष्टि से देखी जानी चाहिए। अपने नाट्य रचना काल के पहले युग में भारतेन्दु का ध्यान बंगला तथा संस्कृत नाट्य परम्परा की ओर गया। उन्होंने सर्वप्रथम बंगला के प्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र के काव्य 'विद्यासुन्दर' के आधार पर लिखे बंगला नाटक का 'विद्यासुन्दर' नाम से हिन्दी अनुवाद उपस्थित किया जो संवत् 1925 की रचना है। यहीं से नाटककार भारतेन्दु का उदय होता है। उस नाटक की तकनीक संस्कृत नाट्य परम्परा के ही अनुसार है जिसमें नान्दी और प्रस्तावना के अतिरिक्त पंच संधियों का भी निर्वाह मिलता है। इसके बाद उनका ध्यान संस्कृत के चार रूपकों की ओर गया. ये चारों रूपक अलग-अलग रूपक विधा के निदर्शन हैं। आरम्भ में वे संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' के तृतीय अंक को स्वतन्त्र एकांकी के रूप में उपस्थित करते हैं। जिसमें समाज में फैले पाखण्डपूर्ण आडम्बर की कटु भर्त्सना की गयी है। जाहिर है कि भारतेन्दु ने 'प्रबोध चन्द्रोदय, का यह अंश अनुवाद के लिए अपने युग के तकाजे से उठाया था। इसके द्वारा वे अपने युग में फैले पाखण्डपूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक जीवन की भी लाक्षणिक शैली में भर्त्सना कर रहे थे। इसके बाद उन्होंने संस्कृत का एक ऐसा एकांकी उठाया जो स्त्री पात्र रहित रूपक अर्थात् व्यायोग है। इसमें वे भारत की प्रसिद्ध सांस्कृतिक कथा महाभारत से अर्जुन और दुर्योधन की नोंक-झोंक के प्रसंग को लेकर असत् पक्ष पर सत् पक्ष की विजय की व्यंजना करा रहे थे। इस व्यायोग को उन्होंने विशेष रूप से खेलने के लिए लिखा था। उन दिनों मंच पर अवतरित होने के लिए स्त्रियां नहीं मिलती थीं। स्त्री पात्रों का अभिनय बेचारे पुरुषों को ही करना पड़ता था। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु जी के एक साथी प्रतापनारायण मिश्र के बारे में यह किस्सा मशहूर है कि उन्हें मंच पर एक

नाट्यभिनय में स्त्री के रूप में उतरना था, पर मूछों वाले मिश्र जी के लिए यह अभिनय करने में समस्या थी। कहते हैं कि उन्होंने अपने पिता के पास जाकर उनसे मूँछे मुंड़वाने की इजाजत चाही ताकि वे स्त्री पात्र का अभिनय कर सकें। यह किस्सा भारतेन्दु युग के लेखकों की जिन्दादिली का प्रतीक है। इस तरह के जिन्दादिल पुरुष उस युग में कम थे जो स्त्री के रूप में मंच पर बेझिझक अवतरित हो सकें। फलतः भारतेन्दु को 'धनञ्जय विजय व्यायोग' लिखने की जरूरत पड़ी। अब उनका ध्यान राजशेखर के 'कर्पूर मंजरी सट्टक' की ओर गया जो प्राकृत भाषा में निबद्ध चार यवनिकान्तरों में विभक्त उपरूपक है। इसे एक प्रकार से संस्कृत नाटिका के पैटर्न पर लिखी प्राकृत नाटिका कहा जा सकता है। इस नाटक के अनुवाद द्वारा भारतेन्दु एक ओर तो भारतीय रूमानी रूपक का स्वरूप प्रस्तुत करना चाहते थे, दूसरी ओर विदूषक के मनोरम हास्य का स्वरूप देना चाहते थे जो पारसी नाटक मण्डलियों में दिखाये जाने वाले विदूषक के भोंड़े हास्य की अपेक्षा अधिक परिष्कृत था और साथ ही यह भी सूचित करना चाहते थे कि संस्कृत नाटक परम्परा किस तरह परिवर्तित होकर प्राकृत में निबद्ध नाट्य कृतियों के रूप में विकसित हुई थी और इस तरह वह अपने समय के नाटककारों को इस परम्परा को युगानुरूप आगे बढ़ाने की प्रेरणा दे रहे थे। भारतेन्दु ने अब जिस संस्कृत नाटक को चुना, वह विशिष्ट अर्थवत्ता लेकर आया था। यह नाटक था विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' जो संस्कृत का एकमात्र ऐसा नाटक है जिसमें भारत के प्राचीन इतिहास से राजनीतिक संघर्ष और अन्तर्द्वंद्व की कथा को नाटकीय रूप में उपस्थित किया गया है। इस नाटक की तकनीक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' जैसे रूमानी संस्कृत नाटकों और 'वेणी संहार' जैसे वीर रसात्मक पौराणिक नाटकों की ही नहीं, 'मृच्छकटिक' जैसे रूमानी और राजनीतिक उथल-पुथल वाले यथार्थवादी नाटक से भिन्न कोटि का नाटक है जिसकी आधुनिक दृष्टि के समीक्षक भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। इस नाटक का अनुवाद करने में भारतेन्दु की जागरूक राष्ट्रीय चेतना उत्प्रेरक तत्व रही है। वस्तुतः इस नाटक के द्वारा वे मलयकेतु को ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतीक और चन्द्रगुप्त को भारतीय राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक मानकर चलते जान पड़ते हैं जहाँ चाणक्य जो कि उस युग का प्रमुख बुद्धिवादी है, इस बात का संकेत करता है कि भारतेन्दु के युग में मलयकेतु को पराजित करने में बुद्धिवादी चाणक्य की भूमिका निभानी होगी। इस तरह इस संस्कृत नाटक को हिन्दी पाठकों के समक्ष उपस्थित करने में भारतेन्दु की दृष्टि मात्र अनुवाद करने की नहीं है, बल्कि वे समसामयिक तकाजे के तहत इसे कर रहे थे। तकनीक की दृष्टि से भी यह नाटक अत्यधिक सुगठित नाट्य रचना है और दूसरी ओर इसमें स्त्री पात्र अत्यधिक स्वल्प हैं। समस्त नाटक का द्वन्द्व बाह्य न होकर आभ्यन्तर अधिक है जहाँ वास्तविक लड़ाई चाणक्य और राक्षस की बुद्धियों की है। चन्द्रगुप्त भले ही परम्परावादी समीक्षकों की दृष्टि से फलभोक्ता नायक हो किन्तु वह चाणक्य का मात्र मोहरा है और इस दृष्टि से इस नाटक में बुद्धिवादी राजनीतिक चाणक्य को ही नायक मानना अधिक उचित जान पड़ता है।

अब हम भारतेन्दु के उन नाटकों को लेंगे जो मौलिक नाटक हैं। संवत् 1930 में उन्होंने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन की रचना की। यह प्रहसन 'पाखण्ड विडम्बन'

के ठीक बाद की रचना है जो संवत् 1929 में लिखा गया। दोनों का मूल स्वर एक है। दोनों में ही धार्मिक, सामाजिक कुरीतियों की मखौल उड़ायी गयी है। इसके बाद 1932 में उन्होंने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक लिखा। इस नाटक को उन्होंने संस्कृत के 'चण्डकौशिक' नाटक को आधार बनाकर लिखा था किन्तु यह उसका अनुवाद नहीं है। पूरा नाटक एक दर्दनाक ट्रैजीकामेडी (Tragi-Comedy) का वातावरण लेकर आता है जिसका अन्तर अवश्य सुखात्मक है किन्तु बीच में नाटक की कथावस्तु जिस रूप में बढ़ती है वह सामाजिक को स्थान-स्थान पर गलदश्रु बनाने में सक्षम है। इस नाटक का वस्तु-संयोजन 'चण्डकौशिक' के वस्तु-संयोजन से भिन्न है जहाँ भारतेन्दु ने वस्तु-विन्यास में नयी मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। इसकी तकनीक संस्कृत शास्त्रीय नाटकों वाली ही है किन्तु इसमें जहाँ एक ओर भारतेन्दु का अपना व्यक्तित्व लाक्षणिक रूप में उपस्थित किया गया है वहीं दूसरी ओर भारतेन्दु की जन्म भूमि और कर्म-भूमि काशी का चित्र भी उभरकर सामने आता है। इसके बाद उनका ध्यान नाटिका के ढग की रचना की ओर गया जो रूमानी वातावरण की रचना हो किन्तु चूँकि भारतेन्दु आस्तिक वैष्णव थे और ऐसे परिवार में पैदा हुए थे जो कृष्ण-भक्त था अतः उन्होंने ऐसी कथा-वस्तु उठायी जो उदयन और रत्नावली की या राजा चण्डपात्र और कर्पूर मंजरी की अन्तः पुर में खेली गयी गुपचुप प्रेम-लीला का चित्र न हो बल्कि रूमानी वातावरण के साथ भक्ति का गाम्भीर्य भी उसमें घुला-मिला हो। इस तरह के गंभीर और साथ ही रूमानी प्रणय को चित्रित करने के लिए उन्होंने कृष्ण एवं चन्द्रावली के प्रेम को लेकर 'चन्द्रावली' नाटिका की रचना की जो स्थान-स्थान पर एक ओर भारतेन्दु के कवित्त और दूसरी ओर उनके भक्तत्व को उजागर करती है। इस नाटिका में एक ओर भक्तिकाल के कृष्ण-भक्ति कवियों और दूसरी ओर रीतिकाल के पद्माकर जैसे रीतिबद्ध कवियों के साथ ही साथ घनानन्द जैसे रीति-मुक्त कवियों की परम्परा का निर्वाह करते हुए भारतेन्दु दिखायी पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त इसकी तकनीक और संवाद शैली में व्रजभूमि में रास मण्डलियों द्वारा कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध रासलीलाओं की परम्परा का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

भारतेन्दु ने मौलिक नाटकों की दृष्टि से अन्य प्रकार के प्रयोग भी किये। उनका 'विषस्यविषमौषधम्' शीर्षक एकांकी एकपात्रीय भाण है, किन्तु इस भाण की कथावस्तु संस्कृत के उन भाणों की कथावस्तु से भिन्न है जहाँ एक रसिक पात्र गणिकाओं के बाजार में घूमकर आकाश-भाषित के द्वारा विलासिता एवं स्वेच्छाचारिता पर व्यंग्य करता दिखाया जाता है। विलासिता और स्वेच्छाचारिता के चित्र 'विषस्यविषमौषधम्' में भी हैं जहाँ भण्डाचार्य इन्दौर के राजा मल्हाराव होल्कर के समय की इन्दौर की दुर्दशा पर व्यंग्य करता दिखाया गया है। किन्तु इस भाण की राजनीतिक अर्थवत्ता भी है कि किस तरह भारतीय सामन्तों और राजाओं का ही यह परिणाम है—"सन् 1599 में जो लोग सौदागीरी करने आये थे वे आज स्वतन्त्र राजाओं को दूध की मक्खी बना देते हैं।"

भारतेन्दु की यह राजनीतिक चेतना जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में धीरे-धीरे पनप रही थीं, 'भारत दुर्दशा' (नाट्य रासक) और 'अन्धेर नगरी' (प्रहसन) में और

अधिक प्रखर रूप में उपस्थित होती है। इन दोनों नाटकों में भारतेन्दु लाक्षणिक ढंग से ब्रिटिश साम्राज्य की भर्त्सना करते दिखायी पड़ते हैं। दूसरी ओर इन नाट्य कृतियों में वे तकनीक की दृष्टि से भी नये प्रयोग करते हैं। उन्हीं दिनों भारतेन्दु ने मुगलकालीन इतिहास के आधार पर 'नील देवी' गीति रूपक की रचना की जिसमें नाटक की प्रमुख पात्र नील देवी को कुशल कूटनीतिज्ञ के रूप में चितित्र किया गया है। इस नाटक में भारतेन्दु मुस्लिम पात्रों के मुंह से उर्दू शैली के संवाद कहलाते हैं और ये पात्र उर्दू गजलों का भी प्रयोग करते हैं। इस तरह यहाँ भी भारतेन्दु नाट्यकला के साथ एक नया प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं।

भारतेन्दु जी के दो अपूर्ण नाटक उपलब्ध हैं, एक 'सती प्रताप' गीति रूपक जिसकी कथा-वस्तु सावित्री-सत्यवान की पौराणिक कथा पर आधृत है। उनकी दूसरी अपूर्ण रचना 'प्रेमयोगिनी' नाट्य कला की दृष्टि से अत्यधिक महत्व की है। इसकी तकनीक म कई नये प्रयोग मिलते हैं। एक ओर इसमें काशी के पक्के मोहाल में अलग-अलग लोगों द्वारा बोली जाने वाली बोलियों के प्रयोग किए गए हैं तो दूसरी ओर धर्म के आडम्बर में विलासमय जीवन व्यतीत करते बल्लभ सम्प्रदाय के गोसाइयों के जीवन पर कटाक्ष है जो सम्भवतः काशी के गोपाल मंदिर के महन्तों का चित्रण जान पड़ता है। इतना ही नहीं, इन मन्दिरों में दर्शन करने जाने वाले वाले स्त्री-पुरुषों की गुपचुप प्रणय लीला पर भी वे व्यंग्य करते दिखाई देते हैं। काशी के गंगा-पुत्र महाराष्ट्रीय एवं दाक्षिणात्य पण्डियों का दलाल; दुकानदार आदि अनेक पात्रों का ऐसा चित्र यहाँ खींचा गया है कि उनकी दैनिक चर्या एवं अनावृत्त का विराला परिचय मिल जाता है। 'प्रेमयोगिनी' में भारतेन्दु की नाट्य-कला कैमरा का काम करती हैं। वे ठठेरा बाजार के अपने घर से निकलकर जैसे गोपाल मंदिर के गुजराती भक्तों, भक्तिनियों ओर महन्तों, दूध विनायक ओर ब्रह्माघाट के दाक्षिणात्य ब्राह्मणों, कुञ्जगली के रेशम व्यापारियों और साड़ियों के दलालों या इनके सम्पर्क में आने वाले अन्य लोगों को अपने कैमरा के लेंस से कवि चेतना के निगेटिव पर उतार कर इस नाटिका में पाजिटिव प्रिण्टिंग के रूप में उपस्थित करते हैं। इतना ही नहीं, वे अपने समय की काशी की भौगोलिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधि का गत्वर चित्र भी यहाँ हम दिखाते चलते हैं जिसे देखकर हम भी उनके पात्र की तरह कह सकते हैं—'देखी तेरी काशी भइया, देखी तेरी काशी।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु संस्कृत तथा प्राकृत की नाट्य-परम्परा के साथ लोक नाट्य परम्परा को भी जोड़कर एक नयी नाट्य परम्परा की तलाश कर रहे थे जो उनकी विविध नाट्य कृतियों की कथा वस्तु और तकनीक के साथ किए गये प्रयोगों से स्पष्ट है। खेद है कि द्विवेदी युग के नाटककारों ने इस परम्परा को आगे नहीं बढ़ाया। आज जबकि हिन्दी रंगमंच के साथ अनेक दिशाओं में नये प्रयोग हो रहे हैं, भारतेन्दु की नाट्य-कला वह दीपस्तम्भ है जो हमें हिन्दी नाटक और रंगमंच के कारण युगानुरूप नये प्रयोग करते रहने की प्रेरणा देता रहेगा।

●

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पत्रकारिता

धीरेन्द्र नाथ सिंह

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र युग-प्रवर्तक पत्रकार थे । उन्होंने अपनी पत्रकारिता के माध्यम से हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के उत्थान में योगदान किया । उन्होंने अपने जीवन काल में तीन पत्रिकाओं 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तथा 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और नारी जगत के उत्थान के लिए 'बालाबोधिनी' का सम्पादन और प्रकाशन किया था ।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने सत्रह वर्ष की उम्र में 'कविवचन सुधा' मासिक पत्रिका के सम्पादन और प्रकाशन के साथ पत्रकारिता जगत में प्रवेश किया था । यह उनकी किशोरावस्था थी । बचपन से किशोरावस्था तक उनका जीवन काव्यमय था । इस कारण सत् कविता के उद्धार और संवर्धन में उनकी गहरी रुचि थी । इसी भावना से अभिभूत होकर उन्होंने-संवत 1924 वि० (सन् 1867 ई०) में भादो शुक्ल 15 को मासिक 'कविवचन सुधा' का सम्पादन-प्रकाशन किया । सोलह पृष्ठों वाली इस पत्रिका की एक प्रति का कीमत साढ़े तीन आने थी । इस अंक में उन्होंने अपने पिता बाबू गिरिधर दास की अलंकार पुस्तक 'भारती भूषण' कवि देव के अष्टयाम का धारावाहिक प्रकाशन किया था । उन्होंने इस पत्र में एक वर्ष तक प्राचीन हिन्दी काव्य पुस्तकों का धारावाहिक प्रकाशन किया ।

इसके एक वर्ष तक प्रकाशन के बाद किसी कारण से 'कविवचन सुधा' का प्रकाशन बन्द हो गया । एक वर्ष तक प्रकाशन स्थगित रहने के बाद इस पत्रिका का पुनः प्रकाशन भाद्र शुक्ल पूर्णिमा-संवत 1927 वि० को दूसरे वर्ष के प्रथम अंक का प्रकाशन हुआ । दूसरे वर्ष से यह पत्रिका-पाक्षिक हो गयी । इसके कलेवर में भी परिवर्तन कर दिया गया किन्तु अब भी वह सोलह पृष्ठों की पत्रिका थी । पहली बार दूसरे वर्ष के प्रथम अंक से इसका सिद्धान्त वाक्य मुख पृष्ठ पर छपने लगा जो इस प्रकार था—

नित-नित नवरस यह 'कविवचन सुधा' सकल रसखानि
पीवहु सदा आनन्द भरि-परम-लाभ जिय जानि
सुधा सदा सुरपुर बसै-सोनहिं तुम्हरे जोग
तासो आदर देहु अरु, पीवहु एहि बुध लोग—

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की बौद्धिक परिपक्वता के साथ उनकी पत्रकारिता का स्वरूप भी बदला । 'कविवचन सुधा' ने दूसरे वर्ष से सचमुच में पत्रिका या अखबार का स्वरूप धारण किया । इसमें सम्पादकीय टिप्पणी समाचारावली, स्थानीय समाचार आदि प्रका-

शित होने लगे। अब इसमें गद्य लेख भी छपने लगे। देश-विदेश के साथ ही स्थानीय चुने समाचार प्रकाशित किये जाने लगे। दो वर्षों तक यह पत्रिका-पाक्षिक निकलती रही चौथे वर्ष से 'कविवचन सुधा' का साप्ताहिक प्रकाशन होने लगा।

'कविवचन सुधा के चौथे वर्ष से साप्ताहिक प्रकाशन के साथ ही इसका कलेवर तथा सिद्धान्त वाक्य भी बदल गया। आस्तिक समाज की स्थापना, राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करने, स्त्री को पुरुष के समान अधिकार दिलाने की उद्घोषणा तथा शिष्ट कविता के उद्धार का लक्ष्य लेकर 'कविवचन सुधा' पत्रिका जनता के समक्ष आयी। उसने अपने सिद्धांत वाक्य में कहा था—

खल जनन सों सज्जन दुखी—
मति होंहि हरिपद मति रहै—।
उपधर्म छूटै—स्वत्व निज
भारत लहै कर दुख वहैं—।।
बुधतजहिं मत्सर, नारि नर—
सम होंहि, जग आनन्द लहै।
तजि ग्राम कविता—सुकविजन की
अमृत वाणी सब कहैं—।।

भारतेन्दु निर्भीक पत्रकार थे। उन्होंने 'कविवचन सुधा' के माध्यम से साहित्य सेवियों को भाषा, साहित्य और राष्ट्रीयता की शिक्षा दी। अंग्रेजों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी। स्वदेशी वस्त्र और निजभाषा को अपनाने और उसके उत्थान पर उन्होंने बल दिया। नवम्बर 1870 में लार्ड मेयो का लेवी दरबार हुआ था; जिस पर भारतेन्दु ने 'लेवी प्राण लेवी' नामक व्यंग्य लेख लिखा। इस लेख के बाद वे अंग्रेजों के विरोधी समझे जाने लगे। सन् 1874 में मर्सिया शीर्षक लेख लिखा। इससे अंग्रेज सरकार बहुत नाराज हुई। सरकार 'कविवचन सुधा', 'बालाबोधिनी' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की सौ-सौ प्रतियां खरीदती थी, उसे खरीदना बन्द कर दिया। पर भारतेन्दु ने आर्थिक कष्ट उठाया किन्तु वे अंग्रेजी सरकार के आगे नहीं झुके।

'कविवचन सुधा' के माध्यम से उन्होंने देश को स्वाधीनता प्राप्त करने का आह्वान किया। 'कविवचन सुधा' ने अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये जा रहे अत्याचार को उजागर किया। देशी उद्योग को बढ़ावा के लिए जनता का आह्वान किया। सामाजिक सद्भाव बनाने और रूढ़िवाद को समाप्त करने में कविवचन सुधा ने बहुत बड़ा योगदान किया।

भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा' के माध्यम से निष्पक्ष पत्रकारिता की नींव डाली। इसके साथ ही पत्रकारों के लिए 16 सूत्री आचार संहिता भी बनायी। उन्होंने सही घटनाओं के निष्पक्ष रूप से प्रकाशन पर जोर दिया। चरित्र हनन सम्बन्धी समाचार के

प्रकाशन का निषेध किया। उन्होंने पत्रकारों को निर्भीक बनने तथा सत्य कहने की शिक्षा दी।

भारतेन्दु ने लगभग साढ़े सात वर्षों तक स्वयं 'कविवचन सुधा' का सम्पादन प्रकाशन किया। इस अवधि की 'कविवचन सुधा' भारतेन्दु युग का जीवित इतिहास है। भारतेन्दु ने इस पत्रिका को चिन्तामणि धड़फले को प्रकाशन सम्पादन के लिए दिया। बाद में उसमें भारतेन्दु ने लिखना भी बन्द कर दिया। बाद के 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु की आत्मा नहीं थी।

हरिश्चन्द्र मैगजीन—

'कविवचन सुधा के' सात वर्षों तक सम्पादन करने के बाद भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के विचार काफी परिष्कृत हो चुके थे। उनकी विचार और भाषा में पर्याप्त प्रौढ़ता आ गयी थी। अतः उन्होंने अब दूसरी साहित्यिक मासिक पत्रिका 'हरिश्चन्द्र मैगजीन का 15 अक्तूबर 1873 ई० को प्रकाशन आरम्भ किया। यह विविध विषयों की मासिक पत्रिका थी। आठ अंकों के प्रकाशन के बाद इसका नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' कर दिया गया। चन्द्रिका 1880 तक अपने स्निग्ध किरणों से हिन्दी जगत को रसाप्यायित करती रही। इसका सिद्धांत वाक्य था—

कविजन-कुमुद गन हिय विकासि चकोर-रसिकन सुख भरै।
प्रेमिन सुधा सों सींचि भारत भूमि आलस तम हरै।
उद्यम सुओषधि पोखि बिरहिन तापि खल चोरन दरै।
हरिचन्द्र की यह चन्द्रिका परकासि जग मंगल करै।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जिस समय पत्रकारिता के क्षेत्र में आये उस समय तक हिन्दी भाषा का कोई मान्य स्वरूप नहीं बन सका था। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने हिन्दी को हिन्दुस्तानी बनाकर हिन्दी को जीवित अवश्य रखा किन्तु उसमें हिन्दी की आत्मा नहीं थी। ऐसी विषम स्थिति में उन्हें काम करना पड़ रहा था। उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के माध्यम से हिन्दी गद्य का अभिनव स्वरूप देने का प्रयत्न किया। उन्होंने भाषा के स्वरूप निर्धारण की चर्चा करते हुए अपने 'हिन्दी भाषा' शीर्षक लेख में कहा था—

"हमारी भाषा का पहला उद्देश्य विचारों को सर्वजन हिताय प्रकृत और सरल ढग से प्रकट करना है। ऐसा भी एक निरपेक्ष सामंजस्य हैं जो मनमानी भरती के अरबी-फारसी के प्रयोगों और शब्दों से उतना ही विचार वैमनस्य रखता है जितना संस्कृत की तत्सम शब्दावली से।"

इस प्रकार उन्होंने इस विचार के परिप्रेक्ष में हिन्दी भाषा के जिस स्वरूप की स्थापना की—उसका उन्होंने अपने 'हिन्दी भाषा' नामक पुस्तक में विस्तृत विवेचन किया। हिन्दी भाषा का वही रूप सर्वमान्य हुआ। सरल, सुबोध और प्रवाहमयी भाषा युक्त हिन्दी गद्य के प्रचलन में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का सर्वाधिक योग है।

हिन्दी को 'नयी चाल में ढालने' का योगदान इसी पत्रिका को है। इसके माध्यम से हिन्दी गद्य का परिमार्जित स्वरूप आया। इस पत्रिका में लोकमत जानने के लिए सम्पादक के नाम पत्र छापे जाते थे। पुस्तक समीक्षा भी छपती थी।

'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' ने भी साहित्य और पत्रकारिता के माध्यम से राष्ट्रीय भावना जगाने, हिन्दी गद्य को निबन्धों के माध्यम से सम्बन्धित करने, हिंन्दी की विविध विधाओं को समुनन्त करने तथा हिन्दी भाषा को प्रतिष्ठित करने के लिए संघर्ष में योगदान किया। इसे भी अपनी स्पष्टवादिता के कारण सरकार का कोप भाजन बनना पड़ा था। 'चन्द्रिका' में 'यति-वेश्या संवाद' लेख प्रकाशित हुआ। इससे सरकार बहुत नाराज हुई और 'चन्द्रिका' की सौ प्रतियां सरकार खरीदती थी उसे खरीदना बन्द कर दिया। पर 'चन्द्रिका' अपने लक्ष्य से नहीं हटी।

भारतेन्दु जी ने साढ़े पांच वर्षों तक सम्पादन प्रकाशन के बाद 1880 में इस पत्रिका को मोहनलाल, विष्णुलाल पांड्या को के दिया जिसे उन्होंने 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' नाम से निकाला।

भारतेन्दु ने चार वर्षों बाद 1884 में इसे नवोदित 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' नाम से निकाला किन्तु दो ही अंक इसके प्रकाशित हुए उसके बाद भारतेन्दु जी का निधन हो गया।

नारी जगत की पत्रिका—'बाला बोधिनी'

भारतेन्दु जी प्रगतिशील दृष्टि के व्यक्ति थे। वे यह मानते थे कि केवल पुरुषों के ही उत्थान से समाज विकसित नहीं होगा, वरन् स्त्री-पुरुष दोनों के समान विकास से ही समाज और देश समुन्नत करेगा। पुरुष और स्त्री को समान अधिकार होना चाहिए। इसी दृष्टि से उन्होंने पहली जनवरी 1884 ई० को हिन्दी जगत की पहली नारी पत्रिका 'बालाबोधिनी' का सम्पादन प्रकाशन किया।

स्त्रियों को सुशिक्षित कर सुयोग्य आदर्श भारतीय नारी और पुरुषों का योग्य सहधर्मिणी बनाना इस पत्र का मुख्य उद्देश्य था।

इसका आदर्श वाक्य था—

जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोई शक्ति।
जोई नारी–सोई पुरुष, यामैं कछु न विभक्ति।।
सीता अनुसूया–सती अरुधंती–अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण–लहो सकल जगनारि।
पितु पति सुत करतल कमल ललित ललना लोग
पढ़ै, गुनै, सीखैं, सुनैं, नासैं भव जग सोग—
वीर प्रसविनी बुध बधू, होइ हीनता खोय
नारी नर अरधंग का—सांचेहि स्वामिनी होय।।

'बालाबोधिनी' में स्त्री शिक्षा से सम्बन्धी लेख, नाटक, कविता, निबन्ध आदि प्रकाशित किये जाते थे। भारतीय नारी को सामाजिक कुण्ठा, घूटन, संत्रास से हटाकर आदर्श, शिक्षित और प्रगतिशील नारी बनाने में 'बालाबोधिनी' का प्रयत्न सराहनीय था। शीलवती, पतिव्रत, शिशुपालन, कुलवधुजनों की चेतावनी जैसे स्त्री उपयोगी लेख इसमें प्रकाशित होते थे। पांच वर्षों तक यह पत्रिका प्रकाशित होने के बाद सदा के लिए बन्द हो गयी।

हिन्दी जगत में नारी पत्रकारिता की नींव डालने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही है। यह उनके विराट दृष्टिकोण का परिचायक है।

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' तथा 'बालाबोधिनी' का सम्पादन और प्रकाशन कर–राष्ट्रीयता, हिन्दी भाषा को जन-जन तक पहुंचाने और नारी जागरण का संदेश दे बहुआयामी पत्रकारिता की नींव डाली थी।

निष्कर्ष :

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्रिका के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना जगायी और स्वाधीनता का संदेश दिया। उन्होंने पत्रकारिता के माध्यम से सत्य और न्याय के लिए संघर्ष किया।

2. पत्रकारिता के माध्यम से उन्होंने हिन्दी भाषा को एक व्यवस्थित तथा सर्वमान्य स्वरूप प्रदान किया तथा एक मान्य वर्तिनी निर्धारित की। इसके साथ ही हिन्दी गद्य को परिमार्जित स्वरूप प्रदान किया।

3. उन्होंने निर्भीक पत्रकारिता का आदर्श प्रस्तुत कर पत्रकारों के लिये 16 सूत्रीय आचार संहिता भी बनायी।

4. नारी को समाज का महत्त्वपूर्ण अंग मान पुरुष के बराबर अधिकार दिए जाने की माँग करते हुए शिक्षा को आवश्यक माना और नारी समाज के विकास के लिए हिन्दी में पहली बार नारी पत्रिका प्रकाशन किया ।

5. अपनी पत्रकारिता के माध्यम से रूढ़िवाद, साम्प्रदायिता, राजनीतिक गुलामी, अंग्रेजी शिक्षा, तथा अंग्रेजी शासन का विरोध किया । उनका पत्र जनता के विचारों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम था ।

6. भारतेन्दु हरिचन्द्र ने आर्थिक कठिनाइयों, ग्राहकों की कमी, समय पर चन्दा न मिलने तथा सरकार की पत्रिका के प्रति कुदृष्टि होते हुए समाज के चतुर्दिक विकास और लोक मंगल के लिए तीन पत्रिकाओं का सम्पादन और प्रकाशन किया ।

7. न्यायालयों के निर्णय और कानूनी जानकारी देने के लिए उन्होंने 'नीति प्रकाश' नाम से विधि पत्रिका का 1875 में प्रकाशन की योजना बनायी थी । पर 500 ग्राहक नहीं मिलने के कारण उक्त पत्रिका का प्रकाशन नहीं हो सका । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की यह दूरदर्शिता का परिचायक है ।

◆

भारतेन्दु की भाषा-चेतना

रामचन्द्र तिवारी

भारतेन्दु की भाषा-चेतना उनकी समग्र चेतना का प्रतिरूप है। भारतेन्दु उन्नीसवीं शती उत्तरार्ध की भारतीय चेतना के प्रखर प्रतिनिधि हैं। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध का भारत सांस्कृतिक स्तर पर अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाने के लिए छटपटा रहा था। इस छटपटाहट की शुरुआत राजा राममोहन राय द्वारा बंगाल में 'ब्राह्म समाज' की स्थापना (सन् 1828 ई०) से ही हो गई थी। सन् 1873 ई० में पूना में संस्थापित 'सत्यशोधक समाज' तथा सन् 1875 में बम्बई में स्थापित 'आर्यसमाज' जैसी धार्मिक-सामाजिक सुधारवादी संस्थायें और उनके द्वारा संचालित आन्दोलन इसी चेतना की विकास-परम्परा की परिणति हैं। इन संस्थाओं और आन्दोलनों की अपनी कमियाँ हो सकती हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि समाज में नवीन सामाजिक चेतना और विवेक-केन्द्रित जीवन-दृष्टि के विकास में इनका योगदान अविस्मरणीय है। वस्तुतः ये आन्दोलन अंग्रेजों के धार्मिक सांस्कृतिक आक्रमण के जवाब में भारतीय धार्मिक-आध्यात्मिक चिन्तन के मूल केन्द्र—वैदिक साहित्य—के आधार पर ही संघटित एवं संचालित हुए थे। एक ओर ये सांस्कृतिक आन्दोलन शिक्षित समाज में बौद्धिक जीवन-दृष्टि विकसित करके व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं मानवीय एकता की भावना दृढ़ कर रहे थे दूसरी ओर राजनीतिक स्तर पर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध पूरे देश में जनाक्रोश क्षेत्रीय विद्रोहों के रूप में मुखरित हो रहा था। 1859-62 ई० में बंगाल का नील-विद्रोह; 1863 ई० में सिक्खों के नामधारी सम्प्रदाय का विद्रोह; 1872-73 में रैयत सभा का विद्रोह; 1873-75 ई० में महाराष्ट्र के सभी जिलों में किसानों का सशस्त्र विद्रोह; 1879 ई० मद्रास प्रेसीडेंसी में गोदावरी के किनारे रम्पा क्षेत्र में पर्वतीय आदिवासियों और किसानों का सशस्त्र विद्रोह; यह प्रमाणित करता है कि सन् 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के विफल होने पर भी पूरे देश में भीषण जनाक्रोश व्याप्त था और जनता स्वतन्त्रता के लिए बेचैन थी। इन आन्दोलनों की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इनके पीछे कोई सुविचारित योजना और दीर्घकालीन रणनीति नहीं थी। ये विद्रोह स्वतःस्फूर्त थे। ये आन्दोलन राष्ट्रव्यापी होते हुए भी पूरे राष्ट्र की मुक्ति के आन्दोलन नहीं कहे जा सकते। इस आक्रोश को एक केन्द्रीय चेतना का रूप देकर प्रखर राष्ट्रीयता विकसित करने की बात इस समय नहीं सोची गई। यह कार्य आगे चलकर उन्नीसवीं शती के अन्तिम दशक में बाल गंगाधर तिलक (1856–1920 ई०) ने किया।

उन्नीसवीं शती के मध्य तक भारतीय जन-चेतना ने अंग्रेजों की शोषण-नीति को भी अच्छी तरह समझ लिया था। दादा भाई नौरोजी (1825–1917 ई०) (जो अंग्रेजों के समर्थक थे) तक ने यह लक्षित किया था कि अंग्रेजों के क्रूर शोषण से भारत बिल्कुल पस्त हो गया है। सन् 1900 ई० में उन्होंने अंग्रेजों को सम्बोधित करते हुए कहा था–"भारत की कमाई और खून के बल पर यह साम्राज्य निर्मित हुआ है और अब तक कायम रखा गया है। इन लड़ाइयों में जो भारी खर्च हुआ और इसके साथ जो साल-दर साल तुम भारत से करोड़ों–अरबों रुपया ढोकर ले जाते हो उससे भारत बिल्कुल पस्त हो गया है, उसमें अब खून नहीं रह गया। कोई ताज्जुब नहीं कि ऐसा समय आया है कि भारत अब दम तोड़ रहा है। इस देश की दौलत जो बराबर ढोकर ले जाते रहे हो, उसमें तुमने उसे इस दशा तक पहुंचा दिया है।"[1] दादा भाई नौरोजी ने जो कुछ कहा था वह उनके जीवन अनुभव का निचोड़ था।

इन सबके बावजूद उन्नीसवीं शती का शिक्षित मध्य वर्ग अंग्रेजी राज्य का, उसके द्वारा स्थापित शांति-व्यवस्था का, उसके द्वारा देश की प्रगति के लिए किए जा रहे समाज सुधार एवं शिक्षा सम्बन्धी कार्यों का प्रशंसक था। उसके दो कारण थे। एक तो यह कि कम्पनी के शासन की समाप्ति के बाद महारानी विक्टोरिया के सत्ता में आने पर भारतीय प्रजा न्याय प्राप्ति के लिए विशेष रूप से आशान्वित हुई थी। दूसरे अंग्रेजों ने अराजकता दूर करने के लिए जो चुस्त शासन-व्यवस्था स्थापित की थी वह परवर्ती मुगल-शासन और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन दोनों से निश्चय ही बेहतर थी।

भारतेन्दु का जन्म सन् 1850 ई० में हुआ था। 18 साल की अवस्था में इन्होंने 'कवि वचन सुधा' (1868 ई०, सवत् 1925 वि०) का प्रकाशन आरम्भ किया था।[2] इस समय तक ये बौद्धिक दृष्टि से इतने जाग्रत एवं समृद्ध हो चुके थे कि जीवन-जगत् एवं साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर सके। निश्चय ही 'भारतेन्दु' की जीवन-दृष्टि एवं विचारधारा को तत्कालीन देशव्यापी सामाजिक–राजनीतिक चेतना ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है। उनकी स्वातन्त्र्य चेतना, सुधारवादी-दृष्टि, राज-भक्ति और देश-भक्ति के लिए पहले से व्यापक आधार बन चुका था। यह होने पर भी उनके व्यक्तित्व एवं जीवन-दृष्टि में कुछ नितान्त मौलिक तत्त्व अवश्य थे। जिनके कारण वे हिन्दी-भाषी जन समुदाय में स्पृहणीय लोकप्रियता प्राप्त कर सके थे। यहाँ उनके व्यक्तित्व के मौलिक आधार का विवेचन आवश्यक है। व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य के कारण ही उनकी भाषा-चेतना तत्कालीन परिवेश का अतिक्रमण कर सकी थी।

भारतेन्दु की सबसे बड़ी विशेषता थी अभिजात संस्कारों से मुक्त होकर जन-सामान्य में अपने को पूरी तरह घुला-मिला देना। उनकी दूसरी विशेषता थी गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अर्थात् लोक-बद्ध रहते हुए परम्परागत रूढ़ियों और अंध-विश्वासों से टकराना और नवीन जीवन-दृष्टि का समर्थन करना। राजा राम मोहन राय ने नवीन विचारों की

संस्थापना के लिए 'ब्राह्म-समाज' की स्थापना की। स्वामी दयानन्द ने सन्यास ग्रहण किया और 'आर्य समाज' की स्थापना की। इस प्रकार के प्रयत्न भारतीय मानस पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल पाते। भारतीय मानस परम्परा के भीतर से परम्परा को तोड़ने में विश्वास करता है। सन्यासी होकर तो आप कुछ भी करने के लिए मुक्त हो जाते हैं। तारीफ तो तब है जब आप सनातनी रहते हुए सनातन-धर्म को उदार, प्रगतिशील और विश्व-दृष्टि सम्पन्न बनाएँ। भारतेन्दु ने यही किया था। भारतेन्दु की तीसरी विशेषता थी अपनी भाषा को स्वतन्त्र चिंतन का आधार बनाना। सभी प्रकार के व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर उठकर गुणियों का सम्मान करना उनकी चौथी विशेषता थी। इन सभी स्तरों पर वे अपने से पूर्व और अपने समय के सभी समाज सुधारकों, नेताओं और साहित्यकारों से अलग थे। उनका व्यक्तित्व विलक्षण था। उनके व्यक्तित्व की इस विलक्षणता ने उनकी भाषा चेतना को विश्व-दृष्टि सम्पन्न बनाया था। तत्कालीन परिवेश को देखते हुए यह तथ्य विस्मय-विमुग्ध कर देता है।

इतिहास प्रसिद्ध तथ्य है कि भारतेन्दु उन सेठ अमीचन्द के वंशज थे "जिनकी अनेक प्रकार से सुसज्जित विशाल राजपुरी, पुष्प वृक्षादि से सुशोभित विख्यात उद्यान, मणि-मणिकादि से परिपूर्ण राजभण्डार सशस्त्र सैनिकों से भरा हुआ सिंहद्वार तथा अनेक विभाग के असंख्य सेवकों की भीड़ को देखकर लोग इन्हें केवल व्यापारी महाजन न समझ कर राजा मानने लगे थे।"[8] इस वैभवपूर्ण विरासत को भारतेन्दु ने एक झटके में तोड़ दिया। प्रश्न केवल वैभव से मुक्त होने का नहीं, उस अभिजात संस्कार और वर्ग-चेतना से मुक्त होने का है जिसके चलते हम अपने भीतर जन-साधारण से बड़ा होने का दम्भ पाल लेते हैं। भारतेन्दु का मन वैभव और समृद्धि से उत्पन्न बड़प्पन के दम्भ से मुक्त हो चुका था। लावनी बाजों के बीच बैठकर लावनी—दंगल में शरीक होना, चूरन बेचनेवालों की मानसिकता से जुड़कर चूरन लटका लिखना, 'परिहास पंचक' में गड़रिये का गीत लिखना 'इन्दर सभा' की पैरोडी करते हुए 'बन्दर सभा' लिखना लोक-जीवन में घुल मिलकर 'होली' और 'कजली' लिखना इस बात को प्रमाणित करता है कि वे जन-चेतना से बहुत गहरे स्तर पर जुड़े थे। काशी के जन-जीवन को जितना भारतेन्दु ने प्रभावित किया था उतना उस समय के किसी अन्य नेता ने नहीं।

भारतेन्दु ने समाज-परिष्कार के लिए परम्परागत समाज से अपने को अलग नहीं किया। परम्परागत वैष्णवधर्म को मानते हुए भी आपने विधवा-विवाह का समर्थन किया। विलायत यात्रा को उचित बताया। स्त्रियों की शिक्षा पर बल दिया। बाल-विवाह का निषेध किया। विवाह के अवसर पर अश्लील गीतों की गायन-प्रथा को बन्द करवाया। आपसी भेद-भाव, साम्प्रदायिक-धार्मिक सकीर्णता, अंध विश्वास आदि की व्यर्थता सिद्ध की। इस प्रकार जीवन के प्रति स्वस्थ और प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय दिया। इसके लिए न उन्हें किसी धर्म ग्रंथ को अस्वीकार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई न किसी धार्मिक मत के खण्डन की। यही नहीं उन्होंने अपने समय की जीवन-पद्धति को गहराई से देखा-

परखा और अन्याय एवं शोषण के स्रोतों की तीव्र आलोचना भी की। अपनी मुकरियों में अंग्रेजी, अंगरेज, पुलिस और कानून की ऐसी तीखी आलोचना भारतेन्दु ही कर सकते थे—

भीतर तत्त्व न झूठी तेजी
क्यों सखि ! साजन नहिं, अंगरेजी।

× ×

भीतर भीतर सब रस चूसै।
हंसि हंसि के तन मन धन मूसै ॥
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि ! सज्जन, नहिं, अंगरेज ॥

× ×

रूप दिखावत सरबस लूटै।
फन्दे में जो पड़ै न छूटै ॥
कपट कटारी जिय में हुलिस।
क्यों सखि ! साजन नहि सखि पुलिस ॥

× ×

नई-नई नित तान सुनावै।
अपने जाल में जगत फँसावै ॥
नित-नित हमें करै बल–सुन।
क्यों सखि साजन नहिं कानून ॥[4]

अपने 'चूरन लटके' में अमले, महाजन, साहब और पुलिस की जो तीखी आलोचना भारतेन्दु ने की है वह आज भी दुर्लभ है।

चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिश्वत तुरत पचावैं ॥
चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते ॥
चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता।
चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते ॥[5]

यह सब भारतेन्दु ने मार्क्सवाद का दर्शन पढ़कर नहीं लिखा था। जीवन की गतिविधि को खुली आँखों से देखकर अपने अनुभव और यथार्थबोध के आधार पर लिखा था। शासक और शोषक का विरोध करने में न तो वैष्णव संस्कार बाधक हुआ न भाववादी जीवन-दृष्टि आड़े आई।

भारतेन्दु आधुनिक साहित्यकारों की परम्परा में पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा था कि अपनी भाषा में ही स्वतन्त्र चिंतन हो सकता है। 'हिन्दी की उन्नति' पर उन्होंने जो पद्यबद्ध व्याख्यान दिया है उसमें बहुत साफ कहा है कि आप चाहे बहुत सी

भाषायें सीख ले और लाखों पद्धतियों को अपनाकर पढ़े लिखें लेकिन 'सोचने की प्रक्रिया' अपनी भाषा में ही संभव है ।

पढ़ो लिखो कोउ लाख विध, भाषा बहुत प्रकार ।
पै जबही कछु सोचिहो निज भाषा अनुसार ।।[6]

यह बात आज भी हमारे बुद्धिजीवियों की समझ में नहीं आई है । स्वयं भारतेन्दु ने अपने समय की परिस्थिति का गंभीर विवेचन करते हुए उन्नति के लिए जो सूत्र सुझाए हैं वह किस भाषा में ? उनका समग्र चिंतन हिन्दी माध्यम से ही हुआ है । भाषा राष्ट्र-विशेष की मानसिक बौद्धिक चेतना के विकास का प्रतिरूप है । आप अन्य समृद्ध भाषाओं से ज्ञान अर्जित कर सकते हैं । वह ज्ञानार्जन आपके चिंतन को विस्तार दे सकता है लेकिन उसे मौलिक आधार देने के लिए अपनी भाषा को ही माध्यम बनाना होगा । जबसे अंग्रेजी के द्वारा विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनाई गई तभी से इस देश के लोग अपना बहुमूल्य समय अंग्रेजी के ज्ञानार्जन में खपा रहे हैं लेकिन उनमें कितने लोगों ने उस भाषा में कोई मौलिक रचना की, अंग्रेजी में 'राम की शक्ति पूजा' क्यों नहीं लिखी गई, 'कामायनी' जैसी कोई रचना किसी भारतीय अंग्रेजी दाँ ने क्यों नहीं प्रस्तुत की, टैगोर ने अपनी सर्वोत्तम कृति बंगला भाषा में ही क्यों रची, जहां तक विज्ञान और मानविकी का प्रश्न है अपनी भाषा के माध्यय से चिंतन की क्षमता के अभाव के कारण ही विश्व स्तर पर हमें कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली । हमारा औसत सामाजिक-राजनीतिक चिंतन निम्न कोटि का है । विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में भी कुछ अपवादों को छोड़कर हम बहुत पीछे हैं । भारतेन्दु ने कहा था—

अंग्रेजी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन ।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन ।।[7]

जहाँ तक ज्ञानार्जन का प्रश्न है अंगरेजी ही क्यों सभी उन्नत देशों की भाषाओं में व्यक्त ज्ञान का अर्जन करना चाहिए किन्तु उस समूचे ज्ञान को पूरी निष्ठा और शक्ति से अपनी भाषा में व्यक्त करने की चेष्टा करनी चाहिए । अंग्रेजों ने यही किया है । उन्हें जहां जिस किसी भाषा में उच्चस्तर का ज्ञान मिला उन्होंने उसका अध्ययन किया और उसे अपनी भाषा में व्यक्त किया । यही पद्धति हमें भी अपनानी चाहिए—

विविध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार ।
सब देसन से ले करहु भाषा माँहि प्रचार ।।
जहाँ जौन को गुन लह्यो लियो तहाँ सो तौन ।
ताही सों अंगरेज अब सब विद्या के भौन ।।[8]

हिन्दी की उन्नति पर विचार करते हुए ही भारतेन्दु ने लक्षित किया था कि हमारा कल-बल-छल से शोषण किया जा रहा है । हम विदेशी चीजें खरीदने के लिए विवश हैं । हम विदेशी जुलाहों के गुलाम हो गए हैं । वस्त्र ही नहीं काँच के सामान, कागज, कलम,

चित्र, खिलौने आदि सभी सामान विदेश में आता है। यहां से रूई, सींग, चमड़ा यह सब कच्चा माल वहाँ जाता है। हम विनोद-प्रमोद की सभी चीजें वहीं से खरीदते हैं। हम धीरे-धीरे निर्धन होते जा रहे हैं। यह हमारा उत्पादन कला के आधीन है। (कला से तात्पर्य तकनीक के ज्ञान से है।) हमारी भाषा में तकनीकी ज्ञान के ग्रंथ नहीं हैं। इसी से अपने देश की संपत्ति को बचाने का कोई उपाय हमें नहीं सूझता। यदि हम अंग्रेजी पढ़कर और विलायत जाकर यह ज्ञान प्राप्त करें तो काम बन सकता है। यदि सभी तकनीक ज्ञान का हिन्दी में अनुवाद हो सकता तो तकनीकी ज्ञान प्राप्त करना और उपयोग की वस्तुओं का अपने देश में बनाना आरंभ हो जाता और हमारा दैन्य मिट जाता।

कल के कल बल छलन सों छले इते के लोग।
नित नित धन सों घटत हैं बाढ़त है सुख सोग।।
मारकीन कल मल बिना चलत कछू नहिं काम।
परदेसी जुलहान कै मानहु भये गुलाम।।
वस्त्र कांच कागज कलम चित्र खिलौने आदि।
आवत सब परदेस सों नितहिं जहाजन लादि।।
इतकी रूई सींग अरु चरमहि तित लै जाय।
ताहि स्वच्छ करि वस्तु बहु भेजत इतहि बनाय।।
तिनही को हम पाइके साजत निज आमोद।
तिन बिन छिन तृन सकल सुख स्वाद विनोद प्रमोद।
निरधन दिन-दिन होत है भारत भुव सब भांति।
ताहि बचाइन कोउ सकत निज भुज बुधि बल कांति।।
यह सब कला अधीन है तामैं इतै न ग्रंथ।
तासों सूझत नाहिं कछु द्रव्य बचावन पंथ।।
अंगरेजी पहिले पढ़ै पुनि विलायत तहि जाय।
या विधा को भेद सब तो कछु ताहि लखाय।।
पै सब विद्या की कहूँ होत जु पै अनुवाद।।
निज भाषा महँ तो सबै याको लहै सवाद।।
जानि सकै सब कछु सबहि विविध कला के भेद।
बनै वस्तु कल की इतै मिटै दीनता भेद।[1]

भारतेन्दु ने जनता का आह्वान करते हुए कहा कि विदेशी वस्तुओं और विदेशी बुद्धि की आशा करते हुए कब तक दास बने रहोगे? अपनी भाषा, अपना धर्म, अपना मान, कर्म, व्यवहार सब की उन्नति में जुट जाओ। देखो, पूरब में भारत का सूर्य उदय हो चुका है। अब उठो। दुख के अंधकार को मिटाकर हृदय कमल को विकसित करो।

परदेसी की बुद्धि अरु वस्तुन की करि आस।
पर-बस ह्वै कबलौं कहौ रहिहौ तुम ह्वै दास।।

निज भाषा, निज धरम, निज मान करम ब्योहार।
सबै बढ़ावहु बेगि मिलि कहत पुकार-पुकार॥
लखहु उदित पूरब भयो भारत-भानु प्रकास।
उठहु खिलावहु हिय-कमल करहु तिमिर दुखनास॥[10]

इसी पद्यात्मक व्याख्यान में भारतेन्दु ने अपना यह प्रसिद्ध निर्णयात्मक मत व्यक्त किया था—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।[11]

मुझे नहीं ज्ञात है कि भाषा की समृद्धि के प्रश्न पर विचार करते हुए आज तक किसी ने मुझे भारतेन्दु के उपर्युक्त चिंतन से अधिक ठोस और व्यावहारिक बात कही है। भारतेन्दु जब भाषा की बात करते हैं तो देश की राजनीतिक, मानसिक, बौद्धिक स्वतन्त्रता और सर्वतोमुखी विकास की बात कहते हैं, मात्र हिन्दी भाषा की संरचना की नहीं। भाषा की समृद्धि का प्रश्न देश की स्वतंत्रता का प्रश्न है, आर्थिक समृद्धि का प्रश्न है, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विश्व-दृष्टि अपनाने का प्रश्न है। मानसिक बौद्धिक जागृति का प्रश्न है। अपने स्वत्व की पहचान का प्रश्न है। मात्र शब्द-चयन, वाक्य-संघटन और क्रिया पदों की रूप-रचना का प्रश्न नहीं है।

भारतेन्दु कवियों, विद्वानों तथा गुणियों को पूरा-पूरा सम्मान देते थे चाहे वह किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय या क्षेत्र का क्यों न हो उन्होंने अपने जीवन में अनेक गुणियों को बहुमूल्य उपहार देकर सम्मानित किया था। श्री बापूदेवशास्त्री, सुधाकर द्विवेदी (ज्योतिषी), गट्टूलाल जी (आशुकवि), नारायण मार्तण्ड (गणितज्ञ), बेंकट सुप्पैयाचार्य (धनुर्धर), बाबा तुलसीदास (पहलवान), कवि परमानन्द जी (सतसई के संस्कृत अनुवादक), श्री अप्पयाचार्य (कवि), लखनऊ के बौदल वाजपेयी (वैयाकरणी), मिर्ज़ाआबिद (शायर) आदि को उन्होंने जिस प्रकार उपहार देकर सम्मानित किया था वह सब उनके जीवन चरित के साथ जुड़कर इतिहास प्रसिद्ध हो चुका है। उन्होंने जो अपने बारे में "सेवक गुनी जन के चाकर चतुर के हैं, कविन के मीत चित हित गुनगानी के।"[12] कहा है वह अक्षरशः सत्य है। गुणियों का आदर करके उन्हें आत्मतोष मिलता था। इन विद्वानों, कवियों और गुणियों में वे भारत की परंपरागत गौरव गरिमा का दर्शन करते थे और उन्हें भारत के स्वत्व का बोध होता था। भारतेन्दु की यह विशेषता उनके समय के अन्य नेताओं और सुधारकों के व्यक्तित्व से तुलना करने पर और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। स्वामी दयानन्द ने अपनी खण्डनात्मक दृष्टि के कारण बहुतों को अपना विरोधी बना लिया था। केशव चन्द सेन का ब्रह्मचिन्तन मध्यकालीन भक्तिसाधन को अस्वीकार करके सामने आया था। अपनी विवेक सम्मत धर्मबुद्धि के बावजूद यह अस्वीकार

उसे मँहगा पड़ा था। भारत को उसकी समग्रता में देखने वाला विचारक मध्यकालीन भक्तिसाधना की अवहेलना नहीं कर सकता। वैष्णव भक्ति आन्दोलन में पूरे मध्यकालीन भारतीय साहित्य को अपनी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित किया है। भारतेन्दु के गुरू राजा शिवप्रसाद का हिन्दी लेखन कम महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु उनकी अंगरेज परस्ती ने उनके व्यक्तित्व को अधूरा बना दिया था। इन सबकी तुलना में भारतेन्दु का व्यक्तित्व विलक्षण है। काल की गति को जितना उन्होंने पहचाना है उतना किसी अन्य ने नहीं। वे कहते हैं—"अब वह काल नहीं है कि हम लोग भिन्न-भिन्न अपनी खिचड़ी अलग पकाया करे। अब महाघोर कलिकाल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अब सब लोग एकत्र हों।" उन्होंने शैव, शाक्त सिक्ख, वैष्णव ब्राह्मण, आर्य समाजी सबको एक सूत्र में बंधकर संगठित होने की आवश्यता पर बल दिया है सबको साथ लेकर पूरी शक्ति से आगे बढ़ने की चेतना भारतेन्दु के व्यक्तित्व को अद्भुत गरिमा प्रदान करती है। निस्सन्देह उनकी भाषा-चेतना उनके इस अद्भुत महिमामय व्यक्तित्व का प्रतिरूप है।

भारतेन्दु जब भाषा की बात करते हैं तो वस्तुतः भारतीय अस्मिता की बात करते हैं। दूसरे लोग जब भाषा की बात करते हैं तो वाक्य-रचना, पद–विन्यास और शब्द-चयन की बात करते हैं। सोच का यह अन्तर भारतेन्दु को मौलिकता प्रदान करता है। जिस प्रकार भारतेन्दु अपने विरोधी (यदि वह गुणी है) को भी आदर और सम्मान देना जानते थे। उसी प्रकार उनकी हिन्दी अपनी प्रतिद्वन्द्विनी बोलियों और भाषाओं को भी सम्मान देना जानती है। इसीलिए वे राजा शिवप्रसाद की उर्दूनुमा और राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के बीच से जनभावना के अनुकूल हिन्दी को विकसित करने में सफल हो सके थे। इसीलिए वे बंगाली, महाराष्ट्री-एडिटर, देशी, कवि, डिसलायलटी, आदि अनेक पात्रों को उनकी प्रकृति के अनुकूल अत्यन्त सजीव वाणी दे सके हैं। उनकी हिन्दी में 'कमेटी' 'असोसिएशन' 'गवर्नमेण्ट', 'कमिश्नर', 'एजूकेशव', स्पीच', 'फैशन', 'टेबुल', 'आर्टिकिल', 'डिसलायलटी', 'पालसी', 'ऐक्ट', 'चेयरमैन', जैसे अंग्रेजी, 'अखबार' 'दरबार', 'खारिज', 'आफत', 'मुकाबला', 'खारिज', 'फौज', 'हाकिम', 'दफा', 'पेश्तर' 'कानून', 'जवाब'. जैसे उर्दू और 'दुर्दैव', 'सभ्यगण', 'अनुमति', 'करतल ध्वनि', 'परिहार', 'प्राणपण' 'सैन्य', 'जलमंत्र', 'फलसिद्धि', 'एक चित्त', 'कापुरुष', 'शिष्टाचार', जैसे तत्सम शब्द एक साथ प्रयुक्त हुये हैं। यही नहीं उन्होंने पात्रों के अनुकूल शब्दोच्चारण बोलने के लहजे और वाक्यों के रचाव में भी परिवर्तन किया है। इतना ही नहीं प्रान्त विशेष से सम्बन्ध पात्र के कथन में उस प्रान्त की तत्कालीन मानसिकता और सोच की अभिव्यक्ति भी भारतेन्दु ने की है। बंगाली लोग विरोध का एक ही तरीका जानते थे— "मिलकर एक साथ गोलमाल करना।" महाराष्ट्र के लोग अधिक कूटनीतिज्ञ थे। वे परिस्थिति की अच्छी तरह समझ कर उचित कदम उठाने में विश्वास करते थे। एडिटर विरोध में आर्टीकिल लिखकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते थे। देशी आदमी

(उत्तर प्रदेश वाले) हाकिमों से बेहद डरते थे। उन्हें कमिश्नर साहब के दरबार से अपना नाम खारिज किए जाने की विशेष चिन्ता रहती थी।[13] भारतेन्दु की भाषा देश की इस समग्र चेतना को वहन करने में समर्थ है। 'भारत दुर्दशा' में उन्होंने हिन्दी-भाषा को चेतना के स्तर पर अखिल भारतीय आयाम प्रदान किया है।

भारतेन्दु ने 'कालचक्र' नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है—'हिन्दी नई चाल में ढली' सन् 1873 ई०[14] वस्तुतः इसी वर्ष से भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया था। बाद को इस पत्रिका का नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया। इस 'चन्द्रिका' के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"हिन्दी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले-पहल इसी चन्द्रिका में प्रकट हुआ।"[15] डा० रामविलास शर्मा का निष्कर्ष है—"महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' को छोड़कर हिन्दी की और कोई ऐसी पत्रिका नहीं है जिसका इतना गहरा असर हिन्दी भाषा के निखार और साहित्य के विकास पर पड़ा हो।"[16] यह स्वीकार करते हुए भी डॉ० शर्मा हिन्दी के नई चाल में ढलने की प्रक्रिया का 1873 ई० से बहुत पहले सम्पन्न होना स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है—"भाषा की दृष्टि से यह कहना ठीक न होगा कि हिन्दी नयी चाल में ढली सन् 1873 ई० में, यह ढलाई का काम सन् 1873 से बहुत पहले सम्पन्न हो चुका था।"[17] उनकी मान्यता है—"हिन्दी नयी चाल में ढली 1873 ई० में—अर्थात् हिन्दी में नये चाल की साहित्य-रचना आरम्भ हुई 1873 ई० में"[18]। डॉ० शर्मा का कथन सत्य हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु ने जिस प्रकार का साधु और व्यवस्थित गद्य लिखा है उसकी शुरुआत अठारहवीं शती के मध्य तक हो चुकी थी। किन्तु चेतना के स्तर पर भाषा और साहित्य में इस प्रकार के द्वैत की अवधारणा संगत नहीं है। सचमुच 1873 ई० से हिन्दी 'नई चाल में ढली' अर्थात् इस समय से हिन्दी-भाषा में नये चाल के साहित्य की रचना तो आरम्भ हुई ही हिन्दी-भाषा को भी अभिव्यक्ति-क्षमता और प्राणवत्ता की दृष्टि से अखिल भारतीय आयाम प्राप्त हुआ। उसे मध्यकालीन वैष्णवभक्ति की गहरी राग-चेतना के साथ ही उन्नीसवीं शती के नवीन जागरण की अन्तर्वर्ती प्राण-धारा का नया तेवर भी प्राप्त हुआ। अब उसमें परम्परागत ऐतिहासिक चेतना के साथ ही बंगाल के राजनीतिक आवेग महाराष्ट्र की सूक्ष्म सूझ-बूझ तथा उत्तर प्रदेश की राजनीतिक भीरुता तथा राजभक्ति एवं देश भक्ति की द्वन्द्व-चेतना को व्यक्त करने की क्षमता भी आ गई थी। यह शक्ति न तो लल्लू लाल के गद्य में थी न इंशा अल्ला खां के; न सदासुखलाल के गद्य में थी न सदल मिश्र के; न स्वामी दयानन्द के गद्य में थी न राजा लक्ष्मण सिंह के। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद का गद्य भी जीवन की उस यथार्थ-चेतना को व्यक्त करने में समर्थ न था जिसका सम्बंध तत्कालीन आर्थिक शोषण एवं सामाजिक दुर्गति से था। इसलिए भारतेन्दु का यह कहना पूर्णतः सत्य है कि "हिन्दी नई चाल में ढली, सन् 1873 ई०"। हिन्दी अर्थात् हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों। वस्तुतः भारतेन्दु का व्यक्तित्व अपने भीतर उन्नीसवीं शती के पूरे भारत को समेटे हुए था। उनका स्वत्व

पूरे भारत का प्रतिरूप है। इसीलिए उनकी भाषा और उनका साहित्य उन्नीसवीं शती की समग्र भारतीय चेतना का वाहक है। अतः उनकी भाषा-चेतना को उनके समूचे व्यक्तित्व के साथ जोड़कर देखना उचित होगा। एक ऐसा व्यक्तित्व जिसमें भारत के अतीत का वैभव, वर्तमान का यथार्थ बोध और भविष्य की मंगलकामना सब कुछ संश्लिष्ट रूप से विद्यमान है।

संदर्भ

1. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, डॉ० रामविलास शर्मा, भाग 2 पृ० 34।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 459.
3. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्री व्रजरत्नदास, पृ० 5.
4. भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृ० 810-12.
5. हिन्दी की प्रगतिशील कविताएँ, सं० राजीव सक्सेना, पृ० 4.
6. भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृ० 733.
7. वही, पृ० 732.
8. वही, पृ० 734.
9. वही, पृ० 736.
10. वही, पृ० 738
11. वही, पृ० 731.
12. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्री व्रजरत्न दास, पृ० 91 पर उद्धृत.
13. भारत दुर्दशा, पांचवां अंक, पृ० 39.
14. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 459 पर उद्धत.
15. वही, पृ० 459.
16. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, डा० राम विलास शर्मा पृ० 137
17. वही, पृ० 195.
18. वही, पृ० 199.

भाषा-चेतना और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

त्रिलोचन पाण्डेय

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय (सन् 1850-1885) एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना मानी जायगी क्योंकि वे सच्चे अर्थों में भारतीय नवजागरण के सूत्रधार थे। रीति कालीन काव्य परम्पराओं के संवेदनशील भूमिकाओं पर खड़े होकर भी वे अच्छी तरह जानते थे कि साहित्य को किस प्रकार युगबोध के साथ जोड़कर अधिक प्रासंगिक बनाया जा सकता है। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय नवजागरण ने विभिन्न रूप धारण किये जिनसे सभी लोग परिचित हैं। भारतेन्दु ने एक जागरूक साहित्यकार होने के नाते राष्ट्रीयता और देशभक्ति को इस जागरण का मूल मंत्र माना था तथा निज भाषा की उन्नति को इसके आधार रूप में ग्रहण किया था। परिणाम यह हुआ कि उसकी भाषा चेतना हिन्दी के विविध रूपों का समाकलन करती हुई केवल हिन्दी तक सीमित नहीं रही। वह राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए, भाषा मात्र की समृद्धि के लिए प्रयत्नशील रही। यहां हम संक्षेप में उनकी इसी भाषा-चेतना को समझने का प्रयत्न करेंगे।

भारतेन्दु की भाषा-चेतना को समग्रतः ग्रहण करने के लिए उनके भाषा सम्बन्धी विचारों तथा उदाहरणों से परिचित होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह देखना होगा कि उनमें यह चेतना कैसे उत्पन्न हुई और तत्कालीन लेखकों को किस प्रकार उन्होंने हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरित किया। अतः भारतेन्दु की भाषा-चेतना को समझने के लिए चार सूत्र हो सकते हैं :—(1) भाषा सम्बन्धी उनके विचार, (2) उनके नाटकों, कविताओं आदि में हिन्दी के लक्षित रूप, (3) तत्कालीन भाषा नीति, और (4) तत्कालीन लेखकों के भाषादर्श।

इस संदर्भ में उनका निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा आज संभवतः विशेष रूप से प्रासंगिक माना जा सकता है :—

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को सूल।"[1]

उक्त दोहा भारतेन्दु के एक पद्यात्मक व्याख्यान का अंश है जो सन् 1877 में 'हिन्दी वर्द्धिनी सभा' के लिए तैयार किया गया था। इस व्याख्यान से उनकी भाषा-चेतना के एकाधिक पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। विशेषता यह है कि इसमें एक से अधिक तर्क देकर निज भाषा की श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है। पहली बात यह कि लेखक के अनुसार संस्कृत

अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में भले ही संसार का ज्ञान भरा हो किन्तु भारतीयों के लिए उन भाषाओं का कोई महत्व नहीं है। जब यहां के स्त्री और पुरुष, परिजन और पुरजन इन भाषाओं को नहीं समझ सकते तो इनसे कोई लाभ नहीं। इसीलिये इन भाषाओं की श्रेष्ठ पुस्तकों का अपनी भाषा में अनुवाद होना चाहिए जिसके लिए भारतेन्दु ने न केवल स्वयं प्रयत्न किया बल्कि दूसरों को अनुवाद के लिए प्रेरित किया। लोक जागरण के लिये ज्ञान-विज्ञान का नवीन प्रकाश चाहिये। अतः उनका स्पष्ट विचार था कि यह प्रकाश अपनी भाषा के पठन-पाठन एवं उसमें पत्र-प्रकाशन द्वारा ही मिल सकता है।

दूसरी बात यह कि भारतेन्दु ने संभवतः सर्वप्रथम बालकों की शिक्षा-दीक्षा के लिए मातृभाषा का महत्व बताया। इसके लिए उन्होंने स्त्री-शिक्षा को आवश्यक माना क्योंकि सुशिक्षित माता हर परिवार के भीतर जिस प्रकार बच्चों को उठते-बैठते, खेलते-कूदते शिक्षा दे सकती है, वह बालकों के वयस्क हो जाने पर संभव नहीं है। कच्ची मिट्टी को जिस प्रकार किसी भी आकार में ढाला जा सकता है उसी प्रकार उन्होंने शिशु-शिक्षा का महत्व बतलाया। मातृभाषा की समृद्धि से यह लाभ होता है कि उससे हृदय की बातें जितनी सहज प्रकार से प्रकट की जा सकती हैं उतनी अन्य भाषाओं से नहीं। आज के शिक्षाविद् भी यह मानने लगे हैं कि पठन-पाठन के लिए विदेशी भाषाएं स्वीकार हो सकती हैं किन्तु चिन्तन और मनन अपनी भाषा के अनुसार ही संभव हैं। भारतेन्दु की मान्यता थी कि बोलचाल की भाषा एक होने से परिवार और समाज के भीतर एकत्व की भावना दृढ़ होगी।

तीसरी बात यह कि उन्होंने निज भाषा की उन्नति में दूसरी भाषा की गुणवत्ता को स्वीकार करने की बात कही है जो भाषा-नीति के दृष्टि से विचारणीय है। उनका कथन था कि अंग्रेजी की शब्द योजना दोषपूर्ण है, उसका उच्चारण अशुद्ध है, उसके लिखने-पढ़ने में अन्तर है। फिर भी उसे अंग्रेज अपनी भाषा समझकर नहीं छोड़ते। चूंकि उन्होंने सभी देशों से कला, शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान लेकर अपनी भाषा को सर्वसम्पन्न बनाया, इसीलिये उनकी जाति निरन्तर उन्नति करती गयी। वे एक भाषा के माध्यम से सारी बातें समझ लेने के कारण संसार में अग्रणी हो गये।

इसके विपरीत भारत में भाषाओं की विविधता और अज्ञान के कारण सारे उत्पात खड़े हुए। देश की विविधता ने भाषागत भिन्नता को जन्म दिया जिनमें ज्ञान की कुछ जातियों तक सीमित कर दिया। वेदों का धर्म ब्राह्मणों तक और शिष्टाचार का मर्म मुल्ला-मौलवियों तक सीमित रह गया। यहां के ग्रामवासी इतना भी नहीं जानते कि तार कैसे भेजे जाते हैं? रेलगाड़ी कैसे चलती है? वस्त्र अथवा कागज कैसे तैयार किये जाते है? इस कूप-मंडूक की स्थिति से बचने का एक ही उपाय है कि अपनी भाषा को आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार परिशोधित किया जाये। इस प्रकार अपनी भाषा का संशोधन उनकी भाषा-चेतना का प्रमुख अंग था।

चौथी बात यह कि निज भाषा की उन्नति को उन्होंने लोक भाषाओं की उन्नति का पर्याय माना जिससे राष्ट्रीय उत्थान की मंजिलें तय होती हैं। लोक भाषाओं के प्रतिनिधि रूप में उन्होंने सम्भवतः खड़ी बोली हिन्दी को मान्यता दी क्योंकि यही सांस्कृतिक भाषा के स्वरूप में उत्तर से दक्षिण तक प्रयुक्त होती रही थी। इसकी उन्नति का अर्थ था अभिव्यक्ति के शक्तिशाली माध्यम के रूप में इसे तैयार करना और भारतेन्दु यही कार्य आजीवन करते रहे। कविता, नाटक और निबन्ध लिखकर उन्होंने इस भाषा में एक ओर राष्ट्रीय साहित्य की रचना की, समाचार पत्र निकालकर इसे नई चाल में ढाला, और अन्य भाषाओं से ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों का अनुवाद करके इसे लोक सुलभ बनाया। अपनी भाषा हिन्दी का सम्बर्द्धन करने के लिये उन्होंने व्याख्यान दिये, इतिहास और जीवनियां लिखीं, सभायें की और संस्थायें स्थापित की। इसके लिये नवीन लेखकों को प्रोत्साहित और पुरस्कृत किया तथा अपना सर्वांग हिन्दी सेवा के लिये अर्पित कर दिया। यह समर्पण उनकी भाषा-चेतना का उदाहरण तो है ही उनकी देश-सेवा का भी ज्वलंत प्रमाण है।

यहां पर एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि भारतेन्दु की हिन्दी सेवा को केवल 'हिन्दी' के अर्थ में ग्रहण करना समीचीन नहीं होगा। हिन्दी से उनका तात्पर्य उस लोक भाषा से था जो राष्ट्र भाषा का प्रतिरूप थी, जो किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित प्रादेशिक भाषा नहीं थी। आज 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक दोनों संदर्भों में किया जाता है। इसमें अर्थ विस्तार एव अर्थसंकोच दोनों के उदाहरण मिलते हैं। किन्तु भारतेन्दु ने हिन्दी को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जैसा उनके व्याख्यानों और निबन्धों से ज्ञात होगा। 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?' शीर्षक लेख के अन्त में उन्होंने लिखा था—"भाइयों अब तो नींद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो। वैसे ही खेल खेलो। वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।"[2]

उपर्युक्त उदाहरण में 'अपनी भाषा' से तात्पर्य केवल हिन्दी नहीं है, यह कोई भी आधुनिक भारतीय भाषा हो सकती है। भारतेन्दु हिन्दी के अनन्य प्रेमी अवश्य थे किन्तु वे अन्य भाषाओं के प्रति अनुदार नहीं थे। इससे उनकी उदार भाषा-नीति पर प्रकाश पड़ता है। उनका 'जातीय संगीत' शीर्षक निबन्ध इस दृष्टि से पठनीय है जो सन् 1879 की 'कवि वचन सुधा' में प्रकाशित हुआ था। जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें किस प्रकार लिखकर प्रचारित की जाएं इसकी रूपरेखा बतलाते हुए उन्होंने लिखा था—"इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में बनें, वरंच गंवारी भाषा में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों—और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो, अर्थात पंजाब में पंजाबी, बुन्देलखण्ड में बुन्देलखण्डी, बिहार में बिहारी, ऐसे जिन देशों में जिन भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें……।"[3]

इस विज्ञप्ति से स्पष्ट होगा कि भारतेन्दु की दृष्टि में जिस प्रकार हिन्दी 'निज भाषा' थी उसी प्रकार पंजाबी, बिहारी, बुन्देली आदि भी निज भाषाएं थीं जिनका व्यापक जनजागरण के लिए समुन्नयन अपेक्षित है। मुख्य प्रयोजन है भारतवर्ष का जन-जागरण, जिसके लिये वे लोक-भाषा अथवा जनभाषा को सक्षम बनाकर एक साधन के रूप में प्रयुक्त करना चाहते थे। इसलिए वे भाषा के साधारण रूप का, उसके ग्रामीण रूप का यहां तक की स्त्रियों में प्रचलित उसके बोलचाल वाले रूप का विशेष ध्यान रखते और एकाधिक स्थानों पर उसके सापेक्षिक महत्व का उल्लेख करना नहीं भूलते थे। लोकभाषा सम्बन्धी इस दृष्टिकोण को समझ लेने पर भारतेन्दु की भाषा-चेतना को ग्रहण करना सरल हो जाता है।

अब इस चेतना को हिन्दी के सन्दर्भ में विशेष रूप से देखने का प्रयत्न करे। हिन्दी भाषा को वे भारतीय लोक भाषाओं के प्रतिनिधि रूप में स्वीकार करते थे, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अतः हिन्दी की अभिवृद्धि को वे सभी भाषाओं की उन्नति का प्रतीक मानते थे। इसके लिए उन्होंने हिन्दी के सभी अभावों को दूर करने का प्रयत्न किया। उसमें नये-नये विषयों पर स्वयं लेख लिखे और 'कविवचन सुधा' (1868) तथा 'हरिश्चन्द्र मैंगजीन' (1873) जैसी पत्रिकाओं द्वारा अन्य लेखकों को नए-नए विषयों पर लिखने हेतु आमंत्रित किया। स्त्री शिक्षा को अग्रसर करने के लिए 'वालावोधिनी पत्रिका' का प्रकाशन आरंभ किया। आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व केवल स्त्रियों के लिए पत्रिका निकालना उन्हीं की प्रतिभा का परिणाम था।

उनके निबन्धों की विविधता, भाषा चेतना के व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करती है। इनमें एक ओर कालिदास, सूरदास जैसे महाकवियों की जीवनियाँ हैं तो दूसरी ओर शंकराचार्य, रामानुजाचार्य जैसे दार्शनिकों का सामान्य जनता को परिचय दिया गया है। इनमें यदि सुकरात, और नैपोलियन जैसे विदेशी लोगों की विशेषता बतलाई गई है तो द्वारिकानाथ मित्र और राजाराम शास्त्री जैसे विद्वानों के उत्तम चरित्र पर प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त उन्होंने पुरावृत्त संग्रह और धार्मिक विषयों पर भी एकाधिक निबंध लिखे। 'कन्नौज के राजा का दानपत्र', 'महाराष्ट्र देश का इतिहास', 'मार्गशीर्ष महिमा' जैसे विषयों पर विचार करने से स्पष्ट होगा कि वे भारत की उन्नति के उपायों में एक सुझाव यह दे रहे थे कि इन विषयों पर बड़े-बड़े लेख तो अन्य भाषाओं में प्रकाशित होते ही है। किन्तु इन्हीं विययों पर यदि छोटी-छोटी पुस्तकें सरल भाषा में लिखी जाए तो उनका प्रचार देश भर में होगा।

भाषा-चेतना के उदाहरण स्वरूप उन अनुवादों की लिखित भाषा पर भी विचार कर सकते हैं जो उन्होंने हिन्दी में अन्य भाषाओं से किये। उनके कुछ नाटक संस्कृत, बंगला अथवा अंग्रेजी से अनूदित है। यहाँ दूसरी भाषाओं से अनुवाद करते समय वे हिन्दी के वाक्य-विन्यास और लोकप्रचलित शब्दावली का अधिक प्रयोग करते थे। 'दिल्ली दरबार दर्पण' शीर्षक एक लेख में उन्होंने तत्कालीन वाइसराय के अंग्रेजी सम्भाषण का इस प्रकार

अनुवाद किया था -- "हम लोग इस समय श्रीमती महारानी के राजराजेश्वरी की पदवी लेने का समाचार प्रसिद्ध करने के लिए इकट्ठे हुए है, और यहां महारानी के प्रतिनिधि होने की योग्यता से मुझे अवश्य है कि श्रीमती के उस कृपायुक्त अभिप्राय को सब पर प्रकट करूं जिसके कारण श्रीमती ने अपनी परम्परा की पदवी और प्रशस्ति में एक पद और बढ़ाया।" इस अनूदित हिन्दी में अंग्रेजी भाषा की वाक्य-योजना अवश्य झलकती है, किन्तु वक्ता का मूल आशय समझने में कठिनाई नहीं होती।

जहाँ तक हिन्दी में लोकभाषा के प्रयोग का प्रश्न है, इसकी विविधता देखने के लिए सम्पूर्ण भारतेन्दु साहित्य पठनीय है। यह चेतना सामाजिक यथार्थ के जितने सूक्ष्म धरातलों से जुड़ी हुई थी उसे देखने के लिए उनके साहित्य में प्रयुक्त लोकनाट्य रूपों, लोक-काव्य-रूपों, लोकछंदों और लोक संस्कृति के प्रयोगों को देखना चाहिए जिनकी विस्तृत व्याख्या अपेक्षित हैं। यह चेतना वस्तुत: भाषा के लोकसंस्कृति उपादानों से जुड़ी हुई थी जिसकी समग्र अभिव्यक्ति वे साहित्य के माध्यम से करना चाहते थे।

उदाहरणार्थ—उनके अत्यन्त लोकप्रिय नाटक 'अन्धेर नगरी' की भाषा को ही लें तो यह किसी भी प्रकार का प्रहसन लिखने के लिए उपयोगी है। यहाँ इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि सभी घटना प्रसंग जनता के बीच घटित हों, तथा भाषा-शैली उन्हीं के बीच प्रचलित 'कृष्ण मुरारी', 'श्याम सलोना' जैसे शब्दों का प्रयोग कर उन्होंने एक नवीनता का परिचय दिया। चूरन बेचने वाला सबके सामने सरकार का भंडाफोड़ कर सकता है—"चूरनसाहिब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता" फिर भी वह कानून की पकड़ में नहीं आता। आज तक गाँवों में चना और चूरन इन्हीं तुकबन्दियों के साथ बेचे जाते है और लोग उन्हें सुनकर आनन्दित होते हैं।

तात्पर्य यह कि लोकभाषा की जितनी विशेषताएँ होती हैं, और हो सकती हैं जैसे बोलचाल की तद्भव-देशज शब्दावली, मुहावरों-कहावतों की अधिकता, पदावली की तुकान्त योजना, सार्थक-निरर्थक शब्दों की पुनरावृत्ति, ध्वनियों के स्थानीय उच्चारण, आदि ये सब विशेषताएं उनकी हिन्दी में लक्षित होगी। देशज और ग्रामीण प्रयोगों के लिए उनके नाटकों में ही 'बोदा', 'मटिया बुर्ज, 'घुआकस', 'चपरपट' 'लक्लक', 'बुम्वक', 'लखात', 'जोगिनियां', अंगिनियाँ', 'गुलबवा', 'हाहा ठीठी', 'अहा जनी', 'छमा करिया', 'बकवाद लगाना', जैसे प्रयोगों की कमी नहीं दिखाई देती। अधिक उदाहरण देकर इसके विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। केवल इतना समझना पर्याप्त होगा कि उनकी भाषा चेतना उस सामाजिक प्रतिबद्धता का रूपान्तर थी जिसका सम्बन्ध तत्कालीन समाज के सामूहिक एवं चतुर्दिक विकास के साथ था।

भारतेन्दु की इस चेतना को यदि तत्कालीन भाषानीति के सन्दर्भ में देखा जाय तो ज्ञात होगा कि इसके स्रोत अधिक यथार्थवादी थे। उस समय हिन्दी के उर्दू बहुल एवं संस्कृत बहुल दो रूप उभर रहे थे जिनके निर्माण में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह जैसे लेखकों का प्रमुख हाथ था। जैसा कि इतिहास से यह सिद्ध होता है, ये

दोनों भाषा रूप उस हिन्दी की प्रतिष्ठा नहीं कर सकते थे जिसकी आवश्यकता थी। हिन्दी का एक तीसरा रूप मुन्शी सदासुखलाल, तथा सदल मिश्र की भाषा में ढल रहा था जिससे 'पूर्वीपन' या 'पण्डिताऊपन' झलकता था। सब मिलकर इस हिन्दी के विकास की संभावना नहीं थी।

उस परिस्थिति में दूर दृष्टि से सम्पन्न भारतेन्दु ने हमें इन भाषा रूपों की सीमाओं को तथा समय की आवश्यकताओं को भली-भांति समझकर राष्ट्रीय भाषा के रूप में अर्थात् एक ऐसी भाषा के रूप में हिन्दी को विकसित किया जो सभी जातियों एवं वर्गों की अपनी भाषा कही जा सके। इस लक्ष्य को आधार बनाकर उन्होंने ऐसी हिन्दी लिखी जिसे ब्राह्मण पण्डित और मुल्ला मौलवी, नागरिक और ग्रामीण, असाक्षर और निरक्षर व सज्जन और दुर्जन समान रूप से बोल सके। नाटकीय संवादों में तो उन्होंने बोलचाल के प्रयोगों को ही भाषा के आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया। यह चेतना उनकी मानवीय सम्वेदना की सहज परिणति थी।

भारतेन्दु के जीवन चरित्र लेखक बाबू शिवनंदन सहाय ने एक स्थान पर लिखा है, "इन्होंने इसको (हिन्दी को) मौलवी और राजाशाही हिन्दी होने से बचाकर निज जननी की पदानुगामिनी बनाते हुए भी ऐसा नहीं होने दिया कि सर्वथा उसी के पदों में विलीन हो जाये अर्थात् दोनों ओर के अयोग्य संसर्ग से सावधानता पूर्वक बचाते हुए इसे शुद्ध मार्ग पर ले चले"। इस कथन से भारतेन्दु का एक और महत्त्व स्पष्ट होता है कि उन्होंने हिन्दी को संस्कृत का अनुसरण करते हुए भी शुद्ध मार्ग पर ले जाने का कार्य किया। लोक प्रचलित मुहावरों से पुष्ट भाषा के अतिरिक्त विदेशी शब्दों को भी खड़ी बोली के अनुसार डालकर एक अनुकरणीय नमूना तैयार किया। यह नमूना अन्य लेखकों में श्री बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी, 'प्रेमघन' आदि के लिए एक आदर्श बना जिससे आगे चलकर हिन्दी भाषा की एक जनवादी परम्परा प्रारंभ हुई।

इस प्रकार भारतेन्दु ने जनपदीय स्रोतों से राष्ट्रभाषा की समृद्ध करने का जो सूत्रपात किया उसका विकास कालांतर में प्रेमचन्द की भाषा में परिलक्षित हुआ। अत: सन् 1873 में की गयी उनकी यह टिप्पणी—"हिन्दी नई चाल में ढली" एक ऐतिहासिक वाक्य सिद्ध हुई। उन्होंने सचमुच भारती की वीणा का निर्माण किया था। इसलिए आज के जागरूक साहित्य सेवी उनकी विरासत का श्रद्धा पूर्वक स्मरण करते हैं और अपने को भाग्यशाली मानते है।

सन्दर्भ

1. 'भारतेन्दु ग्रंथावली' (दूसरा भाग)—सं० ब्रजरत्न दास- नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, दूसरा संस्करण, सं० 2010 (पृष्ठ 731-738)
2. 'भारतेन्दु ग्रंथावली' (तीसरा भाग)—सं० ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, सं० 2010 (पृष्ठ 903).
3. वही, पृष्ठ 935
4. वही, पृष्ठ 192
5. 'हरिश्चंद्र'—लेखक—बाबूशिवनन्दन सहाय, हिन्दी समिति, उ०प्र० शासन, लखनऊ, अभिनव संस्करण 1975ई० (पृष्ठ 108).

भारतेन्दु-युगीन नव जागरण की प्रगतिशील कड़ी

आनन्द नारायण पाण्डेय

भारतेन्दु-युग का साहित्य भारतीय समाज के, विशेषतया हिन्दी भाषी समाज के नव-जागरण का साहित्य है। उस नव-जागरण की धारा अब तक अबाध रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। इस अनवरत प्रवाहमानता का कारण यह है कि उस युग के साहित्यकारों के सामने जो समस्यायें थी वे आज भी ईषद् परिवर्तित रूपों में हमारे सामने उपस्थित हैं। हिन्दी उर्दू का द्वन्द्व, राज-भक्ति और देश-भक्ति, सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की भूमिका, साहित्य को जन-सुलभ बनाने की कठिनाई आदि सभी समस्यायें आधुनिक युग के साहित्यकारों के समक्ष भी रही हैं।

इस सन्दर्भ में यदि हम भारतेन्दु युग के साहित्य को राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर के साहित्य के साथ रखकर देखें तो बहुत से ऐसे तथ्य हमारे सामने स्पष्ट होगे जिनसे स्पष्ट रूप से यह दिखलाई देगा कि भारतेन्दु कालीन नव-जागरण की धारा किस प्रकार हिन्दी साहित्य में तमाम गतिरोधों के बावजूद भी गतिशील रहा है।

दिनकर ने भारतेन्दु-युग की समस्याओं और उस युग के साहित्य का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया था। इनका महत्व पहचान कर उन्होंने सन्' 50 के दौर में ही यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया था कि "तुलसीदास के बाद हिन्दी साहित्य में सबसे बड़ी क्रान्ति भारतेन्दु-युग में हुई।"[1] आगे उन्होंने इस क्रान्ति के प्रकाश को ग्रहण करने की आवश्यकता साहित्य के पूर्वापर क्रम की समझ में प्रतिपादित करते हुए बताया कि "इसे वे ही समझ सकते है- जिन्होंने भारतेन्दु के पूर्ववर्ती कवि पजनेस और द्विजदेव की रचनाओं के साथ भारतेन्दु-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन किया हो"[2] दिनकर भारतेन्दु में छायावाद के रूप में प्रस्फुटित होने वाले रोमांटिक आन्दोलन और उसके बाद उभरने वाले प्रगतिवादी आन्दोलन दोनों के ही बीज विद्यमान मानते हैं। वह कहते हैं, "वे सिर्फ रोमांटिक आन्दोलन के ही पूर्व पुरुष नहीं, बल्कि हिन्दी के प्रगतिवादी आन्दोलन के भी पिता के समान है।"[3] आगे उन्होंने बताया कि भारतेन्दु से निःसृत होने वाली रोमांटिक धारा तो कभी क्षीण और कभी पुष्ट होकर अनिश्चित रूप से ही चलती रही हैं 'किन्तु, प्रगतिवादी धारा का जो उत्स उनकी वाणी में फूटा था, उसने कभी विश्राम नहीं लिया तथा उनके उत्तराधिकारियों में से जो भी कवि कविता की ओर उन्मुख हुए. उन्होंने अपने समय की देश-दशा को जरूर प्रमुखता दी।"[4]

साहित्य में देश-दशा का चित्रण करने वाले कवियों में दिनकर की गिनती भारतेन्दु के योग्य उत्तराधिकारी के रूप में की जा सकती है। उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि प्रगतिवाद को किन्हीं संकीर्ण मतवादों अथवा मान्यताओं में अन्तर्भुक्त नही किया जा सकता, वह एक विकासमान प्रगतिशील धारा है जो अपने भीतर वहुत कुछ समेट कर चलती है। संकीर्णतावाद अपनाकर चलने से किसी भी साहित्यकार की भूमिका और महत्व को समझा नहीं जा सकता।

साहित्य को साधारण जनता तक पहुँचाने की आवश्यकता बताते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था, "भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आज-कल सोच रहे थे उनमें एक और उपाय होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते है किन्तु वे जन साधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें वनें और वे सारे देश गाँव-गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जायँ।"[5]

भारतेन्दु ने इन पंक्तियों में साहित्य का जो उद्देश्य प्रतिपादित किया है उससे स्पष्ट है कि बड़े-बड़े लेखों और पीन कलेवर वाली कविताओं की वृद्धि करते जाने से साहित्य की उन्नति नहीं हो सकती जब तक उन्हें सहज जन-प्रचलित रूपों में ढालकर जनता तक न पहुँचाया जाय। कथ्य की उपयोगिता और स्पष्टता के अनुरूप ही भाषा श्रेष्ठता और हीनता की जांच की जा सकती है। मात्र भाषा और शिल्प का चमत्कार प्रदर्शित करके कोई साहित्य न तो महान हो सकता है और न ही उपयोगी। भारतेन्दु ने यही लक्ष्य ध्यान में रखकर कहा था कि --

भाव अनूठा चाहिए भाषा कोऊ होय।

साहित्य का जीवन से सम्पृक्त करके देखने की आवश्यकता पर बल देते हुए दिनकर ने लिखा है, 'साहित्य की प्रगति जीवन की प्रगति से भिन्न नहीं होती। चूंकि जीवन वदलता है, इसलिए साहित्य भी बदल जाता है।"[6]

आगे चलकर कला का शुद्धता और सामाजिक उपयोगिता सम्बन्धी प्रश्नों पर विशदतर और गहनतर रूप से विचार करते हुए दिनकर ने 'शुद्ध कविता की खोज' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में कला की उपयोगिता के पक्ष में ही अपना निर्णय दिया है। फ्रांस की पतनशील संस्कृति से बोदलेयर का सम्बन्ध दिखाते हुए उन्होने लिखा है कि "बोदलेयर ने जिस सौन्दर्य की कल्पना की है. उस सौन्दर्य की कल्पना भारत में नहीं जी जा सकती थी।"[7] वैयक्तिकता के उपासक, परम्परा, संस्कृति के प्रति बचकाना विद्रोह प्रदर्शित करने वाले पश्चिम के नवीन कलावादियों की नकल उतार रहे भारतीय युवा कवियों के वारे में इसी प्रसंग में दिनकर ने एक बहुत मार्मिक, सटीक और व्यंग्यपूर्ण वाक्य लिखा है, खैरियत की बात है कि भारत के कुछ नौजवान उतने अभागे नहीं हैं। उनके पूर्वजों

ने दरिद्रता, अनेकता और अभावों का इतना भयानक उत्तराधिकार छोड़ा है कि वह अभी पीढ़ियों तक भी हल नहीं होगा।"[8]

अपने युग की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक दुर्दशा का जो चित्र हमें भारतेन्दु युग के साहित्य में देखने को मिलता है वैसा ही मार्मिक और सहज चित्रण अपनी युग-दशा के अनुरूप दिनकर साहित्य में भी देखा जा सकता है। भारतेन्दु ने देश-दशा का चित्र खींचते हुए यह प्रसिद्ध पंक्ति लिखी थी—

अंगरेज राज सुखसाज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।

इन पंक्तियों में अंग्रेजी राज से होने वाली मुख्य हानि पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। अंगरेज-राज के सुख-साज देखकर अपने को, अपनी दशा को भूल मत जाओ। देश का सारा धन, सारी सम्पत्ति लुटकर विलायत पहुँचती जा रही है। इस लूट के बन्द हुए बिना तुम्हारी दशा किसी प्रकार भी सुधर नहीं सकती। इस व्यवस्था को समाप्त किए विना देश और समाज की दशा किसी प्रकार भी सुखकर नहीं हो सकती। इसी विचार-क्रम में भारतेन्दु ने बलिया वाले प्रसिद्ध व्याख्यान में अपनी साम्राज्य और सामन्त-विरोधी चेतना के अनुरूप कहा, "हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध में उसको पकड़कर मारोगे और जहां तक तुम्हारे में शक्ति होगी, उसका सत्यानाश करोगे, उसी तरह इस समय जो-जो बातें तुम्हारे उन्नति पथ की कांटा हो उनकी जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मति डरा। जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जाति से बाहर न निकाल दिये जायेंगे, दरिद्र न हो जायेंगे- कैद न होंगे, वरंच जान से न मारे जायगे तब तक कोई देश भी न सुधरेगा।"[9]

भारतेन्दु की इस चेतना का आक्रोशपूर्ण स्वर हमें दिनकर की निम्न पंक्तियों में स्पष्ट सुनाई पड़ता है—

"रस्सों से कसे जवान पाप-प्रतिकार न जब कर पाते हैं
बहनों की लुटती लाज देखकर काँप-काँप रह जाते हैं
शस्त्रों के भय से जब निरस्त्र आँसू भी नहीं बहाते हैं
पी अपमानों के गरल-घूंट शासित जब होंठ चबाते हैं
जिस दिन रह जाता क्रोध मौन, मेरा वह भीषण जन्म लगन।
झन-झन-झन झन-झन-झनन-झनन।"[10]

गोरी सरकार की हुकूमत में स्त्रियों की लज्जा और देश का धन भारतेन्दु के समय में जिस प्रकार लूटे जा रहे थे उसमें दिनकर के समय तक कोई कमी न आई थी। निरस्त्र-निहत्थी जनता अपमान के खूनी घूंट पीकर मौन रहने को विवश थी। जनता के कवि या राज भक्ति की आड़ लेकर अपनी बात कहते थे अथवा ऐसे भीषण युग में जन्म लेने

की नियति को कोसकर हुंकार कर ही रह जाते थे। भारतेन्दु-युग के प्रसिद्ध साहित्यकार पं० प्रताप नारायण मिश्र ने लिखा था--

'यह जिय धरकत यह न होय कहुं कोऊ सुनि लेई।
कछु दोष दै मारै अरु रोवन नहिं देई।।"[11]

ये पंक्तियाँ दिनकर की पंक्तियों के पूर्णतः मेल में हैं। युग-दशा का सटीक और मार्मिक चित्रण दोनों जगह किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि दिनकर की पंक्तियों में व्याकुलता और आक्रोश अधिक है।

भारतीय किसान की विपत्ति और दुरव्यवस्था का जो चित्रण भारतेन्दु युग में यथार्थ-दर्शन के आधार पर किया गया था दिनकर साहित्य में वर्णित किसान की उस विपत्ति और दुरवस्था से मुक्त नहीं हो पाया है। किसानों की दशा पर शिक्षित सज्जनों की उपेक्षा पर 'हिन्दी-प्रदीप' ने लिखा था "ये वे ही खेतिहर हैं जो हमको जिलाते हैं पर गँवार और दिहकानी कह सभ्य समाज वाले जिनसे घिनाते हैं और अपने से अत्यन्त निकृष्ट जिन्हें मानते हैं। बढ़ा-बड़ा क्लेश उठाय ये वेचारे यदि अन्न न पैदा करें तो इनकी सभ्यता की हिमाकत सब धरी रह जाय।"[11]

प्रताप नारायण मिश्र ने वाणिज्य, शिल्प आदि की चर्चा करने से पहले 'कृषि' की बात उठाते हुए लिखा था —

जहां कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुं कैसेहु नाहीं।।[12]

सामाजिक यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से हिन्दी कविता की विकासमान प्रगतिशीलता के अध्ययन में हमें दिनकर की निम्न पंक्तियाँ सीधे भारतेन्दुकालीन नवजागरण की संवेदना से जुड़ी हुई दिखलाई देंगी।

जेठ हो कि हो पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं है।
छुटे वैल से संग, कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है।
मुख में जीभ, शक्ति भुज में जीवन में सुख का नाम नहीं।
वसन कहाँ? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।[18]

यह है किसान की दशा जो सबके लिए अन्न पैदा करता है। उसके भी मुँह जवान है, वह भी बोल सकता है, वह शक्तिहीन भी नहीं है, लेकिन भोजन-वस्त्र के साधन भी उसके लिए जुट पाना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि उसका शोषण करने वाले उससे अधिक चतुर होने के अलावा संगठित और सशस्त्र भी हैं। अतः जुवान रहते उसे गूंगा और उत्पादन-रत होते भी भूखा रहना ही पड़ेगा। नई दिल्ली जैसे बड़े-बड़े शहर बसाकर किसानों के खून की होली ही रचायी जा रही है—

कृषक मेध की रानी दिल्ली
अनाचार-अपमान व्यथा की
जलती हुई कहानी दिल्ली।[14]

किसान जीवन को निकट से जानने वाले प्रगतिशील कवि दिनकर गाँवों की तुलना भारत की राजधानी से करना कभी नहीं भूले। दिल्ली का वैभव-विलास देखकर उन्हें हमेशा गाँवों और वहां के निवासियों का करुण जीवन याद आता रहा—

चल रहे ग्राम कुन्जों में पछिया के झकोर,
दिल्ली लेकिन ले रही लहर पुरवाई में।
जनता पाले में ठिठुर रही,
दिल्ली सुख से सोई है नरम रजाई में।[15]

'हिन्दी-प्रदीप' के उपर्युक्त लेख के क्रांतदर्शी रचनाकार की तरह दिनकर भी सम्पत्तिशाली वर्ग से प्रश्न करते हैं—

बीमार किसी बच्चे की दवा जुटाने में
तुम भी क्या घर भर पेट बांधकर सोये हो ?[16]

भारतेन्दु युगीन साहित्य में हम राजभक्ति और देश-भक्ति की दो धाराओं को प्रवाहित होते हुये देखते हैं। प्रजा के दुःख-दैन्य के आख्यान के साथ ही साथ राज प्रशस्ति भी देखने को मिल जाती है। इस सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें कही गयी हैं। बहुतों का कहना है कि भारतेन्दु-युग के लेखकों की चेतना इतनी विकसित नहीं थी कि वे साम्राज्यवाद के निर्मम शोषक रूप की पहचान कर सकते अथवा उन्हें बोध या संज्ञान नहीं हो सका था कि अंग्रेजी राज की समाप्ति से देश की कुव्यवस्था और शोषण समाप्त किया जा सकता है। उनका विचार था कि अंग्रेज सरकार को प्रजा के वास्तविक कष्ट का पता नहीं है, और यदि उसे वास्तविकता का ज्ञान हो जाय तो बहुत जल्दी ही देश की वर्तमान दशा में परिवर्तन कर दिया जायगा।

इस प्रकार भारतेन्दु और उनके युग के अन्य लेखक कुल मिलाकर अन्ततः राजभक्त ही ठहरते हैं। पहले उद्धृत किये गये बलिया वाले भाषण एवं 'अंगरेज राज सुख साज सजे' जैसी पंक्तियों के प्रसंग में प्रकट किये गये विचारों से ऐसे भ्रामक तर्कों का उचित निराश हो जाता है। यहाँ देखना यह है कि भारतेन्दु-युग के साहित्य में इस राज,प्रशस्ति वाली धारा का मूल्य उत्स कहां है और आगे के साहित्य में उसका क्या स्वरूप अवशिष्ट रहता है ? कहने की आवश्यकता नहीं है कि आगे साहित्य से हमारा तात्पर्य यहां विशेषतः दिनकर:साहित्य से ही है।

स्थापित व्यवस्था और विधान के विपरीत कुछ कहना अथवा आचरण करना कभी भी आसान कार्य नहीं होता। भारतेन्दु के समय में जनता के पक्ष से सीधे-सीधे खुले आम कोई बात कहना कितना कठिन कार्य था, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

अंगरेजों का भय चतुर्दिक व्याप्त था। इसका कुछ आभास प्रतापनारायण मिश्र की इन पंक्तियों से मिल सकता है—

यह जिय धरकत यह न होय कहुँ कोउ सुनि लेई।
कछू दोष दै मारिहि अरु रोवन नहिं देई।[17]

ऐसी स्थिति में बिना किसी कौशल का सहारा लिये अपनी बात जनता तक पहुँचा पाना असंभव सा कार्य था। भारतेन्दु-युग के लेखकों ने इस सन्दर्भ में जो कौशल अपनाया वह छद्मनाम में गुम हो जाने, प्रतीकों में बोलने, वक्रतापूर्ण व्यंजना आदि का सहारा लेने का कौशल नहीं था। उन्होंने जो कौशल अपनाया वह यही राज प्रशस्ति का कौशल था। राज-भक्ति की खोल में छिपाकर देश-भक्ति के सन्देश को घर-घर पहुंचाने का कौशल था। कहीं-कहीं यह कौशल हास्य के भीतर गंभीर राजनीतिक बातों को प्रकट करने की कला के रूप में भी प्रकट हुआ है। यथा—मुकरियों और नाटकों में।

अंगरेजी सभ्यता का मखौल किस प्रकार स्वाभाविक लगने वाले हास्य की स्निग्धता के बीच उड़ाया गया है—

सब गुरुजन को बुरो बतावै, अपनी खिचड़ी आप पकावै
भीतर तत्व न झूठी, तेजी, क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेजी।[18]

बेकारी की कड़वी गोली की वास्तविकता किस प्रकार हास्य के अनुमान के साथ बाँटी गयी है। देखिए—

तीन बुलाए तेरह आवैं, निज-निज बिपदा रोई सुनावैं
भीतर तत्व न झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेजी।[19]

इसी प्रकार 'अंधेर नगरी' में चने और चूरन बेचने वाले की लटकेदार हँसी भरी बोली मे गोरी हुकूमत के पूरे तंत्र की बखिया उधेड़ दी गयी है—

"चूरन साहेब लोग जो खाता।
सारा हिन्द हजम कर जाता।
चूरन पुलिस वाले खाते।
सब कानून हजम कर जाते।"[20]

भारतेन्दु युगीन साहित्य की राजभक्ति के विषय में डा० रामविलास शर्मा का यह कहना अत्यन्त युक्तिसंगत है कि "वास्तव में अनेक रचनाओं में तो ऐसा लगता है कि जनता में नवचेतना फैलाने के लिए ही राजभक्ति की आड़ ली गयी।"[21]

राजभक्ति का यह छद्म समझने में आज के कुछ मर्मज्ञ जनवादी साहित्यकारों को भले ही कठिनाई का अनुभव होता हो लेकिन तत्कालीन गोरी सरकार को भारतेन्दु जैसे लोगों को पहचानने में ज्यादे समय नहीं लगा। इस राजभक्ति के जुर्म में उसने 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' 'कविवचन सुधा' और 'बाल बोधिनी' की सौ-सौ प्रतियां जो वह खरीदा करती थी लेना बन्द

कर दिया। ड्यूक आफ अल्बनी की मृत्यु पर जब भारतेन्दु ने बनारस के टाउनहाल में शोक सभा करनी चाही तब तरह-तरह की अड़चनें उपस्थित की गयीं। इसी घटना के सन्दर्भ से उनका काशिराज के दरबार से भी सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

दिनकर का युग भी भारतीय इतिहास का महत्त्वपूर्ण कालखण्ड है। उस समय भी भारतीय जनता दासता की बेड़ी में जकड़ी हुई थी। खुलेआम विद्रोह और बगावत की बात करना तब भी उतना ही जोखिम भरा काम था जितना भारतेन्दु के समय में। यह जोखिम तब और भी बढ़ जाता था जब लेखक सरकारी नौकरी में हो। सुभद्रा कुमारी चौहान ने इस विवशता को प्रकट करते हुए लिखा है–"है कलम बँधी स्वच्छन्द नहीं।" यही विवशता दिनकर के होठों से फूट पड़ी है––

बँधा तूफान हूँ, चलना मना है,
बँधी उद्दाम निर्झर–धार हूँ मैं।
कहूँ क्या कौन हूँ? क्या आग मेरी,
बँधी है लेखनी, लाचार हूँ मैं॥"[22]

लेकिन इस विवशता और लाचारी के बावजूद दिनकर-साहित्य में साम्राज्यवाद और शोषण के अन्य रूपों का जो सशक्त विरोध देखने को मिलता है वह भारतेन्दु–युगीन साहित्य की योग्य विरासत है।

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' के प्रणेता भारतेन्दु की तरह दिनकर को भी मातृभाषा हिन्दी और राष्ट्रीय स्तर पर उसकी प्रतिष्ठा की आवश्यकता का पूरा ज्ञान था। हिन्दी की सहज शक्ति में उन्हें वैसी ही आस्था थी जैसी भारतेन्दु को। वह उन कवियों में नहीं हैं जो अपनी असमर्थता और दुर्बलता का दोष 'भाषा' के मत्थे मढ़कर आगे बढ़ जायें। यह स्वीकार करते हुए कि––

"कला–पारखी सच ही कहते
कुछ – कुछ मुझे अनाड़ी।"

वह सहज आत्म–विश्वास के साथ आगे बढ़ने को उद्यत हैं कि––

"माना मैं कुछ नहीं, कला भी
नाजों की पाली है,
सब कुछ सही, मगर हिन्दी
भाषा तो बलवाली है।"[23]

भारतेन्दु और उनके मंडल के अन्य संघर्षशील साहित्यकारों की तरह दिनकर भी साहित्य की सोद्देश्यता में विश्वास रखने वाले कवि हैं। उन्हें भी अपने पूर्व-पुरुषों की तरह मनुष्य और उसकी शक्ति में सहज विश्वास है। वह मनुष्य के चिन्तन और विचार को भी ठोस सृजनशील कर्म के रूप में देखने के पक्षपाती हैं। वर्तमान के कर्मों का भविष्य पर

पड़ने वाला प्रभाव उनके सामने पूरी तरह स्पष्ट है। यही कारण है कि युगीन समस्याओं को वह मानव समाज के विकास से सम्बद्ध करके देख सकने में सफल हो सके हैं। उन्होंने लिखा है—

"चिन्तन कर यह जान कि तेरे
क्षण-क्षण की चिन्ता से
दूर-दूर तक के भविष्य का
मनुज जन्म लेता है।
उठा चरण यह सोच कि
तेरे पद के निक्षेपों की
आगामी युग के कानों में
ध्वनियाँ पहुँच रही हैं।"[24]

भारतेन्दु-युगीन साहित्य की भाँति ही दिनकर-साहित्य में भी चिन्तन का निष्क्रिय घटाटोप नहीं दिखलायी देता। वह मानव-समाज की आवश्यकताओं को इन रूपों में प्रकट करने के पक्षपाती हैं—

"इसे चाहिए अन्न, वसन, जल,
इसे चाहिए आशा।
इसे चाहिए सुदृढ़ चरण, भुज
इसे चाहिए भाषा।"[25]

भौतिक आवश्यकताओं की कठोर भूमि पर ही दिनकर मानव-समाज के संघर्ष को आगे बढ़ाना चाहते हैं। व्यक्तिवाद, कुंठा, हवाई विद्रोह आदि की यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है।

'रोवहु सब मिलि के भारत भाई। हा! हा! भारत दुर्दशा देखि न जाई।'

का स्वर छोड़ने वाले भारतेन्दु और राष्ट्रीय गौरव के अप्रतिम गायक दिनकर राष्ट्र-प्रेम के पुष्ट भाव-सूत्रों द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। दोनों के युगों के श्रेष्ठ साहित्यकार संकुचित राष्ट्रीय भावना और साम्प्रदायिक विद्वेष से दूर हैं। 'भारत भाई' के साम्य पर 'भारती भ्रात' की चर्चा प्रेमघन जी ने इस प्रकार की है—

"हिन्दू-मुसलिम जैन पारसी ईसाई सब जात।
सुखी होंय हिय भरे प्रेमघन सकल भारती भ्रात॥"[26]

इन्हीं 'भारत भाई' अथवा 'भारत भ्रात' को आपस में लड़ते देखकर दिनकर का हृदय चीत्कार कर उठा—

"जलते हैं हिन्दू-मुसलमान
भारत की आँखें जलती हैं

आने वाली आजादी की
लो दोनों पाँखें जलती हैं।"[27]

हिन्दू-मुसलमान भारत की दो आँखे हैं, यह गाँठ बाँधकर चलने वाला राष्ट्र-प्रेम अवश्य ही भारतेन्दु और प्रेमघन के राष्ट्र-प्रेम की प्रगतिशील धारा में गिना जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिनकर-साहित्य भारतेन्दु-युगीन साहित्य से विभिन्न आयामों में अत्यन्त गहरे रूप से सम्बद्ध है। वह तत्कालीन नवजागरण की ही अगली विकासमान कड़ी है। जीवन और जगत के प्रति यथार्थपरक दृष्टिकोण अपना कर चलने के कारण ही दिनकर भारतेन्दु की-युग से निःसृत होने वाली प्रगतिशील धारा से सहज ही जुड़ जाते हैं। आज के साहित्यकारों का यह दायित्व है कि इस धारा के लिए मार्ग प्रशस्त करके वे इसे वांछित लक्ष्य तक ले जायें। स्वर्गीय श्री रामवृक्ष वेनीपुरी ने यह कहकर कि "राष्ट्रीय कविता की जो परम्परा 'भारतेन्दु' से प्रारम्भ हुई उसकी परिणति हुई है 'दिनकर' में।"[28] गहरी सूझ-बूझ का परिचय दिया था।

संदर्भ

1. अर्धनारीश्वर पृ० 111.
2. उपर्युक्त पृ० 111.
3. उपर्युक्त पृ० 112.
4. उपर्युक्त पृ० 112
5. कविवचन सुधा-मई 1879
6. साहित्यमुखी पृ० 6.
7. शुद्ध कविता की खोज, पृ० 27.
8. उपर्युक्त पृ० 167.
9. डा० रामविलास शर्मा द्वारा 'भारतेन्दु-युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा' में पृ० 42 पर उद्धृत.
10. हुंकार पृ० 89.
11. डा० रामविलास शर्मा द्वारा 'भारतेन्दु-युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा' में पृ० 107 पर उद्धृत.
11. डा० रा. वि. शर्मा द्वारा 'भारतेन्दु-युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा' में पृ० 16 पर उद्धृत.
12. उपर्युक्त पृ० 108.
13. हुंकार पृ० 10.
14. उपर्युक्त पृ० 64.

15. चक्रवाल पृ० 128.
16. उपर्युक्त पृ० 162.
17. डा० रामविलास शर्मा द्वारा 'भारतेन्दु-युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा' में पृ० 107 पर उद्धृत.
18. उपर्युक्त पृ० 103.
19. उपर्युक्त पृ० 103.
20. डा० रामविलास शर्मा द्वारा 'भारतेन्दु-युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा' में पृ० 52 पर उद्धृत
21. भारतेन्दु-युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा, पृ० 17.
22. हुंकार-पृ० 103.
23. धूपछांह-पृ० 17.
24. उर्वशी-पृ० 116.
25. कुरुक्षेत्र-पृ० 43.
26. डा० रामविलास शर्मा द्वारा भारतेन्दु-युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा में पृ० 115 पर उद्धृत.
27. चक्रवाल-पृ० 186.
28. हुंकार की भूमिका-क्रान्ति का कवि-पृ0 7.

●

भारतेन्दु की भाषा और शिक्षा विषयक नीति

पृथ्वीपाल पाण्डेय

क्या तात्कालिकता, क्या आधुनिकता, क्या व्यावहारिकता क्या वैज्ञानिकता, क्या उपादेयता, क्या प्रासंगिकता, क्या सामाजिकता, क्या राष्ट्रीयता, क्या लोकहितकारिता आदि समस्त दृष्टियों से भारतेन्दु की भाषा एवं शिक्षा विषयक नीति पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि देश काल के सीमित समय सापेक्ष्य बन्धनों एवं मान्यताओं को छोड़कर उनकी भाषा एवं शिक्षा की परिकल्पना आज भी जस की तस है और इनसे जुड़ी अनेक समस्याएं ऐसी हैं जो सम्प्रति समाधान की प्रतीक्षा में आंखे गड़ाए हुए है। भारतेन्दु की भाषा एवं शिक्षा विषयक परिकल्पना जहां एक ओर तत्कालीन परिस्थितियों की मांग थी, वहीं दूसरी ओर उनके जैसे सजग एवं सर्वदृष्टया जागरूक व्यक्ति की दूरगामिनी, सारग्राहिणी दृष्टि का परिणाम भी थी और इसीलिए इसके बासी पड़ने या कालातीत होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। आज भी जब हम शिक्षा के क्षेत्र में दृष्टि दौड़ाते हैं तो वही भारतेन्दु पूर्व एवं उनके समय की अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था हमारे चारों ओर दिखायी पड़ती है, जिसके जनक मैक्समूलर रहे हैं और जो शताब्दियों से आमूलचूल परिवर्तन के उद्घोष से निनादित होती रही है। सौभाग्य का विषय है कि हमारे युवा प्रधान मन्त्री श्री राजीव गांधी ने प्रधान मन्त्री का पद भार ग्रहण करने के साथ ही साथ नयी शिक्षा नीति की घोषणा का भी ढिढोरा पीटा है और अब शीघ्र ही उनकी नयी शिक्षा नीति का जादुई पिटारा खुलने वाला है। देखें, यह शिक्षा नीति कहाँ तक देश काल के सामयिक एवं सार्वजनीन प्रश्नों का समुचित समाधान प्रस्तुत कर सकने में समर्थ होती है?

पर प्रस्तुत लेख में तो मुझे आज की नहीं वरन भारतेन्दु की भाषा एवं शिक्षा विषयक परिकल्पना की झांकी पेश करनी है अतः यहां मुझे उन्हीं की दृष्टि से इसका विवेचन करना है। वस्तुतः भारतेन्दु जी में युग प्रवर्तन एवं युग परिवर्तन की पूर्ण क्षमता थी। युग प्रवर्तन एवं युग का नेतृत्व करने के लिए केवल नये युग का ज्ञान या बोध ही पर्याप्त नहीं है, उस ज्ञान या बोध की सच्ची अनुभूति एवं सहज अभिव्यक्ति के माध्यम से जन साधारण के हृदय तक पहुंचा देने की क्षमता भी अपेक्षित है। निःसन्देह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में यह क्षमता थी और इसी के बल पर वे अपने युग को सच्चा एवं सफल नेतृत्व प्रदान कर सके। उन्होंने समय की नाड़ी को अच्छी तरह से परखा था। यही कारण है कि उन्होंने न तो राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृतनिष्ठ पद्धति को अपनाया और न राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की उर्दूमयी गद्य शैली को व्यवहृत किया, बल्कि इस दिशा में

मध्यम मार्ग का आलम्बन करके अपनी अद्भुत सामंजस्यात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया। इस अभिव्यक्ति की व्यापकता को ध्यान में रखकर ही उन्होंने हिन्दी का विकास जातीय विकास के लिए अनिवार्य समझा था और देशोत्थान हेतु देश की भाषा की उन्नति को सर्वोपरि मानते हुए यह उद्घोष किया था—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल,
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ॥

अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हण्टर की अध्यक्षता में गठित शिक्षा आयोग के सामने साक्षी रूप में अपने इन विचारों को व्यक्त किया था—

"My aim has always been to better the educational status of my countrymen to improove the vernacular language of these provinces & old to the stock of the vernacular literature."

उक्त शिक्षा आयोग द्वारा प्रकाशित प्रश्नों की तालिका में एक प्रश्न यह भी था कि शिक्षा की भाषा वही बननी चाहिए जो राजकीय कार्यों की भाषा हो। इस प्रश्न का मूल रूप इस प्रकार है–

"Is the vernacular recognises & tought in the school of your province the dialect of the people and if not are the schools on the that accountless useful & popular ?"

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में वर्नाक्यूलर के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करते हुए समाज के विविध स्तरों पर उसके प्रयोग की कठिनाई को बतलाते हुए भारतेन्दु जी ने कहा कि भारत में प्रत्येक आठ मील की दूरी पर बोली बदल जाती है। पश्चिमोत्तर प्रान्त में सैकड़ों प्रकार की बोलियां बोली जाती है परन्तु इनमें चार प्रमुख हैं जबकि मातृ भाषा एक है। इन प्रमुख बालियों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि इन चारों में प्रथम पूर्वी है जो बनारस और उसके आस-पास के क्षेत्रों में जिस प्रकार बोली जाती है। द्वितीय कन्नौजी बोली जैसी कि कानपुर एवं आस-पास के जिलों में बोली जाती है। तृतीय ब्रजभाषा जो कि आगरा एवं बृज क्षेत्र में बोली जाती है और चतुर्थ खड़ी बोली सहारनपुर, मेरठ के आस-पास के क्षेत्रों में बोली जाती है। आगे इसे और स्पष्ट करते हुए भारतेन्दु जी ने कहा कि उदाहरण के लिए काशी नें ही केवल देखा जाये तो आप कैसे हैं ? कोई व्यक्ति दूसरे से कैसी-कैसी बोलियों में बोलता है पूछता है–"आपका शरीर कुशल है ?", "क्षेम है" "स्वस्थ है ?", "मिजाज मुबारक है ?", "मिजाज मुकदस", "मिजाज शरीफ ?", "आपका मिजाज कैसा है ?", "तोहार जिउ कइसन बाटे ?", "कइसन बायन", "कइसन हया", "कैसन हो ?" इत्यादि वाक्य पण्डित, मुंशी, मौलवी, सामान्य नागरिक, देहातियों द्वारा अलग-अलग बोलियों में कहे जाएगें। अतः एक जिले के आस-पास इतनी बोली में एक

ही बात कही जाय तो एक देश की बोलियों के प्रकार का क्या कहना ? इस प्रान्त की मातृ-भाषा (वर्नाक्यूलर) जाति, जन्म, स्थान तथा बोलने वाले के ज्ञान के स्तर पर बोली जाती है—

"The vernacular of the province, therefore, varies according to the caste, birth place and attainment of the speaker.

उन्होंने कहा कि निष्कर्षतः प्रान्त की भाषा वही मानी जायेगी, जो दरबारों, सार्वजनिक स्थानों, आम जनता के मध्य अन्यथा पुस्तक लेखन की भाषा हो।

भारतेन्दु जी को हिन्दी और उर्दू में कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता जब फारसी शब्दों की बहुलता के साथ यह फारसी लिपि में लिखी जाती है तो उसे उर्दू कहते हैं और जब संस्कृत शब्दों की अधिकता के साथ नागरी लिपि में लिखी जाती है तो उसे हिन्दी कहते हैं। फिर भी, हिंदी, उर्दू के मध्य खाई के जन्म का कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा कि मुसलमान और उनके पिछलग्गू अग्रवाल, कायस्थ, खत्री कौम के लोग जो काशी इत्या द में है तथा जो फारसी बहुल उर्दू बोलते हैं, अपनी ही भाषा को बड़े फक्र से राजभाषा समझते हैं क्योंकि अंग्रेजी के पूर्व उनके पूज्य मुसलमान ही देश के शासक थे। अतः राजकीय कृपा प्राप्त करने की होड़ में वे अधिकाधिक फारसी शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह यहां तक कि वाक्य में क्रिया ही नागरी शब्द की रह जाये तथा इसी भाषा को शाइस्तगी और राजभक्ति की निशानी मानते हैं। आज ब्रिटिश शासन के समय भी उर्दू की मान्यता राज-दरबारी भाषा के रूप में है। चूंकि उर्दू राजभाषा है और राजकीय कार्यरत व्यक्ति नागरी के प्रचार से सम्भवतः अपनी जीविका ही खो बैठें। अतः वे लोग फारसी बहुल उर्दू को ही अपनाए रखना चाहते हैं। यह तो भली-भांति ज्ञात है कि इस काल में मुकदमें इत्यादि राज-काज बड़े पैमाने पर होते थे। अतः सामान्य राजकाज जीविकोपार्जन का एक बड़े वर्ग का जरिया था। इस सम्बन्ध में अत्यन्त दिलचस्पी से उन्होंने आयोग को कहा कि फारसी बहुल उर्दू, सामान्य में थोड़े से ही वर्ग में प्रचलित है तथा इस कारण जिन्हें ब्रिटिश शासन का संरक्षण प्राप्त है, वह समाज का लघु भाग ही है और बाकी का बड़ा भाग चाहते हुए भी राजभक्ति से वन्चित रह जाता है। इसी आधार पर तो उर्दू की हिमायत करने वाले सर सैयद अहमद खां को तीखी नजरों से देखते हुए भारतेन्दु जी ने कहा—"अगर खाँ साहब अपनी आंखे खोलकर देखे तो सोचा हुआ उनका नक्शा कुछ उलटा ही दिखाई देगा। अपने बयान के दौरान बड़े जोरदार शब्दों मे उन्होंने जब साधारण की भाषा को सरकारी कामकाज की भाषा बनाने की संस्तुति की। आयोग ने इस बात को बड़े ध्यान से सुना और सरकार को कहा कि भारतवासियों को राजभक्त प्रजा बनाने हेतु फारसी बहुल उर्दू को अनुचित प्रश्रय देना ठीक नहीं होगा। इस प्रकार भारतेन्दु ने बड़ो चतुरता से फारसी बहुल उर्दू को राजकीय संरक्षण से विरत किया।

अन्त में एक उदाहरण देकर उन्होंने कहा कि हमें न तो "तमोमण्डल घनघट्ट होने लगा, विविध बात बाहुल्य से इतस्ततः कुम्भटिका नियात द्वारा रसातल तमोमय हो

गया ।" वाली हिन्दी अथवा चूंकि दावाए मुदई बिलकुल बाईद अजकवल और गुजाश्त: अज हद ए समा अत और खिलाफ अज कानून ए मुख्बी जाए मुल्कए महरूसाए सरकार है"– वाली उर्दू ही चाहिए। हमें तो वह मातृ भाषा चाहिए जो कि बच्चों की किताबों से लेकर राजकाज के कार्यों के उपयोग में आ सके। क्या कारण है हमारे कानूनी शब्दों में अभाज्य हेतु "गैर मुमुकिन उक्त तकसीम" ऐसे फारसी शब्द लिए जाय। क्यों हम "मार सहकर वह भाग गया" के स्थान पर "वह जद व कौब बरदाश्त कर अपने मकान को फरार हो गया" अथवा "वह मार सहनकर स्वगृह को पलायित हो गया" को स्वीकार करें जबकि भारत की सीधी सादी जनता के लिए यह दोनों समझ के बाहर हैं।

भारतेन्दु जी तो जनता द्वारा समझी जाने वाली तथा बहुसंख्यकों की परिचित लिपि में लिखी जाने वाली शुद्ध एवं सरल भाषा को ही चाहते थे। उनका कहना है कि 'विज्ञान की पुस्तकों में भले ही हमें तकनीकी शब्दों को प्रयोग करने के लिए बाध्य होना पड़े, लेकिन बोलचाल में बच्चों के स्कूलों में पढ़ायी जाने वाली तथा पारिवारिक शिक्षा की पुस्तकों में, कचहरी के कागजों और सार्वजनिक भाषणों में हम ऐसी सरल बोल-चाल की भाषा चाहते हैं, जो सच्चे अर्थों में हमारी मातृभाषा कही जा सके।

भारतेन्दु के उपर्युक्त विचारों से प्रेरणा लेकर हमें आज की हिन्दी के प्रति सचेत होना है। राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी समस्त भारतवासियों की निजभाषा है पर उसकी स्थिति दयनीय एवं ह्रासोन्मुखी होती जा रही है। हम हिन्दी को थोपने के नाम पर हिन्दी से बचने की नीति अपनाते हैं। पर इसका परिणाम घातक सिद्ध होता है और इस दिशा में हम निरन्तर पिछड़ते जा रहे हैं। हिन्दी की उपेक्षा करके हम विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकते हैं और देश देश-विदेश में हम अपने निजत्व की छाप भी नहीं छोड़ सकते। अतः आवश्यक यह है कि दुराग्रहों को छोड़कर हिन्दी को ज्ञान-विज्ञान का आधार बनाने के साथ ही इसके अध्ययन-अध्यापन को शिक्षा नीति का अनिवार्य अंग बनाया जाय और भारतेन्दु के सपनों को साकार किया जाय।

भारतेन्दु की शिक्षा नीति—भारतेन्दु जी विद्याध्ययन को ही संसार की सबसे बड़ी उपलब्धि मानते थे। शिक्षा पर बल देते हुए उन्होंने अपने एक लेख में लिखा है—"इस संसार में जितनी वस्तुएं है, उनमें विद्या सबसे बड़ी है। देखो, विद्या माता उस माता से बड़ी है क्योंकि माता केवल बालकपन में रक्षा करती है, पर विद्या अपने बल से सब अवस्था में रक्षा करती है—विद्या वह स्त्री है, जो इस स्त्री से बड़ी है क्योंकि यह स्त्री ऐसी संतान उत्पन्न करती है जिनके बुरे होने की संभावना हो सकती है पर यह विद्या स्त्री सन्तोष, सम्बोध, उत्साह ऐसी सन्तानें उत्पन्न करती है जो सर्वदा आनन्द ही देते हैं।"

लार्ड रिपन ने 1882 ई0 में श्री डब्ल्यू हण्टर की अध्यक्षता में जिस शिक्षा आयोग का गठन था, उसका कार्यालय लाहौर में रखा गया। इस आयोग ने तत्कालीन शिक्षा

पद्धति का खूब जमकर अध्ययन किया तथा गवाही हेतु देश के शिक्षाविदों को भी बुलाया, जिनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सर सैयद अहमद खां तथा राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द प्रमुख थे। आयोग ने भारतेन्दु जी को अपने सामने बुलाने का साग्रह आमंत्रण भेजा, पर अस्वस्थता के कारण वे स्वयं उपस्थित न होकर अंग्रेजी में अपना लिखित बयान प्रस्तुत किया। यह बयान केवल उनका ही नहीं था, वरन तत्कालीन प्रबुद्ध समाज के द्वारा उनको अनेक ज्ञापनों के आधार पर दिया गया था जिसे भारतीय जनता की आवाज कहा जा सकता था। इसमें भारतेन्दु ने बड़े परिश्रम और अत्यन्त गूढ़ता से आयोग द्वारा उठाये गये प्रश्नों का उत्तर दिया था। भारतेन्दु जी ने आयोग के समक्ष दोनों महापुरुषों सर सैयद अहमद खाँ और राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द के विचारों का खण्डन-मण्डन बड़े सुरुचिपूर्ण एवं तर्कपूर्ण ढंग से उपस्थित किया जिससे प्रभावित होकर आयोग ने अन्त में भारतेन्दु के ही विचारों से सहमति प्रकट कर सरकार को भी वही मान्य करने की संस्तुति कर दी। इस सम्बन्ध में आयोग को दिया गया उनका बयान बड़ा ही दिलचस्प है।

आयोग के इस प्रश्न के उत्तर में कि शिक्षा विभाग (राजकीय) के प्रशासन का जनता पर रोब-दाब के लिए क्या किया जाय। सर सैयद अहमद खाँ ने कहा कि इस कार्य हेतु अतिरिक्त कलेक्टरों की नियुक्ति हो, पर भारतेन्दु ने कहा कि सरकार द्वारा शिक्षा को कम से कम प्राथमिक स्तर तक अनिवार्य बनाया जाना चाहिए, जिससे जनता को व्यर्थ की अफसरशाही से न दबाकर शिक्षा के महत्त्व से प्रभावित किया जा सके। भारतेन्दु जी ने प्राथमिक स्तर पर पाठ्यक्रमों में गणित, सामान्य ज्ञान, व्यापार एवं कृषि शिक्षा पर बहुत जोर दिया था।

आयोग को शिक्षा विषयक भारतेन्दु की अन्य संस्तुतियों में प्रत्येक जिले में एक आदर्श सरकारी स्कूल, उच्च शिक्षा ग्रहण करने के पूर्व न्यूनतम योग्यता के रूप में माध्यमिक शिक्षा, रोजगारपरक एवं क्रियात्मक उच्च शिक्षा, शिक्षा क्षेत्र में साम्प्रदायिक भेद-भाव की समाप्ति, स्त्री-शिक्षा का व्यापक प्रसार, स्कूलों की फीस में शनैः शनैः बढ़ोत्तरी तथा राजकीय छात्रवृत्तियों के आवण्टन में राजभक्ति का आदर्श न रखकर खुली प्रतियोगिता की सृष्टि प्रमुख थी। उपर्युक्त सभी सुझावों को आयोग के माध्यम से सरकार ने स्वीकृत कर लिया।

भारतेन्दु जी देशवासियों की अज्ञानता से बहुत दुःखी थे और उनकी अज्ञानता पर शोक प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है—"हां शोच का विषय है कि ऐसी गुण वाली विद्या का स्वरूप हमलोग नहीं जानते हैं और उससे विमुख है।"

देशवासियों में इसी अज्ञानता को मिटाने हेतु उन्होंने भाषा प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। वे देश के गाँव-गाँव में विद्या का प्रचार व प्रसार करना चाहते हैं। इसी उद्देश्य की

चर्चा करते हुए 'जातीय संगीत' नामक लेख में उन्होंने लिखा है—"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाशित होते हैं किन्तु वे जनसाधारण को दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बने और वे सारे देश में, गाँव-गाँव में साधारण लोगों में प्रचारित की जाय। सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी, उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना शीघ्र ग्राम गीत फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना काव्य से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है इसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे-ऐसे गीतों का संग्रह करूँ और उनको छोटी-छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूँ।" इस महान यज्ञ हेतु वे लोगों का आवाहन करते है। "इस विषय में मैं जिनको-जिनको कुछ भी रचना शक्ति है, उनसे सहायता चाहता हूँ कि वे लोग भी इस विषय पर गीत व छन्द बनाकर स्वतन्त्र प्रचार करें या मेरे पास भेज दें, मैं उनको प्रकाशित करूँगा और सब लोग अपनी-अपनी मण्डली में गाने वाले को यह पुस्तकें दें। जो लोक धार्मिक है, वह नियम करें कि जो गुणी इन गीतों को गायेगा, उसी का वे लोग गाना सुनेगें। स्त्रियों की भी ऐसे ही गीतों पर रुचि बढ़ाई जाय और उनको ऐसे गीतों का अभिनन्दन किया जाय। ऐसी पुस्तकों का बिना मूल्य वितरण किया जाय या उनका मूल्य अति स्वल्प रखा जाय। जिन लोगों का ग्रामीणों से सम्बन्ध है वे गाँव में ऐसी पुस्तकों को भेज दें। जहाँ कहीं ऐसे गीत सुने, उनका अभिनन्दन करें।"

इन पुस्तकों की विषय वस्तु तथा भाषा की चर्चा भी उन्होंने अपने लेख में की है, वे लिखते हैं—"इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छन्दों और साधारण भाषा में बने वरंच गांवारी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हो। कजली, ठुमरी, खेमटा, कँहरवा, अद्धा, चैती, होली, साम्पी, लम्बे, लावनी, जावे के गीत, विरहा, चनैनी, गजल इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो अर्थात पंजाब में पंजाबी, बुन्देलखण्ड में बुन्देलखण्डी, बिहार में बिहारी, ऐसे जिन देशों में जिस भाषा का साधारण प्रचार हो, उसी भाषा में ये गीत बने।"

उपर्युक्त तथ्यों से प्रकट है कि भारतेन्दु की शिक्षा नीति अत्यन्त व्यापक, उदार, सामयिकता से संदर्भित, राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत, नैतिक मूल्यों से परिप्लावित समय की कसौटी पर खरी एवं कर्तव्यपरक आदर्शात्मक जीवन यापन के लिए प्रेषित करने वाली रही है। आज की इस घड़ी में भी उनकी तत्तत विषयक नीतियां हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी हैं और उनका अनुपालन तथा कार्यान्वियन करने से इस अधुनातन संकटापन्न देश काल में हम भाषा एवं शिक्षा की अनेक गुत्थियों को सुगमता से सुलझा सकते हैं।

अन्त: में स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा विषयक विचारों को उदधृत कर इस विषय का समापन करते हैं जिनमें शिक्षा के आदर्श का एक बड़ा ही सुन्दर एवं सम्गुंफित चित्र प्रस्तुत किया गया है—"विदेशी भाषा में दूसरों के विचारों को रखकर अपने मस्तिष्क में उन्हें ठूंस और विश्वविद्यालयों की कुछ पदवियाँ प्राप्त कर तुम अपने को शिक्षित समझते हो? क्या यही शिक्षा है? तुम्हारी शिशा का उद्देश्य क्या है? मुन्शीगीरी करना या वकील बन जाना या अधिक से अधिक डिप्टी कलेक्टर बन जाना जो मुन्शीगीरी का ही दूसरा रूप है, बस यही न, इससे तुमको या तुम्हारे देश को क्या लाभ होगा। नेत्र खोलकर देखो, भारतखण्ड अक्षय अनन्त का भण्डार रहा है, आज वही अनन्त के लिए करुण पुकार उठ रही हैं। क्या तुम्हारी शिक्षा इस अभाव की पूर्ति करेगी..........वह शिक्षा जो जन समुदाय को जीवन संग्राम के उपयुक्त नहीं बनाती, जो उनकी चारित्र्य शक्ति का विकास नहीं करती, जो उनमें प्राणी विषयक दया का भाव, सिंह का साहस पैदा नहीं करती क्या उसे भी हम शिक्षा का नाम दे सकते हैं।"

नाटककार भारतेन्दु की रंगमंचीय अभिज्ञा और प्रतिज्ञा

ओम अवस्थी

: 1 :

रंगमंचीय अभिज्ञा का व्यवहार यहाँ मुख्य रूप से उस 'थिएट्रिकल अवेअरनेस' के अर्थ में किया जा रहा है जो किसी रंग-नाटककार के कथ्य और कथन की द्वन्द्वशीलता में निरन्तर उपस्थित रहती है और जिसके कारण लिखित-नाटक मंच-व्यापार में तब्दील होने की सम्भावनाओं को उजागर करता है।

यह जरूरी नहीं कि हर नाटककार निर्देशक की तरह रंगमंच का विशेषज्ञ हो, बल्कि अच्छा नाटककार वह होता है जो निर्देशक के काम को अपने हाथ में न लेकर उसे सर्जनात्मक प्रयोग का खुला अवकाश देता है; लेकिन यह भी सच है कि अध्ययन या अनुभव से अर्जित रंगमच की आधारभूत अभिज्ञा के बिना नाटककार का काम नहीं चलता। अगर वह खींचतान कर किसी प्रकार काम चला ही लेता है तो भी रंगकर्मी उसके नाटक को हाथ लगाने से कतराते हैं या फिर उस नाटक का नया मंच-रूपान्तर तैयार करने-करवाने के बाद ही उसे मंच पर लाने का साहस करते हैं। जन्म और प्रकृति से ही नाटक एकमात्र प्रस्तुति-मूलक साहित्यिक विधा है, इसीलिए रचनाकारों में नाट्य-लेखक का काम कठिनतम होता है। जितनी विधापरक पाबंदियाँ नाटककार पर लगती हैं उतनी किसी अन्य साहित्यकार पर नहीं, जितनी साहित्येतर कलाएँ उसका उपजीव्य बनती हैं उतनी किसी अन्य कलाकार का नहीं। वह जब नाटक लिखता है तब जीवन की चुनी हुई स्थितियों को मंच पर घटता हुए देखने की कल्पना भी करता है और इस संजटिल रचना व्यापार में स्वयं को प्रत्येक रचनाधीन पात्र की भूमिका में भी उतारता रहता है। वस्तु और रूप की प्रामाणिकता की तलाश के इस श्रमसाध्य उपक्रम में अनेक बार ऐसा होता है कि नाटक लिख चुकने के बाद नाटककार किसी रंगमण्डली के सहयोग से उसे पहले मंच पर उतारता है और फिर परिवर्तन-परिमार्जन के उपरान्त ही छपवाता है। इस प्रकार चेतन तथा अचेतन के स्तरों पर नाट्य-मंचन और नाट्य-प्रेक्षण का एक व्यापक बोध नाट्य-लेखन की प्रक्रिया को आदि से अन्त तक चालित करता है और विचार-वस्तु की इकाइयों को शाब्दिक तथा अशाब्दिक आयामों में सम्प्रेषित होने की दिशा देता है।

नाटक और रंगमंच एक-दूसरे की अनिवार्य नियति है, कि नाटक में रंगमंच की और रंगमंच पर नाटक की स्तरीयता को बनाये रखना सामाजिक महत्व का काम है—इस तथ्य को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बखूबी पहचान लिया था। हिन्दी का सौभाग्य था

कि उनके रूप में उसे एक ऐसा 'आरम्भशूर' नाटककार मिला जिसने अपनी सम्पूर्ण नाट्य-कला को देश की नियति के साथ जोड़ा था। भारतेन्दु की अशेषता उनके नाटकों में है; उनकी कविता में नहीं। कविता लिखने का उन्हें व्यसन था जो निश्चित रूप से साहित्यिक पुनर्जागरण की पताका को थामे हुए था, मगर नाटक लिखने की उन्हें भूख थी जो हिन्दी में इस विधा की उदय-बेला में भी अनेक परवर्ती नाटककारों की आतंककारी अहम्मन्यता से बड़ी थी। जयशंकर प्रसाद ने जहाँ यह माना कि हिन्दी के "नवयुग का उत्थान नाटक से ही हुआ," और स्वीकार किया कि "श्री हरिश्चन्द्र ने जिस काल में अपनी प्रतिभा से और परिश्रम से हिन्दी की उन्नति की, उस काल का साहित्य नाटकों को अलग कर देने बचता ही क्या है"—वहाँ नाटक को "काव्य का एक अवान्तर भेद" ही कहा और पारसी रंगमच के प्रति अपनी चिढ़ को इस पूर्वाग्रह में ढाल दिया कि "रंगमंच के सम्बन्ध मे यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएं।" भारतेन्दु भी पारसी रंगमच से बहुत अप्रसन्न थे, मगर इसका इलाज उन्होंने रंगमंच की अवरता और नाटक की प्रवरता के द्वैत को सिद्ध करने में नहीं, रंगमंच के लिए अच्छे नाटक लिख कर दोनों के अद्वैत व सुरुचिपूर्ण सहृदय-समाज के निर्माण की प्रतिबद्ध संकल्पना में किया था। यही कारण है कि प्रसाद के नाटकों में रंगमंच एक बाह्य तत्व प्रतीत होता है लेकिन भारतेन्दु के नाटकों में वह प्राण-तत्व की तरह अन्तर्भूत है। भारतेन्दु बहुत सोच-समझ कर नाटक की विशुद्ध साहित्यिकता से बचकर चले थे और उसे रंगमचीयता की जमीन पर ही परिभाषित करते थे। उनके अनुसार "नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया। नट कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने वा किसी वस्तु के स्वरूप में फेर कर देने वाले को, वा स्वयं दृष्टि-रोचन के अर्थ फिर जाने को। नाटक में पात्रगण अपना स्वरूप परिवर्तन करके राजादिक का स्वरूप धारण करते हैं।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-85 ई०) नाट्य-लेखक, नाट्य-कर्मी, नाट्य-चिन्तक, नाट्य-प्रेक्षक, नाट्य-पोषक, नाट्यानुभूति तथा काव्यानुभूति की अभिन्नता के समर्थक और देश-विदेश के असंख्य नाटकों एवं रंगमंचीय उतार-चढ़ावों के जागरूक अध्ययन कर्त्ता थे। अपने नाट्यमुखी व्यक्तित्व में प्रतिभा, अभ्यास और व्युत्पत्ति की इन्हीं परस्पर गुम्फित प्रगुणताओं के कारण उनकी उद्देश्यपूर्ण रंगमंचीय अभिज्ञा न केवल उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की समृद्धतम नाट्य-चेतना थी, बल्कि बीसवीं शताब्दी के पिछले दो-तीन दशकों में भाषा और प्रान्त की हदबन्दियों को लाँघ कर राष्ट्रीय रंगमंच का जो आन्दोलन उभर कर सामने आया है, वह उन्हीं की स्वस्थ शुरूआत का विस्तृत और विकसित परिणाम है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि विदेश के नये-नये आन्दोलनों से प्रभावित होकर नितान्त अभारतीय और शक्तिवादी विचारों को शुद्ध रूप से आयातित रंग-शिल्प में निबद्ध करने वाले कुछ परवर्ती या हाल ही के नाटककार तो रंगमंच से जल्दी विलुप्त हो कर पुस्तकालयों मे समा गये, मगर उनकी तुलना में बहुत पुराने और कम कलात्मक कहे जाने वाले भारतेन्दु के अनेक नाटकों को आज भी नये जोश और नयी निर्देशकीय कल्पना के साथ प्रस्तुत किया जाता है।

: 2 :

कोई भी नाट्यकृति, अथवा किसी भी नाटककार की विकसित रंगमंचीय अभिज्ञा, अपना उद्देश्य आप बन कर सफल नहीं हो सकती। देखना यह होता है कि वह किस प्रतिज्ञा को समर्पित है। भारतेन्दु का सम्पूर्ण रंग-बोध अपने जमाने के समाज-राजनैतिक जीवन से अनेक स्तरों पर सम्बन्ध स्थापित करने की ललक से अभिप्रेरित है। नाटक और रंगमंच को इसीलिए उन्होंने एक महान सामाजिक अनुष्ठान को गम्भीरता से ग्रहण किया था। यह उनके लिये चिन्तन और कर्म की एकता का सवाल भी था। जीवन में जिस प्रकार उन्होंने सम्पत्ति को दूसरों की सेवा में लुटाया था उसी प्रकार नाटकों में देश वत्सलता के विचारों को उदारता से बाँटा था। महज चौंतीस वर्षों के जीवन-काल में विपुल काव्य और गद्य लिखने के अतिरिक्त सात छोटे-बड़े पूरे मौलिक नाटक, दो अधूरे मौलिक नाटक, एक अर्द्धमौलिक नाटक, चार नाट्य संवाद, पांच अनूदित नाटक एवं संशोधित नाटक और कुछ अन्य प्रकार की मंचोपयोगी झलकियाँ लिखकर उन्होंने अपने रचनाकार को अन्तरतम तक आलोड़ित करने वाली उस अदम्य सिसृक्षा को आकार दिया था जो हर हालत में देशवासियों से सम्बन्धित होना चाहती थी, उनकी सांस्कृतिक वास्तविकता, दासत्वकालीन दुर्दशा और विसंगतियों को नाट्य-मुकुर में दिखाना चाहती थी और उनमें सामाजिक परिवर्तन की उत्कट आकांक्षा को जगा कर उन्हें जातीय गौरव के अनुरूप बेहतर तथा स्वतन्त्र बनाना चाहती थी। यही कारण है कि अपने लगभग सभी मुख्य नाटकों में उन्होंने कथ्य चेतना के स्तर पर इस प्रतिज्ञा को बार-बार दोहराया है, इतना दोहराया है कि अगर इनमें रंगमंचीय अभिज्ञा और भाषिक प्रस्तुति की नवलता से उत्पन्न अपनी-अपनी रूपगत ताजगी न होती तो हमें लगता कि वास्तव में हम एक दो नाटक देख रहे हैं।

भारतेन्दु की नाट्यात्मक प्रतिज्ञा का मूल मन्तव्य 'भारत दुर्दशा' (1876-77 ई०) के मंगलाचरण में सूत्र रूप से समझा जा सकता है। इसमें उन्होंने नये युग के संस्थापक श्रीकृष्ण की अभ्यर्थना में लिखा है—"जय सतयुग-पावन करन, नासन म्लेच्छ-अचार। कठिन धार तरवार कर, कृष्ण, कल्कि अवतार है।" यह पुराने ढंग का औपचारिक रूढ़ निर्वाह नहीं है। इसके पीछे नाटककार का रचनात्मक सकल्प तीन आयामों में मुखर होना चाहता है—सतयुग की स्थापना, म्लेच्छाचर अथवा नवयुग विरोधी तत्वों का निदर्शन और तलवारधारी कृष्ण के कल्कि-अवतार का आवाहन। पहले का निहितार्थ है कि भारतेन्दु का युग भारतवासियों के लिए कलयुग है, विसंगति पूर्ण है, त्रासद है, अश्रेयस्कर है और उसमें संगति, आत्मनिर्भरता तथा एकता का सतयुग लाने की परम आवश्यकता है। दूसरे की व्यंजना है कि भारतवर्ष में व्याप्त सभी असंगतियाँ विदेशी शासन, गुलाम मानसिकता, निरुद्यमता और आपसी झगड़ों के व्यापक म्लेच्छाचरण की उपज हैं। तीसरे में संकेत है कि अनाचार के उच्छेदन और भारतीय मूल्यों की बहाली के लिए किसी क्रान्तदर्शी जन-नेता की आवश्यकता है, हालत इतनी खराब हो चुकी है कि परिवर्तन

केवल एक कठिन-कठोर युगान्तकारी आन्दोलन द्वारा लाया जा सकता है भारतेन्दु के सभी महत्वपूर्ण नाटक भारत-कल्याण के बीज-प्रयोजन के इन तीन बिन्दुओं से जुड़े हुए विचारों की मार्मिक व्याख्या करते हैं। इन विचारों में राष्ट्रीयता के अवरोधक और पोषक दोनों प्रकार के अनेक तत्वों का रेखांकन भी उनके नाटकों में स्थान-स्थान पर होता रहता है।

जो लोग भारतेन्दु-युग के अन्तर्विरोधों को केवल भारतेन्दु के व्यक्तित्व पर थोप कर एक बन्द आधुनिकतावादी बहस को उठाते हैं। वे उनके नाटकों में लेखकीय प्रयोजन के उक्त तीसरे आयाम अर्थात् अंगरेज-विरोधी रुख के पक्ष की प्रामाणिकता पर आशंका व्यक्त करते हैं। डा० रामविलास शर्मा ने बहुत युक्ति-युक्त ढंग से भारतेन्दु की अपने युग के साथ टकराहट को विश्लेषित किया है; फिर भी कुछ लोग तर्क दिए चलते हैं कि भारतेन्दु ने अंगरेजी-शासन का, विशेष रूप से महारानी विक्टोरिया का गुण-मान कर राजभक्ति का परिचय दिया है, कि सन् सत्तावन की क्रान्ति का एक भी हवाला उनकी रचनाओं में नहीं मिलता, कि 'विषस्य-विषमौषधम्'' नाटक (1876) में तो उन्होंने साफ निष्कर्ष दिया है कि भारतीय राजा मल्हार राव का राज्य हड़प कर अंग्रेज सरकार ने एक अच्छा कर्म किया था। वास्तव में ये लोग पहली नजर में सब कुछ भांप कर आरोप लगाने की जल्दबाजी के दोषी हैं।

आरोप लगाने वालों के गलत व्यवहार से स्वयं भारतेन्दु भी परिचित और पीड़ित थे। 'प्रेमजोगिनी' (1875) के प्रारम्भ में सूत्रधार परिपार्श्वक को बताता है कि उसका "प्रभु पर से विश्वास उठा जाता है और सच है क्यों न उठे, यदि कोई हो तब न उठे।" परिपार्श्वक पूछता है — 'यहां ईश्वर का निर्णय करने आए हो कि नाटक खेलने आये हो ?'' सूत्रधार जबाव देता है—"क्या नाटक खेलें क्या न खेलें। क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता मित्र पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एक मात्र पूर्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिन्दी का एकमात्र जनक, भाषा-नाटकों का एक मात्र जीवन दाता, हरिश्चन्द्र ही दुःखी हो ?" फिर सूत्रधार मंच पर और नाटक में अनुपस्थित पात्र भारतेन्दु को सुना कर कहता है—"ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे। ···मित्र मैं जानता हूं कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ है। बड़ा विपरीत समय है" सारे मर्म और अन्तर्विरोधों को खोलता हुआ, भारतेन्दु के नाटकों में अनेक स्थलों पर अभिव्यक्त हुआ है।

नहीं भूलना चाहिए कि भारतेन्दु गुलाम भारत में रहकर अनेक प्रकार के दबावों में अपनी आवाज बुलन्द कर रहे थे। अगर मुसलमानों के और कम्पनी के शासन की तुलना में उन्होंने विक्टोरिया के जमाने में अधिक सुख-सुविधाओं के आवंटन की बात दो-

चार जगहों पर की है तो सैकड़ों प्रसंगों में उसी शासन से भारतीयों के मोह भंग का भी विडम्बनापूर्ण चित्रण किया है। 'विषस्य-विषमौषधम' ही में एक ओर यदि उन्होंने तर्क दिया है कि म्लहार राव खुद भारतीयता के नाम पर कलंक होने के कारण जहर से जहर को मारने के सुलूक का अधिकारी था, तो दूसरी ओर यह भी लिखा है कि "सन् 1594 में जो व्यापार करने आये थे आज स्वतंत्र राजाओं को भी दूध की मक्खी बनाते हैं।" 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (1873) में जब दुष्कर्मी गृध्रराज को यमराज की कचहरी में पेश किया जाता है तब चित्रगुप्त शिकायत करता है कि "महाराज ! सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार करता है उसको 'स्टार ऑफ इण्डिया' की पदवी मिलती है।" इस राजा को कोड़े लगाये जाते हैं और अंधतानिसु नामक नरक में भेजा जाता है। उसके लोलुप मंत्री को भी कड़ी सजा दी जाती है और चित्रगुप्त उसे क्रोध से कहता है।—"अरे दुष्ट ! यह भी क्या मृत्युलोक की कचहरी है किन्तु हमें घूस देता है और क्या हम लोग वहाँ के न्यायकर्ताओं की भाँति जंगल से पकड़ कर आए हैं कि तुम दुष्टों के व्यवहार नहीं जानते ?" यह जंगल का न्याय अंग्रेज का नहीं तो किसका है ? मृत्युलोक की कचहरी की ओर में नव-स्थापित अंगरेजी हाईकोर्ट पर नहीं तो किस पर व्यंग्य कसा गया है ? 'भारत दुर्दशा' में भारत-दुर्दैव का सारा दलबल अंगरेजों की नहीं तो किसकी कूटनीति को प्रतीकों में व्यंजित करता है ? इसी नाटक में 'कविवचन सुधा' को जब्त करने का भण्डाफोड़ किसके विरुद्ध किया गया ? 'अंधेर नगरी' (1881 ई०) में तो भारतेन्दु और भी तो बेवाक होकर लिखते हैं—"चना हाकिम सब जो खाते, सब पर दूना टिकस लगाते।" 'पाँचवें पैगम्बर' (एकालाप) का चूसा स्पष्ट घोषणा करता है कि भारतीय पूँजी को चूसने के कारण ही उसका नाम सार्थक है और कोहचुस पर ही उसका निवास है क्योंकि वह भारतवासियों के धन-बल को चूस करके वहाँ ले जाता है। वह भारतवासियों को बड़ी कुटिलता से सीख देता हे– देखो ! शराब पियो… ताव करना सीखो, स्पीच दो, क्रिकेट खेलो, दरबारदारी करो। पूजायगी करो, पोशाक सब तंग रखे।" 'प्रेमजोगिनी' में भारतेन्दु ने एक परदेशी द्वारा काशी नगरी की पहले भर्त्सना करवाई है और फिर सुधाकर के मुख से उसी नगरी की गौरव-गाथा खुलकर भारत वर्ष ही के वर्तमान और अतीत की विषमता को दिखाया है। जहां उन्हें दुख है कि "भूखे पेट कोई नहीं सुनता, ऐसी है इस काशी… ",दाल की मडी रडी पूजै मानो इनकी मायी"—वहां तनिक सन्तोष भी है कि "अब भी बाबू हरिश्चन्द्र इत्यादि गुण ग्राहक इस नगर की शोभा की भाँति विद्यमान हैं !" 'अंधेर नगरी' में गोवर्धनदास का गीत विदेशी सरकार पर बहुत ही आक्रामक कटाक्ष करता है—"अंधाधुन्ध मच्यो सब देसा, मानहुं राजा रहत विदेसा।" अब अगर कुछ लोगों का असल एतराज यह हो कि भारतेन्दु ने पिस्तोल क्यों नहीं पकड़ी, तब बात दूसरी है। वरना सच यह है कि जिस ऊँचाई पर जा कर उन्होंने अपने अभिजात वर्ग और व्यवस्थावादी आनुवंशिक संस्कारों को सामान्य जन की चिन्ता के व्रत में अतिक्रमित किया था, वह ऊँचाई प्रत्येक युग के साहित्यकार के लिए स्पृहणीय हो सकती है।

भारतेन्दु का रचना-काल भारतवर्ष में साम्राज्यवाद के प्रारम्भ (1860-1897 ई०) का समय कहलाता है। यह वह काल-खण्ड था जिसमें ब्रिटेन भारतीय व्यापार को उपनिवेशवादी मानसिकता से अपनी आर्थिक दृढ़ता के हित में इस्तेमाल कर रहा था। अमरीकी गृह-युद्ध (1862–65) की वजह से भारत ही उसके लिए कपास और खाद्यान्न की निर्यात का मुख्य भण्डार रह गया था। अतः सन् '60 से '68 के बीच भारतीय कपास पहले से तीन गुना अधिक मात्रा में बाहर जाने लगी थी, लेकिन अमरीकी गृह-युद्ध की समाप्ति पर उसके भाव को अप्रत्याशित रूप से गिरा दिए गए थे। तिस पर भारत की उस 80% निर्यातित कपास से जो महंगा कपड़ा बनकर आता था या उसके बदले में जो कीमती माल खरीदा जाता था, उसकी आवद लगभग छह गुना बढ़ गई थी। बढ़ती हुई महंगाई के अतिरिक्त अकाल और अनावृष्टि की मार अलग पड़ रही थी। इसके बावजूद ग्रामीण जनता पर नये टैक्स लगाये जा रहे थे। कुछ ही वर्षों में भूमि-कर की प्रति-वर्ष वसूली साढ़े तीन करोड़ से तकरीबन साढ़े आठ करोड़ रुपये तक उठ गयी थी। किसान और आम आदमी की हालत बहुत बुरी होती जा रही थी। उधर भारत का व्यापारी-वर्ग महाजनी जमात में बदलता जा रहा था और गरीब किसानों से सस्ते मूल्य पर जमीनें खरीदकर जमींदारों के तबके में भी शामिल हो रहा था। गेहूँ की पैदावार के लिए प्रसिद्ध अकेले पंजाब ही में सन् 1870–75 तक लगभग 50 प्रतिशत कृषि भूमि इस नव धनाढ्य वर्ग के पास रहन पड़ चुकी थी और असंख्य किसान महज मुज़ारे बन गये थे। गैर कृषि क्षेत्रों में अंगरेजी पूँजी का निवेश निरन्तर बढ़ रहा था। चाय, काफी, रबड़ आदि की पैदावार के अलावा खदानों, फैक्टरियों और अधिकांश कपड़ा मिलों पर उसी पूँजी का कब्जा था। बिचौलिये सौदागरों की चाँदी थी। नगर शोषण की इस व्यवस्था में नवोदित मजदूर वर्ग की हालत बहुत पतली थी, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय अन्तर्विरोध खुलकर सामने आने लगे थे। मजदूर दिन में सोलह घन्टे काम करता था। फिर भी भूखा मरता था। रेले बिछ रहीं थीं, फिर भी कच्चे माल के उत्पादकों को लाभ नहीं हो रहा था। अंगरेजी भाषा के सम्पर्क से नयी रोशनी आ रही थी, फिर भी दिलों में अंधकार बढ़ रहा था। निज भाषा के महत्व को रेखांकित किया जाने लगा था, फिर भी हिन्दी और उर्दू आपस में लड़ रही थीं। अखबार छप रहे थे, फिर भी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश था। इस सबके कारण देश में एक व्यापक असंतोष था जो सन् 57 की क्रान्ति से सबक के कारण निराशा और निष्क्रियता में गहरा रहा था। कुछ जगहों पर किसान मजदूरों के आन्दोलनों ने सिर भी उठाया मगर अपने लोग ही इन अपनों का दमन करने के माध्यम बन गये। यह सांस्कृतिक अधः पतन का सबसे भयानक समय था। पढे-लिखे अभिजात वर्ग और सरकारी तबके के लोग अंगरेजी तौर-तरीकों की नकल में अपनी शान समझ रहे थे, अपठित सम्पन्नों को वैसे ही सांस्कृतिक मूल्यों से कोई सरोकार नहीं था और भारी गिनती वाले निम्नवर्गीय भारतवासी भाग्यवाद, परिश्रमहीनता, अंधविश्वासों, धार्मिक झगड़ों और अनेक प्रकार की कुरीतियों का शिकार होकर बाहर-भीतर से टूट-बिखर रहे थे।

इसी विगलित वस्तु स्थिति की पृष्ठभूमि पर भारतेन्दु ने अपने नाटक रचे और दिखाये थे। 'भारतेन्दु–दुर्दशा', 'अँधेर नगरी', 'प्रेमजोगिनी' आदि दस्तावेजी नाटकों के पीछे उनके प्रत्यक्ष अनुभवों का साक्ष्य है। वह आठ वर्ष के थे जब ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक एक्ट के तहत ईस्ट इण्डिया कम्पनी को खत्म कर दिया था और ग्यारह वर्ष के थे जब प्रथम अंगरेजी वाइसराय लार्ड केनिंग के शासन-काल में हाईकोर्ट की स्थापना हुई थी। इस परिवर्तन स भारतवासियों को अधिकार और न्याय मिलने की आशा थी लेकिन भारतेन्दु ने इस आशा को धीरे-धीरे दम तोड़ते हुए देखा था। प्रथम जनवरी 1877 को महारानी विक्टोरिया को विधिवत भारत की सम्राज्ञी घोषित किया गया, मगर भारतेन्दु को यह समझने में देर न लगी कि सात समन्दर पार बैठी राजधानी तक भारतवासियों की समस्याएँ ठीक ढंग से कभी नहीं पहुंच सकती, उस समय वे अपने रचना-वर्ग में जुटकर प्रवृत्त हो चुके थे। अपने रचना काल में उन्होंने लार्ड लिटन और लार्ड रिपन के शासन में हिन्दू-मुस्लिम टकराहटों को पनपते हुए भी देखा था और कुल मिलाकर वे देश की बिगड़ती हुई हालत से बहुत चिन्तित थे। वे बंगाल में बंकिम चन्द्र चटर्जी की क्रांतिकारिता से भी परिचित थे, पूना की सार्वजनिक सभा से भी प्रभावित थे, तिलक की 'केसरी' पत्रिका भी उनकी नजरों से गुजरती थी, अपने प्रथम नाटक 'वैदिकी हिंसा' में उन्होंने दयानन्द स्वामी के सुधारवाद का भी समर्थन दिया था—मगर इस सबके बावजूद उनकी वैष्णवी आस्था बहुत हताश थी। उनके नाटकों में निराशा की मुखरता से पता चलता है कि व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक व्यवहार में अनेक परिवर्तनकारी कदम उठा कर भी वे शीघ्र ही किसी बड़े परिवर्तन के आगमन के विषय में आश्वस्त नहीं थे। निकट भविष्य में अपने देश के सुनिश्चित जागरण के सम्बन्ध में अगर वे बहुत दूर तक आशावादी नहीं थे तो इतने निराश भी नहीं थे कि अंधकार को चीर कर फूटने वाली किरणों के प्राकृतिक और ऐतिहासिक विधान पर से उनका विश्वास उठ जाता। इसीलिए उनकी नाट्यात्मक प्रतिज्ञा बहुत अपराजेय थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि दुखान्त 'भारत–दुर्दशा' में भारत की अटूट मूर्च्छा और भारत भाग्य की आत्महत्या में भारतेन्दु की यह प्रतिज्ञा खण्डित हुई है। यह बात नहीं है। नाटक के इस अन्त से उल्टा यह सिद्ध होता है कि देश की पहचान से ही देशवासियों की पहचान बनती है, कि देश नहीं तो हम भी नही हो सकते।

एक निर्धारित लक्ष्य की अनुपालना में रंग-नाटक लिखकर भारतेन्दु ने रंग-मंच को अपने देश के लोगों से अपील करने का अधिकतम प्रभावशाली और चित्ताकर्षक प्लेटफार्म बनाना चाहा था। उनसे पहले का हिन्दी साहित्य इस तरह की जागरूक और दायित्वपूर्ण भूमिका निभाने में अक्षम रहा था। उसका ध्यान नारी के रोमानी या भोग्या रूप पर अधिक टिका रहा, और संगठित युवा-शक्ति तो उसके परिवृत्त में कभी नहीं आ सकी थी। भारतेन्दु ने पहली बार भारत की शोषित नारी और दिशाहीन युवकों को ईमानदारी से झंझोड़ने का काम कुशलता से सम्पन्न किया। इन प्रसंगों में उनकी लेखनी और भी धारदार नजर आती है। उनका 'नीलदेवी' (1881) नारी–जागरण के उन प्रारम्भिक

स्वरों को उभरता है जिनका परिपाक प्रेमचन्द के उपन्यासों म और एक सीमा तक प्रसाद के नाटकों में जाकर हुआ। नीलदेवी जब पति–वध और वासना-भरे अपमान का बदला लेने के लिए छदम् रूप धारण कर अमीर की मजलिस में पहुंचती है तब अपना नाम "चण्डिका" बताती है और चतुराई से उसकी छाती में छुरा घोंप कर कहती है—"ले चाण्डाल पापी ! मुझको जान साहब कहने को फल ले, महाराज के वध का बदला ले।" इस नाटक की भूमिका में भारतेन्दु ने दुर्गा-पाठ दिया है, अंगरेजी में नीलदेवी की काव्य प्रशस्ति जोड़ी है और "मातृ-भगिनी सखी तुल्या आर्य ललना गण" से 25 दिसम्बर, 1881 को बड़े-दिन के पर्व पर सीधी अपील की है, जो एक प्रकार से उनके नाट्यात्मक संकल्प का घोषणा-पत्र है। यह अपील भारतेन्दु की नयी और प्रगतिशील विचारणा का खूबसूरत हिस्सा है। इसमें उन्होंने भारतीय नारी को पाश्चात्य नारी की आत्म-पहचान अपनाने को कहा है और भारतीय कुल-परम्परा को नारी के लिए अहितकर ठहराया है। इसका सार यह है कि जब वे 'अँगरेजी रमणी लोग' को स्वतन्त्रता की दशा में देखते हैं तब उन्हें 'इस देश की सीधी सीधी स्त्रियों की हीन अवस्था स्मरण आती है।" वे स्पष्ट करते हैं कि उनका आशय यह नहीं कि भारतीय नारी अँगरेज नारी की भाँति लज्जा को तिलाजंलि दे, उनका मन्तव्य यह है कि इस देश की नारियाँ मनुष्य जीवन को गृहदास्य और कलह मे न खोकर अपना स्वत्व पहचाने, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति विपत्ति को समझें। भारतेन्दु यह भी लिखते हैं कि "इस उन्नति पथ की अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल–परम्परा मात्र है, और कुछ नहीं है।" इसी प्रकार 'सत्य हरिश्चन्द्र' (1876 ई०) की लम्बी भूमिका के आरम्भ में उन्होंने स्वीकार किया है कि यह नाटक मित्र बालेश्वर प्रसाद की प्रेरणा से लड़कों को पढ़ने-पढ़ाने के उद्देश्य से लिखा गया है। अपने प्रसिद्ध बलिया–भाषण मे नव राष्ट्र-निर्माण की इन दोनों शक्तियों पर भारतेन्दु ने विशेष बल दिया है। अतः इस विषय में कोइ भ्रम नहीं रह जाता कि अतीत-स्मरण, वर्तमान-निन्दन और नव-प्रशिक्षण के झरोखों से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नाटक और रंगमंच को भारतीय मानस की मुक्ति के औजार के रूप में देखते थे।

: 3 :

नाट्य-प्रतिज्ञा से हटकर नाट्य-प्रस्तुति के व्यावहारिक पक्ष को केन्द्र में रखें तो किसी नाटककार की रंगमचीय अभिज्ञा की तलाश इस संदर्भ में अनिवार्य हो जाती है कि उसे अपने जमाने से कौन-सा रंगमंच उपलब्ध था, उस रंगमंच पर किस प्रकार के नाटक खेले जाते थे, उन नाटकों के दर्शकों की सामाजिक स्थिति और मूल अभिरुचि कैसी थी और स्वयं नाटककार ने अपनी वैचारिक संकलन का निर्वाह करते हुए उस रंगमंच को किस दिशा में विकसित करना चाहा था ?

जहाँ तक भारतेन्दु का सवाल है उनके युग ने उन्हें कोई भी आदर्श रंगमंच प्रदान नहीं किया था। जो थोड़ा-बहुत किया भी था वह या तो स्वस्थ होकर भी बहुत अपर्याप्त

था या फिर अस्वस्थ, असाहित्यिक और नितान्त अविश्वसनीय था। स्वयं भारतेन्दु ने 'नाटक' नामक निबन्ध में स्वीकार किया है कि हिन्दी या भाषा में वास्तविक नाटककार ग्रन्थों की सृष्टि का इतिहास उनके जीवन-काल के सातवें वर्ष से पुराना नहीं है और 'नहुष' तथा 'शकुन्तला' के बाद हिन्दी का जो तीसरा नाटक प्रकाश में आया वह उनका अपना 'विद्यासुन्दर' था, जिसे उन्होंने सन् 1866 में छायानुवाद के रूप में लिखा था। इसलिये जब खड़ी बाली हिन्दी में भारतेन्दु से पूर्व नाटकों की रचना ही न के बराबर थी तब हिन्दी के किसी साहित्यिक रगमंच से उनके अभिप्रेरित होने का सवाल ही नहीं उठता। वास्तव में हिन्दी में स्तरीय नाट्यलेख की तरह गम्भीर और अनुकरणीय नाट्य-मंचन के आन्दोलन के शुभारम्भकर्त्ता भी वे स्वयं ही थे। उनका मत है, और डा० अज्ञात को छोड़कर रंगमंच के लगभग सभी अध्येता इस बात से सहमत हैं, कि साधु हिन्दी का पहला अभिनीत नाटक शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल' था जो काशी के प्रसिद्ध रईस ऐश्वर्यनारायण सिंह की प्रेरणा से वहीं के थियेटर रायल में 3 अप्रैल 1868 को खेला गया था और जिसमें भारतेन्दु ने लक्ष्मण का भूमिका में उतरकर अभिनय-कला पर स्वाभाविक पकड़ के लिए दर्शकों से सराहना प्राप्त की थी। जाहिर है कि भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित हिन्दी रंगमंच का स्वरूप सांस्कृतिक था, वह सामान्य जनता को मनोरंजन के माध्यम से आत्मवास्तवीकरण का अवसर प्रदान करने के प्रयोजन से प्रेरित था, वह युग की जरुरतों के साथ जुड़ा हुआ था, उस पर शब्दाकार भी सामूहिक अनुष्ठान में प्रतिभाग लेता था और वह प्रस्तुति-तंत्र की खर्चीली बारीकियों में न उलझकर सादगी से अपनी बात कहने में विश्वास रखता था। यह जानकर सुखद आश्चर्य होता है कि भारतेन्दु अपने जीवन के अठारहवें वर्ष में 'जानकी मंगल' की बनारस वाली प्रस्तुति से लेकर जीवन के अन्तिम वर्ष में बलिया के ददरी मेले में 'सत्य हरिश्चन्द्र' की प्रस्तुति तक रगमंचीय गतिविधियों का अटूट हिस्सा बने रहे। उन्होंने 'नीलदेवी' के पागल और 'पाँचवें पैगम्बर' के चूसा के रोल भी खूब किये थे। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के इस मंचन में भी उन्होंने ही हरिश्चन्द्र की भूमिका निभाई थी और राधाकृष्णदास तथा रविदत्त शुक्ल को भी मंच पर उतारा था। इसका रंगमंच बहुत सादा था, केवल कुछ कपड़े तानकर नेपथ्य को अभिनय स्थल से अलगाया गया था और दृश्य-परिवर्तन के लिए भी अन्य पर्दों का उपयोग नहीं किया गया था।

'जानकी-मंगल' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' के इस मंचन के बीच भारतेन्दु की नाट्यात्मक व्यावहारिक गतिविधियाँ पूरे उत्साह के साथ जारी रहीं और उनके प्रभाव से उस युग का लेखन और मंचन परस्पर-निर्भर ही नहीं हुआ, परस्पर-संलयन के स्तर को भी छूने लगा था। सन् 1860 और 1884 की इस छोटी-सी अवधि में उनके अधिकांश नाटकों का अभिनय काशी-नरेश की सभा के बाहर भी कानपुर, प्रयाग, बलिया, डुमराँव, आगरा, बनारस के अन्य स्थानों तथा अनेक दूसरे नगरों में होने लगा था। भारतेन्दु की प्रेरणा से समकालीन नाटककारों ने रंगमंच की माँग पर मंगलकारी नाटक लिखे। वे स्वयं भी विद्वान मित्रों, अभिनेताओं और नाट्-संरक्षकों के स्वस्थ आग्रह पर मंचोपयोगी और जन-

हितकारी नाटक लिखकर हिन्दी के नये रंग-आन्दोलन का प्रवर्त्तन कर रहे थे। इस आन्दोलन के प्रति उनकी निष्ठा इतनी गहरी थी कि वे अक्सर स्वांग धारण करके अपनी मण्डली के मित्रों को पुलकित ही नहीं करते थे बल्कि नाटक और रंगमंच को जीवन में भी उतारते थे। उनके द्वारा स्थापित 'पैनीरीडिंग क्लब' इस प्रकार की स्वांगात्मक गति-विधियों का केन्द्र हुआ करता था। उनके संरक्षण में बनारस के "कुछ बंगालियों और हिन्दुस्तानियों" ने दशाश्वमेध के पास 'हिन्दू नेशनल थियेटर' नाम की रंग-संस्था आरम्भ की थी जिसके लिए उन्होंने 'अंधेर नगरी' नामक प्रतिबद्ध प्रहसन एक ही दिन में लिख डाला था। रामदीन सिंह के अनुसार भारतेन्दु ने महाराष्ट्री और पारसी रंगमंच पर प्रचलित अंधेर नगरी की विशुद्ध मनोरंजनात्मक कथा को उत्तम शिक्षा, उदात्त काव्य-कल्पना और रंगमचीय सम्बद्धता से समन्वित करने के उद्देश्य से ही नवीन नाटक के रूप में प्रस्तुत किया था। उनके बहु-आयामी सद्प्रयासों को देखकर अन्य नगरों में भी हिन्दी की अपनी रंग-संस्थायें खुलने लगी थीं। नाट्य-कर्म को प्रोत्साहन और ठीक दिशा प्रदान करने के लिए उन्होंने फरवरी 1872 की 'कविवचनसुधा' में एक नाट्य-प्रतियोगिता घोषित करने की पहल भी की थी[illegible] इस प्रकार उनकी तमाम रचनात्मक शक्ति मुख्य रूप से हिन्दी के अव्यावसायिक कलात[illegible] और 'आर्यशिष्ट जनोपयोगी' रंगमंच के निर्माण और विकास पर केन्द्रित थी।

इस बात पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है कि यह 'आर्य-शिष्टजनोपयोगी रंगमच' भारतेन्दु की अपनी रचनात्मक कल्पना और सामाजिक सरोकारों की नयी उपज था। वे किसी भी पूर्व विद्यमान रंगमंच के अनुकर्त्ता न हो कर, एक बहुत बड़े प्रयोग पुरूष थे। नाट्य सम्बन्धी उनके उपर्युक्त उद्यम से सिद्ध हो जाता है कि उनके सामने एक खुले और सर्व जनग्राह्य रंगमंच की मौलिक परिकल्पना थी जो केवल बन्द प्रेक्षागृहों पर निर्भर न होकर मेलों, उत्सवों और जनता के संवाद-स्थलों पर, बिना किसी औपचारिक ताम झाम के, सरलता से नाटक खेलने के काम आ सके।

चूंकि भारतेन्दु अपनी प्राचीन नाट्यशास्त्रीय परम्परा से बहुत प्रभावित थे और भारत को नाट्य का प्राचीनतम देश मानते थे, इसलिए संस्कृत नाटक और रंगमंच के ह्रास के बावजूद अपने नूतन रंग प्रयोगों में वे उसी की प्रस्तुति-शैली की ओर सर्वाधिक उन्मुख हुए। इस उन्मुखता का कारण शास्त्रीय मोह नहीं था। उन्होंने साफ स्वीकार किया कि भरत के 'नाट्यशास्त्र' में बहुत कुछ ऐसा है जो आज के रंगमंच और नाट्य-विधान के संदर्भ में ग्राह्य नहीं है, मगर बहुत कुछ ऐसा भी है जो समकालीन रंग-सृष्टि के लिए शक्ति का स्रोत बन सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत नाट्य-पद्धति ने उन्हें तीन मुख्य कारणों से आकृष्ट किया था। पहला कारण उसकी नए आधारभूत सामर्थ्य है जो रंगमच पर लेखक, प्रस्तोता, अभिनेता और दर्शक को एक विलक्षण साझेदारी में बांधती है और जिसे भारतेन्दु अनुभव वा "काव्यमिश्रित" स्वरूप कह कर शीर्षस्थ मानते थे। दूसरा कारण उसमें नाटकीय समस्या को उपस्थापन से लेकर निष्कर्ष तक

पहुंचाने की क्षमता है और तीसरा कारण यह है कि भारतेन्दु को उसमें प्रयोग तथा नवीकरण की प्रचुर सम्भावना नजर आती थी। इन तीनों कारणों के परिणामों को भारतेन्दु के नाटक से उदाहरण देकर गिनाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये तीनों उनकी रंग प्रक्रिया के अनिवार्य घटक हैं। यहाँ केवल यही कहना अभीष्ट है कि विविधता की दृष्टि से प्रहसन, भाव, नाटक-नाटिका, नाट्यरासक, अंक, वीथी, व्यायोग, सट्टक आदि प्राचीन नाट्य-रूपों को लेकर भी उन्होंने न तो इनके ढांचे को पूरी तरह स्वीकार किया है, न इनकी अन्तर्वस्तु के बंधनों को, न इनकी वर्णनाओं को और न इनकी सम्पूर्ण रंग युक्तियों को। उनका सूत्रधार मंच पर आता है तो एक नया सूत्रधार लगता है; वह एक ऐसा "रगरजा" है जो नाट्य-रूढ़ियों के परे जाकर केन्द्रीय विचार-वस्तु या समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में स्थापित करता है ताकि दर्शक लोग नाटकीय मनोरंजन ही में गुम न होकर नाटक के बाहर भी रहें और विषय को गम्भीरता से पकड़ सकें। कभी वह नाटककार की आलोचना करता-करवाता है और यहाँ तक कहलवा लेता है कि भारतेन्दु नौसिखिये को नाटक लिखना कहाँ आता है, कभी वह कहता है कि संस्कृत नाटकों के बासी अनुवाद के स्थान पर एक "नया नाटक" लेकर आया है जिसका आज मंच पर 'प्रयोग' करने जा रहा है और कभी वह बहुत तीखेपन से दर्शकों की युग–चेतना को भी कुरेदता है। बातों–बातों में ही वह यह भी बल देता है कि अमुक अभिनेता अमुक पात्र की भूमिका में उतर रहा है और शेष पात्रों का अभिनय करने वाले कलाकारों की तैयारी को भी उसे देखना है।

रंगमंच पर हास्य विनोद की कलात्मक और उद्देश्य पूर्ण सृष्टि को जिस बारीकी से भारतेन्दु ने समझा था उस बारीकी से हिन्दी के बहुत कम नाटककार समझ सके हैं। विदूषकत्व की परिकल्पना को तो उन्होंने इतना बड़ा आयाम दिया है कि संस्कृत का परम्परागत विदूषक उनके यहाँ अपनी संज्ञा, संख्या, नायक-निर्भरता, हल्की-फुल्की मोदकता आदि का छोड़कर पूरी प्रस्तुति के व्यंग्यात्मक और कई बार आक्रामक स्वर में बदल जाता है। यह आश्चर्य का विषय है कि उनके विदूषकाभासी पात्र अनेक बार मंच पर अपनी ऊलजलूल भाषा और हरकतों से अकथनीय को इस प्रकार कथनीय बनाकर सम्प्रेषित करते हैं कि बहुत बाद में लिखे जाने वाले विसंगत नाटकों के बिम्ब उभरने लगते हैं। 'नीलदेवी' में पागल-पात्र की स्वरूपगत और भाषिक आवतारणा में अनायास ही भुवनेश्वर का 'तोते' के कीड़े का झुनझुने वाला बहुत पहले से ही हिन्दी नाटक में दिखाई देने लगता है। इसका मतलब यह नहीं है कि हम किसी भी प्रकार से भारतेन्दु के नाटकों को विसंगत नाट्य की उद्भावना या परम्परा से जोड़ कर देखने की गलती करें, इसका मतलब यह है कि भारतेन्दु को नाट्य विधा में कथ्य और कथन की एकता पर स्वाभाविक पकड़ थी। 'नीलदेवी' ही को चपरगट्टू खाँ, पीकदान अली और यहाँ तक कि अमीर भी, सब मिलकर नाटक के हास्यास्पद दीखने वाले मंच व्यापार को अजीब-सी त्रासद विडम्बना में ढालने लगते हैं। इसी प्रकार 'प्रेमजोगिनी' में झटपटिया, टेकदास और बाल-

मुकुन्द की वर्गीय स्थिति भी विदूषकत्व या 'जेस्टर' के नये मगर ऐसे प्रामाणिक प्रयोग के भीतर से उभारी गई हैं जो आज के नुक्कड़ नाटकों के बहुत निकट पड़ता है। ये लोग स्त्रियों से लेकर 'अंधरी मजिस्टरों'' (ऑनरेरी मजिस्ट्रेटों) तक को अपने व्यंग्य से छील डालते हैं। अगर संस्कृत की रूपक-पद्धति पर भारतेन्दु द्वारा किए गए अपने नाटकों के विधात्मक नामकरण पर विचार करें तो प्रहसन के अन्तर्गत उनके 'वैदिक हिंसा' और 'अंधेरी नगरी' को ही रखा जा सकता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि कोई भी नाटक प्रहसन की आत्मा से रहित नहीं है। संस्कृत का यह नाट्य रूप उन्हें इसलिये सर्वाधिक पसंद था क्योंकि शास्त्रीय अर्थ में भी इसके शुद्ध और संकीर्ण नामक दोनों प्रकारों में समकालीन समाज के आडम्बरों और पाखण्डों के प्रति उपहासमिश्रित व्यंग्य का भाव वर्तमान रहता है। भारतेन्दु जानते थे कि रंगमंच पर अभिनय की खुली छूट और लोकप्रियता प्रदान करने वाला यह नाट्य रूप सामाजिकता के गुण में भी सबसे आगे होता है, इसीलिए उन्होंने अपने नाटकों में इसका खूब इस्तेमाल किया है।

संस्कृत नाटकों की किताबी प्रस्तुति-पद्धति के अतिरिक्त नाटककार भारतेन्दु को प्रत्यक्ष और समकालीन रंगमंच के रूप में पारसी थियेटर मिला था जो अभी अपने उद्भव-काल (1853-900) के प्रथम चरण में था और बम्बई में 26 नवम्बर 1853 को 'हिन्दी ड्रामैटिक कोर' के तत्वावधान में खेले गए पहले हिन्दुस्तानी ड्रामा 'राजा गोपीचंदर' से लेकर 1884-85 तक कुछ अन्य कम्पनियों के रूप में व्यावसायिक स्तर पर फैल रहा था। इसके अन्तर्गत सन् 1861 में स्थापित 'एल्फिस्टन नाटक मण्डली', 1867 में स्थापित 'विक्टोरिया नाटक कम्पनी' और 1871 में स्थापित तथा 1884 में विस्तारित 'अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' भारतेन्दु के जीवन काल की मुख्य पारसी रंग-संस्थाएं थीं। ये संस्थाएं अधिकांशत उर्दू-फारसी और हिन्दुस्तानी की प्रचलित कथाओं को हल्के-फुल्के रूप में मंच पर पेश किया करती थीं। चूंकि इनके मालिक पारसी लोग थे इसीलिए जनता ने इन्हें फारसी थियेटर का नाम दिया था। भारतेन्दु इस थियेटर को "भ्रष्ट" कहते थे और उनकी मण्डली से अन्य नाटककार भी इसके कट्टर विरोधी थे। जो शिकायत बाद में 'अंधा युग' के सर्जक को पृथ्वी थियेटर से रही है, कुछ वैसी ही शिकायत लगभग सौ वर्ष पूर्व भारतेन्दु को पारसी रंगमंच से थी। भारती के अनुसार पृथ्वी थियेटर में सब कुछ था, बस नाटक ही नहीं था। भारतेन्दु की नापसंदगी कुछ ज्यादा व्यापक थी। पारसी रंगमंच पर धनोपार्जन की लालसा से विशुद्ध मनोरंजनात्मक नाटक खेलना, लोक नाट्य परम्पराओं को विकृत से विकृततर रूप में इस्तेमाल करना, विदेशी अंधानुकरण करना, संस्कृत के अच्छे-भले नाटकों को बिगाड़ देना, अंगरेजों के इशारे पर चलना, सस्ती इश्कबाजी तथा रोमांचकता के अतिरिक्त व्यर्थ की तड़क-भड़क को प्रश्रय देना आदि उन्हें बहुत नागवार गुजरता था। वे लिखते हैं — "काशी में पारसी नाटक वालों ने नाच घर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसने धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रख कर मटक-मटक कर नाचने और पतली कमर बल खाय यह गाने लगा तब डाक्टर पिवो, बाबू प्रमदादास मिश्र

प्रभृति विद्वान यह कह कर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता, ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनुवादों की भी होती है।" लेकिन इस चिढ़ के बावजूद भारतेन्दु ने भटके-हुए बहुसंख्यक भारतीय दर्शकों को अपने 'आर्यशिष्ट' रंगमंच की ओर खींचने के लिए पारसी थियेटर की प्रस्तुति शैली के कुछ लोकप्रिय तत्वों को परिष्कृत रूप में अपने साहित्यिक नाटकों में प्रयोग के धरातल पर समन्वित किया। पारसी रगमच की तरह उन्होंने भी अभिनेता को आत्यन्तिक केन्द्र में रखा लेकिन उसके उच्चरित कार्य-व्यापार को निरर्थक तुकबन्दी और कृत्रिमता मे मुक्त किया, उसकी देखने-चलने मुड़ने आदि की हरकतों को मंच के आवश्यक नियमों से अनुशासित किया और उसे नाटक के पात्रों से विचलन की मनमानी छूट न देकर उनकी कलात्मक पुनस्सृष्टि का मार्ग भी दिखाया। भारतेन्दु के भी कई पात्र नाचते गाते हुए मंच पर प्रवेश करते हैं, मगर इस प्रवेश में नृत्य-गान के प्रति हल्का या अतिरिक्त आग्रह न होकर पात्रों का आत्म-परिचय ही प्रधान है। पारसी रंगमंच पर हारमोनियम वाला या पेटीमास्टर हमेशा एक कोने में विराजमान रहता था, भारतेन्दु ने उसे नेपथ्य में भगा दिया, मगर मंच पर गीत-ग़ज़ल के गायन की पारसी तर्ज में विषयानुकूल विचारों को इस प्रकार निबद्ध किया कि प्रस्तुति में रोचकता और ताजगी के साथ वातावरण की गम्भीरता भी बनी रहे। उनके दस मौलिक—अच्छे मौलिक नाटकों में केवल दो तीन ऐसे हैं जिनमें ग़ज़लों का उपयोग हुआ है, लेकिन यह उपयोग पात्रों के संस्कारों से हटकर नहीं है। फिर भी भारतेन्दु कहीं-कहीं अन्तर्विरोध से बच नहीं पाते और 'चन्द्रावली' की वनदेवी मंच पर सीटी बजाने का फायदा उठा लेती हैं, 'वैदिकी हिंसा' का मंत्री भी "कि साकी हाथ में मै का लिए पैमाना आता है" गा उठता है और अन्य नाटकों में कितने ही स्थलों पर मसनवी शैली भी मुंहजोर हो उठती है। लम्बे एकालापों और संवादों की योजना, अभिनय में संवादों की अदायगी पर अत्यधिक बल देना, नीरसता को चुटकलों, चुहुलबाज़ी, प्रसिद्ध उद्धरणों मुहावरों-लोकोक्तियों आदि से दूर करने का प्रयास करना; सम्बोधनों में, विशेष रूप से प्रेम-सम्बोधनों में अत्यधिक भावुक और बाजारू हो जाना, कौतूहल को चमत्कार की सीमा तक खींचना आदि कुछ ऐसो विशेषताएं हैं जिनके मूल में पारसी रगमंच का प्रभाव साफ नज़र आता है।

भारतेन्दु-कालीन रंगमंच के अन्तर्गत लखनऊ का रगमंच भी मनोरजनकामी दर्शकों के लिए बहुत आकर्षक और दिलफरेब था। वहाँ सैयद आगाहसन 'अमानत' लखनवी की 'इन्दर सभा' को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। सन् 1857 के आस-पास रचित यह रचना स्वतंत्र रंगमंच की ख्याति अर्जित कर चुकी थी। इसकी देखा-देखी बहुत-सी इन्दर सभाएं लिखी और खेली जा रही थीं। लखनऊ के बाहर भी पारसी-गुजराती तथा मराठी रंगमच पर इसके प्रयोग किये जा रहे थे। देश की कुछ भाषाओं के अतिरिक्त जर्मन और फ्रैंच में भी इसके अनुवाद या रूपान्तर हुए थे। यह एक प्रकार का संगीतक था जिनमें हिन्दू देवता को इस्लामी पद्धति से पेश किया जाता था। इसके मंचन को जलसा कहा

जाता था जिनमें केवल एक पर्दा गाड़ कर उसके आगे राजा इन्दर के लिये एक तख्त और परियों के लिए कुर्सियाँ रख दी जाती थीं, फिर राजा इन्दर की आमद गायी जाती थी और मेहताब छूटने के साथ ही वह काले और लाल देवों के साथ मंच पर प्रवेश करता था और उन देवों के बुलाने पर गाती हुई परियाँ आती थीं जिनके वार्तालाप को मंच के तीनों ओर बैठे दर्शक देखा-सुना करते थे। सारा नाट्य-आधार काल्पनिक, रोमानी और अतिरंजनापूर्ण हुआ करता था और कोई भी पात्र मंच पर आकर वापस नहीं जाता था। भारतेन्दु 'इन्दर सभा' को नाटक न मानकर नाट्याभास कहा करते थे और इसकी प्रतिक्रिया में उन्होंने छोटी-सी 'बन्दर सभा' लिख कर इसके सीमित उद्देश्य तथा रंग-विधान को चिढ़ाया भी था। 'बन्दर सभा' के प्रारम्भ में उन्होंने बताया है कि उरदू की 'इन्दर सभा' यदि नाटकाभास है तो 'बन्दर सभा' उस आभास का भी आभास है। इसका राजा बन्दर कहता है—"पाजी हूँ मैं कौम का बन्दर मेरा नाम' और इस राजा की शरण में पलने वाली "शुतुरमुर्ग परी" को तो केवल पैसे की भूख है। उसके मुख से 'बन्दर ज़र हो तो इन्दर है, ज़र ही के लिए कसबो हुनर हैं' कहलवाकर भारतेन्दु ने गोया 'इंदर सभा' का ही मूल्यांकन किया है। लेकिन दूसरी ओर इंदर सभा-मंच की कुछ रंग-युक्तियों को उन्होंने अपनी सोच से विकसित भी किया था। 'चन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा' और ऐतिहासिक गीतिरूपक 'नीलदेवी' में पात्रों के प्रवेश, प्रेमाभिव्यक्ति के प्रसंगों; अप्सरा-गायन आदि में इन विकसित प्रयोगों को देखा जा सकता है। भारतेन्दु के रचनाकाल से कुछ पहले लखनऊ में वाजिद अली शाह का परीखाना रंगमंच भी उर्दू-हिन्दी की नाट्यात्मक प्रस्तुतियों का विशेष केन्द्र था, मगर राजमहल तक सीमित होने के कारण वह आम जनता की पहुंच से परे था। इसी की परिणति जब 'इन्दर सभा' के रूप में सामने आई तब जनता के लिए रंगमंच खुल गया और यह अच्छी बात है कि भारतेन्दु लोक-रूचि की अवहेलना न कर सके, बल्कि इसी की ज़मीन पर उसका परिमार्जन करते-करते उन्होंने ज़मीन ही को बदल डाला।

हालांकि भारतेन्दु ने भाँड़, रास, यात्रा, लीला, झांकी, नौटंकी आदि लोकनाट्य-मंच को भी अंशत. शुद्ध कौतुकों और अंशतः नाटकत्वहीन भ्रष्ट रगमंच के अन्तर्गत रखा है, फिर भी इस संबन्ध में उनके एकाध वक्तव्य को प्रमाण-वाक्य न मानकर उनकी नाट्य-रचनाओं को ही आधार बनाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि विषय वस्तु की दृष्टि से वे इन नाट्य-रूपों से जितना दूर थे, प्रस्तुति-तन्त्र में उतना ही इनके नजदीक भी थे। उनके वही नाटक सर्वोत्तम है जो लोकनाट्य से शक्ति लेकर प्रयोग की ओर उन्मुख हुए हैं। आज यदि उनके नाटकों को हम वरीयता के क्रम में रखना चाहें तो सबसे पहला स्थान 'अन्धेर नगरी' को मिलेगा और दूसरा स्थान 'प्रेमजोगिनी' को मिलना चाहिए जो अधूरा होकर भी अन्य पूरे नाटकों से कहीं बेहतर है। मंच की आलेखगत चुस्ती और प्रभाव की समग्रता की दृष्टि से ये दोनों 'भारतदुर्दशा' और यहाँ तक कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' से भी आगे निकल जाते हैं। इसका श्रेय भारतेन्दु की लोकनाट्य-चेतना को जाता है जो संस्कृत नाटक और

रंगमंच के बाद परम्पराशीलता के नव्य आकलन में उनकी प्रेरणा का सशक्त स्रोत बनती रही हैं। 'अंधेर नगरी' में नारंगीवाली, हलवाई, कुंजड़िन, पाचकवाला, मछलीवाली, बनिया, महन्त और उसके चेले, नौकर, सिपाही, मिश्ती, कसाई, कोतवाल आदि सब मिलकर लोक मंच की हुज्जतबाजी, जन-सम्प्रेषण की तीखी सहजता, लोकप्रचलित धुनों की मस्त स्वच्छन्दता आदि से समूहन की प्रक्रिया को अद्भुत अन्विति में बाँध देते हैं। इसी प्रकार 'प्रेमजोगिनी' में लोक-मानस के यथार्थ परक उतार-चढ़ावों को लोक-भाषा के पूरे कौशल के साथ व्यक्त किया गया है। कजली; विरह, लावनी, दोहा आदि लोक-छन्द तो भारतेन्दु के नाटकों में सर्वत्र व्याप्त हैं। 'विषस्यविषमौषधम्' का सारा एकालाप ही 'भण्डाचार्य' के मुख से आरोह-अवरोह में प्रस्तुत किया गया है। 'चन्द्रावली' का आधार राम-लीला है, 'अंधेर नगरी' का नौटंकी है और नाटक के लिए तमाशा, लीला, कौतुक आदि का प्रयोग तो भारतेन्दु ने अपने अनेक नाटकों की भूमिकाओं और समर्पणों में किया ही है। जाहिर है कि भारतेन्दु जिस नए रंगमंच के स्वरूप को तराश रहे थे उसमें लोकधर्मिता की विशेषताओं का बहुत बड़ा सम्बल भी अनुप्राणित था।

भारतेन्दु का सात्क्षाकार "नवीन" नाटक और रंगमंच से भी हुआ था। वे मानते थे कि "यद्यपि हिन्दी भाषा में दस-बीस नाटक बन गए हैं किन्तु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रन्थ भी बनते जायेंगे और अपनी सम्पत्तिशालिनी ज्ञानवृन्दा बड़ी बहन बंग भाषा के अक्षय-रत्न भण्डागार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करै।" वे अंगरेजी और बंगला के नाटक खूब पढ़ा करते थे और इन दोनों भाषाओं के अपेक्षाकृत विकसित तथा आधुनिकतावादी रंगमंच को भी प्रशंसा की दृष्टि से देखा करते थे। उनकी निश्चित धारणा थी कि इनकी प्रगामी प्रवृत्तियों से लाभ उठाये बिना हिन्दी का रंगमंच उन्नति नहीं कर सकता। उनके भीतर का जागरूक नाटककार और रंगकर्मी इस तथ्य को ध्यान से कभी ओझल नहीं कर सकता था कि विदेशी ढंग पर कुछ अंगरेजी के और कुछ अंगरेजी से बंगला में अनूदित नाटक खेलने के लिए 18 वीं शती के अन्तिम दशक में रूसी रंग-पुरुष लेवदेफ ने कलकत्ता में एक नवीन रंगमंच की नींव रखी थी जो इस समय तक अपने प्रभाव को पूरे भारत में फैला चुका था। उन्हें यह बात बहुत अखरती थी कि व्यावसायिक रंगमंच ने इस प्रभाव को कुत्सित ढंग से अपनाकर अपनी भारतीय आत्मा को ही बेच डाला था। अतः जिस सीमा तक हिन्दी का आर्यशिष्ट रंगमंच अपने आधारभूत निजत्व को खोये बिना कुछ नये गुणों की सीख ग्रहण कर सकता था, उस सीमा तक भारतेन्दु इस पश्चिमागत रंगमंच के प्रति बहुत कृतज्ञ थे और नवीन नाट्य-रचना के लिए इससे रोशनी प्राप्त करने की प्रक्रिया को अनिवार्य समझते थे। उन्होंने लिखा भी था—"स्वदेशी तथा भिन्नदेशीय सामाजिक रीति, व्यावहारिक नीति-पद्धति का निदान, फल और परिणाम इन तीनों का विशिष्ट अनुसंधान, नाटक-रचना का उत्कृष्ट आय है।" इसी अनुसंधान के कारण उनकी रंगमंचीय अभिज्ञा उत्तरोत्तर यथार्थोन्मुखी और प्रगतिशील होती गयी थी।

इसी के प्रभावस्वरूप उन्होंने बहुत सी परम्परागत नाट्य-शास्त्रीय रूढ़ियों का परित्याग किया था, दुखान्त नाटकों को अधिक द्रवणशील माना था, नए रंग संकेतों का आश्रय लिया था, अंक विभाजन, दृश्य परिवर्तन और यवनिका के प्रयोग को नए रंग-विधान में ढाला था, नाटकीय संघर्ष को पहचाना था, रंगकर्म के तत्वों को आत्मसात् किया था और भारतीय लय में कोरस की संयोजना को अपनाया था। संस्कृत, बंगला और अंगरेजी नाटकों के जो अनुवाद उन्होंने प्रस्तुत किए, उन सबके पीछे एक समन्वित रंग-दृष्टि थी जो हिन्दी के राष्ट्रीय रंगमंच की परिकल्पना को साकार करना चाहती थी।

: 4 :

नाटककार की रंगमंचीय अभिज्ञा की सम्पन्नता अथवा दरिद्रता का मुख्य पता इस बात से भी चलता है कि नाटक के लिखित पाठ को प्रस्तुति-पाठ में रूपान्तरित करने के लिए उसने कितने और किस प्रकार के रंग-संकेतों से काम लिया है। ये रंग-संकेत प्रायः कोष्ठकों में या अन्य संवादेतर स्थलों पर समायोजित होने के कारण नाट्य-रचना के बाह्य धर्म का आभास देते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि इनका उद्भव नाटककार की आभ्यन्तर रंग-प्रक्रिया के स्तर पर होता है। एक तो इनके माध्यम से नाटककार वह सब कुछ कह जाता है जिसे संवादों की पाबन्दी में बंधकर नहीं कहा जा सकता, और ये उनकी अभिव्यक्ति के ऐसे कूट होते हैं जिनसे नाटक की तमाम अशाब्दिक भाषा बनती और खुलती है। रंग-सकेतों की इस दोहरी भूमिका के कारण ही नये नाटकों में, गुण और मात्रा की दोनों दृष्टियों से, इनकी भरमार देखने को मिलती है।

आज के हिसाब से भारतेन्दु के नाटकों के रंग-संकेत बहुत अपर्याप्त और सपाट हो सकते हैं, लेकिन हिन्दी नाटक और रंगमंच के प्रथम चरण के हिसाब से उनकी सम्पन्नता पर संदेह नहीं किया जा सकता। नाटककार भारतेन्दु के रंग-संकेतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मूल्य नाट्य-सरचना का अविभाज्य हिस्सा बनकर उभरते हैं। भले ही नाटककार ने कहीं-कहीं उनका समायोजन पाद टिप्पणियों के रूप में किया है, फिर भी उन्हें समझे बिना उनके नाटकों का पाठ और मंचन अधूरा रह जाता है। ये रंग-संकेत अधिकांशतः रंग-कर्म से जुड़े हुए है। और इनका उपयोग मच पर नाट्यार्थ-निष्पत्ति के प्रयोजना की अनेक दिशाओं में किया गया है। इनका सम्बन्ध-नाटककार और निर्देशक, निर्देशक और अभिनेता, अभिनेता और अभिनेता, अभिनेता और दर्शक तथा दर्शक और दर्शक के बीच अर्थ-सम्पादन से है।

भारतेन्दु के नाटकों में अभिनय सम्बन्धी रंग-संकेत सर्वाधिक हैं और इनमें अभिनय का शायद ही कोई पक्ष ऐसा होगा जिस पर नाटककार की निगाह न गई हो। पात्रों के मंच-प्रवेश और बहिर्गमन का संकेत करना वे कभी नहीं भूलते। अंक, गर्भांक अथवा दृश्य की समाप्ति पर उन्होंने पात्र-प्रस्थान के निर्देश प्रायः नहीं दिए हैं क्योंकि वहाँ पर्दा गिर

जाता है और पर्दे के पीछे अभिनेता जिस प्रकार भी चाहें बाहर जा सकते हैं; मगर दर्शकों की नजर में पड़ने वाले आगमन तथा वहिर्गमन की स्थितियों को उन्होंने अपनी समझ और रंग-परम्परा के अनुसार, अधिक से अधिक स्वाभाविक बनाने का प्रयास किया है—यह और बात है कि उनके समय में जिन स्थितियों को स्वाभाविक मान लिया जाता था, आज वे मंच की दृष्टि से अस्वाभाविक समझी जाती हैं। उदाहरण के लिए पर्दा उठने के बाद पहले वहुत से पात्रों का एक-साथ मंच पर आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करना और फिर चोबदार या किसी अन्य पात्र का आकर सूचना देना कि अमुक व्यक्ति मिलना चाहता है ('वैदिक हिंसा हिंसा न भवति') अथवा हर पात्र का गाते हुए या किसी अन्य प्रकार से आत्म-परिचय देते हुए मंच पर प्रवेश करना ('भारत-दुर्दशा')। लेकिन नाटक लिखने के अधिक अभ्यास के साथ-साथ भारतेन्दु इस प्रवृत्ति को धीरे धीरे कम करते हुए या त्यागते हुए भी दिखाई देते हैं ('सत्य हरिश्चन्द्र')।

नाटकों में पात्रों को मंच पर उतारने के बाद भारतेन्दु उनकी हरकतों के विषय में बहुत सावधान रहते हैं। इन हरकतों का निर्देश देते समय उन्होंने पात्रों की सामाजिक स्थिति, मानसिक संरचना, सामूहिक क्रिया, प्रतिक्रिया, दर्शकोन्मुखता आदि का विशेष ध्यान रखा है। अंग-संचालन सम्बन्धी हरकतों के अन्तर्गत उन्होंने उठने-बैठने, चलने-मुड़ने देखने-भालने, सुनने-सुनाने, सूँघने-चखने, छूने छुवाने की अनेक क्रियाओं के कुशल रंग-निर्देश दिए हैं। 'वैदिकी हिंसा' का विदूषक आता है तो भारतेन्दु लिखते हैं कि वह "बीच में चूतर फेर कर बैठ गया", पुरोहित प्रसन्न होता है तो वे इशारा करते हैं कि उसे उठ कर नाचना-गाना चाहिये, राजा प्रवेश करता है तो भारतेन्दु चाहते हैं कि उसे अधिकांश बात चीत बैठकर ही करनी चाहिये लेकिन धार्मिक नेताओं को उठकर आसन देना चाहिये. यमदूत "कोड़े मारता है" तो राजा "हाथ से बचा-बचा कर" हाय-हाय करता है और दूसरा दूत उसे "पकड़-खींच कर एक ओर खड़ा करता है" अंक के अन्त में अपराधी मंत्री और राजा "चिल्लाते हैं और दूत लोग उनको घसीट कर मारते-मारते ले जाते हैं।" 'विषस्यविषमौषधम्' नौ पृष्ठों का लम्बा एकालाप है जिसमें भण्डाचार्य "लम्बी साँस खींच कर" 'मोछों पर हाथ फेरकर', 'ऊपर देखकर', रोचक ढंग से सम्बोधित होकर, श्लोक और गीत सुना-सुना कर रोचकता एवं स्वाभाविकता को बनाये रखने का प्रयास करता है। 'चन्द्रावली' की नायिका "नेत्रों में जल भर कर मुख नीचा कर लेती है", प्रेम में ठहरती-भटकती, वन देवी उसकी "पीठ पर हाथ फेरती है", लुकती-छिपती है, संध्यावली 'दौड़कर जाती है और चोली से पत्र गिर पड़ता है", सखियाँ "हाथ में हाथ दिये घूमती हैं", योगिन 'दबे पांव से आकर एक कोने में खड़ी हो जाती है", चन्द्रावली "फिर ध्यानावस्थित सी हो जाती है" और अन्त में "उन्माद की भांति भगवान के गले में लिपट कर" दोनों "गलबाहीं देकर जुगल स्वरूप बैठते हैं"। 'नील देवी' में जब काज़ी खुदा का शुक्रिया अदा करना चाहता है तब भारतेन्दु के रंग-निर्देशानुसार "काज़ी उठकर सबके आगे घुटने के बल पर झुकता है और फिर अमीर आदि भी उसके साथ झुकते हैं।" 'सत्य हरिश्चन्द्र'

के हरिश्चन्द्र को "दोनों कानों पर हाथ रखकर" नारायण-नारायण कहने की सलाह दी जाती है, वह "वह हाथ भी फैलाता है", "भगवान और धर्म का मुँह देखता है" और इन्द्र इस "राजा को आलिंगन करके और हाथ जोड़ के" पेश आता है। इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी भारतेन्दु ने शारीरिक अभिनय को वैयक्तिक और समूह-स्तरीय छोटी-से-छोटी हरकत से लेकर बड़े-से बड़े व्यापार तक के जिन असंख्य रंग संकेतों से काम लिया है उनकी जीवन्तता और यथार्थ परकता को कोई समर्थ निर्देशक और अभिनेता ही समझ सकता है।

शारीरिक हरकतों के बाह्याचार से ही नहीं, भावोद्घाटन की उस भीतरी क्षमता से भी भारतेन्दु परिचित हैं जो चेहरे के उतार-चढ़ावों और अन्य अंगों के सूक्ष्म उपयोग की भाषा में बहुत कुछ कह जाती है। यह आँसुओं की, हास्य और मुस्कान के विविध रूपों की, कंपकपी की, संभलने-निखरने की, उत्तेजना और भय की क्रोध, और घृणा की, चीत्कार की, श्वास और निःश्वास की, आश्चर्य और चांचल्य की, चिन्ता और चिन्तन की, स्मरण और तल्लीनता की, सपकपाहट और चातुर्य की, आदर और उपेक्षा की, उदासी और उन्मुक्तता की, निर्वेद और हुज्जत की असंख्य भंगिमाओं की भाषा है जिसे भारतेन्दु ने अपने नाटकों के आलेख में स्थान-स्थान पर कोष्ठक—बद्ध किया है। 'प्रेम-जोगिनी' का चंबूभट्ट बोलने लगता है तो वे कोष्ठक में पहले ही "बड़े आनन्द से" का संकेत देते हैं और माधव शास्त्री के कथन से पूर्व "घबड़ा कर" जोड़ देते हैं। 'सती-प्रताप' के सत्यवान को उनकी हिदायत है कि अपनी बात "कुछ सोचकर" या 'चिन्ता से' या "उदास होकर" कहे, लवंगी को समझाते हैं कि उसकी भूमिका "परिहास" की है, सावित्री को बताते हैं कि अमुक प्रसंग में उसे "ईषत क्रोध से" और अमुक में "कुछ लज्जा कर" अभिनय करना है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र और शैव्या "आश्चर्य आनन्द, करुणा और प्रेम से कुछ कह नहीं सकते, आँखों से आँसू बहते हैं और एकटक भगवान् के मुखारविंद की ओर देखते हैं", विश्वामित्र "सहज ही भृकुटी चढ़ाता है" और इन्द्र "ऋषि का भ्रूभंग देखकर चित्त में सन्तोष करके उनका क्रोध बढ़ाता हुआ" नजर आता है। हरिश्चन्द्र "आँसू रोक कर धैर्य से" सहनशीलता को साकार करते हैं और शैव्या "उठकर रोती और राजा को देखती हुई धीरे-धीरे चलती है।" स्पष्ट है कि नाटककार भारतेन्दु के रंग-संकेतों में अभिनय रत पात्रों की मनोदशा और गत्यात्मकता के अद्वैत में ही कथ्य-सम्प्रेषण का संधान किया गया है।

अभिनय में संवादोच्चार और वाणी के आरोह-अवरोह की गहरी पहचान भी भारतेन्दु के रंग—संकेतों में मिलती है। चूँकि वे जानते हैं कि नाट्य में शब्दों की सार्थकता उनकी अदायगी के तौर-तरीके पर निर्भर करती है, इसलिए उन्होंने अपने नाटकों को उच्चरित कार्यव्यापार की व्यावहारिक जमीन पर खड़ा करना चाहा है। किस शब्द अथवा वाक्य को कैसे और कहाँ "पुनः" कहना है, कहाँ "धीरे से" बात करनी है, कहाँ "साधारण स्वर से" या "और ऊँचे सुर से" काम लेना है, कहाँ "कुछ ठहर कर" विराम देना है, कहाँ

"लम्बी साँस छोड़कर" शब्दों को तैराना है, कहीं "उदास स्वर में" विहाग गाना है, कहीं अपने-आप से सम्बोधित होकर स्वगत को सार्थक वनाना है कहीं "सब लोगों से" उन्मुक्त संवाद करना है, कहीं "ललकारना" है, कहीं "मुँह बनाकर" किसी की नकल उतारनी है कहीं चिल्लाना है, अट्टहास करना है, तुकबंदी को बोलचाल की भाषा में ढालना है- कहीं गरिमा से सम्बन्ध काव्य-पाठ करना है, कहीं कोमलता का और कहीं कठोरता का अन्दाज अपनाना है—ऐसी अनेक बारीकियां उनके रंग-संकेतों में जगह-जगह पर भरी पड़ी है।

भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में पात्रों की वेशभूषा और रूप सज्जा के रंग संकेत बिल्कुल नहीं दिए हैं, कुछ में आंशिक तौर पर दिए हैं और कुछ में आद्योपांत दिए हैं, लेकिन जहाँ और जितना भी उनका निर्वाह किया है, सोच-समझ कर किया है। इन रंग-संकेतों में कहीं भी फालतूपन नहीं है, बल्कि अनेक सीमाओं के बावजूद इनसे पात्रों की प्रकृति पर प्रकाश पड़ता है, प्रदर्शन की दिशा का पता चलता है, वातावरण का निर्माण होता है, सम और विसम का संघर्ष सामने आता है, देश काल का बोध होता है, अभिनय के लिए तरह-तरह के अवलम्ब मिलते हैं और एक पात्र अथवा समुदाय को दूसरे पात्र अथवा समुदाय से अलगाने की सुविधा प्राप्त होती है। 'भारत दुर्दशा' हर लिहाज से एक शिथिल नाटक है, लेकिन वेशभूषा सहित प्रतिनिधि पात्रों की रचना की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटकों में सर्वोत्तम कहा जा सकता है। इसमें वेशभूषा और रूप सज्जा को लोकधर्मी सहजता और प्रतीक धर्मी अनेकार्थकता के समन्वय में से चुना गया है। इसका नायक भारत है जो "फटे कपड़े पहिने, सिर पर आधा किरीट, हाथ में टेकने की छड़ी, शिथिल अंग' मंच पर आता है और शक्ल सूरत से ही भारतेन्दु युगीन भारतवर्ष की त्रासदी को उजागर करता है। दूसरी ओर प्रतिनायक भारत दुर्दैव है जो "क्रूर, आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नंगी तलवार लिए" उपस्थित होता है और उस त्रासदी के ऐतिहासिक कारणों का प्रतिनिधित्व करता है। वह स्वयं वेशर्म हैं और वेशर्मी के कीटाणुओं को फैलाता है, अतः उसकी शक्ति के रूप में निर्लज्जता की अवतारणा बहुत ही कटाक्षपूर्ण है—"जांघिया, सिर खुला, ऊँची चोली, दुपट्टा ऐसा गिरता पड़ता कि अंग खुले, सिर खुला खानगियों का सा वेष।" मुद्दत से भारतवासियों को सोम-सुता मदिरा बहुत प्रिय रही है और इस कमजोरी का फायदा उठाकर अंगरेज सरकार ने अपना कोष भरना चाहा था, इसलिए वह "सांवली सी स्त्री है जो लाल कपड़ा, सोने का गहना और पैर में घुंघरू" पहने है। डिसलायलटी "पुलिस की वर्दी पहिने" आ धमकती है। भारतेन्दु के अनुसार वह इंगलिश पालिसी नामक एक्ट की हाकिमेच्छा नामक दफा के तहत आतंक मचाती है और धर-पकड़ करती है। इन सबके विपरीत आशा की परिकल्पना केवल एक "लड़की के वेष में" की गयी है, जो इस मानवीय प्रवृत्ति की मोहकता और अबोधता का प्रतीक है।

'चन्द्रावली' में वेषभूषा का एक आयाम यदि पात्रों की आंतरिक प्रकृति को खोलता है तो दूसरे आयाम में रंगों के सार्थक प्रयोग से उनके व्यक्तित्वों को अलगाया भी गया

है। इसमें बनदेवी "हरा कपड़ा, पत्ते का क़िरीट, फूलों की माला" पहन कर आती है, सध्या ने "गहरा नारंगी कपड़ा" ओढ़ रखा है और वर्षा की पहचान है उसका "साँवला रंग और लाल कपड़ा।" शेष पात्रों की वेशभूषा को निर्देशक की कल्पना पर छोड़ दिया गया है, या यों कहें कि उनकी वेशभूषा इतनी लोक-सिद्ध है कि उसके पृथक निर्देश की आवश्यकता नहीं समझी गयी है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में पात्रों की पोशाक और रूप-रचना के रंग-संकेतों का विधान अपेक्षाकृत सम्पूर्णता और विस्तार से किया गया है। यह विस्तार भी मूलतः पात्रों की चारित्रिक बनावट के स्पष्टीकरण से अभिप्रेरित है। मिसाल के तौर पर इसके पाप नामक पात्र की उद्भावना "काजल सा रंग, लाल नेत्र, महा पुरुष, हाथ में नंगी तलवार लिए, नीला काछ कछे" वाले स्वरूप में इसलिए की गई है क्योंकि मनुष्य के काले और पर-पीड़क कारनामों को ही लोक में पाप-कर्म कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' तक पहुँचते-पहुँचते भारतेन्दु न केवल वेशभूषा को समग्रता में समझने लगे थे बल्कि नाटक की प्रस्तुति में रंगकर्म के सभी घटकों की परस्पर-निर्भरता को भी आत्मसात् कर चुके थे। इसीलिए नारद के पहरावे का लम्बा उल्लेख करने के बाद उन्होंने यह भी चाहा है कि उसके "आने और जाने के समय 'राम कृष्ण गोविन्द' की ध्वनि नेपथ्य में से हो।" ऐसे प्रयोग उनके अनूदित नाटकों में भी बिखरे पड़े हैं, जिन्हें उन्होंने अपनी स्वतन्त्र कल्पना' कह कर रेखांकित किया है।

भारतेन्दु के नाटकों में वाद्य संगीत, गायन, ध्वनि और नृत्य के रंग-संकेत भी मिलते हैं। भावों और स्थितियों को उभारने वाले पार्श्व संगीत से वे बहुत परिचित नहीं थे, लेकिन इसका सूचनात्मक उपयोग उन्होंने अवश्य किया है। 'चन्द्रावली' के विष्कम्भक में "नेपथ्य में वीणा बजती है" से पता चलता है कि नारद आने वाले हैं, "नेपथ्य में वेणु का शब्द होता है" से ब्रजलीला की सुधि आती है, "नेपथ्य में बाजे बजते हैं" से मिलन का बोध होता है, 'नीलदेवी' के पंचम दृश्य का "नेपथ्य में गान" एक सिपाही के स्वगत को पुष्ट करता है, 'सती प्रताप' के तीसरे दृश्य में "नेपथ्य में वैतालिक गान" "सावित्री के जोगिन रूप पर प्रकाश डालता है और 'सत्य हरिश्चन्द्र' के दूसरे अंक में जब "नेपथ्य में से बाजे की धुनि सुन पड़ती है" तब महाराज के मन्दिर से चल पड़ने की सूचना मिलती है। भारतेन्दु के लगभग सभी नाटकों के काव्यांगों का गायन लयबद्ध अग्र-संगीत की माँग करता है जिसके लिए उन्होंने अनेक राग-रागनियों, लोक-धुनों और छन्दों का संकेत-विधान किया है। यहाँ तक कि अनूदित नाटक 'मुद्राराक्षस' के अन्त में दो परिशिष्ट जोड़े गये हैं। जिनमें से एक का सम्बंध नाटक के महत्त्व से है और दूसरे में बताया गया है कि "इस नाटक में आदि, अन्त तथा अंकों के विश्राम स्थल में ये गीत गाने चाहिए।" आवश्यकता पड़ने पर वे ध्वनि प्रभावों से भी काम लेते है। 'वैदिकी हिंसा' में नेपथ्य से जन कोलाहल की ध्वनियाँ सुनाई गई है, 'चन्द्रावली' में सीटी बजाने और बूढ़ों के स्वरों की, 'भारत दुर्दशा' में आंधी आने की, 'सत्य हरिश्चन्द्र' में जय जयकार की और भागने की, अन्य नाटकों में भी कुछ प्राकृतिक घटनाओं और कुछ मानवीय व्यापारों की ध्वनियों का नेपथ्य में संयोजन किया

गया है। उनके नृत्य सम्बन्धी रंग-संकेत संख्या में बहुत कम और वैसे भी बहुत उथले हैं। इनमें वे "नाचता है गाता है" या "बताता हुआ स्खलित नृत्य करता है" कहने से आगे नहीं बढ़ पाते, जैसे उन्हें अचानक ध्यान आ जाता है कि अगर गाना है तो थोड़ा-सा नाचना भी होना चाहिये। इस संकोच की वजह यह है कि अपने समय के पारसी रंगमंच के सस्ते नृत्य-विधान से उन्हें घोर वितृष्णा थी और नृत्य की कलात्मक मुद्राओं को मंच पर सार्थक अभिनय की हरकतों में बदलने की कला का तब विकास नहीं हुआ था।

भारतेन्दु के सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य में मंचीय प्रकाश व्यवस्था के उपयोग का स्पष्ट संकेत केवल एक स्थान पर उपलब्ध होता है। 'भारत दुर्दशा' में मदिरा के जाने और अंधकार के आने पर नेपथ्य-ध्वनि के बीच उन्होंने निर्देश दिया है कि "रंगशाला के दीपों में से अनेक बुझा दिए जायेंगे।" यह संकेत आकस्मिक नहीं है क्योंकि कुछ देर के बाद ही "नेपथ्य में वैतालिक गान और गीत की समाप्ति में क्रम से पूर्ण अंधकार और पटाक्षेप" की बात भी कही गई है। जाहिर है कि भारतेन्दु को रंगशाला में रंगदीपन की आवश्यकता और प्रकाश के क्रमिक मंदन, तीव्रीकरण आदि की एक सीमित पद्धति का धुंधला अभिज्ञान तो अवश्य था, मगर अपने समय में रंगशालाओं के अभाव, प्रकाश के साधनों की दुर्लभता और कामचलाऊ मंच पर दिवसीय प्रदर्शनों की प्रधानता के कारण वे इस दिशा में अधिक व्यवहारिक नहीं हो सकते थे। चाँदनी, संध्या, सूर्योदय आदि के जिन दृश्यों को आज आसानी से प्रकाश नियंत्रण की कला द्वारा दिखाया जा सकता है, भारतेन्दु ने उनके लिए चित्रात्मक पर्दों की परिकल्पना की है, और उस जमाने में यह बहुत स्वाभाविक भी था।

नाटक को मंच पर पुनस्सृष्ट करने के लिए दृश्य बन्ध और मंचाभिकल्पना की अपेक्षाओं के विषय में भारतेन्दु काफी सचेत थे। उनके रंग संकेतों का काफी बड़ा भाग नाट्य—प्रस्तुति के इस आधारभूत पक्ष से जुड़ा हुआ है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के मुखपृष्ठ पर उन्होंने "एक रूपक चार खेलों में" लिखा है। यह चार अंकों का नाटक है लेकिन इसके परिचय में "अंक" के स्थान पर "खेल" शब्द का प्रयोग सिद्ध करता है। कि अपने नाटकों के अंक-दृश्य-विभाजन में रंगमच की व्यावहारिकता के प्रति उनका विशेष आग्रह रहा है। उनके अपेक्षाकृत बड़े नाटकों के अंक-दृश्य-विभाजन पर सिलसिले से गौर करें तो यह आग्रह एक मौलिक और विकासात्मक तलाश की सूचना भी देता है। 'वैदिकी हिंसा' का प्रारंभ नांदी और प्रस्तावना से होता है जिसे सूत्रधार और नटी, बिना किसी दृश्यात्मक पृष्ठभूमि के, प्रस्तुत करते हैं। फिर यह नाटक चार अंकों में बँट जाता है। प्रथम अंक का कार्य स्थल रक्त से रंगा हुआ राजभवन है, द्वितीय अंक का पुजाघर है, तृतीय अंक का राजपथ है और चतुर्थ अंक यमपुरी में घटित होता है। इनके नाटक में समय और मंच सामग्री का कोई निर्देश नहीं है, वह अंक और अंक के बीच रहते हुए पर्दों पर बने हुए चित्रों द्वारा केवल स्थान का बोध कराया गया है। 'श्री चन्द्रावली' की प्रस्तावना में पहले ब्राह्मण आकर आशीर्वाद पाठ करता है, फिर सूत्रधार और पारिपार्श्वक, आकर न

केवल कथ्य-स्थापना करते हैं बल्कि नाटककार, नाट्य प्रयोग और नाट्य-समय का परिचय देने के बाद यह भी बताते हैं कि अमुक नाम का कलाकार अमुक पात्र का मनोहारी रूप धारण कर चुका है और अब स्वयं उन्हें भी चलकर रंगमंच पर उतरने की तैयारी करनी चाहिये। पूरी रंगशाला को प्रस्तावना की प्रस्तुति का स्थान बताया गया है। फिर एक विष्कभंक जोड़ा गया है जिसके बाद "जवनिका उठी" के साथ प्रथम अंक वृन्दावन में शुरू होता है जहाँ गिरिराज दूर से दिखता है।" दूसरा अंक कदली-वन में खेला जाता है, "समय संध्या का है, कुछ बादल छाए हुए हैं।" दो अंकों के बाद यवनिका गिरती है, उठती है तो "वीथी, वृक्ष" की पृष्ठभूमि पर छोटा-सा अंकावतार प्रस्तुत किया जाता है। तीसरे अंक का "समय तीसरा पहर" है, "गहरे बादल छाये हुए" हैं, "स्थान तालाब के पास एक बगीचा" है जहां "झूला पड़ा है, कुछ सखी झूलती, कुछ इधर-उधर फिरती हैं" और अंक की समाप्ति पर यवनिका फिर गिरती है। चौथे अंक का "स्थान चन्द्रावली जी की बैठक है, खिड़की में से यमुना जी दिखाई पड़ती है, पलंग बिछी हुई, पर्दे पड़े हुए, इतरदान पानदान इत्यादि सजे हुए" हैं। स्पष्ट है कि इस नाटक की मंच-परिकल्पना कहीं ज्यादा विकसित है। इसमें यवनिका के इस्तेमाल समय और स्थान के बोध, मंच-सामग्री के उपयोग, वातावरण के निर्माण और प्रत्येक अंक, विष्कंभक तथा अंकावतार के सारमूलक नामकरण आदि बहुत से तत्व समाविष्ट है। वियोगान्त ऐतिहासिक गीतिरूपक 'नीलदेवी' को अंकों में नहीं, दस दृश्यों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक दृश्य की संरचना, अभिनय के समीकरणों, समय और स्थान की एकताओं, मंच सामग्री की जगहों, सामूहिक व्यापारों आदि को विस्तारपूर्वक रंग-संकेतों में बांधा गया है। आठवें दृश्य तक प्रायः हर बार "जवनिका-पतन" होता है, मगर अन्तिम दो दृश्यों के बाद "पटाक्षेप" दिखाया गया है। यह कहना कठिन है कि भारतेन्दु ने इन दोनों का व्यवहार छोटे-बड़े या भीतरी-बाहरी में अन्तर दिखाने के लिए किया है; लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से दोनों पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। 'भारतदुर्दशा' में अंक की समाप्ति पर "यवनिका गिरती है" के बाद "पटोत्तोलन" भी किया गया है। जिससे पता चलता है कि भारतेन्दु अब पर्दा गिरने और उठाने की प्रक्रिया के विषय में अधिक सावधान हो गये हैं। 'नीलदेवी' की भांति इसमें भी प्रस्तावना नहीं है, बल्कि नेपथ्य से मंगलाचरण का एक श्लोक सुनवाकर पहले अंक में एक योगी की अवतारणा की गई है जो वीथी की पृष्ठभूमि पर लावनी गाता है और प्रकारान्तर से सूत्रधार की तरह ही समस्या का उपस्थापन करता है। यह दस-अंकी नाटक है लेकिन इसके अधिकांश अंक दृश्यों से बड़े नहीं हैं। प्रत्येक अंक में अभिनय के स्थल के अतिरिक्त मंच-सज्जा पर अधिक बारीकीसे ध्यान दिया गया है। उदाहरण के लिए चौथे अंक की मंच संयोजना में बांधा गया है कि—"कमरा अंगरेजी सजा हुआ, मेज कुर्सी लगी हुई, कुर्सी पर भारत दुर्दैव बैठा हुआ है" और इसी प्रकार पांचवें अंक में किताबखाने के भीतर कमेटी के माहौल को उजागर किया गया है। 'अन्धेर नगरी का सम्बन्ध लोक नाट्यात्मक है। इसलिए इसके छठे दृश्यों में, स्थान-सम्बन्धी संक्षिप्ततम निर्देशों के साथ, 'अन्धेर नगरी'

की यथार्थवादी झलकियां इस प्रकार पेश की गई है कि प्रदर्शन की चुस्ती और अन्विति टूटने न पाये। 'प्रेमजोगिनी' एक अंक में परिकल्पित अधूरा नाटक कहा जाता है। इसके बावजूद यह स्वतःपूर्ण है। इसमें "नांदी मंगलपाठ करता है" और तदुपरान्त "मलिन मुख किए सूत्रधार और पारिपार्श्वक आते हैं" जो देश की बिगड़ी हुई वस्तु-स्थिति पर प्रकाश डालने के प्रयोजन से घोषणा करते हैं कि "हम लोग काल के अनुसार चलैंगे—कुछ वह लोकोत्तर चरित्र थोड़े ही काल के अनुसार चलैगा", आखिर लोग "हिन्दी भाषा में नाटक देखने की इच्छा से आए हैं" और इन्हें कोई कालानुसार खेल दिखाया जाना चाहिये। इस नाटक में भारतेन्दु ने पहली बार एक अंक के भीतर चार गर्भांकों दो दृश्यों का प्रस्तुति-विधान खड़ा किया है, और "पहले गर्भांक के पात्र" तथा "दूसरे गर्भांक के पात्र" की योजना के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से पात्र-परिचय भी दिया है। अभिनय का स्थान कौन-सा होगा, अभिनेता कहां कहां बैठ-उठकर क्या-क्या कर रहे होंगे, आवाज किस दिशा से लगायी जायेगी, मंच पर क्या-क्या सामग्री होगी, कब यवनिका स्टेशन पर बजते हुए घंटे की ध्वनि के साथ-साथ गिरेगी—इस प्रकार की अनेक प्रस्तुतिमूलक विशेषताओं को समेटता हुआ यह नाटक अपने सशक्त कथ्य को लोकधर्मी आत्मा से सम्प्रेषित करता है। 'सती प्रताप' चार दृश्यों का अधूरा नाटक है जिसमें स्थान और दृश्य-विधान सम्बन्धी कुछ स्फुट रंग-संकेतों के अतिरिक्त विशेष उल्लेखनीय बात कोई नहीं है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के मंचीय प्रारूप को एक सुविचारित योजना के तहत गढ़ा गया है। यहां भारतेन्दु ने पहली बार, नाट्यारम्भ से पहले ही चारों अंकों के कार्यव्यापारात्मक स्थलों का निर्देश एक साथ किया है। इसकी मूल प्रस्तुति-पद्धति परम्परात्मक है, मगर समय और स्थान की स्पष्टता, नेपथ्य के कुशल प्रयोग, मंच-सज्जा के आकलन, अभिनय के स्थलीकरण और समूहन आदि की दृष्टि से इसकी पूरी बनावट में बहुत ताल-मेल से काम लिया गया है। यही कारण है कि भारतेन्दु के अन्य नाटकों की अपेक्षा इसमें रंग-संकेतों की सार्थक भरमार है। अनूदित नाटक 'मुद्राराक्षस' की समाप्ति के बाद जोड़े गये प्रथम परिशिष्ट से पता चलता है कि प्रस्तुति के आदि और अन्त को विशेष आकर्षक बनाने के अतिरिक्त भारतेन्दु यह भी ध्यान रखते थे कि अंक-दृश्य-परिवर्तन के समय, या मंचन के दौरान, रंगमंच को बिल्कुल खाली न छोड़ा जाए।

: 5 :

भारतेन्दु की सम्पूर्ण रंगमंचीय अभिज्ञा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आयाम यह है कि उनकी आंख निरन्तर दर्शकों पर टिकी रहती है। दर्शकत्व ही उनके नाटकों की प्रेरणा है और परिणति भी है। अपने समय के हर भारतवासी को उन्होंने अपना दर्शक समझा है। उनके नाटक न तो अनावश्यक लोकप्रियता की छूट देते हैं और न दर्शकों से हटकर किसी दुर्बोधता में उलझते हैं, बल्कि अपनी वैचारिक शर्तों पर सर्व-सम्प्रेषणीयता को विकसित करते हैं। इस प्रक्रिया में उन्हें जहां से जो भी अच्छाई मिलती है उसे ग्रहण करते हैं और जहां जो कुछ भी बुरा लगता है उसे पीछे फेंक देते हैं। भारतेन्दु को अपने दर्शकों से

शिकायत भी है और अपार प्रेम भी है। अपने पहले मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के समर्पण में ही उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि नाटक ही नहीं, सारा संसार एक तमाशा है—"स्त्री-पुरुष, पण्डित-मूर्ख, अपना-बेगाना और छोटे-बड़े सबका तमाशा। क्या ही तमाशा है।···तमाशा तो है पर देखने वाले थोड़े हैं।" इस थोड़ेपन का आधार गिनती नहीं है—सही समझदारी की कमी है। 'चन्द्रावली' में सूत्रधार परिपार्श्वक से नाटककार के विषय में कहता है—"इसमें तुम्हारा दोष नहीं है, तुम तो उससे नित्य नहीं मिलते, जो लोग उसके संग में रहते हैं वे तो उसको जानते ही नहीं, तुम बिचारे क्या हो।" दर्शकों के साथ गहरे जुड़ाव के बावजूद भारतेन्दु जानते थे कि हर नाटककार को उसके युग में ही पूरी तरह समझ लिया जाए, यह जरूरी नहीं होता, वह आने वाले कल के दर्शकों में भी देर तक जीवित रह सकता है। 'अंधेर नगरी' के समर्पण में उन्होंने लिखा है—"नरसरीर में रत्न वही जो परदुख साथी, खात पियत अरु स्वसत स्वान मंडुक अरु हाथी।" सामाजिक पिघलाव की यह व्यापक भाव-भूमि ही उनकी दर्शकोन्मुखता का वास्तविक आधार है जिससे हिन्दी नाटक और रंगमंच का उत्थान होता है। इसी के कारण उन्हें अपने दर्शकों, समकालीन लेखकों, हिन्दी के प्रारम्भिक देशी-विदेशी और परवर्ती साहित्येतिहासकारों तथा नाट्य-समीक्षकों से जितनी मान्यता मिली है—उतनी बहुत कम रचनाकारों को नसीब होती है।

यह मानते हुए भी कि नाटक रंगमंच पर ही पूर्णता प्राप्त करता है, इसलिए नाट्य-परम्परा और दर्शकीय परम्परा का विकास साथ-साथ होता है, भारतेन्दु चाहते थे कि नाटक ऐसे लिखे जायें जिन्हें पढ़कर भी जीवन को समझने में सहायता मिल सके। उनकी निश्चित धारणा थी कि नाटक सबसे पहले एक किताब है और रंगमंच उसके बाहर ही नहीं, भीतर भी होता है। 'प्रेम जोगिनी' के शुरू में एक खाली पृष्ठ पर उन्होंने उर्दू की दो पंक्तियाँ अंकित की हैं—"बैठकर सैर मुल्क की करना, यह तमाशा किताब में देखा।" यहाँ 'किताब' शब्द पठ्यता को भी व्यंजित करता है।

भारतेन्दु की नाट्य-प्रतिज्ञा और रंगमंचीय अभिज्ञा की अनेक सीमाएँ हो सकती हैं, और हैं भी। आखिर वे हिन्दी नाटक और रंगमंच के उद्भवकालीन हस्ताक्षर थे। लेकिन सीमाओं को लाल स्याही से रेखांकित करने वाली आलोचकीय दृष्टि अपनाकर हम न तो किसी महान धरोहर को समझ सकते हैं, न उसे सम्भाल सकते हैं और न उसके प्रति कृतज्ञ हो सकते हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि हम भारतेन्दु की प्रशस्तियाँ लिखते रहें, इसका मतलब यह है कि हमें अगर लाल स्याही का इस्तेमाल करना ही है तो भारतेन्दु के सामाजिक यथार्थवाद की उन शक्तियों के रेखांकन में करें जिनके कारण वे आज भी बहुत-बहुत प्रासंगिक हैं। और यह कितना सकारण आश्चर्य है कि उनके सौ साल बाद भी हिन्दी नाटक और रंगमच के जिस-जिस कोण पर बात की जाती है, उस-उसमें कहीं न कहीं वे हमें दिखायी दे ही जाते हैं। यही उनकी अशेषता है।

●

हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु

वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी

भारतेन्दु हिन्दी साहित्य की विकास यात्रा में उस बिन्दु पर खड़े हैं जिसे प्रस्थान बिन्दु कहा जा सकता है। रंगमंच की दृष्टि से उस ऐतिहासिक समय में कुछ प्रचलित लोक नाट्य रूपों को छोड़कर कोई स्वस्थ सार्थक परम्परा दिखाई नहीं देती। अंग्रेजी शिक्षा दीक्षा से प्रभावित तत्कालीन बौद्धिकों के आकर्षण का केन्द्र था पारसी थियेटर। उस समय के बंगला नाटक का स्वरूप भी पश्चिमी प्रभाव के अन्तर्गत अधिक आधुनिक और अधिक सक्रिय दिखाई देता है। भारतेन्दु की रंगदृष्टि 'बंगला' के आधुनिक प्रयोगशील पक्ष से प्रभावित हुई। पारसी थियेटर और बंगला नाटक के मंच के अलावा शुद्ध भारतीय नाट्यदर्शन के आधार का सार्थक उपयोग भारतेन्दु ने किया। वस्तुतः भारतेन्दु को एक सचेत और आधुनिक रचनात्मक दृष्टि मिली थी। उन्होंने यह साफ-साफ समझ लिया था कि समय की मांग के अनुसार साहित्य को स्वाधीनता के लिए संघर्ष का व्याकरण तैयार करना होगा। यहीं उन्होंने नाटक की मूर्त सम्प्रेष्यता की शक्ति को पहचाना और विकृत होते चले जाते लोक नाट्य मंच के प्रति विरक्त कलाविदों को सोते से जगाया—"हे नाटक विरोधि मानवगण। आप लोग इस चमत्कार कार्य में क्यों उत्साह नहीं बढ़ाते ......अब यही हमारी प्रार्थना है कि जहाँ तक हो सके इसकी उन्नति में प्रयत्न करे जिससे हमारे देशवासियों का उपकार हो।"[1]

भारतेन्दु के लिए साहित्य मात्र मनोरंजन नहीं, जनजागरण, जनप्रशिक्षण का सशक्त साधन था। इस संवेदनशील रचनाकार की समझ यहां भी बहुत साफ थी कि सामान्यजन पर कुछ ऊपर से थोपा नहीं जा सकता बल्कि जो भावधारा उनके बीच प्रवाहित हो रही है उसी के माध्यम से अपेक्षित संदेशों-संकल्पों को उन तक पहुँचाया जा सकता है। अपनी साहित्य मंडली में वे अक्सर यह बात दुहराते थे कि लोकगीतों, लोक नाट्यों के माध्यम से जनजागृति का अभियान चलाया जाय। ऐसा उन्होंने किया भी। गांव-गांव, शहर-शहर जाकर उन्होंने गीतों, नाटकों के माध्यम से भारतीय चेतना का प्रचार-प्रसार किया। लोक प्रकृति की उन्हें गहरी समझ थी, इस दृष्टि से उन्होंने नाटकों में बहुविध प्रयोग किये, प्रहसन, नाटक, गीतिरूपक, भाण, लास्यरूपक आदि अनेक नाट्य शैलियों का प्रयोग कर उन्होंने गीतात्मक सम्प्रेष्यता को सर्वाधिक महत्व दिया। पौराणिक, ऐतिहासिक एवं लौकिक आख्यानों को नाट्यवस्तु के रूप में स्वीकार कर उसमें मानवीय उदात्तता का समावेश किया। वे नाटक लिखते ही नहीं थे अपितु उसके प्रदर्शन में पूरा-पूरा भाग लेते थे।

‘हिन्दी रंगमंच’ का अस्तित्व भारतेन्दु ने ही बनाया है। सन् 1883 में उन्होंने ‘नाटक अथवा दृश्य काव्य’ नामक निबन्ध लिखकर रंग प्रशिक्षण के अद्भुत अभियान की शुरुआत की। सन् 1868 में सर्वप्रथम बनारस के ‘बनारस थियेटर’ में हिन्दी का पहला नाटक ‘जानकी मंगल’ प्रदर्शित हुआ जिसे शीतला प्रसाद त्रिपाठी ने लिखा था। इस नाटक में भारतेन्दु ने लक्ष्मण की भूमिका की थी। नाटकों के रंगधर्मी सामर्थ्य पर चिन्तन भारतेन्दु से ही प्रारम्भ दीखता है। इस नाटक के प्रदर्शन के साथ-साथ भारतेन्दु रंगकर्म के प्रति सक्रिय प्रतिबद्धता के साथ युद्ध स्तर पर नाटक के निर्माण, कार्य और प्रदर्शन के लिए जुट गये। इस कार्यक्रम में किंचित भी अन्तराल उन्हें स्वीकार नहीं था। इसकी निरन्तरता बनी रहे इसके लिए उन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद भी किया। उनके नाटककार के उत्साह की यह सीमा थी—“एक लोटा ही पास हो तो उसे बेच कर इस नाटक को खरीदो।”[2] वे नाटक के सृजन और अनुभव का वातावरण एक साथ तैयार करना चाहते थे। उनका सर्जक व्यक्तित्व प्राचीन और आधुनिक की ऐसी संधि चाहता था जिससे प्रासंगिक जीवन मूल्यों को पूरा प्रकाश मिल सके। इस प्रकार के साहित्य का आदर्श लेकर उनकी अन्तर्दृष्टि ने पूरी उदारता के साथ सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय के श्रेष्ठ का अवलोकन किया और उसे स्वीकार भी किया। उनके द्वारा किये गये संस्कृत और अंग्रेजी के नाट्यानुवाद मात्र अनुवाद नहीं होते थे अपितु उनमें अभिप्रेत अर्थ पूरे सामर्थ्य के साथ अनुस्यूत होता था।

अपने ‘नाट्य मंच’ का स्वरूप निर्धारण भी भारतेन्दु ने देशी-विदेशी प्रभाव के सार्थक मेल से किया। उन्हें मंच का वह स्वरूप अपेक्षित था जिसमें वह तकनीकी व्यवस्था होने के साथ-साथ मानवीय भावों की संवाहक सम्प्रेरक व्यवस्था भी बन सके। इसके लिए भारतेन्दु ने मंच के आकार-प्रकार के साथ नाट्यार्थ की सहजता पर पूरा विचार किया। नाटककार और रंगस्रष्टा, दोनों एक साथ होने का दायित्व आसान नहीं है, किन्तु भारतेन्दु दोनों ही थे, बल्कि इससे कहीं ज्यादा थे। वे नाटक लिखते थे, उसका निर्देशन करते थे, उसकी प्रस्तुति के पूरे व्यवस्थापक होते थे, साथ ही अभिनय भी करते थे। इस प्रकार यत्र-तत्र-सर्वत्र होकर उन्होंने अनुभव किया कि नाट्याभिव्यक्ति की सबसे बड़ी शक्ति उसका समुचित सम्प्रेषण है। ‘अभिनेयता’ इस प्रकार के सम्प्रेषण की सबसे बड़ी शर्त है। भारतेन्दु ने नाटकों की मंचन योग्यता पर सर्वाधिक ध्यान दिया। उन्होंने रंगधर्म की प्रतिबद्धता में नाटक लिखे और जनरुचि के स्वीकार अस्वीकार को दृष्टि में रख वस्तु, नेता और रस की त्रयी को नियोजित किया। भारतेन्दु का यह कार्य इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि हिन्दी नाटक और हिन्दी मच की कोई स्पष्ट परम्परा भारतेन्दु को नहीं मिली थी। नाटक के सामर्थ्य को अधिक से अधिक विकसित करने के लिए उन्होंने प्रत्येक चुनौती स्वीकार की। उन्हें हिन्दी साहित्य का पाठक, श्रोता और दर्शक तैयार करना था। अपने नाटकों की प्रस्तावना में उन्होंने प्रायः इस प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं जिससे उनकी नाट्य कर्म के प्रति कटिबद्धता का परिचय मिलता है—‘आज कल की

सभ्यता के अनुसार नाटक रचना में उद्देश्य फल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है ।...... नाटक के परिणाम से दर्शन और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावे' यहाँ नाट्यशास्त्र के प्रणेता मुनि भरत के उस सूत्र की ध्वनि साफ-साफ सुनाई देती है जहां वे नाटक को सबकी दीक्षा मानते हैं—

'धर्म्यंमर्थ्यं यशस्यञ्च सोपदेश्यं ससंग्रहम् ।
भविष्यतञ्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ।। 14 ।।
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम् ।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं ऐतिहासं करोम्यहम् ।। 15 ।।[3]

नाट्य मंच के पुनर्संस्कार के लिए उन्होंने अपने दर्शकों की रुचि और कोटि का पूरा-पूरा विचार किया । यद्यपि उनके सामने पारसी थियेटर का आडम्बर पूर्ण रंगमंच था, रामलीला रासलीला की अलंकृति थी तथापि उन्होंने 'मंच' के अलंकरण, साज-बाज को अधिक महत्त्व नहीं दिया । उनकी सोच में कहीं एक गतिशील और समर्थ मंच की कल्पना थी जिसका स्थानान्तरण सरल हो, इसीलिए कम से कम खम्भे, खूंटे और पर्दों का इस्तेमाल उन्होंने किया । वस्तुतः मंच के माध्यम से उन्हें जन प्रशिक्षण के कार्य को सफल बनाना था इसलिए उन्हें एक सुविधाजनक मंच की अपेक्षा थी । इस सन्दर्भ में 28 अप्रैल सन् 1927 को दैनिक 'आज' में प्रकाशित बाबू गोपाल राम गहमरी का एक लेख उल्लेखनीय है—"बयालीस वर्ष पहले की बात है जब काशी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने बलिया में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक स्वयं हरिश्चन्द बनकर खेला था, जिसमें हिन्दी के सुलेखक—'दुखिनी बाला' के लेखक बाबू राधाकृष्ण दास सरीखे हिन्दी सेवक और रविदत्त शुक्ल जैसे कवियों ने पार्ट लिया था । उस समय पर्दा और सीनों का जमाव नहीं था, लेकिन जो कुछ भी स्टेज उस समय बना था—बजाज के कपड़ तान कर जो काम भारतेन्दु ने कर दिखाया था, उसकी महिमा यूरोपियन लेडियों तक ने गायी थी ।.... पात्रों का शुद्ध उच्चारण हमने उसी समय हिन्दी के नाटक स्टेज पर सुना था ।"

भारतेन्दु के उत्साह ने भारत के समस्त हिन्दी भाषी प्रदेशों को नाट्य निर्माण और मंचन के लिए प्रोत्साहित किया । कानपुर, पटना, इलाहाबाद, बलिया, आरा आदि अनेक स्थान पर रंगकर्मी संगठित हुए और अनेक रंगमण्डलियों की स्थापना हुई ।[4] प्रयाग की 'आर्य नाट्य सभा' ने 6 दिसम्बर सन् 1871 को लाला श्रीनिवास दास द्वारा लिखित "रणधीर प्रेम मोहिनी" तथा "जानकी मंगल" नामक नाटक प्रस्तुत किये । इसी संस्था ने 26 अगस्त सन् 1876 को देवकीनन्दन त्रिपाठी की "जयनार सिंह" भी प्रस्तुत किया । कानपुर के पं० रामनारायण त्रिपाठी ने भारतेन्दु के दो नाटकों "सत्य हरिचन्द" और "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का मंचन (1876) करके नाट्य मंच को लोकप्रिय बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया । यह ध्यान देने की बात है कि 19 वीं शताब्दी का वह समय किसी भी ऐसे प्रयोग के लिए अनुकूल नहीं था । समय की इस विपरीतता के साथ-साथ भारतेन्दु और उनके सहयोगी केवल लड़ ही नहीं रहे थे बल्कि उसके अनुकूलन के प्रक्रिया से भी जूझ रहे थे । इसलिए इस

प्रकार के कार्यक्रमों का अनेक प्रकार से विरोध भी किया गया लेकिन भारतेन्दुयुगीन रचनाधर्मियों का साहस कम नहीं हुआ। कानपुर में ही पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भारतेन्दु के दो नाटकों (नील देवी, अंधेर नगरी 1882) का प्रदर्शन किया। इससे भारतन्दु के नाटकों के मच सामर्थ्य का पता चलता है। वस्तुतः भारतेन्दु के नाटकों की अभिनेयता सिद्ध थी। प्रत्येक पात्र को स्वयं में जीकर नाटक लिखते थे। भारतेन्दु में प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता को उसकी पूरी सम्भावना में पहचानने की शक्ति भी थी। पात्रानुकूलता पर चिन्तन करते हुए वे अपने सहयोगियों, मित्रों की क्षमता पर भी विचार करते थे। पं० प्रताप नारायण मिश्र ने भी उनके नाटकों की पात्रता निभाई हैं, ऐसे प्रमाण मिलते हैं। वे नाटकों की साहित्यिकता के साथ-साथ उसकी स्वाभाविकता पर भी पूरा ध्यान देते थे। सबसे पहले वे नाट्य वस्तु की 'प्रासंगिकता' मानते थे। यही कारण है कि हमें उनके 'अंधेर नगरी' और 'भारत दुर्दशा' जैसे सशक्त नाटक मिलते हैं। सुखान्तिकी की सम्प्रेरकता के साथ-साथ दुखान्तिकी की शक्ति में भी उनकी आस्था थी। 'करुण' रस के प्रति उनका विश्वास-सर्वाधिक था क्योंकि वे जानते थे कि मानवीय संवेदना का जितना उद्रेक करुणा के कारण सम्भव है उतना अन्य किसी रस द्वारा नहीं। लोक हृदय परिष्करण का जो उदात्त आदर्श वह जीना चाहते थे उसके लिए 'करुण' उन्हें साधन बनता दीखा—

रोवहु सब मिलि कै, आवहु भारत भाई।
हा हा। भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

यह 'नैराश्य' उस संघर्षचेता व्यक्तित्व का नैराश्य था जिसे साधन हीनता ने बार-बार संकल्प पथ से धक्का दिया। किन्तु इस रचनाकार ने प्रत्येक बार व्यवस्थित होकर निर्माण दर निर्माण का पथ प्रस्तुत किया। भारतेन्दु का रंगमंच नाटककार, मंच और दर्शक के त्रिकोण में ऐक्य को इसीलिए पा लेता है क्योंकि इन तीनों विन्दुओं पर भारतेन्दु ने खुद को खड़ा करके देखा है। वे कुशल व्यवस्थापक भी थे, स्वाभाविकता की शर्त से बंध कर रचने वाले रचनाकार भी थे और रसिक पाठक, श्रोता और दर्शक भी। यही कारण है कि नाट्य प्रकृति और प्रक्रिया का एक सुलझाव भारतेन्दु में हैं। यह आश्चर्यजनक है कि उस व्यक्ति ने जमीन गोड़ने से लेकर पेड़ उगाकर उसका फल बांटने तक का काम अपने जिम्में लिया था और यह और भी न केवल आश्चर्यजनक है वल्कि प्रशंसनीय भी कि उन्होंने इस काम को भरपूर निभाया।

संदर्भ

1. भारतेन्दु ग्रंथावली पृ० 778.
2. श्रीनिवास दास के "रणधीर प्रेममोहिनी" नाटक के प्रति 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित लेख। कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह : "हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा" पृ० 263.
3. नाट्यशास्त्र 1।14–15.
4. श्री रामलीला नाटक मण्डली, (1898-1907) एवं आर्य नाट्य समाज (1870-71) प्रयाग, पं० रामनारायण त्रिपाठी की मण्डली (1876), भारत एन्टरटेनमेन्ट क्लब (1885) भारत मनोरजिनी सभा और एम० ए० क्लब 1886, ए० बी० क्लब 1887, रसिक मण्डल 1896 कानपुर आदि।

भारतेन्दु के अनूदित नाटक : मौलिकता और उद्देश्य

सन्त राम वैश्य

आधुनिक हिन्दी नाट्य-साहित्य के विकास में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यदि इन्हें आधुनिक हिन्दी नाटक का जन्मदाता कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। भारतेन्दु से पूर्व जितने भी हिन्दी नाटक लिखे गए, उनमें से अधिकांश पद्य में थे और उनमें नाटकीय गुणों का सर्वथा अभाव था। जो थोड़े-बहुत नाटक मिश्रित गद्य-पद्य में लिखे गये थे उनकी भाषा अत्यन्त लचर थी। इस दृष्टि से भारतेन्दु ने अनेक मौलिक तथा अनूदित नाटकों का सृजन कर इस क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग किया। अपने नाटकों में उन्होंने नाटकीय गुणों का ही प्रयोग नहीं किया बल्कि रंगमंच को भी ध्यान में रखा। इसके साथ ही साथ भारतेन्दु की एक मौलिक देन यह भी है कि उन्होंने अपने कई नाटकों में अभिनय किया और इस तरह जन-सामान्य में नाटक के प्रति रुचि उत्पन्न की। हिन्दी नाटक को साहित्यिक स्वरूप और गरिमा प्रदान करने में भी भारतेन्दु का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

भारतेन्दु ने हिन्दी नाटक को समृद्ध करने के लिए बहुत से मौलिक नाटकों का सृजन किया। इसके साथ ही उन्होंने संस्कृत, बंगला आदि भाषाओं में लिखे गए कई महत्वपूर्ण नाटकों का अनुवाद भी किया। भारतेन्दु द्वारा रचित मौलिक तथा अनूदित नाटकों की संख्या 17 मानी जाती है। इनके नाम हैं– 1–रत्नावली 2– विद्यासुन्दर 3– पाखड विडम्बन 4—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति 5– धनंजय-विजय 6–मुद्राराक्षस 7–सत्य हरिश्चन्द्र 8–प्रेम जोगिनी 9–विषस्य विषमौषधम् 10–कर्पूर मंजरी 11–चन्द्रावली 12–भारत-दुर्दशा 13–भारत जननी 14–नीलदेवी 15–दुर्लभ बन्धु 16–अंधेर नगरी तथा 17–सती प्रताप। भारतेन्दु द्वारा रचित कुछ अन्य नाटक भी बताये जाते हैं जो आज अनुपलब्ध हैं। इनके नाम हैं–प्रवास, मृच्छकटिक, नवमल्लिका, माधुरी तथा जसा काम वैसा परिणाम। 'माधुरी' को कुछ लोग भारतेन्दु के मित्र राव कृष्णदेव सिंह की रचना बताते हैं।

भारतेन्दु द्वारा रचित नाटकों में से चन्द्रावली, नीलदेवी, भारत दुर्दशा, भारत जननी, अंधेर नगरी, वैदिको हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम्. प्रेम योगिनी तथा सती प्रताप उनके मौलिक नाटक हैं। विद्या सुन्दर तथा सत्य हरिश्चन्द्र छायानुवाद हैं जो मौलिक से बन पड़े हैं।

भारतेन्दु के अनूदित नाटक हैं—रत्नावली, पाखंड-विडम्बन, धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, कर्पूर मञ्जरी तथा दुर्लभ बन्धु। यद्यपि ये सभी नाटक बंगला तथा संस्कृत आदि

भाषाओं में लिखे गए नाटकों के अनुवाद हैं पर अनूदित होते हुए भी इनमें से कई नाटक ऐसे हैं जो भाव और शिल्प की दृष्टि से उनके कई मौलिक नाटकों से श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। इनमें स्थान-स्थान पर भारतेन्दु जी ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। मौलिकता के साथ-साथ इन नाटकों के अनुवाद का कुछ उद्देश्य भी रहा है। इसे हम इन नाटकों के विश्लेषण द्वारा स्पष्ट रूप से देख सकते हैं—

1. रत्नावली—यह भारतेन्दु का प्रथम अनूदित नाटक है। इसका अनुवाद 1868 ई० में श्रीहर्ष की रत्नावली नाटिका से किया गया। इस अनुवाद के पीछे भारतेन्दु का यह तर्क है—"शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनन्द देने वाली है, इस हेतु से मैंने पहले इसी नाटक का तर्जुमा किया है।"[1]

इस अनुवाद में उन्होंने बहुत परिश्रम किया था। उन्हीं के शब्दों में—"इसके मूल संस्कृत में जहाँ छन्द थे, वहाँ मैंने भी छन्द किये हैं। यदि संस्कृत के छन्दों से उसके छन्दों को मिला के पढ़िये तो इसका परिश्रम प्रगट होगा।"[2] इतना होने पर भी उन्हें लगता है कि अनुवाद बहुत अच्छा नहीं बन पड़ा होगा और वे कह उठते हैं—"और निश्चय है कि इसका 'उल्था' अगर कोई अच्छी हिन्दी जानने वाला करता तो रचना अति उत्तम होती। इससे मुझे आप लोगों से आशा है कि इसके भूल-चूक को सुधारेंगे और मुझे अपने एक दास की नाईं स्मरण करेंगे।"[3]

दुर्भाग्य है कि आज इस नाटिका का नांदी, प्रस्तावना और विष्कंभक भाग ही प्राप्त है। शेष भाग या तो लिखा ही नहीं गया या लुप्त हो गया। इसमें मूल के नांदी श्लोकों का अनुवाद गद्य में हुआ है। इसके आगे पद्य का पद्य में अनुवाद है। अनुवाद अत्यन्त सफल और सरस है। इस नाटिका के अनुवाद के द्वारा भारतेन्दु जी नाटक-प्रेमी जनों के सम्मुख शास्त्रीय दृष्टि से एक सफल नाटिका का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते थे। इसी को आधार बनाकर आगे चलकर उन्होंने चन्द्रावली की रचना की।

2. पाखंड विडम्बन—भारतेन्दु का यह नाटक कवि कृष्ण मिश्रा रचित 'प्रबोध चन्द्रोदय' के तीसरे अंक का अनुवाद है। यह अनुवाद सन् 1872 ई० में किया गया। यह प्रतीक नाटक है। इसमें श्रद्धा और शांति की कथा का वर्णन है। शांति, सखि करुणा के साथ अपनी माँ श्रद्धा की खोज में निकलती है। इस खोज में उसे तामसिक और राजसिक श्रद्धा के दर्शन होते हैं जिन्हें देखकर वह आश्चर्य चकित हो जाती है। तब क्षयणक द्वारा उसे पता चलता है कि असली (सात्विक) श्रद्धा तो विष्णु भक्ति के पास सकुशल निवास कर रही है। शांति और करुणा यह शुभ समाचार पाकर प्रसन्न होती है।

वस्तुतः यह नाटक तत्कालीन धार्मिक प्रवृतियों की विरूपता का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है। यही विरूपताएं भारतेन्दु के समय में भी विद्यमान थीं। कदाचित् इसी कारण इसका अनुवाद भी किया गया। भारतेन्दु का यह अनुवाद अत्यन्त सरस और सुन्दर है।

इसमें साधारणतः गद्य का अनुवाद खड़ी बोली में तथा पद्य का ब्रजभाषा पद्य में हुआ है। इसमें मूल नाटक के पात्रों के नामों तथा उनकी भाषा में परिवर्तन कर दिया गया है। जैन मुनि क्षपणक को भारतेन्दु ने 'दिगम्बर' नाम दिया है और उससे मारवाड़ी भाषा का प्रयोग करवाया है। इसी तरह बौद्ध भिक्षुक की भाषा को बच्चों की तुतलाती बोली का रूप दिया गया है। जिन स्थलों पर इस बोली को समझने में कठिनाई उत्पन्न होने का अंदेशा था वहाँ इसका हिन्दी रूपान्तर ही दे दिया गया है। अपने नाटकों में पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करना भारतेन्दु की मौलिकता है। इसका पालन उन्होंने अपने अनूदित नाटकों में भी किया है।

भारतेन्दु ने 'पाखंड विडम्बन' के अनुवाद में गीतों को भी प्रयोग किया है। उनके ये गीत अभीष्ट कथा को स्पष्ट करने वाले तथा कथा को गति प्रदान करने वाले हैं।

3. धनंजय विजय—यह संस्कृत कवि कांचन के 'धनन्जय विजय' व्यायोग का अनुवाद है। यह अनुवाद 1873 ई० में किया गया। इसमें एक दिन के युद्ध का वर्णन है। पांडवों ने अपने अज्ञातवास का एक वर्ष राजा विराट के यहाँ रहकर बिताया। अज्ञातवास के अन्तिम दिन कौरवों ने राजा विराट की गायों का हरण कर लिया। अर्जुन, विराट की ओर से लड़ने जाते हैं और गायों को छुड़ाकर ले जाते हैं। इससे प्रसन्न होकर विराट, अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु से अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह कर देते हैं। यहीं कथा समाप्त हो जाती है।

प्रस्तुत नाटक, नाट्यशास्त्र के लक्षणों का उत्तम उदाहरण है। व्यायोग के जितने भी लक्षण होते हैं वे सभी इस नाटक में मिलते हैं। भारतेन्दु ने अपने अनुवाद में भी इन लक्षणों का सफल निर्वाह किया है। इस अनुवाद के द्वारा वे संभवतः रूपक के भेदों से लोगों को परिचित कराना चाहते थे।

अनुवाद सफल और सरस है। भारतेन्दु ने इसमें जगह-जगह अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उदाहरण स्वरूप भरतवाक्य के 'राजवर्ग मद छांड़ि निपुन विद्या में होई' छन्द को देखा जा सकता है। अनुवाद की भाषा सजीव और ओजस्विनी है। भारतेन्दु ने इस अनुवाद में गीतों का भी प्रयोग किया है जिससे नाटक की अभिनेयता उभरकर सामने आ गई है। कुल मिलाकर यह अनुवाद इतना सुन्दर और सजीव है कि मौलिक सा प्रतीत होता है।

4. मुद्राराक्षस—यह महाकवि विशाखदत्त कृत संस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद है। भारतेन्दु ने यह अनुवाद 1875 ई० में किया। यह 1875 ई० से 1877 ई० तक 'बालाबोधिनी' पत्रिका में क्रमशः छपता रहा। बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसके अनुवाद की प्रेरणा उन्हें राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने दी थी। यह अनुवाद उन्हीं को समर्पित भी है। राजा साहब के सहयोग से इसे पाठ्यक्रम में भी स्थान मिला जिससे

इसकी लोकप्रियता अत्यन्त बढ़ गई। संभवतः यह हिन्दी का अकेला राजनीतिक नाटक है। डा० गोपीनाथ तिवारी के शब्दों में—"सम्भवतः इसकी अद्वितीयता या एकाकीपन ने ही भारतेन्दु जी को आकर्षित किया एवं उन्होंने इस नाट्यकृति का अनुवाद कर डाला। इस ऐतिहासिक नाटक के अनुवाद द्वारा भारतेन्दु जी ने एक नवीन शैली की स्थापना की जिसका अनुगमन बाद में प्रसाद जी ने किया है। यह शैली है, नाटक की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालना। भारतेन्दु जी ने नाटक के आरम्भ में पूर्वकथा के रूप में चाणक्य, महानन्द एव राक्षस की कथा पर विचार किया है एवं नाटक के अन्त में अर्थात् उपसंहार में ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में खोजपूर्ण सामग्री दी है।"[६]

नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है। चाणक्य अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बैठा देता है। अब वह राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाने लिए षडयंत्र रचता है। अपनी कूटनीति से वह राक्षस की मुद्रा प्राप्त कर लेता है और अपने गुप्तचरों को राक्षस और मलयकेतु के यहाँ रख देता है। ये गुप्तचर राक्षस और मलयकेतु में द्वेष-भाव उत्पन्न कर देते हैं। चाणक्य, राक्षस के मित्रों चन्दनदास, शकरदास आदि को कैद कर लेता है। इस प्रकार अपनी कूटनीति से वह राक्षस और मलयकेतु में कलह उत्पन्न कर अन्त में राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बना देता है।

सम्पूर्ण कथा सात अंकों में विभाजित है। इसमें नाटकीय गुणों का पूर्णतः पालन किया गया है। अनुवाद होते हुए भी भाषा आदि की दृष्टि से यह भारतेन्दु की सर्वोत्कृष्ट मौलिक रचनाओं के समकक्ष ठहरता है। इसमें कहीं-कही तो अनुवाद मूल से अधिक सुन्दर बन पड़ा है। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

1. मूल— राक्षस का कथन—

कर्णोनैव विषांगनैक पुरुष व्यापादिनी रक्षिता।
हन्तुं शक्ति रिवार्ज्जुन बलवती या चन्द्रगुप्तं मया।
सा विष्णोरिव विष्णुगुप्तहतकस्यात्यन्तिक श्रेयसे।
हैडिम्बेयमित्येव पर्वतनृप तद्वध्यमेवावधीत्।

अनुवाद— जो विषमयी नृप चन्द्रवध हित नारी राखी लाय कै।
तासों हत्यो पर्वत उलटि चाणक्य बुद्धि उपाय कै।
जिमि करन शक्ति अमोघ अर्जुन हेतु धरी छिपाय कै।
पै कृष्ण के मत सो घटोत्कच पै परी घहराय कै॥

2. मूल— इहि हि रचयन्, साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्गमोहात् तदा गुरु रङ्कुशः
विनय रुचयस्तस्मात् सन्तः सदैव निरंकुशाः
परतरमतः स्वातंत्र्येभ्यो वयं हि पराङ्मुखः॥

अनुवाद— जब लौं बिगारै काज नहिं तब लौं न गुरु कछु तेहि कहै।
पै शिष्य जाइ कुराह तौ गुरु सीस अंकुश ह्वै रहै।
तासों सदा गुरु वाक्य वश ह्वै नित्य पर आधीन हैं।
निर्लोभ गुरु से सन्तजन ही जगत में स्वाधीन हैं।

अनुवाद करने में भारतेन्दु ने सरलता, भाषा की प्रवृत्ति, सुबोधता, प्रवाह, स्पष्टता आदि को बराबर ध्यान में रक्खा है। कहीं-कहीं तो लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग कर दिया है। मूल नाटक में पात्रों की भाषा में अन्तर है पर अनुवाद में नाटककार ने एक ही भाषा का प्रयोग किया है। निश्चित ही इस अनुवाद में भारतेन्दु ने बहुत परिश्रम किया था तभी अनुवाद होते हुए भी इसमें मौलिक का सा आनन्द मिलता है।

5. कर्पूर मंजरी—यह राजशेखर कवि द्वारा प्राकृत भाषा में रचित 'कर्पूर मंजरी' नामक सट्टक का अनुवाद है। इसका अनुवाद 1876 ई० में किया गया। इसकी कथा इस प्रकार है—सिद्ध भैरवानन्द राजा चण्डपाल के विदूषक के कहने पर चमत्कार दिखाता है और विदर्भदेश के राजा वल्लभराज की पुत्री कर्पूरमंजरी को अपने योगबल से राजदरबार में बुला लेता है। कर्पूर मंजरी की सुन्दरता देखकर राजा उस पर आसक्त हो जाता है। कर्पूरमंजरी भी राजा पर आसक्त हो जाती। राजा चण्डपाल की रानी कर्पूरमंजरी की हत्या करने का अनेक बार प्रयत्न करती है, पर हर बार राजा उसे बचा लेता है। हारकर वह राजा का विवाह राजा चन्द्रसेन की कन्या घनमंजरी से कराना चाहती है। किन्तु भैरवानन्द के चमत्कार से घनमंजरी ही रूपमंजरी हो जाती है। अन्त में राजा और कर्पूरमंजरी का विवाह हो जाता है।

प्राकृत से अनुवाद करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, तब भी भारतेन्दु ने इसका अनुवाद किया। इसमें गद्य का गद्य में और पद्य का पद्य में अनुवाद हुआ है। अनुवाद अत्यन्त सफल और सरस है। इसमें अनेक जगह मौलिकता के दर्शन होते हैं। इसका नान्दीपाठ भारतेन्दु का मौलिक पद है। अनुवाद करने में अनुवादक ने बहुत से स्थलों पर अपनी ओर से कुछ घटाया-बढ़ाया है। दुर्बोध और घोर शृंगारिक स्थलों का अनुवाद छोड़ दिया है या उनका वर्ण्य-विषय बदल दिया है। उदाहरण स्वरूप 2-45 और 3-6 छन्द प्रस्तुत किए जा सकते हैं। 1-27 छन्द को शृंगारिकता कम करने के लिए बदल दिया गया है। भारतेन्दु ने विदूषक और भैरवानन्द के कथनों का बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। इससे अनुवाद में कहीं-कहीं काल दोष आ गया है। जैसे विदूषक के कथन में पद्माकर का उल्लेख। पद्माकर, राजशेखर के कई सौ वर्ष बाद उत्पन्न हुए थे। इसी तरह कामदेव के पाँच बाणों में फुहारे और खसखाने का उल्लेख, जो मुगलिया विलास के द्योतक हैं। नाटक के दूसरे अंक में विदूषक झूला झूलती स्त्रियों का वर्णन करते हुए पद्माकर और देव के छन्दों का पाठ करता है। कहने का अर्थ यह कि इस अनुवाद में भारतेन्दु ने काफी स्वतन्त्रता का

परिचय दिया है। इससे अनुवाद कहीं-कहीं तो अतिसुन्दर बन गया है, पर कहीं-कहीं बिगड़ भी गया है।

भारतेन्दु ने इस सट्टक का अनुवाद क्यों किया, इस पर विचार करते हुए डॉ० गोपीनाथ तिवारी ने इसके पीछे चार कारण माना है—“1 - हिन्दी में सट्टक का उदाहरण प्रस्तुत करना था। 2 - शृंगार रस से यह ओत-प्रोत है। भारतेन्दु जी की प्रेमी प्रवृत्ति के उपयुक्त नाटक है। फिर हास्य रस भी इसमें पर्याप्त है। 3—यह प्राकृत भाषा में है। संस्कृत के अनेक अनुवाद ब्रजभाषा काल में हो चुके थे और उस समय भी हो रहे थे किन्तु प्राकृत से किसी ने भी अनुवाद नहीं किया था। 4. भारतेन्दु जी को नाटिका नामक रूपक भेद प्रिय था। ‘रत्नावली’ नाटिका का उन्होंने अनुवाद किया। सट्टक भी इस प्रकार की नाटिका ही है। इसीलिए उन्होंने ‘चन्द्रावली’ नाटिका लिखी थी और अपूर्ण ‘प्रेमजोगिनी’ को भी वे नाटिका बनाने जा रहे थे।”[5]

6. दुर्लभ बन्धु—यह शेक्सपियर के प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटक ‘मर्चेन्ट आफ वेनिस’ का भावानुवाद है। यह अनुवाद 1880 ई० में हुआ। 1887 में ‘हरिश्चन्द्र चन्द्रिका’ और ‘मोहन चन्द्रिका’ में इसके कुछ अंश छपने शुरू हुए थे। अनुमान है कि भारतेन्दु ने इसके कुछ अंश का ही अनुवाद किया था। बाद में पं० रामशंकर व्यास और बाबू राधाकृष्णदास ने इसे पूरा किया। डा० रामरतन भटनागर के अनुसार—“इस अनुवाद में बालेश्वर प्रसाद के वेनिस का सौदागर’ और बंगला के ‘सुरलता’ से बड़ी सहायता ली गई थी।”[6]

इस नाटक के अनुवाद में भारतेन्दु ने पर्याप्त मौलिकता का परिचय दिया है। पात्रों, स्थानों आदि के नामों में परिवर्तन तो है ही, संवादों में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिया गया है। इस नाटक में भारतेन्दु ने पात्रों के नामों का हिन्दी करण किया है। जैसे—ऐन्टोनियो का अनन्त, सैलेरियो का सरल, सोलेनियों का सलोने, बैसेनियों का बसंत, लोरैंजों का लवंग, ग्रैशिमनों का गिरीश, शाइलाक का शैलाक्ष, गोवों का गोप, लियोनार्डो का लोरी, पोर्शिया का पुरश्री, नैरिसा का नरश्री तथा जैसिका का नसोदा आदि। स्थानों के नामों का भी हिन्दीकरण किया गया हैं। जैसे—वेनिस का वंशपुर, बैलमेंट का बिल्वमठ तथा मोरैक्को का मोरकुटी आदि। कहीं-कहीं स्थान-नामों का परिवर्तन भी है। जैसे—पैलेटाइन का नेपाल तथा स्काट लैण्ड का अंपदेश आदि।

भारतेन्दु ने अपने इस अनूदित नाटक में भारतीय पुराण-कथाओं तथा मुहावरों का भी काफी प्रयोग किया है। पुरश्री का यह कथन द्रष्टव्य है—“तुम निश्चय जानों कि यदि मुझे मार्कण्डेय की आयु मिले तो भी मैं अम्बालिका की तरह कुंवारी मर जाऊंगी पर अपने पूज्य पिता की इच्छा के विरुद्ध कभी विवाह नहीं करूंगी।”[7]

पर मौलिकता के कारण कहीं-कहीं विसंगतियां भी उत्पन्न हो गई हैं। अनुवाद में अवंत के जहाज भारत के नगर वंशपुर से त्रिपुल, हिन्दुस्तान, मौक्षिक और अंपदेश को

जाते हैं। वंशपुर तो हिन्दुस्तान का ही नगर है। फिर जहाज, हिन्दुस्तान कहा जाएगें। इसी तरह अनेक उद्धरणों तथा नग्मों के अनुवाद भी हास्यास्पद हो गए हैं। भारतेन्दु ने जैनियों के चरित्र को दूषित बताया जो नितान्त गलत है। हो सकता है भारतेन्दु ने इन अंशों का अनुवाद न किया हो। या अनुवाद किया हो तो उसे संशोधित न कर पाए हों।

भारतेन्दु ने इस नाटक को अनुवाद के लिए क्यों चुना ? उसके पीछे कई कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि इसके माध्यम से पाश्चात्य नाट्यशैली का उदाहरण सामने रखना चाहते थे। दूसरे, इसमें मित्रता के उच्च आदर्श का चित्रण किया गया है। संभव है इस आदर्श ने उन्हें प्रभावित किया हो। तीसरे यह अंग्रेजी भाषा का सुप्रसिद्ध नाटक है। भारतेन्दु अंग्रेजी भाषा के भी कुछ नाटकों का अनुवाद करना चाह रहे थे। यह इस दिशा में किया जाने वाला उनका सराहनीय प्रयास कहा जाएगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी विभिन्न भाषाओं के नाटकों के अनुवाद द्वारा हिन्दी नाट्य-साहित्य को समृद्ध करना चाहते थे। दूसरे,इन नाटकों के माध्यम से वे युगीन जन-मानस में नई चेतना का संचार करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने ऐसे नाटकों को अनुवाद के लिए जिनमें किसी न किसी रूप में यह चेतना विद्यमान थी। यदि मूल नाटक में यह चेतना कहीं हल्के रूप में थी तो इसके लिए उन्होंने अनुवाद में अपनी ओर से परिवर्तन किया।

भारतेन्दु जी अविकल अनुवाद के पक्षपाती नहीं थे। इसीलिए उन्होंने अपने अनूदित नाटकों में बहुत से परिवर्तन किए। ये परिवर्तन कहीं तो अच्छे बन पड़े हैं पर कहीं खराब भारतेन्दु की मौलिकता विशेषकर उनके नाट्यगीतों और भाषा में दिखलाई देती है। भारतेन्दु भाषा के प्रति बड़े संवेदनशील है। इसीलिए पात्रों के मुख से उन्होंने तरह-तरह की भाषाओं का प्रयोग करवाया है। यहां तक कि बच्चों की तोतली बोली को भी वे नहीं छोड़ सके हैं। भाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग करना इनकी अपनी अलग विशेषता है। इससे अनुवाद की भाषा में सजीवता आ गई हैं। भारतेन्दु की इस मौलिकता से नाटकों के मूल प्रभाव में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पायी है। बल्कि वे कथा के साथ घुल-मिलकर उसके अंग बन गये हैं।

भारतेन्दु के अधिकांश नाटकों का अनुवाद, सरस, सुन्दर और सफल है। उसमें हमें मूल का सा ही आनन्द मिलता है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु जी एक सफल नाटककार के साथ-साथ कुशल अनूदित नाटककार भी हैं।

संदर्भ

1. 'रत्नावली की भूमिका.
2. 'रत्नावली' की भूमिका.
3. वही.
4. भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन, डा० गोपीनाथ तिवारी, पृ० 113.
5. भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन–डा० गोपीनाथ तिवारी, पृ० 204
6. भारतेन्दु हरिश्चन्द–डा० राम रतन भटनागर, पृ० 101.
7. दुर्लभ बंधु—प्रथम अंक–दूसरा दृश्य.

●

भारतेन्दु की कारयित्री प्रतिभा

मंगला प्रसाद

श्रेष्ठ रचना के लिए साहित्यकार में कारयित्री प्रतिभा का होना आवश्यक है । इस प्रतिभा के अभाव में रचना में भाव-सम्प्रेषण का वह अद्भुत प्रभाव उत्पन्न नहीं होगा जो किसी कृति को कालजयी बनाने में आवश्यक होता है । और यह भी एक सत्य है कि गहन अनुभूति ही से रचनाधर्मिता नवनवोन्मेषयुक्त बनती है जिसके कारण सामान्य और प्रकृत अनुभव विशिष्ट और चमत्कारपूर्ण हो जाता है । इस परिप्रेक्ष्य में जब हम भारतेन्दु की कारयित्री प्रतिभा पर विचार करने बैठते हैं तब हमें उसकी अक्षुण्ण ऊर्जा तथा उसके अनेक आयामों को देखकर आश्चर्य होता है । इसमें सन्देह नहीं कि युग-प्रभाव के कारण हम भारतेन्दु की रचनाओं और उनकी रचनाधर्मिता के महत्त्व को अनदेखा करते जा रहे हैं किन्तु काल के इस तीव्र प्रवाह में भारतेन्दु अब भी समसामयिक रचनाकारों से हमारे लिए कहीं अधिक प्रेरणाप्रद और उपादेय हैं ।

भारतेन्दु के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण उपस्थापनायें हैं जिनको जान लेने पर ही हम उनकी रचनाधर्मिता के प्रति ठीक-ठीक न्याय कर सकेंगे । भारतेन्दु का समय उन्नीसवीं शती का पूर्वार्द्ध है । यह वह सयय है जब हिन्दी जगत में गिनती की कुछ साधारण रचनाओं को छोड़कर साहित्य के नाम पर कुछ नहीं था । साहित्य की तो बात ही दूर रही, भाषा का स्वरूप ही अभी विवादग्रस्त था । उनके समक्ष भाषा के दो आदर्श थे—आगरे के राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृतनिष्ठ भाषा और काशी के शिवप्रसाद सिंह 'सितारे हिन्द' की उर्दू-फारसीयुक्त भाषा । कविता की भाषा—व्रजभाषा—को सामान्य स्वीकृति प्राप्त थी । इन सभी दृष्टियों से जब हम भारतेन्दु के समय पर विचार करते है तब हमें मानना पड़ता है कि भाषा और साहित्य दोनों दृष्टि से यह प्रयोग और प्रवर्त्तन का काल है । इसलिए भारतेन्दु की कारयित्री प्रतिभा के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व हमें यह देखना पड़ेगा कि उनके समय तक हिन्दी भाषा और साहित्य की क्या अवस्था थी । तमाम बातों को देखते हुए भारतेन्दु ही को हिन्दी भाषा और साहित्य का जनक मानना पड़ता है । क्योंकि भाषा और साहित्य का जो स्वरूप भारतेन्दु के पूर्व निर्मित हुआ था वह भारतेन्दु के उदय के साथ ही विलुप्त हो गया । भारतेन्दु ने भाषा और साहित्य को नया कलेवर प्रदान करके उसमें संजीवनी का संचार किया । आज की हिन्दी भाषा और साहित्य में भारतेन्दु द्वारा फूंका गया प्राण ही ऊर्जस्वित् हो रहा है ।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए जब हम भारतेन्दु की कारयित्री प्रतिभा पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें और भी आश्चर्य होता है । ऐसी स्थिति में, जब भाषा का

कोई स्वरूप भी न बन पाया हो, साहित्यिक विधाओं का श्रीगणेश ही न हुआ हो, साहित्य में कैसे-कैसे विषय को चुना जाय इसका भी अनिश्चय हो तथा कठिन राजनैतिक और सांस्कृतिक पराधीनता हो, भारतेन्दु जैसी प्रतिभा का उदय होना कोई दैवी संयोग लगता है। भारतेन्दु के पूर्व काव्य में रीतिकालीन वासना-मण्डित शृंगार की प्रचुरता थी। रीति-मुक्त कवियों में भाव-प्रवण और अमांसल प्रेम का आदर्श भी भारतेन्दु के समक्ष था। इसके अतिरिक्त वैष्णव होने के कारण उनमें भक्ति-भावना का भी संस्कार था। परम्परा से बिलकुल कटकर वे उपहास का पात्र नहीं बनना चाहते थे, साथ ही उस युग में भक्ति-कालीन और रीतिकालीन काव्य-परम्परा उतनी अनुपादेय भी नहीं थी, इसलिए भारतेन्दु ने भक्ति और रीति दोनों के प्रदाय को स्वीकार किया। भारतेन्दु की भक्ति-भावना पहले से चली आ रही परम्परा की अगली कड़ी है। भाव-पेशलता, भाषिक छटा और निश्छल अभिव्यक्ति जो भक्ति का प्राण-तत्व है, की दृष्टि से भारतेन्दु के पद सूर और तुलसी के पदों के टक्कर के हैं। श्रेष्ठ कवि अपने को परम्परा से सिर्फ जोड़ता ही नहीं बल्कि उसमें कुछ श्री-वृद्धि ही करता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु के भक्ति और विनय सम्बन्धी पदों का अपना विशेष महत्त्व है।

भारतेन्दु ने अपने युग की आकांक्षा और आवश्यकता के अनुरूप ऐकान्तिक भक्ति और स्थूल शृंगार के समन्वय रूप 'उज्ज्वल रस' (प्रेम) की प्रतिष्ठा की जो मनुष्य के इहलोक और परलोक के बीच सेतु का काम करता था। प्रेम की आवश्यकता हमारे सामान्य जीवन और अध्यात्म दोनों में है। 'चन्द्रावली' नाटिका का पौराणिक भक्ति-भावना प्रधान पक्ष तो है ही, साथ ही लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ तथा वासना-प्रेम आदि द्वन्द्वों के कारण शतशः विभक्त जीवन-खण्डों को एकीकृत और समरूप बनाने की भारतेन्दु की अन्तर्दृष्टि भी निहित है।

'प्रसाद' ने 'चेतन समुद्र में जीवन लहरों-सा-बिखर पड़ा है' का दार्शनिक समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखा—'समरस थे जड़ या चेतन' घोर अन्तर्मुखता की दशा में स्थूल संसार का स्वप्निल लोक में पर्यवसित होना स्वाभाविक है। भारतेन्दु के भाव-जगत में निहित 'प्रेम' ही वस्तुतः अध्यात्म में भक्ति और व्यवहार में राजनीति, अर्थनीति, समाज सुधार, देश-दशा आदि में प्रसार पाता लक्षित होता है। इस प्रकार भारतेन्दु ने सबसे पहले साहित्य-रचना में प्रत्येक विषय को स्थान देकर उसको संकुचित घेरे से निकालकर विराट् भूमि प्रदान की तथा इस प्रकार भावी रचनाकारों के लिए मार्ग-दर्शक बने। द्विवेदी-युग में उनके द्वारा प्रशस्त विषयों का ग्रहण और वर्णन विस्तार पूर्वक हुआ। छायावाद में शिल्प और भाव के स्तर पर अधिक जटिलता और सूक्ष्मता आ जाने के कारण भारतेन्दु द्वारा प्रशस्त विपुल विषय-सम्पदा प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर नहीं होती लेकिन छायावादी कवियों की रोमानी कल्पना, उदात्त, प्रेम और रहस्यवादी दृष्टि में उसके समन्वित और आदर्शीकृत रूप की झलक अवश्य मिलती है।

यह ध्यातव्य है कि महाकवि की दृष्टि बड़ी व्यापक होती है और अपने परिवेश के यावत् दृश्य जगत् से उसका गहरा तादात्म्य होता है। यही कारण है कि वह जिस विषय को ग्रहण करता है वह उसका अपना-सा लगता है। भारतेन्दु की भक्ति में जितनी एकनिष्ठता और भाव-विह्वलता है देश-दशा पर उससे कम पीड़ा और कराह नहीं है। वे बकरी के विलाप पर भी द्रवित होने वाले हैं। कवि जब व्यक्तिगत 'स्व' से परे होकर समष्टि की भाव-भूमि पर संचरण करने लगता है तब उसकी दृष्टि बड़ी सूक्ष्म और स्वच्छ हो जाती है। यही कारण है कि वह एक ही वस्तु को नाना रंगों और रूपों में देखता है। भारतेन्दु को यह क्षमता प्राप्त थी। यही कारण है कि वे अपनी दृष्टि को इतना विस्तार दे सके और रचना के स्तर पर स्वानुभूति को प्रकृत रूप में रूपायित कर सके।

भारत में आर्ष कवियों की यह परम्परा रही है कि वे कविता में जीवन को उसकी समग्रता में चित्रित करते हैं। प्रबन्धात्मक रचना के पीछे यही एक कारण है। बाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास जैसे कवि इसी सरणि पर चले हैं। महाकवि होते हुए भी भारतेन्दु ने कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं लिखा, महाकाव्य की तो बात ही दूर है। फिर भी, यदि हम उनके सर्जनात्मक और व्यावहारिक कृतित्व का सम्यक् आकलन करें तो हम पायेंगे कि वह एक ऐसा विपुल प्रबन्ध है जिसमें कवि ने अपने युग के समस्त विषयों और समस्याओं का समाहार तथा समाधान कर दिया है, ठीक वैसे ही जैसे कवि-पुंगव बाल्मीकि और व्यास ने अपनी रचनाओं में किया है। आज साहित्य और उसकी आलोचना के मानदण्ड बदल गये हैं इसीलिए हम भारतेन्दु की कारयित्री प्रतिभा को भले ही कम करके आँकें किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं, पचास वर्षों की दीर्घ कालावधि में वे सबसे महत्त्वपूर्ण और उन्नायक कवि-साहित्यकार रहे हैं और वे भारत की आर्ष कवि-परम्परा से जुड़े हुए हैं। भारतेन्दु की कवि-भावना विराट् है जिसे उन्होंने परम्परा से अर्जित किया है। उनका प्रदाय द्विवेदी युग में विकास को प्राप्त हुआ और प्रसाद-युग में उसमें शिल्पगत प्रौढ़ता और वस्तुगत गहराई का आधान हुआ। पर खेद की बात यह है कि छायावाद के बाद से लेकर अब तक वह निरन्तर लुप्तप्राय होता दीखता है जो हिन्दी जगत के लिए बड़े शोक की बात है।

भारतेन्दु की कारयित्री प्रतिभा पर कुछ विचार करने के पूर्व हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि उनका कृतित्व केवल साहित्य तक सीमित नहीं है। कृति का निर्माण सबसे पहले कवि के भाव-जगत् में होता है, लेखबद्ध रचना तो उसी का उपलक्षक होती है। इस दृष्टि से हम सहज ही समझ सकते हैं कि भारतेन्दु ने महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य की रचना क्यों नहीं की। भारतेन्दु का युग, राजनैतिक पराधीनता का युग था और राजनीति के द्वारा ही हमारी शिक्षा, संस्कृति और धर्म प्रभावित थे। शत-शत वर्षों की अनवरत दासता के कारण भारतीय अस्मिता अपनी सांसें गिन रही थी। भारतेन्दु का समय भारत के इतिहास में पुनर्जागरण का काल माना जाता है। बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र तथा अन्यान्य प्रान्तों में भी विलायती

शासन के विरोध और भारत की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा का प्रयत्न हो रहा था। लेकिन विशाल हिन्दी भाषी क्षेत्र जिसके हृत्प्रदेश में भारतेन्दु रहते थे, उस प्रभाव से अछूता था। यह बात उनकी दृष्टि से ओझल नहीं थी क्योंकि वे कोठरी में बन्द होकर कल्पना की दुनिया में सैर करके साहित्य रचना करने वाले नहीं थे, अपितु वे उस समय भी जब आवागमन और संचार की ऐसी सुलभ व्यवस्था नहीं थी, स्वयं के साधनों द्वारा, पर्याप्त कठिनाइयाँ सहकर देश-दशा को जानने में तत्पर रहते थे। भारतेन्दु पुनर्जागरण-आन्दोलन के पुरोधा और सूत्रधार बने। किन्तु उस समय का हिन्दी प्रदेश शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ था। हिन्दी प्रदेश की ओर बंगाल आदि अन्य प्रान्तों की शिक्षा, सामाजिक जीवन और राजनैतिक चेतना में बड़ा अन्तर था। हिन्दी प्रदेश सब प्रकार से सुप्त था और तत्कालीन पुनर्जागरण की चेतना को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं था। साहित्य-सृजन की प्रक्रिया में भारतेन्दु के समक्ष दोहरा कार्य था। उन्हें नव युग के अनुरूप साहित्य के रसास्वाद के समान्तर पृष्ठभूमि का निर्माण करना था और साहित्य का प्रवर्त्तन भी; भाषा की रूप-रचना करनी थी और उसका प्रयोग भी, साहित्य सर्जना करनी थी और उसका प्रकाशन भी। महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य की रचना और जनता द्वारा उसका होने वाला सम्मान इसके बाद ही सम्भव था। माइकेल मधुसुदन दत्त रचित महाकाव्य 'मेघनादवध' की रचना तब सम्भव हुई जब बंगला भाषा में यथोचित प्रौढ़ता आयी और बंगाली समाज सांस्कृतिक धरातल पर पर्याप्त समृद्ध हुआ। इधर हम भारतेन्दु को छोटे-छोटे गीतों, कविताओं, लघुकाय नाटकों और प्रहसनों में व्यस्त पाते हैं। हमें इस बात के लिए सोच कत्तई नहीं करना चाहिए कि भारतेन्दु 'कामायनी' जैसी कृति न दे सके। वे दे सकते थे, पर न तो उस समय वैसा सम्भव था और न ही तत्कालीन जनता के लिए स्वीकार योग्य। समाज का एक अल्प संख्यक वर्ग अंग्रेजी भाषा को महत्त्व दे रहा था तो समान्य शिक्षाप्राप्त लोगों में उर्दू-फारसी के प्रति महत्त्व–बुद्धि थी तथा सरकारी काम-काजों में उसका व्यवहार भी होता था। उधर गाँवों में निवास करने वाली, भारत की प्रतिनिधि असंख्य जनता की भाषा उसकी अपनी बोली थी। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न बोलियां थीं किन्तु सम्पर्क भाषा का सम्मान खड़ी बोली ही को प्राप्त था। भारतेन्दु इस तथ्य से परिचित थे इसलिए उन्होंने अपने गद्य-साहित्य के लिए इसी भाषा को चुना। वे हिन्दी की प्रकृति से भली-भाँति परिचित थे। इसलिए उन्होंने हिन्दी को बहुत स्वच्छ और व्यावहारिक रूप प्रदान किया। वे भाषा के अलंकर्त्ता भी थे। उनके भाषणों, प्रहसनों, लेखों तथा नाटकों के भावप्रवण स्थलों में भाषा के विविध रूप देखे जा सकते हैं।

भारतेन्दु हिन्दी-साहित्य की पृष्ठभूमि के निर्माण हेतु अनेक कार्य किये। इनकी गणना उनके महान् कृतित्व के अन्तर्गत ही की जानी चाहिए। दैवयोग से उनके पास विपुल सम्पत्ति थी जिसका विनियोग उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार में किया। वैष्णव धर्म में व्याप्त भ्रष्टाचार को रोकने तथा राष्ट्र में धार्मिक समन्वय लाने के लिए उन्होंने 'वैष्णवता और भारत वर्ष' नामक निबन्ध लिखा तथा 'तदीय समाज' की

की स्थापना की । इस प्रकार उस समय के प्रबुद्ध लोगों को इस समाज रुपी छत्र के नीचे एकत्र होने के लिए आह्वान किया । इससे बड़े लाभ हुए । भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से आने वाले लोग अपनी बोलियों के बदले सम्पर्क भाषा हिन्दी में बात करते, विचार-विमर्श होता । भाषा का स्वरूप, इस प्रकार प्रायोगिक रूप से बनने लगा । भारतेन्दु ने साहित्य-रचना का भी यहीं श्रीगणेश किया । हिन्दी प्रदेश की समूची जनता का सांस्कृतिक समुन्नयन हो और उसमें साहित्यिक अभिरूचि जगे इसके लिए उन्होंने तत्कालीन संचार-माध्यम पत्रकारिता को अपनाया । उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकाली । इस पत्रिका के माध्यम से सुदूरवर्ती क्षेत्रों में नये-नये कवियों और लेखकों का उदय हुआ । पत्रिका के टाइटिल में अपने नाम का समावेश उन्होंने प्रतिष्ठा के मोह में पड़कर नहीं किया अपितु उनका साहित्यिक व्यक्तित्व इतना विराट् था कि वह अपने में सबको प्रकृत्या समाहित किये हुए था । इसका साक्षी 'भारतेन्दु-मण्डल' है जिसमें कानपुर मथुरा से लेकर कलकत्ता तक के कवि और साहित्यकार एकजुट रहते थे ।

भारतेन्दु ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि थे । वे वैसी ही सरसता और माधुर्य हिन्दी भाषा में भी देखना चाहते थे किन्तु प्रारम्भिक स्थिति में उसका अनगढ़ और रुक्ष होना स्वाभाविक था । यही कारण है कि एक सीमा में हिन्दी उन्हें काव्य-रचना के उपयुक्त न लगी होगी किन्तु हिन्दी में काव्य-रचना की सम्भावना को उन्होंने इन्कार नहीं किया । गद्य की भाषा और शैली के जो उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किये वह आज भी हिन्दी भाषा-भाषियों का आदर्श बना हुआ है । भारतेन्दु को पता था कि श्रेष्ठ साहित्य सृजन ही से काम चलने वाला नहीं है । उन्हें यह भी ज्ञात था कि विद्वत्ता या प्रतिभा के प्रदर्शन हेतु भाषा और शैली को दुरुह बना देने से जनता में उसको आदर नहीं मिल सकता । साथ ही, जनता में ऊँची साहित्यिक अभिरुचि के निर्माण की आवश्यकता भी पड़ती है । इसके लिए साहित्यकार और लोक का परस्पर आदान-प्रदान या संवाद आवश्यक है । भारतेन्दु स्वयं अपनी सीमा में इस प्रकार के कार्य किये । उन्होंने बलिया में व्याख्यान दिया और हिन्दी-प्रचार के लिए जगह-जगह सभायें कीं । साहित्य में सम्पूर्ण समाज प्रतिबिम्बित होता है । उच्च और शिक्षित समाज ही श्रेष्ठ साहित्य को समादर दे सकता है । जिस समाज में स्त्रियाँ पिछड़ी हों वह कभी समुन्नत नहीं हो सकता । तत्कालीन हिन्दी-प्रदेश के स्त्री-समाज के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कम है । भारतेन्दु ने स्त्रियों की शिक्षा तथा उनमें सामाजिक और साहित्यिक चेतना लाने के लिए 'बाला बोधिनी' पत्रिका निकाली जो सम्भवतः सहयोग के अभाव में अल्प काल में समाप्त हो गयी ।

भारतेन्दु इस तथ्य से परिचित थे कि लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य में समतुलन आवश्यक है । लोक-साहित्य अपने विकास के पड़ाव पार करते-करते शिष्ट साहित्य का दर्जा प्राप्त कर लेता है लेकिन शिष्ट साहित्य को अपने विकास और जीवन के लिए पुनः लोकसाहित्य में परावर्तन करना पड़ता है । लोक साहित्य के नष्ट होने से जातीय अस्मिता और संस्कृति का विनाश हो जाता है । भारतेन्दु लोक साहित्य की भूमिका और उसकी प्रखर

उर्वरा-शक्ति से परिचित थे। वे होली, लावनी, कजली आदि लोकगीतों की न केवल रचना करते थे अपितु लोक-मण्डली में बैठकर उन्हें गाते भी थे। इन गीतों को उन्होंने साहित्यिक और सांस्कृतिक परिष्कार दिया तथा इनकी सम्भावनाओं को उजागर किया। लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य दोनों अलग-अलग खेमों में बँटकर अपना स्वत्व न खो दें, भारतेन्दु को इसकी विशेष चिन्ता थी। आज हम देखते हैं कि लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य दोनों अलग-अलग जी रहे हैं इसीलिए उनमें रुग्णता आ गयी है। आज जनता के भीतर से लोक-साहित्य का उठान हो रहा है तो दूसरी ओर शिष्ट साहित्य की वर्गों और वादों के चक्कर में छीछालेदारी हो रही है।

भारतेन्दु ने काव्य-वस्तु और काव्यांगों की उन्मुक्ति की घोषणा करके तथा पुरातन और नवीन सभी प्रकार के छन्दों को ग्रहण करके कविता की भावी विराट् सम्भावनाओं को जन्म दिया जिन्हें हम आज पर्यन्त प्रतिफलित होते देख रहे हैं। उनके समय में कविता प्रबुद्ध लोगों की साहित्य-माध्यम थी और जन सामान्य नाटक के माध्यम से साहित्य का रसास्वादन करता था। भारतेन्दु ने कविता रसिकों और सहृदयों के लिए लिखी और नाटक सामान्य जनता के लिए। नाटक पाठ्य और मंच्य दोनों है। नाटक के माध्यम से भारतेन्दु जनता में जागृति लाना चाहते थे और उसको साहित्य का रसास्वाद भी कराना चाहते थे। इसमें सन्देह नहीं, भारतेन्दु का संकल्प पूर्ण हुआ। उनके नाटक पढ़े गये और अभिनीत भी हुए। भारतेन्दु की कारयित्री प्रतिभा का सर्वाधिक उन्मेष उनके नाटकों में हुआ और हिन्दी भाषा तथा साहित्य के प्रचार-प्रसार में उनके नाटकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्होंने हिन्दी नाट्य-लेखकों का उत्साह बढ़ाने के लिए संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के एक-एक नाटक का अनुवाद भी प्रस्तुत किया। उनकी कहानी 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' तथा उपन्यास 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' उस काल में महत्त्वपूर्ण दिशा-संकेत थे। भारतेन्दु स्वयं में एक युग थे जिसके जीने में हर क्षण पूर्ण और महत्त्वशाली ही हो, ऐसा सम्भव और अनिवार्य नहीं। इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम उनकी रचनात्मक प्रतिभा का मूल्यांकन करें तो हमें प्रतीत होगा कि वे हिन्दी साहित्य-गगन के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं।

◆

भारतेन्दु की प्रेम-रस साधना

जवार्दन उपाध्याय

भारतेन्दु के काव्य में प्रेम रस की उदात्त अभिव्यक्ति है। इनकी प्रेम साधना वैष्णव-प्रेम-रस साधना है। परिणामतः जहाँ भी इन्होंने प्रेम को व्यक्त किया है, वह कर्दम रहित शुद्ध सात्त्विक उज्ज्वल-प्रेम रस है। वास्तव में भारतेन्दु जी पहले पहल प्रेमी-कवि के रूप में सामने आते हैं। इनकी काव्य चेतना में एक तरफ भक्त परम्परा की झंकृति है तो दूसरी तरफ यथार्थवादी स्वर का अनुरंजन। यथार्थ एवं भावना का एक ही व्यक्तित्व में इस प्रकार का मणिकांचन योग कम आश्चर्य की बात नहीं है। भारतेन्दु नये युग धर्म की उपज थे। पर उनमें प्राचीन वैष्णव संस्कार भी आद्य-बिम्ब (Arche Type) रूप में प्रतिष्ठित था। अतः युग धर्म की गति. वैष्णवी संस्कार की अबोधपूर्वा स्मृति एवं नयी युग चेतना के साथ अत्यन्त जागरूक कवि भारतेन्दु के लिए ऐसा ही सम्भव था। नयी संवेदवीयता एवं वैष्णवी प्रेम-रस की अबोधपूर्वा स्मृति का ही प्रतिफल है कि उनकी काव्य-चेतना में भावना एवं यथार्थ सम्पृक्त रूप में रुपायित हैं।

भारतेन्दु पहले प्रेम-कवि है। "प्रेम-सरोवर" की प्रेमपरक पंक्तियाँ इनकी प्रेम संवेदन के विशुद्ध सात्विक रूप को व्यक्त करती हैं। उपनिषद्-कहता है परम प्रेममय रस रूप आत्मा तर्क, वितर्क, विश्लेषण प्रवचनादि से अप्राप्य है, क्योंकि इसे तो इन सबसे परे होकर स्वयं को पूर्ण रूप से समर्पण द्वारा जाना जा सकता है:

नायमात्मा प्रवचेनन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन
यमेवैष बृणुते तेन लभ्य
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूस्वाम् [कठोपनिषद ।23।]

रागात्मक समर्पण अपनी अहमन्यता का विसर्जन है। ठीक उसी प्रकार जैसे नदियाँ नाम, गोत्र आदि का परित्याग कर सागर में जा मिलती हैं। अतः प्रेम ज्ञान, तर्क, विज्ञान से परे है। भारतेन्दु कहते हैं—

"ज्ञान करम सों औरहु उपजत जिय अभिमान
दृढ़ निहचै उपजै नहीं बिना प्रेम पहिचान"[1]

इस प्रसंग में प्रेम-लक्षण का निरूपण करते हुए उन्होंने कहा है : यह काम, क्रोध, मोह से परे शुद्ध सात्त्विक रूप है :—

काम क्रोध भय लोभमद सबन करत लय जौन।
महा मोहहू सों परे प्रेम भाखियत तौन।।[2]

ऐसा शुद्ध सात्विक प्रेम कामना रहित है :—

बिनु गुन जो बन रूप धन बिनु स्वारथ हित जानि
शुद्ध कामना तें रहित प्रेम सकल रस खानि।।[3]

इस प्रेम में "निजेन्द्रिय तृप्ति" की लालसा न होकर "कृष्णेन्द्रिय" तृप्ति की उदात्त भावना है जो हृदय के उल्लास का व्यंजक है। लालसा आंगिक स्तर पर उत्तेजक संवेदन है। इसमें रूप का लीला, विलास, मोहायित, कुहमित विभ्रम, विच्छिति आदि तत्त्व हैं जो स्नायविक झंकार से एक जैविक उत्तेजना देते हैं। यह शामक नहीं, मोहक है। इसमें मन को उद्वेलित कर देने की क्षमता है। आत्मा का उल्लास शोभा, क्रान्ति, दीप्ति, माधुर्य धैर्य, प्रगल्भता और औदार्य से युक्त शामक है। इसका द्रष्टा उफनता नहीं, वह एक शान्त मृदु संस्पर्श का आदि आल्हादात्मक आस्वादन करता है। "कृष्णेन्द्रियतृप्ति" निज कामना रहित परम प्रेम-रस के प्रति सहज उत्कंठा है। भारतेन्दु का हृदय इसी उत्कंठा से स्फुरित है। जीवन में मल्लिका एवं माधवी की प्रणय उदात्तभूमि पर परम-प्रेममय रस का रूप ग्रहण कर व्यक्त होता है।

भारतेन्दु की प्रेम साधना का केन्द्र बिन्दु रागात्मक साधना है। इसमें वासना या राग कृच्छाचार द्वारा दमित, शमित एवं उपेक्षित नहीं है, अपितु उसका शोधन एवं दिव्यीकरण (Sublemation) है। सात्विक एवं निर्मल राग जड़त्व सम्पर्कजन्य गुरूता का परित्यागकर ऊर्ध्व संचरण करता है। उसकी परिणति "रसो वै सः" में होती है। "चैतन्य चरितामृत" में प्रेम और काम का अन्तर स्पष्ट किया गया है :—

काम प्रेम दोहाकार विभिन्न लक्षण।
लौह थार हेम यथा स्वरूप विलक्षण।।
काम और प्रेम हय बहुत अन्तर
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्वर।।[4]

काम जड़ है। उसमें ऊपर जाने की शक्ति नहीं है। प्रेम ऊर्ध्वगामी है। वह प्रकाश स्वरूप है। इसी से जीव गोस्वामी उसे "उज्ज्वल रस"[5] कहते हैं। रूप गोस्वामी इसे "मधुर रस"[6] कहते हैं। सात्विक प्रेम ही सहजिया वैष्णवों के यहाँ 'आह्लादिनी' शक्ति का मूल तत्त्व है। यही प्रेम क्रमशः "स्नेह", 'मान", "प्रणय", "राग", "अनुराग", "भाव", "महाभाव" को प्राप्त करता है। "महाभाव" भी दो श्रेणियों : "मोहनभाव" एवं "मादनाख्य भाव" में विभक्त है। राधा इसी 'मादनाख्य" भाव की परम उपलब्धि हैं:—

"ह्लादिनी सार प्रेम प्रेमसार भाव
भावेर पराकाष्ठा नाम महाभाव"[7]

कर्पूरकृत अलंकार कौस्तुभ "प्रेमरस"[8] की चर्चा करता है जो श्रृंगार रस से भिन्न है। यह उज्ज्वल है। प्रकाशवान है। इसी से उसे उज्ज्वल रस कहा गया है। भारतेन्दु के प्रेम रस में हृदय का कम्पन और आत्म निवेदन है। यह उनके प्रेम को परम प्रेममय बनाता है उसमें डूब जाना प्रेमी का परमलक्ष्य है :—

प्रेम सरोवर की लखी उलटी गति जगमाँहि।
जे डूबे तेई भले तिरे तरे ते नाँहि॥[9]

प्रश्न वासना एवं राग के शोधन एवं दिव्यीकरण का है। क्या आंगिक स्तर पर वासना या राग को परिशोधित कर उदात्त बनाया जा सकता है। ग्रीसियों के यहाँ तो आंगिक स्तर पर सौन्दर्य-संवेदन विरेचन द्वारा पारिशोधित किया जाता है। रूप, रस, गन्ध स्पर्श, शब्द इन्द्रिय द्वारा संवेद्य सौन्दर्य विरेचित होकर शुद्ध सात्विक बन जाता है और वह आत्मा के उल्लास का व्यंजक हो जाता है। इस प्रकार वह अन्ततोगत्वा अतिमा (Transcendence) की भूमि को छू लेता है। समूचा योरोपीय साहित्य इसी प्रकार के सौन्दर्य से सम्पुष्ट है। हाँ-क्रिश्चियन संवेदना में इसे पाप स्वीकृत कर परित्यक्त कर दिया गया है। पर सब जगह आंगिकस्तर पर संवेदित सौन्दर्य प्रणय एक लालसा (सिडकशन) का ही व्यंजक है।

भारतीय वैष्णव रस-दृष्टि इससे भिन्न है। यहाँ सौन्दर्य आत्मा के उल्लास का रूपायन है। इसमें पारस्परिकता है। राधा-माधव का प्रेम परस्पर एवं अन्योन्य है। राधा ही माधव और माधव ही राधा हैं। 'राधा माधव, माधव राधा, सुन्दरी भेलि मधाई।" क्योंकि महाभाव की भूमि में एकात्म बोध का यह उज्ज्वलरूप है "फियड्रिम" में प्लेटो ने कहा है कि सौन्दर्य परम सत्ता का रूपायन है। उसका द्रष्टा ईश्वरीय चेतना से अभिभूत होता है। वह 'डिवाइन' हो जाता है। परन्तु जो सुन्दर है वह स्वयं में उससे अभिभूत नहीं होता। यद्यपि-सौन्दर्य उसी परम सत्ता का बिम्बायन है। फिर भी उसमें द्रष्टा को उत्तेजित करने की ऊर्जा तो है, पर स्वयं में उसका अनुभावन नहीं होता। आशय है पाश्चात्य धारणा में सौन्दर्य संवेदन एकाकी है, एक तरफा है। भारतीय वैष्णव रस साधना में पारस्परिकता है: दृश्य-द्रष्टा, प्रिय-प्रिया, प्रमाता-प्रमेय दोनों एक दूसरे के प्रति समान भाव से आकृष्ट है। आकृष्ट ही नहीं पूर्ण एकात्म भाव में लीन हैं। भारतेन्दु प्रेम रस का इसी स्तर पर अनुभव एवं आस्वादन करते हैं :

पहिले ही जाय मिले गुन में श्रवन फेरि
रूप-सुधा मधि कीनो नैनहू पयान है।
हँसनि, नटनि चितवनि मुसकानि सुघराई
रसिकाई मिलि मति पय पान है ।

मोहि मोहि मोहन-मई री मन मेरो भयो,
"हरीचन्द" भेद ना परत कछु जान है।
कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्ह मय
हिय में न जानो परै कान्ह है कि प्रान है।'[10]

भारतेन्दु के प्रेम का दो स्तर है : प्रथम स्तर वह लौकिक भूमि को स्पर्श करता है, दूसरा धरातल अलौकिक है, जहाँ परम प्रेम मय रस की प्रतीति है। इसमें सब एकात्म भाव से प्रतिष्ठित हैं क्योंकि भारतेन्दु की समन्वयवादी दृष्टि प्रेम को केन्द्र मानकर तर्क एवं शास्त्रोक्तियों की निस्सारता सिद्ध करती है,

पियारो पैये केवल प्रेम में
नहिं ज्ञान मैं नहिं ध्यान मैं नाहिं करम कुछ नेम मैं ।[11]

× × ×

हरीचन्द वह बाध्यो डोलत एक प्रीति की डोर में ।।

लौकिक स्तर पर निवेदित प्रेम-रीति में लोक निंदा और चुगली का विशेष ध्यान रखा गया है। सम्भवतः यह इन्हें मतिराम से मिला है। इस प्रेम रीति में दूसरा फैक्टर विरह का है। विप्रलम्भ की विविध अवस्थाओं में प्रिय-प्रिया के भावों का उत्थान-पतन अपनी पूरी गहराई से व्यक्त है। विप्रलम्भावस्था में प्रिया-प्रिय को उपालम्भ देती है। पर इसमें न तो कर्कशता है, न रूखापन। यह मृदु हैं। घनानन्द की भाँति समर्पण से सराबोर है :

नेह लगाय लुभाय लई पहिले वृज की सब ही सुकुमारियां
वेनु बजाय बुलाय रमाय हँसाय खिलाय करी मनुहारियाँ
सो 'हरिचन्द' जुदा ह्वै बसे बधि कै छल सौं वृज बाल विचारियाँ
वाह जू प्रेम निबाह्यो भले बलिहारियाँ लालन वे बलिहारियाँ[12]

उपालम्भ में प्रिय को कोसना भी नहीं आता। क्योंकि वे तो पूर्ण समर्पित हैं कृष्ण चरणों में। दोष कृष्ण का नहीं, अपितु उनकी ही स्वयं की गलती उनके माथे पड़ गई है :

जानी कै मोहन के निरमोहहिं नाहक बैर बिसाहि बरे परी
त्यौं 'हरिचन्द' बिगारि कै लोक सों बेद की लीक भलै निदेरपरी
आपुनि ही करनी को मिल्यो फल तासौं सबै सहते ही सरे परी
यामैं न और को दोष कछू सखि चूक हमारी हमारे गरे परी ।[13]

विरह निवेदन में घनानन्द की भाँति मार्मिकता है, पर उन जैसी लाक्षणिकता और गहराई (Intensty) नहीं है।

"प्रेम प्रसंग" कलंक की बात कई बार दुहराई गई है। इसका उपक्रम दो प्रकार से है, एक सफल प्रेम में, असफल प्रेम में, एक संयोग में, एक वियोग में। एक ओर नायिका लोकलाज छोड़ कलंक को बिना ध्यान दिये केवल नायक के प्रेम परिणाम में ही सुखी है—

मिलि गाँव के नाँव धरो सबही चहुँधा लखि चोगुनो चाव करो
सब भाँति हमें बदनाम करो कढ़ि कोटिन कोटि कुदाँव करो।
'हरिचन्द' जू जीवन को फल पाय चुकी अब लाख उपाव करो
हम सोवत हैं पिय अंक निसंक चवाइ नै आओ चवाव करो[14]

दूसरी ओर विरह में प्रेम के अभाव या प्रिय के जरा कम ध्यान देने पर कलंक आदि को व्यर्थ में एक बोझ मानकर दुखी है। इन दोनों प्रकार के भावों की बार-बार पुनरुक्ति है। हरिचन्द ने अपने 'प्रेम-तरग' में दो ही प्रकार के चित्रों को प्रमुखता दी है, सम्भोग चित्र, वियोग चित्र। दोनों प्रकार के चित्र लोक साहित्य शैली में गठित होने के कारण कही-कहीं अत्यन्त बाजारू हो गये हैं :

'का करौं गोइयाँ अरूझि गई अखियाँ
कैसे छिपाऊँ छिपत नहीं सजनी छैला मदमाती भई मधु मखियाँ
साँवरो रूप देख पर बस भई इन कुल लाज तनिक नहीं रखियाँ
'हरीचन्द' बदनाम भई मैं तो ताना मारत सब संग की सखियाँ[15]

बजारू-प्रेम-गन्ध के कारण उसमें रागानुगाभक्ति की सी सरसता, तड़प, निरावलंबता और मर्मस्पर्शी उद्गारों का अभाव है। वस्तुतः यह राधा कृष्ण की प्रेम भावना का बाजारू रूप है। इसके होते हुये भी गुणात्मक दृष्टि से प्रेम का उज्ज्वल स्वरूप ही महत्वपूर्ण है। वह वैष्णवी संस्कार लिए हुए है। उसमें तुलसीदल की पवित्रता, स्फटिक की धवलता, और गंगाजल का अमृतत्व है। इसका आलम्बन रूप 'मोहन' न होकर 'मदन मोहन' है जिसमें न मद है, न मोह है। भारतेन्दु के इस प्रेम सरोवर में जो डूबा सो डूबा, जो बाहर रह गया, वह सहृदय नहीं है। परम-प्रेम-अनुभव का उज्ज्वल रस रूप में रूपायन उनकी वैष्णव प्रेम रस साधना का मूल स्वर है।

संदर्भ

1. भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० 105, प्रेम सरोवर 29.
2. वही प्रेम सरोवर 32.
3. वही प्रेम सरोवर 33.

4. चैतन्य चरितामृत.
5. प्रीति संदर्भ : अनुच्छेद 58.
6. भक्तिरसामृत सिन्धु 2-5-115.
7. चैतन्य चरितामृत.
8. अलंकार कौस्तुभ.
9. भारतेन्दु ग्रंथावली भाग 2 पृ० 104 प्रेम सरोवर : 12.
10. भारतेन्दु ग्रंथावली भाग 2 पृ० 146, प्रेम माधुरी 3.
11. वही पृ० 136 जैन कुतूहल 13.
12. भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग 2, पृ० 151, प्रेम माधुरी 28.
13. वही पृ० 151 प्रेम माधुरी 27.
14. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग 2 पृ० 151, प्रेममाधुरी 24.
15. वही पृ० 183 प्रेम तरंग 17.

* * *

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाषा-चेतना और उसकी सार्थकता

श्री निवास पाण्डेय

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा चेतना का युगान्तकारी महत्व है। उन्होंने 'निज-भाषा' के रूप में खड़ीबोली हिन्दी को मान्यता प्रदान कर, युगानुरूप विकसित नयी भाषा संवेदना के प्रति अपनी गहरी जागरुकता का परिचय दिया। उन्होंने समय-समय पर अपने लेखों, वक्तव्यों और कविताओं द्वारा इस नवीन भाषा के साहित्यिक प्रयोग के प्रति गहरी रुचि दिखायी और अन्य साहित्यकारों को भी इसे अपनाने की प्रेरणा दी। यद्यपि वे ब्रजभाषा के रससिद्ध कवि, कुशल प्रयोगकर्ता, महान गद्यकार व प्रकाण्ड पण्डित थे परन्तु उनका ब्रजभाषा ज्ञान उनकी भाषा विषयक नवीन चेतना के विकास में बाधक नहीं सिद्ध हुआ। उनका बराबर यह प्रयास रहा कि कैसे ब्रजभाषा का सम्पूर्ण लालित्य व व काव्यात्मक संवेदना को खड़ीबोली में ढाला जाय? इसके लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। गद्य के क्षेत्र में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली, परन्तु कविता के क्षेत्र उनके द्वारा किये गये प्रयोग आरम्भिक प्रयास मात्र हैं। उन्होंने 1881 ई० में 'दशरथ विलाप' जैसी चर्चित कविता का सृजन किया था और 'भारत मित्र' को लिखे गये पत्र में स्पष्ट स्वीकार किया कि नयी काव्यभाषा की परती जमीन को तोड़कर काव्य सृजन करना पर्याप्त श्रम-साध्य है, फिर भी वे परिश्रम से कभी विमुख नहीं हुए और आगे भी खड़ी बोली में कविता लिखते रहे। उनकी अन्तिम कविता 'डंका कूच का बज रहा मुसाफिर' भी खड़ी बोली में है। सर्वप्रथम 1872 ई० में ही उन्होंने खड़ी बोली में लावनियां का पहला संग्रह प्रकाशित किया था।

'निज भाषा' से उनका अभिप्राय खड़ी बोली से है, जिसे आज हम मानक या परिनिष्ठित हिन्दी कहते हैं। उनकी मान्यता थी कि निज भाषा की उन्नति केवल भाषा की उन्नति नहीं है, अपितु उसमें सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्थान का भाव छिपा है। उनके अनुसार भाषा चेतना का अटूट सम्बन्ध सम्पूर्ण भारतीय अस्मिता से जुड़ा है। राष्ट्र की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत व विशिष्ट पहचान अपनी भाषा द्वारा ही सम्भव है। इसलिये जहाँ कहीं अपनी भाषा की अवहेलना या उपेक्षा दिखायी पड़ती वे तिलमिला उठते और लोगों को उसके विकास के लिए सुप्रेरित करते थे। वे देश की सर्वांगीण प्रगति के मूल आधार को विकसित करने के लिए सम्पूर्ण देशवासियों का इन शब्दों में आवाहन करते हैं—

"करहु विलम्ब न भ्रात अब उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जो सबको मूल॥"

उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया कि सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन व विदेशी भाषा की दक्षता सब व्यर्थ है, यदि हमें अपनी भाषा का ज्ञान नहीं है। अपनी भाषा की सम्यक् जानकारी रखने के साथ-साथ यदि अन्य विद्याओं का अध्ययन किया जाय तो वह उन्हें स्वीकार्य था। निज भाषा की अवनति व उसके प्रति बढ़ती घोर उपेक्षा के भाव से तिलमिला उठते थे। इस प्रकार की छटपटाहट व आन्तरिक व्यथा उनके निम्न कथन में द्रष्टव्य है—

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति का मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल।।"

वे कविता के अतिरिक्त तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में लेख लिखकर भी लोगों का ध्यान इस तरफ आकृष्ट करते थे। इस दृष्टि से 26 फरवरी 1874 ई० के 'कवि वचन सुधा' में लिखे गये उनके लेख की निम्नलिखित पंक्तियाँ उल्लेखनीय है—"इन्होंने हमारे धन धान्य की वृद्धि में कोई उपाय नहीं किया और केवल अपनी भाषा सिखाया।"

ब्रिटिश सरकार द्वारा अंग्रेजी भाषा के प्रचार-प्रसार के पीछे उनका क्या उद्देश्य था? इससे 'निज भाषा' के विकास में कितनी बाधाएँ उत्पन्न होगी? दिनों-दिन अंगरेजी भाषा के बढ़ते प्रभाव से राष्ट्रीय अस्मिता व भारतीय संस्कृति की किस सीमा तक क्षति होगी? और किस सीमा तक देशवासियों में आत्महीनता का सन्निवेश होगा। जैसे अनेक प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए बाबू भारतेन्दु बराबर चिन्तित रहा करते थे। वे उसके भयावह व दूरगामी दुष्परिणामों को अच्छी तरह समझते थे। वे भलीभाँति समझते थे कि मौलिक चिन्तन व सूक्ष्म अन्वेषण के लिए लोगों को अपनी ही भाषा में शिक्षा देना उचित होता है। विदेशी भाषा के माध्यम से अनुवादक या क्लर्क तो पैदा हो सकते हैं परन्तु मौलिक विचारक या उच्चकोटि के चिन्तक नहीं उत्पन्न हो सकते—

"पढ़ो लिखो कोउ लाख विध भाषा बहुत प्रकार।
पै जब ही कछु सोचियो निज भाषा अनुसार।।"

अंग्रेजी प्रधान पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का एकमात्र उद्देश्य था ब्रिटिश कार्यालयों में भारतीयों को दुभाषिये या क्लर्क के रूप में भर्ती करना ताकि वे अपनी शासन व्यवस्था सुचारू रूप से चला सकें।[1] ब्रिटिश कार्यालयों में स्थान सीमित होने के कारण उस जमाने में भी भारत में शिक्षित बेरोजगारों की विकट समस्या थी। तत्कालीन समय के गिने-चुने पढ़े-लिखे भारतीयों की इस दयनीय स्थिति व करुण अवस्था का चित्रण उनकी मुकरियों में मिलता है—

"तीन बुलावे तेरह आवें, निज निज विपदा रोइ सुनावें
आँखों फूटे भरा न पेट, क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट।।"

मैकाले की शिक्षा नीति और अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा व्यवस्था का दुष्परिणाम इतना प्रभावशाली रहा है कि आज के भी शिक्षित बेरोजगार, जीवन के व्यावहारिक सन्दर्भों से कटकर मात्र नौकरी जीवी ही बनकर रह गये हैं। उनकी परवशता, विवशता व दयनीय स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण चौधरी प्रेमघन जी ने किया है जो आज भी प्रासंगिक प्रतीत होता है—

"ढूंढत फिरत नौकरी जो नहिं कोउ विधि पावत।
खेती हू करि सकत न दुख सों जन्म बितावत॥
चलै कुदारी तिहि कर किमि जो कलम चलायो।
उठै बसूला, घन तिनि सों किमि जिन पढ़ि पायो॥"

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अंग्रेजी का विरोध केवल भावानात्मक धरातल पर ही नहीं किया अपितु ठोस भाषा वैज्ञानिक कारणों के आधार पर भी किया। रोमन लिपि की अवैज्ञानिकता आज सर्वविदित है. परन्तु उस जमाने में इसकी सूक्ष्म पहचान करना असाधारण प्रतिभा द्वारा ही सम्भव था। देव नागरी लिपि की वैज्ञानिकता को बहुत पहले ही भारतेन्दु ने पहचाना था और इस आधार पर भी उन्होंने हिन्दी की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर लोगों का इसे अपनाने का सुझाव दिया था। कालान्तर में हम देखते हैं कि विश्व प्रसिद्ध भाषाविदों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि लिपि के निर्माण के समय देवनागरी लिपि के वैज्ञानिक श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। भारतेन्दु ने अंग्रेजी भाषा व रोमनलिपि की असंगतियों के प्रति लोगों का ध्यान इन शब्दों में आकृष्ट किया—

"सब्द बहुत परदेश के उच्चारनहु न ठीक।
लिखत कछू पढ़ि जात कछु सब विधि परम अलीक॥"

पर वे अंग्रेजी के प्रति अंग्रेजों का जो अगाध व अटूट प्रेम था उससे भारतीयों को सीख लेने की सलाह देते हैं कि अपनी भाषा के प्रति गहरे लगाव व सम्मान के भाव के कारण ही अंग्रेज आज सबके सिरमौर बने हैं—

"पै निज भाषा जानि तेहि तजत नहीं अंगरेज।
दिन दिन याही को करत उन्नति वै अति तेज॥"

उन्होंने अंग्रेजों की गुण ग्राहक शक्ति व उदार दृष्टि की प्रशंसा की है। संकीर्ण बुद्धि से ऊपर उठकर बाबू भारतेन्दु ने अंग्रेजों के सद्‌गुणों को खुले दिल से तारीफ की है और साथ ही उनके अनुकरण का भी सन्देश दिया है, जैसे—

"जहाँ जौन को गुन लख्यो लियो जहाँ सो तौन।
ताहीं सों अंगरेज अब सब विद्या के भौन॥"

इसलिये वे निज भाषा के हितैषियों को सलाह देते हैं कि आप भी अंग्रेजों के इन गुणों का अनुसरण करें —

"विविध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देशन से लै करहु भाषा माँहि प्रचार॥"

विविध प्रकार के कला-कौशल व ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित विदेशी भाषाओं के पुस्तकों को किस रूप में अपनी भाषा में ढाला जाय? इस प्रश्न का भी वे उचित समाधान प्रस्तुत करते हुए बताते है कि उन ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन करके उन्हें अच्छी तरह पचाकर उनके सार तत्वों के आधार पर स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी जाँय। इससे अपनी भाषा की प्रकृति के अनुरूप ढले तथ्यों को पाठक सहज ढंग से ग्रहण कर सकता है —

"सबको सार निकाल कै पुस्तक रचहु बनाइ।
छोटी बड़ी अनेक विधि विविध विषय की लाइ।"

स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में स्थापित विभिन्न ग्रंथ अकादमियाँ भारतेन्दु जी के इस निर्देश को ध्यान में रखती तो विदेशी ग्रंथों के जटिल व कृत्रिम अनुवाद के चक्कर में नहीं फँसती।

विविध प्रकार के ज्ञान विज्ञान के अध्ययन के लिए भारतेन्दु जी अनेक भाषाओं के अध्ययन का सुझाव देते हैं। वे संकीर्ण बुद्धि से ग्रसित नहीं होते। व्यक्ति के ज्ञान विस्तार हेतु वे विश्व की किसी भी भाषा को सीखने की सलाह देते हैं ताकि उसके अध्ययन द्वारा अपनी भाषा भी समृद्ध हो सके—

"अंगरेजी अरू फारसी अरबी संस्कृत ढेर
खुले खजाने तिनहिं क्यौं लूटत लावहु देर॥"

सभी भाषाओं के प्रति आदर भाव रखते हुए भी भारतेन्दु ने सम्पर्क भाषा की अनिवार्यता पर बल दिया है। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के लिए देश-विदेश की अनेक भाषाओं के अध्ययन का सुझाव दिया परन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र की भावात्मक एकता के लिए एक ही भाषा की आवश्यकता पर जोर दिया है। उन्होंने सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता व अखण्डता की सुरक्षा के लिए एक राष्ट्र भाषा को अनिवार्य माना है। उनका कथन आज भी कितना सार्थक है कि एक सम्पर्क भाषा (राष्ट्र भाषा) के अभाव में राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को ही खतरा उत्पन्न हो गया है। भाषावाद प्रान्तों के बँटवारे व क्षेत्रीयता की दिनो दिन बढ़ती भावनाएँ सारे राष्ट्र की एकता को खण्ड-खण्ड करने पर तुली हैं। भाषा के प्रति बिखरी मनोवृत्ति व अपनी-अपनी भाषा के प्रति अति आग्रही दृष्टिकोण के कारण राष्ट्र भाषा

का व्यापक रूप बिखर रहा है। इस सत्य की पहचान आज के लगभग 110 वर्ष पूर्व (संवत् 1934 वि० यानि 1877 ई०) ही बाबू भारतेन्दु ने किया था—

"भारत में सब भिन्न अति ताहीं सों उत्पात।
विविध देस मतहू विविध भाषा विविध लखात॥"

इसलिए उन्होंने उसी समय सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता व अखण्डता को सुरक्षित रखने के लिए एक राष्ट्र भाषा व एक मत रहने की सलाह दी थी—

"इक भाषा, इक जीव इक मति सब घर के लोग।
तबै बनत है सबन सों मिटत मूढ़ता सोग॥"

बड़े खेद की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के इतने दिनों बाद भी अपने युगद्रष्टा महान साहित्यकार के कथन को पूर्णरूपेण चरितार्थ न कर सके।

भारतेन्दु बाबू ने आत्महीनता से बचने के लिए भी निज भाषा के सम्यक् ज्ञान की वकालत की है। उनके अनुसार देश-विदेश की अनेक भाषाओं का अच्छा से अच्छा ज्ञाता भी आत्मविश्वास व आत्मसम्मान पूर्ण ढग से न तो अपना जीवन ही व्यतीत कर सकता है और न अपनी बात ही सम्यक् रूपेण कह पायेगा। इसके लिए उसे अपनी भाषा के प्रति गहरी रुचि व अगाध प्रेम और अच्छा ज्ञान रखना पड़ेगा। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आज हमारे देश में ऐसे लोगों की संख्या पर्याप्त मात्रा में है जो अंग्रेजी तो धारा प्रवाह बोल सकते हैं, परन्तु राष्ट्रभाषा में शुद्ध-शुद्ध दो चार वाक्य भी नहीं बोल सकते। ऐसे लोगों के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य के युगनिर्माता आदि पुरुष बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का निम्न कथन बड़ा ही उपयोगी व लाभप्रद सिद्ध होगा—

"अंगरेजी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन॥"

समग्रतः भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा चेतना अत्यन्त प्रखर व युगानुरूप थी। उन्होंने बहुत पहले ही नवीन काव्य संवेदना की वाहक व जन जीवन में घुली मिली भाषा खड़ी बोली की शक्ति व सामर्थ्य को पहचाना और उसे सम्पूर्ण राष्ट्र की अस्मिता का प्रतीक माना। इसलिये हिन्दी की अवनति व उपेक्षा को वे सम्पूर्ण राष्ट्र का अपमान समझते थे। उनके अनुसार सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रेम व एकता का सूत्र स्थापित करने में हिन्दी भाषा पर्याप्त सक्षम है। बहुत पहले ही उन्होंने अंग्रेजी भाषा के विष से बचने की सलाह दी थी परन्तु दुर्भाग्य से हम दिनों दिन इसके प्रबल आकर्षण व आत्मघाती मोह में फँसते जा रहे हैं और अपनी राष्ट्र वाणी की दिनों दिन उपेक्षा करते जा रहे हैं। अभी भी सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पायी है। हमें

हिन्दी को सम्पूर्ण विश्व में अन्तराष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करना चाहिए। इस आशय का सन्देश बहुत पहले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इन शब्दों में दिया है—

"प्रचलित करहु जहान में निज भाषा करि जन।
राज काज दरबार में फैलावहु यह रत्न ॥"

देखना है कि भारतेन्दु बाबू का यह सपना कब पूर्वरूपेण साकार होता है।

संदर्भ

1. लार्ड मैकाले की शिक्षा नीति अंग्रेजों के हितों को ध्यान में ही रखकर निर्मित हुई थी—"We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern, a class of persous Indian in blood and colour but English in tests opinions morals and intellect."

—D. P. Mukherji; Modern Indian culture, P. 109.

भारतेन्दु में जनवादी प्रवृत्तियां

राजीव सिंह

भारतेन्दु को प्रगतिशील या जनवादी कहना शायद प्रतिक्रियावादियों के गले के नीचे न उतरे। ऐसे में इन लोगों को आज के जनवाद और कल के भारतेन्दु को एक साथ रखकर सूर्य ढूंढ़ना होगा। यूं प्रगतिशीलता या जनवाद का सीधा अर्थ है रूढ़िवादी परम्पराओं को ध्वस्त कर नयी स्वस्थ्य परम्परा कायम करना जिसमें आम आदमी का हित निहित हो। भारतेन्दु ने भी यही किया।

भारतेन्दु ने जिस संस्कृति का निर्माण किया, वह जनवादी थी। उन्होंने धर्म, संस्कृति, साहित्य, शिष्टाचार पर पुरोहितों मौलवियों का इजारा तोड़ने के उपाय बताये। विधवा विवाह का समर्थन किया, बाल-विवाह का विरोध किया। कुलीनता, जातिप्रथा, छुआछूत आदि का जोरदार खण्डन किया, लोगों की धार्मिक अन्धविश्वासों की कड़ी आलोचना की और स्त्री शिक्षा पर खासतौर से जोर दिया। इस जनवादी संस्कृति के तत्व भारतेन्दु को अपने देश से मिले थे, वे उनके अपने चिन्तन के परिणाम थे।[1]

कट्टर मार्क्सवादियों की धारणा है कि लेखक या विचारक अपने वर्ग-चरित्र को तोड़ नहीं पाता। यानि अपने को 'डि-क्लास' करने में असफल होता है। इसी आधार पर बायीं पटरी पर चलने वाले आलोचकों का कहना है कि भारतेन्दु अपने आपको उच्च कुल से पूरी तरह कभी भी अलग नहीं कर पाये। लेकिन ये लोग यह भूल जाते हैं कि कार्ल मार्क्स खुद एक उच्च-मध्य-वर्ग में पैदा हुआ था। आलोचकों का मानना है कि भारतेन्दु में व्यापक अन्तर्विरोध है जो इस बात को साबित करता है कि वे चाहकर भी अपने वर्ग-चरित्र को तोड़ नहीं पाये।

परम्परा तोड़ना और नया रास्ता अख्तियार करना आसान बात नहीं है। भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य की रीतिबद्ध तथा देश की पुरानी परम्पराओं को तोड़ा तथा जनता से भी तोड़ने की अपील की। परम्परा तोड़ने का खामियाजा भी भारतेन्दु को भोगना पड़ा। भारतेन्दु का विरोध दो स्तरों पर हुआ—एक तो अंग्रेजी हुकूमत के स्तर पर दूसरा प्रगति विरोधी सामन्ती तत्वों के स्तर पर। भारतेन्दु ने दोनों का मुकाबला किया। सोना और युग-पुरुष दोनों ही तपकर खरे होते हैं। आधुनिक युग की इमारत की बुनियाद का पहला पत्थर रखने के लिए भारतेन्दु को काफी कुछ झेलना पड़ा। शायद इसी संघर्ष से चिढ़कर उन्होंने लिखा था—'सीधेन सो सीधे महाबांके हम बांके न सों……।

भारतेन्दु की पहुंच हिन्दी साहित्य तथा इसके करीब से गुजरने वाली लोक में व्याप्त तमाम विधाओं की ओर गयी। वे इस बात से पूरी तरह वाकिफ थे कि जन-सामान्य तक अपने विचारों को पहुंचाने का सर्वाधिक सशक्त तरीका कौन सा है। साहित्य, समाज, देश-सेवा को दृष्टि में रखकर भारतेन्दु ने बनारस से कई पत्र और पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ किया। पत्र-पत्रिकाओं के हथियार से भारतेन्दु ने अंग्रेजी हुकूमत हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराइयों, पण्डित-मुल्लाओं, राजे-रजवाड़े, सामन्तों-जमींदारों पर प्रहार किया तो दूसरी ओर आम जनता को उसके अधिकारों, कर्तव्यों का एहसास कराया।

ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप उत्पन्न नये सामाजिक-आर्थिक लक्षणों के मूल में औपनिवेशिक शोषण और लूट थी, इसलिए बड़े पैमाने पर भुखमरी शुरू हुई। उन्नीसवीं सदी में पड़े अकालों में करीब तीन करोड़ लोग मौत के मुंह में चले गये। इनमें भी पचास लाख लोग सन् 1850–1875 के बीच और डेढ़ करोड़ लोग 1875–1900 के बीच मारे गये। सन् 1880 में अंग्रेज सरकार द्वारा गठित अकाल–कमीशन ने भी अपनी रिपोर्ट में कहा—"भारत के लोगों की गरीबी और अन्न-सकट के समय उनको जिन खतरों का सामना करना पड़ता है, उनकी जड़ में सबसे बड़ी बात यह शोचनीय परिस्थिति है कि आबादी के अधिकांश भाग का एकमात्र व्यवसाय खेती है और मौजूदा बुराइयों को दूर करने के लिए ऐसा कोई भी उपाय पूरी तरह कारगर नहीं हो सकता, जिसमें लोगों के लिए तरह–तरह के बहुत से धन्धे जारी करना शामिल न हो (रजनी पामदत्त की पुस्तक 'आज का भारत' में उद्धृत) लेकिन किसानों की हालत सुधारने के लिए कोई उपाय कभी नहीं किया गया। इसी परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए सन् 1953 में कार्ल मार्क्स ने लिखा था कि ब्रिटिश राज में भारतीयों का पुराना सब कुछ नष्ट हो गया और उन्हें नया कुछ नहीं मिला, यही उनकी पीड़ा का मुख्य कारण है। ब्रिटिश सरकार द्वारा ढाये गये इस भयानक जुल्म में ही वह भौतिक परिस्थिति उत्पन्न कर दी, जिसने जनता को स्वाधीनता संग्राम के लिए धीरे-धीरे तैयार कर दिया। इस तैयारी के पीछे राष्ट्रीयता की भावना थी। ध्यान देने की बात है कि भारत में राष्ट्रीय चेतना का विकास साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष से हुआ। इस राष्ट्रीयता के कई पहलू थे। जैसे–भारत के आत्म गोरव की पुनः स्थापना, आधुनिक विज्ञान और उद्योग से सम्पन्न भारत का निर्माण, सामाजिक एवं सास्कृतिक रूप से दुनिया के दूसरे राष्ट्रों के मुकाबले में आना और देश को ब्रिटिश अधीनता से मुक्त कर स्वाधीन राष्ट्र की स्थापना करना।"[2]

देश भक्ति ओर राष्ट्रीय चेतना के उद्भव और विकास में भारतेन्दु के पत्रिकाओं, निबन्धों, लेखों, नाटकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे भारत के शोषण को भारतेन्दु अच्छी तरह समझ और देख रहे थे। 'भारत–दुर्दशा' में उन्होंने अंग्रेजों के जुल्म और अन्याय के पाटों में पिसती भारतीय जनता की मनः स्थिति और परिस्थितियों को बखूबी दर्शाया है।

भारत दुर्दैव कहता है—

मरी बुलाऊं देस उजाड़ूं, महंगा करके अन्न
सबके ऊपर टिकस लगाऊं, धन है मुझको धन्न,
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।

अंग्रेजों द्वारा देश को उजाड़ना, अनाज महंगा करना, टैक्स लगाने को बताकर भारतेन्दु ने अंग्रेजी राज्य की नेकनीयती का पर्दाफाश किया। अंग्रेजी राज्य के आतंक का एक नमूना—

'कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जलबल वासी।
जिन भय सिर न हिलाई सकत कहुं भारत वासी॥

'बादशाह-दर्पण' की भूमिका में भारतेन्दु ने मुसलमानों के राज्य से अंग्रेजी राज्य की तुलना करते हुए पहले को 'हैजे' का रोग कहा है और दूसरे को 'क्षय' का।

भारतेन्दु को अंग्रेजी हुकूमत का विरोध करने में उतनी परेशानी नहीं उठानी पड़ी जितनी परेशानी हिन्दू समाज की रूढ़ियों और सड़ी-गली परम्पराओं के खिलाफ आवाम उठाने पर हुई।

भारतेन्दु पण्डितों-पुरोहितों, मुल्लाओं के कठमुल्लापन और धर्मान्धता के सख्त खिलाफ थे। पैसा लेकर जाति को बेचने वाले ब्राह्मणों की भी भारतेन्दु ने खूब खिचाई की है। वे जातिगत ऊंच-नीच, भेद-भाव को सामाजिक विकास की गति में बाधक मानते थे। भारत-दुर्दशा में इसका उल्लेख है—

'जाति अनेकन की नीच ऊंच-ऊंच बनायो।
खानपान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो॥
जन्म पत्र विधि मिले व्याह नहि होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीति-बल नास कियो सब॥
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्यो।
विधवा-ब्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचार्यो।
रोकि बिलायत गमन कूप मंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाई प्रचार घटायो॥

इन पंक्तियों से साफ स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु पण्डितों की संस्कृति के विरोधी थे। भारतेन्दु को उनकी धर्म-व्यवस्था स्वीकार नहीं थी जिसके चलते पण्डितों ने उन्हें किस्तान की उपाधि दी।

भाषा और बोली के प्रति सचेत भारतेन्दु को इस बात का पूरा एहसास था कि जनता तक जनसाधारण की भाषा में ही सन्देश पहुंचाया जा सकता है। भारतेन्दु ने उसी लोक भाषा का प्रयोग किया जिसे पण्डित मौलवी हिकारत की दृष्टि से देखते थे। धर्म और संस्कृति पर पण्डितों के खौफ का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है:—

सोप्यो ब्राह्मण को धरम तेई जानत वेद।
तासों निज मन को लह्यो कोऊ कबहुं न भेद।।

जन-भाषा में धर्म ग्रन्थों के न होने के कारण ब्राह्मणों को ग्रन्थ-ज्ञान का गर्व था जिसका भारतेन्दु ने जमकर विरोध किया। पण्डितों की लिहाड़ी लेते हुए उन्होंने लिखा है—

पढ़ें संस्कृत जतन की पण्डित में विख्यात।
पै निज भाषा ज्ञान विन कहि न सकत एक बात।।

कबीर की तरह भारतेन्दु ने भी तमाम भाषाओं से जिन्दा शब्दों को चुना है। लेकिन उनकी भाषा की रीढ़ तद्भव शब्द है। भारतेन्दु ने व्यंग्य मारक क्षमता को बढ़ाने के लिए प्रचलित गालियों का भी प्रयोग किया है जिसे सुनकर अभिजात वर्ग बिदक जाता है। जैसे—चूतिया, रंडी आदि।

'तदीय समाज' में लिखा है—"हम आर्य लोगों में धर्म तत्व के मूल ग्रन्थों का भाषा में प्रचार नहीं; यही कारण है कि भिन्नता स्थान-स्थान पर फैली हुई है। अनेक कोटि देवी-देवताओं का महात्स्य छोटी-छोटी बातों में ब्रह्म हत्या का पाप, तुच्छ-तुच्छ बातों में बड़े-बड़े यज्ञों का पुण्य, अहं ब्रह्म का ज्ञान और मूल धर्म छोड़कर उपधर्मों में आग्रह में भारतवर्ष से वास्तविक धर्मों का लोप कर दिया।··· ··· ··· ··· धर्म हमारा ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से वह एक चुल्लू पानी में मर जाता है।"

सच पूछिये तो व्यापक अर्थ में राष्ट्रीय चेतना का पहला उन्मेष भारतेन्दु की रचनाओं में ही दिखायी पड़ता है। उन्होंने चाहे धर्म के सम्बन्ध में विचार किया हो या जाति के सम्बन्ध में अथवा भाषा के सम्बन्ध में, अंग्रेजों की लूट खसोट, राजाओं—रईसों के अत्याचार आदि के सम्बन्ध में। उनका अभिप्राय जनता में अपने प्रति एक ऐसी आस्था उत्पन्न करना था जिससे वह अपने भरोसे तमाम अत्याचारों का मुकाबला खुद कर सके। जनता के सहयोग के विना न तो शिक्षित वर्ग कुछ कर सकता था और न अशिक्षित वर्ग।

भारतेन्दु ने जिस संस्कृति की बुनियाद डाली वह जनवादी तथा राष्ट्रीय थी। आज की जनवादी प्रवृत्तियां कला के भारतेन्दु में साफ-साफ दिखायी देती हैं।

भारतेन्दु के जनवाद देखने के पीछे सीधा-सीधा तर्क है कि साम्राज्यवाद, सामंतवाद, राजाओं, जमींदारों, पुरोहितों मौलवियों, बाल-विवाह, छुआ-छुत, अन्ध विश्वास का विरोध तथा स्वराज, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा, आम-भाषा का समर्थन साबित करता है कि भारतेन्दु में जनवादी प्रवृत्तियां थी और उसे लोगों को स्वीकार करना चाहिए।

संदर्भ

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : डा० रामविलास शर्मा, पृ० 55.
2. आलोचना (79), सं० नामवर सिंह, पृ०—33.

हिन्दी ग़ज़ल और भारतेन्दु

अरुण कुमार

आज हिन्दी-साहित्य में जो कुछ भी ठोस अथवा पुख्ता दिखलाई पड़ रहा है, गहराई से पड़ताल करने पर उसका 'उत्स' किसी न-किसी रूप में कहीं-न-कहीं 'भारतेन्दु-युग' में मिल ही जायेगा। वह एक ऐसा युग था, जिसमें हिन्दी-साहित्य ने अपना चतुर्मुखी विकास किया। उस युग की कोई भी ऐसी प्रचलित विधा नहीं थी जिस पर 'भारतेन्दु' अथवा 'भारतेन्दु-मण्डल' के अन्य साहित्यिकों ने भरपूर 'रियाज' न किया हो। नाटक हो अथवा निबन्ध, उपन्यास हो अथवा कहानी, व्यंग्य हो अथवा वृतान्त, कविता हो अथवा लोकगीत सबों पर भरसक कलम चलाई थी -- भारतेन्दु-युगीन साहित्यकारों ने। भारतेन्दु-युग मूल रूप में हिन्दी के 'नवजागरण' का युग था। सूर्य की प्रथम रश्मियों के आगमन का ज्ञान जिस प्रकार सरोवर के प्रत्येक छोटे-बड़े कमलपुष्प को हो जाता है, उसी प्रकार इस 'नवजागरण' से उस युग का एक भी साहित्यिक व्यक्तित्व अछूता नहीं था। इस जागरण के लिए अंगरेजी राज्य की स्थापना जितनी उत्तरदायिनी थी, भारतेन्दु की जागरुकता उससे कम नहीं।

भारतेन्दु संक्रांतिकाल की उपज थे, इसलिए उनके साहित्य में अतीत की आसक्ति और नई आकांक्षाओं का पुलक -- दोनों का सम्मिलन एक साथ ही देखने को मिलता है। उस समय उर्दू-साहित्य के फलक पर गालिब' जैसे मशहूर और रससिद्ध शायर एक नया रंग भरने की कोशिश में लगे थे। अपनी प्रतिभा के अमृत से उर्दू-काव्य-धारा की मंदाकिनी प्रवाहित करनेवाले इस बेजोड़ कलाकार की मोहक कला पर भारतेन्दु की निगाहें टिकी थीं। ऐसी परिस्थितियों में उर्दू की सर्वाधिक सशक्त काव्य-विधा तथा 'उर्दू की आबरु' समझी जाने वाली 'ग़ज़ल' की तरफ इनका आकृष्ट होना परम स्वाभाविक था। "भावों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से उर्दू-काव्य-शैली की ग़ज़ल हिन्दी दोहे का स्थानापन्न है। इसलिए खड़ी-बोली के काव्य भाषा के रूप में प्रयोग करने के प्रसंग में भारतेन्दु स्वभावतः 'ग़ज़ल' की ओर आकृष्ट हुए।"[1]

कोई भी क्रान्तिदर्शी रचनाकार अपनी रचनात्मकता में प्रयोगधर्मी हुआ करता है। किसी खास विधा में दक्षता हासिल करने के साथ ही साथ वह अपने युग की समस्त प्रचलित एवं मान्य शैलियों में प्रयोग करता चलता है। अपने युग की तमाम प्रचलित विधाओं को अपनी लेखनी का संस्पर्श देना उसकी मजबूरी होती है। भारतेन्दु भी इसके अपवाद नहीं थे। गीत, लावनी पूर्वी, चैती, धमार, कजरी, हिंडोला आदि लिखने के साथ ही साथ वे गजलें भी लिखा करते थे। उनका उपनाम था—'रसा'। इसी नाम से वे

अपनी ग़ज़लें पढ़ा करते थे। उन्हें ग़ज़ल लेखन की बारीकियों का समुचित ज्ञान था। ग़ज़ल के छन्दशास्त्र से वे बखूबी परिचित थे। समय-समय पर आयोजित होने वाले 'मुशायरों' की वे 'नूर' हुआ करते थे।

"गुलजारे पुर बहार" तथा "चमनिस्ताने हमेश:" नाम से दो ग़ज़ल संग्रह छपे हैं परन्तु अब वे दुष्प्राप्य हैं। 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी द्वारा प्रकाशित 'भारतेन्दु–ग्रंथावली' भाग दो में फुटकर कविताओं के अन्तर्गत इनकी लगभग पचीस ग़ज़लें संगृहीत हैं। इन्हीं ग़ज़लों के आधार पर हम इनकी शायरी का मूल्यांकन कर सकते हैं।

उर्दू-काव्य की परिपाटी का निर्वाह करते हुए इन्होंने भी अपनी ग़ज़लों का मूल वर्ण्य विषय 'श्रृंगार' को ही बनाया है। 'बिम्ब' और प्रतीक' भी उर्दू-काव्य से ही ग्रहण किए हैं; तथापि इनकी ग़ज़लों में एक साथ ही हिन्दी की हार्दिकता के साथ-साथ उर्दू की मस्ती का अनुपम संगम प्रवाहित होता सा दिखायी पड़ता है। हालांकि इनकी ग़ज़लों का वाह्य कलेवर उर्दू के रंग में स्नात है; पर उसकी आत्मा हिन्दी की ही है। परन्तु 'भारतेन्दु' और रसा' में जो सबसे बारीक सा अन्तर है वह यह कि–"भारतेन्दु की विरह-विह्वल प्रणय-निवेदिका यहाँ आहें भरने वाले आशिक के रूप में परिवर्तित हो गई है और कमल-नयन प्रियतम' 'गजब है सूरमः देकर आज वो बाहर निकलते हैं, और याद रहे कि सूरमः देकर निकलने वाले प्रियतम नहीं, प्रियतमा के स्थानापन्न हैं।"[2] श्रृंगार की धारा इनकी ग़ज़ल-यात्रा का प्रथम विकास-विन्दु है। श्रृंगार की दोनों स्थितियों संयोग एवं वियोग का चित्रण इनकी ग़ज़लों में प्रचुर मात्रा में हुआ है, किन्तु वियोग श्रृंगार की प्रधानता है। संयोग पक्ष की प्रेमपरक ग़ज़लों में उस युग की 'वेफिक्री और मस्ती' का आलम सा छाया हुआ प्रतीत होता है। वियोग-पक्ष की ग़ज़लें वैयक्तिक पीड़ा तथा अनुभूतियों की तरलता से स्नात हैं। प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से वियोगजन्य अनुभूतियों से उपजी ग़ज़लें अनूठी हैं।

इनकी ग़ज़लगोई की दूसरी उप-मुख्य धारा है—भक्ति की। भारतेन्दु के मुख्य इष्ट थे—कृष्ण। भारतेन्दु ने "अपनी काव्याभिव्यक्ति के लिए न वीरगाथाकालीन वीर-श्रृंगार रसपूर्ण आख्यान-स्वरूप को अपनाया और न सूफियों के प्रेम-प्रबन्ध–स्वरूप को। उन्होंने रामकाव्य-परम्परा में आए हुए जीवन–चित्रण-पूर्ण प्रबन्ध-स्वरूप को भी नहीं अपनाया। उनकी स्वच्छन्द प्रतिभा और वैयक्तिक अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति के लिए कृष्ण-काव्य और रीति-काव्य की परम्पराओं में प्राप्त होनेवाली रीति-काव्य-पद्धति और मुक्तक काव्य पद्धति ही अधिक उपयुक्त थी। अतः उन्होंने उसी का अनुसरण किया।"[3] जाहिर है कि इस परम्परा के तहत उन्होंने कृष्ण को ही अपने काव्य-चित्रण का मुख्य आलम्बन स्वीकार किया है। कृष्णचरित की महत्ता को बड़ी बारीकी से रेखांकित किया है इन्होंने अपनी भक्ति-विषयक ग़ज़लों में।

भारतेन्दु की ग़ज़ल-यात्रा का सबसे महत्वपूर्ण पड़ाव हम वहाँ देखते हैं जहाँ वे बड़े पुरअसर ढंग से ग़ज़ल की पारम्परिक विषय-वस्तु से थोड़ा हटकर बड़े ही पैनेपन के साथ

वह सब कुछ कहते नजर आते हैं, जिसे आज 'प्रगतिशीलता' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस विकास बिन्दु तक आते-आते इनकी ग़ज़लों का 'तेवर' अचानक बदलने लगता है। रुमानियत और मायूसी के आवरण से निकल कर वह अचानक 'विद्रोह' की बातें करने लगती है। कुछेक 'शेअरो' को देखकर तो ऐसा लगता है कि आज का कोई 'शाइर' आज के माहौल की बातें कर रहा हो। उन 'शेअरों' को देखकर तो सहसा विश्वास भी नहीं होता कि उस पराभव और पराधीनता के युग में इतनी बुलन्दी के साथ कोई अपनी बात इस 'नाजुक' माध्यम के द्वारा कह रहा होगा।

संसार की अस्थिरता, मोहभंग, पीड़ा, संत्रास तथा एकाकीपन का भाव भी इनकी ग़ज़लों में आया है। भारतेन्दुजी की ग़ज़लें भावाभिव्यक्ति के चरम विकास को छूती हुई सी दिखाई पड़ती हैं कहीं-कहीं। संरचना की दृष्टि से भी इनकी गज़लें अनूठी हैं। 'भारतेन्दु-युग' अपनी मस्ती एवं जिन्दादिली के लिए मशहूर रहा है। भारतेन्दु की ग़ज़लें भी उसी जिन्दादिली की संवाहिका हैं। बेफिक्री, मस्ती और नज़ाकत इनकी ग़ज़लों की नियामत हैं। "जायसी" यदि अपनी नायिका की जुल्फें झटकने को इस दोहे के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं—

'बेनि छोरि झार जौं बारा।
सरग पतार होइ अँधियारा॥'

तो भारतेन्दु—

'मेरी निगाह में दोनों जहाँ हुए तारीक।
य आप खोल के जुल्फें दोता किधर को चले।'

कहकर अपनी माशूका की जुल्फ़ों से छा गए अन्धकार को रेखांकित करते हैं। रीतिकालीन प्रभाव अभी तक काव्य-जगत पर चस्पा था। जरा भारतेन्दु के इस शेर को देखें—

रुखे रौशन पे उसके गेसुए शबगूँ लटकते हैं।
क़यामत है मुसाफ़िर रास्तः दिन को भटकते हैं॥'

भारतेन्दु की ग़ज़लों की नायिका कम उम्र है, कमज़र्फ़ है। उसके प्रेम में वह खुलापन नहीं, एक झिझक है, संकोच है—

'न बोसा लेने देते हैं न लगते हैं गले मेरे।
अभी कम-उम्र हैं हर बात पर मुझसे झिझकते हैं।'

पहले इश्क करना, फ़िर बाद में हाथ मलना प्रायः हर आशिक की मजबूरी होती है। अनुभूतियों के धरातल पर भारतेन्दु भी इसे महसूसते हैं और बड़ी बेबाकी के साथ अपनी बातें कह भी देते हैं—

"दिल मेरा तीरे सितमगर का निशाना हो गया।
आफ़ते जाँ मेरे हक़ में दिल लगाना हो गया॥"

सूर की गोपिकाओं तक उद्धव कृष्ण की 'पाती' पहुंचाते हैं। उनका जवाब तो—'लोचन जल कागद मसि मिलिकै, ह्वै गई स्याम-स्याम की पाती' के रूप में मिल जाता है, परन्तु भारतेन्दु ख़त के जवाब के लिए तड़पते रह जाते हैं। उनकी तड़पन निम्न शेर के रूप में उभर कर सामने आती है—

'आज तक ए दिल जवाबे ख़त न भेजा यार ने ।
नामाबर को भी गये कितना ज़माना हो गया ।।'

भारतेन्दु प्रेम की महत्ता को बखूबी पहचानते हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि प्रेम करने वालों के लिए दीन और इस्लाम से ज्यादा महत्वपूर्ण है प्रेम-रस में अवगाहन करना और यही प्रेम मनुष्य को 'राम' बनाता है—

'इश्के-बुतां में जब दिल उलझा दीन कहां इसलाम कहाँ।
वाअज़ काली जुल्फ़ की उल्फ़त सबको राम बनायेगी ।'

प्रेम में कभी-कभी मोहभंग की स्थिति से भी गुजरना आशिक की मजबूरी होती है। भारतेन्दु का प्रेमी हृदय भी इस मोहभंग को झेलता है—

'ख्वाबे ग़फ़लत से जरा देखो तो कब चौंके हैं हम ।
काफ़िला मुल्के अदम को जब रवाना हो गया ।'

अपने अभीष्ट की तलाश में मियाँ-मजनूँ की तरह 'रसा' भी दर-दर की ठोकरें खाते हैं। निम्न शेर के माध्यम से उनकी बदहाली का अन्दाजा सहजता से लगाया जा सकता है—

'छानी कहाँ न ख़ाक, न पाया कहीं तुम्हें ।
मिट्टी मेरी ख़राब अबस दर-बदर हुई ।।

+ + +

'ध्यान आ गया जो शाम को उस जुल्फ़ का 'रसा' ।
उलझन में सारी रात हमारी बसर हुई ।।'

वैयक्तिक अनुभूति की तीव्रता भारतेन्दु की ग़ज़लों में पुरजोर दिखायी देती है। उर्दू के मशहूर शायर अज़ीम हाशमी लिखते हैं—

'आता है कौन फ़ातिहा पढ़ने को ए अज़ीम ।
है एक हुजूमे-आय हमारे मज़ार पर ।।'

सच भी तो है—दुनियावाले महज रस्म-अदायगी के नाते ही तो 'कुंजे लहद' तक जाते हैं। इस सचाई को भारतेन्दु के शायर ने भी महसूसा था। तभी तो वह कह उठता है—

'बाद मुर्दन कौन आता है खबर को ये 'रसा'।
खत्म बस कूंचे लहद तक दोस्ताना हो गया॥'

जीवन की असारता का चित्रण विश्व-साहित्य के विस्तृत वाङ्मय में प्रायः सभी कवियों ने किया है। यह एक चिरन्तन सत्य है कि यह जगत् अनित्य है। यहां की वस्तुएं निस्सार हैं जो कुछ हम देख रहे हैं, सब सृष्टि की माया है। भारतेन्दु के 'शाइर' ने भी इस सत्य का दर्शन किया था। इसे महसूसा था। निम्न 'शेर' के भीतर से भारतेन्दु यह कहते हुए जीवन और जगत् की असारता को रेखांकित करते हैं—

'यह चार दिन के तमाशे हैं आह दुनिया के।
रहा जहाँ में सिकन्दर न औ न जय बाकी॥'

+ + +

'दौलते दुनिया न काम आयेगी कुछ बाद मर्ग।
है ज़मीं में खाक कारूं का खज़ाना हो गया॥'

विविधता किसी भी कला की रोचकता को बनाए रखने में एक प्रमुख सूत्र का कार्य करती है। भारतेन्दु का पूरा जीवन ही विविध आयामों को स्पर्श करता सा दिखाई पड़ता है। अतएव, इनकी ग़ज़लों का रंग भी इन्द्रधनुष की सतरंगी आभा लिए हुए है। किसी भी बड़े 'शायर' अथवा 'रचनाकार' का गुरुतर दायित्व होता है—अपने युग की पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान करना। वह निजी अनुभूतियों को कविता या 'शेअर' का जामा पहनाकर अपने युग की पीड़ा को ऐसी अभिव्यक्ति देता है कि वह सम्पूर्ण युग तथा जनमानस की पीड़ा की अभिव्यक्ति बन जाती है। ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में भारतेन्दु की ग़ज़लों पर दृष्टिपात करने पर हम पाते हैं कि— यह वह युग था जब 'भारतीय क्रांति' (1857 ई०) अपने ही अखाड़े पर चारों खाने चित्त होकर गिर पड़ी थी। ऐसे में पराजित भारतीय जनमानस की पीड़ा का अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है। भारतेन्दु के 'शाइर' ने भी इस पीड़ा की तल्खियों को भोगा था, महसूसा था। निम्न 'शेअर' में भारतेन्दु की तत्कालीन पीड़ा कितनी मुखर हो उठी है—

'रिहा करता नहीं सैयाद हमको मौसिमे गुल में।
क़फ़स में जब जो घबराता है सर दे-दे पटकते हैं॥'

वर्तमान युग कविता में 'प्रगतिशीलता' के तत्वों को तलाशने का युग है। कोई सोच भी नहीं सकता कि भारतेन्दु-युग में ऐसे तत्व आसानी से ढूंढ़े जा सकते हैं। 'रसा' ने उस पराधीनता के युग में 'ग़ज़ल' जैसी नाज़ुक विधा को जो 'तेवर' प्रदान किया, वह स्तुत्य है। ऐसा लगता है कि आज 'हिन्दी-ग़ज़ल' की जो स्पष्ट रूपरेखा है; उसका 'उत्स' कहीं-न-कहीं भारतेन्दु के इस 'शेअर' में विद्यमान है—

"हिला देंगे अभी ये संगेदिल तेरे कलेजे को।
हमारी आहे-आतिशबार से पत्थर पिघलते हैं ॥'

या

'उड़ा दूँगा 'रसा' मैं धज्जियां दामाने सहरा की।
अबस खारे बियाबां मेरे दामन से अटकते हैं ॥'

उपर्युक्त शेअ़्र' की सूक्ष्मता से पड़ताल करने पर हम देखते हैं कि—मानो भारतेन्दु 'हिन्दी-ग़ज़ल' की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे हैं।

भारतेन्दु की गजलों पर विचार करते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि उनकी विरासत की भी थोड़ी चर्चा की जाय। उन्हें विरासत में क्या मिला था? रीतिकालीन सौन्दर्योपासना का अति स्थूल काव्य-परम्परा ही तो? जिसका ध्येय था राजाओं की प्रशस्ति, साध्य था उनका परितोष। परन्तु भारतेन्दु ने पहली बार इतनी बेबाकी और साफ़गोई के साथ 'संगदिलों' को चुनौती दी। यह उनकी प्रगतिशील चेतना का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

संक्रान्तिकाल में आविर्भूत होने के कारण भारतेन्दु की ग़ज़लों पर रीतिकाल के अवशिष्टांशों का रहना भी अवश्यंभावी था। वासनात्मक अनुभूतियों की गदली धारा अभी पूरी तरह से सूखी नहीं थी। भारतेन्दु की चन्द ग़ज़लें इसी वजह से मांसलता और वासनात्मक अनुभूतियों की दस्तावेज बन कर रह गई हैं :—

"तेरा उभरा हुआ सीना जो हमको याद आता है।
तो ऐ रश्के परी पहरों कफे अफ़सोस मलते हैं ॥"

× × ×

'किसी पहलू नहीं चैन आता है उश्शाक को तेरे।
तड़पते हैं फ़ुग़ां करते हैं औ करवट बदलते हैं ॥'

× × ×

"कमर का तेरे जिस दम नक्श हम ईजाद करते हैं।
तो जां फ़र्मान आकर मानियों बिहज़ाद करते हैं ॥"

और ऐसा होना स्वाभाविक ही था। रीतिकालीन प्रभाव के कारण ही ऐसे 'शेअरों' की रचना हुई। माशूका के मुख की याद आते ही बिचारे 'हरिश्चन्द' का 'दम' बन्द होने लगता है। यहां भी रीतिकालीन प्रभाव ही हावी है 'शेअर' पर :—

'ध्यान आया जिस घड़ी उसके दहाने तंग का।
हो गया दम बन्द मुश्किल लब हिलाना हो गया ॥'

भारतेन्दु को कृष्ण बड़े प्यारे थे। अतः उनकी एक पूरी ग़ज़ल 'कृष्ण' पर केन्द्रित है। विश्व की प्रत्येक वस्तु में उसी की ज्योति विद्यमान है ऐसा भारतेन्दु मानते हैं। वे कहते हैं :—

"जहाँ देखो वहाँ मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है।
उसी का सब है जल्वा जो जहाँ में आशकारा है॥"

× × ×

"तुम्हारा नूर है हर शै में कह से कोह तक प्यारे।
इसी से कह के हर-हर तुमको हिन्दू ने पुकारा है॥"

वे अपनी इस ग़ज़ल में 'एकेश्वरवाद' की स्थापना से करते दिखाई पड़ते हैं। उनका मानना है कि ईश्वर एक ही है, भले ही उसके नाम अलग-अलग हों :—

'तेरा दम भरते हैं हिन्दू अगर नाकूस बजता है।
तुझे ही शंख ने प्यारे अजाँ देकर पुकारा है॥"

यहाँ वे 'कबीर' की तरह हिन्दू-मुस्लिम भावनाओं को एक ही ईश्वर से जोड़कर उनमें ऐक्य की कामना करते हुए प्रतीत होते हैं। 'तुलसी' की उक्ति 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' की तरह ही भारतेन्दु भी यह मानकर चलते हैं कि सब कुछ उसी एक परम-सत्ता के इंगित पर हो रहा है :—

'जो कुछ कहते हैं हम यह भी तेरा जल्वा है एक वरनः।
किसे ताकत है जो मुँह खोले यहाँ हर शख्स हारा है॥'

इसके अलावे 'होली' से सम्बन्धित चन्द शेर भी भारतेन्दु ने लिखे हैं, जिनमें से उनकी निजी और वैयक्तिक पीड़ा उझक-उझक कर झांकती हुई सी प्रतीत होती है :—

"वक्त ने फिर मुझे इस साल दिखाई होली।
सोजे फुरकत ज़ेनस मुझको न भाई होली॥"

× × ×

"शोलए इश्क भड़कता है तो कहता हूँ 'रसा'।
दिल जलाने के लिए आह यह आई होली॥"

भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु की ग़ज़लें उर्दू के अधिक समीप हैं, परन्तु उनमें स्थान-स्थान पर 'हिन्दीपन' का बोध भी दृष्टिगत होता है। स्मरण रहे कि भारतेन्दु-युग' भाषा की दृष्टि से 'गद्यभाषा' के विकास का युग था। कविता के सिंहासन पर अभी भी ब्रजभाषा ही आरुढ़ थी। अतः यह कहकर भारतेन्दु की ग़ज़लों पर प्रश्नचिह्न लगाना सरासर बेमानी होगी कि उनकी भाषा उर्दू के साँचे में ढली हुई है। हालाँकि हिन्दी के

अनेक विद्वानों ने एकमत होकर स्वीकार किया है कि—उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है; तथापि श्री विष्णुकान्त शास्त्री को लिखे गये एक पत्र में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के विचार प्रसंगवश यहाँ उल्लेखनीय हैं—"उर्दू का लिबास ही सिर्फ यवनी का है, उसके भीतर हिन्दी ही है। यवनी से यदि ब्राह्मण डरता हो तो पंचगव्य पी लिया करे। उसके स्पर्श के पूर्व और पर काल में।"[4]

भारतेन्दु की ग़ज़लों की भाषा उर्दू का रंग लिए हुए है, इसका कारण संभवतः उर्दू शायरी के साथ उसकी संबद्धता ही है। किन्तु, उर्दू शब्दों के कतिपय प्रयोगों के बावजूद इनकी ग़ज़लें हिन्दी-परिवेश को उजागर करने में पूर्णतया समर्थ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु की ग़ज़लें अपनी भावाभिव्यक्ति में अनूठी हैं। एक साथ ही इतने सारे भावों को ग़ज़लों में अभिव्यक्त करना किसी बड़े 'शाइर' द्वारा ही संभव है। भारतेन्दु अपनी ग़ज़लों के लिए हिन्दी में 'हिन्दी-ग़ज़ल' के 'पुरोधा' के रूप में याद किये जायेंगे। आज जो फर्क हिन्दी और उर्दू ग़ज़लों में स्पष्टतया देखने को मिलती है, उसका बहुत कुछ श्रेय भारतेन्दु को ही दिया जाना चाहिए।

संदर्भ

1. बोध और व्याख्या; डॉ० कामेश्वर शर्मा; पृ० 362
2. वही, पृ०—362.
3. वही, पृ०—361.
4. आलोचना सित० 1983 पृ०-36.

●

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण

महेन्द्रनाथ राय

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरंभ होने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण की सशक्त अभिव्यक्ति है । इस युग से जीवन-जगत विषयक मान मूल्यों के बदलने की प्रक्रिया आरम्भ होती है । बुद्धिवादी आलोचनात्मक दृष्टि का विकास होता है तथा साहित्य की सामाजिक भूमिका पर प्रकाश पड़ता है । हिन्दी के भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग एवं छायावाद युग हिन्दी नवजागरण की मूल्य दृष्टि एवं सांस्कृतिक चेतना से पूरी तरह प्रभावित होते हैं । विविध जनांदोलनों द्वारा हिन्दी के उत्थान की दिशा निर्धारित होती है । आर्य समाज द्वारा हिन्दू समाज के बहुविध उत्थान के साथ ही राष्ट्रीय चेतना से स्फूर्त स्वदेशी आंदोलन हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में भी सहायक बनता है ।

समसामयिक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक गतिविधियों एवं समस्याओं के प्रति भारतेन्दु एवं उनके सहयोगी अतिशय संवेदनशील दिखाई पड़ते हैं । राष्ट्रीयता की भावना के विकास से खड़ी बोली हिन्दी का विकास पूर्णतः संश्लिष्ट रहा है । वस्तुस्थिति यह है कि "हिन्दी में लौकिक दृष्टि का आविर्भाव और खड़ी बोली में रचना के नवयुग का आरंभ दोनों एक साथ हुए । हिन्दी की रचनात्मक प्रतिभा ने साहित्य की एक सम्पन्न, मधुर और परिमार्जित प्रतिष्ठित भाषा से विमुख होकर एक रूखी और अटपटी बोली के उत्थान में ब्रजभाषा के प्रति किसी प्रकार का द्वेष या एक प्रदेश की भाषा को छोड़ने का कोई आग्रह नहीं था । खड़ी बोली के अंगीकार में ब्रजभाषा के परित्याग का नहीं, उसकी सामंती परंपराओं के परित्याग का आग्रह था । ब्रज की एक सजीव आंचलिक भाषा होते हुए भी रीतिवादी परंपरा ने उसके साहित्यिक रूप को एक ऐसे सांचे में ढाल दिया था कि उसे अभिजात वर्गीय अथवा सामंती पूर्वग्रहों से मुक्त करना कठिन हो गया था ।[1] सामंती परम्पराओं और अवधारणाओं के प्रति इस उदासीनता को पैदा करने में हिन्दी नवजागरण की विशिष्ट भूमिका थी । "राष्ट्रीयता के उदय और उस भावना से उत्पन्न होने वाले नये उत्तरदायित्व के बोध का ही फल था कि साहित्य-रचना के लिए खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा और ऐसे लेखक भी खड़ी बोली में लिखने लगे जो ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार रखते थे और जिन्हें ब्रजभाषा के अतिरिक्त किसी दूसरे माध्यम की अपरिपक्वता अखरती थी ।"[2]

भारतेन्दु युग में हिन्दी गद्य की विविध विधाओं को रूपाकार मिला, युग-जीवन के यथार्थ चित्रों को रचनाओं में उरेहा गया, वाह्याकार के चित्रण का स्थान मानसिक

प्रभाव की व्यंजना लेने लगी, साहित्यिक रूढ़ियाँ प्रश्नांकित होने लगी तथा साहित्य जन-साधारण की ओर उन्मुख हुआ। सीमित वर्ण्यवस्तु, लक्षण ग्रन्थ, नायिका भेद, अलंकरण, चमत्कार सृष्टि और पुरानी काव्य परिपाटी से जुड़ा रीतिवादी साहित्य युगीन मानसिकता और अभिरुचि को कुछ दे न सका। उदार मानवीय दर्शनों और विकासवादी निष्पत्तियों ने मनुष्य को जैव-सृष्टि का शीर्ष स्थानीय सिद्ध किया। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और और शिक्षा के प्रसार से आलोचनात्मक दृष्टि का विकास हुआ और सभी मान्यताएँ और विश्वास बुद्धि की कसौटी पर कसे जाने लगे। हर तरह के गुरुडम के प्रति विरोधी रुख अख्तियार किया। "इस तरह खड़ी बोली के माध्यम से हिन्दी साहित्य का जो उन्मेष उन्नीसवीं शती के मध्य से आरंभ हुआ, उसकी सवसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता लौकिक दृष्टि का उदय है। भारतेन्दु ने इस दृष्टि को सोद्देश्य रूप दिया। ह्रासशील दरबारों के दूषित वातावरण में क्षय प्राप्त होते हुए हिन्दी साहित्य को उबारकर वे नई लोकभूमि पर ले आए······ध्यातव्य है कि उन्नीसवीं शती के भारतवर्ष में राष्ट्रीयतावाद वैसा विकृत रूप नहीं ले सकता था। जैसा उसने यूरोप में लिया। भारतवर्ष में वह स्वदेश प्रेम के रूप में प्रकट हुआ। उसने जातीय उत्कर्ष की भावना को उभारा और साधारणतया देश को एक नई सांस्कृतिक-चेतना दी। अपनी सभ्यता, संस्कृति और राष्ट्र का गर्व इसी नव चेतना का प्रतिफलन था।"[3] नवयुग में जाति-पांत, वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी अनुशासन ढीले पड़े, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला, विचार-दर्शन पर किसी वर्ग या जाति का प्रभुत्व न रहा। सभी के लिए बहुविध विकास के द्वार खुले। जनतांत्रिक विचार धारा का प्रसार हुआ। सामान्य जनता से कवि-कलाकार निकलने लगे। भारतेन्दु युग को ह्रासशील सामंती साहित्य की पुरातन रूढ़ियों, जन मान्यताओं और अंध विश्वासों के भंजन तथा नवीन वैचारिक आदर्शों और मानवीय मूल्यों के अन्वेषण का युग कहा जा सकता है। राष्ट्रीय जागरण के स्पन्दन से इस युग का मानस अनुप्राणित है। युग जीवन मूलभूत समस्याओं के प्रति सचेतनता का ही परिणाम है कि इस युग के अधिकांश साहित्यकार किसी न किसी पत्र से संवन्धित हैं। "प्रधानतः सुधारक, प्रचारक और पत्रकार होने के नाते इन्हें दिन-प्रति-दिन अपने संपादित पत्र या पत्रिकाओं द्वारा हिन्दू समाज में प्रचलित कुरीतियों, धार्मिक मिथ्याचार, छल-कपट, अमीरों की स्वार्थपरता, पाश्चात्य सभ्यता के रंग में शिक्षित वर्ग की अनुकरणवृत्ति, पुलिस और कर्मचारियों की लूट-खसोट, अदालतों में प्रचलित अन्याय, अनीति, उर्दू के प्रति सरकारी पक्षपात, देश की सामान्य दुरवस्था, अकाल-महामारी के प्रकोप तथा साम्राज्यवादी शोषण आदि के सम्वन्ध में अपने विचार प्रकट करके पाठकों को समसामयिक प्रश्नों के प्रति जागरूक बनाना था।"[4] इन रचनाधर्मी साहित्यिकों में अपनी जातीय संस्कृति पर गर्व था साथ ही समाज में व्याप्त जड़धर्मिता से ये क्षुब्ध थे तथा आर्थिक शोषण में तल्लीन विदेशी साम्राज्यवाद के प्रति इनमें भयंकर आक्रोश था। प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त तथा अम्बिकादत्त व्यास इन्हीं लोगों में थे। भारतेन्दु इनके प्रतिनिधि थे। इन्होंने हिन्दू-समाज में प्रचलित आडंबरों, कुरीतियों

एवं विद्रूपताओं पर कठोर आघात किए, वृद्ध विवाह, बहु विवाह तथा बाल विवाह की खिल्ली उड़ाई, ज्ञानार्जन हेतु विदेश यात्रा, विधवा-विवाह नारी शिक्षा तथा मानव-समानता का जोरदार समर्थन किया। नारी-जागरण सम्बन्धी उनकी प्रबल आकांक्षा का प्रमाण उनके द्वारा सम्पादित 'बालाबोधिनी' पत्रिका है। भारतेन्दु में जन-मानस की गहरी पकड़ थी। विदेशी सभ्यता एवं सोच के रंग में रंगे भारतीय नवयुवक इनके व्यंग्य बोलों के शिकार बने। नारी-शिक्षा के समर्थक होते हुए भी भारतेन्दु भारतीय नारी को कुल-शील, संयम एवं अनुशासन से युक्त देखना चाहते थे। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों में चतुर्दिक की वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान था, देश-विषयक कर्तव्य का पूर्ण बोध था और औपनिवेशिक दासता से मातृभूमि को मुक्त कराने की उत्कट आकांक्षा थी। सुधार-आंदोलनों से ही भारतेन्दु युगीन साहित्यकार संतुष्ट न थे। वे विदेशी पराधीनता के गुंजलक से राष्ट्र को मुक्त करने के लिए विकल थे। साम्राज्यवादी शोषण का रहस्य खोलते हुए भारतेन्दु ने अपना असंतोष निम्नांकित रूप में व्यक्त किया था—'क्या यह अनीति नहीं है कि अनुमानतः दो सौ वर्ष हुए, अंग्रेजी प्रशासन का अधिकार इस देश में है। इन्होंने हमारे धनधान्य की वृद्धि का कोई उपाय नहीं किया केवल अपनी भाषा सिखायी और सभी व्यापार और धन हस्तगत किया। क्या यह खेद की बात नहीं है कि हमको कला-कौशल से विमुख रखा और आप स्वतः व्यापारी बनकर देश भर का धन और धान्य अपने देश में ले गए। अंग्रेजी राज में भारतीय जनता की दारुण दशा का मर्मस्पर्शी चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा "कपड़ा बनाने वाले, सूत निकालने वाले, खेती करने वाले, सब भीख मांगते हैं। खेती करने वालों की यह दशा है कि लंगोटी लगाकर, हाथ में तुम्बा लेकर भीख मांगते हैं और जो निरुद्यम हैं, उनको तो अन्न की भ्रांति है।"[6] उन्होंने भारतीय जनता को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से हीन बनाए रखने वाले साम्राज्यवादी षडयंत्र पर प्रकाश डालते हुए अपना अभिमत इन शब्दों में प्रकट किया—"अब अंग्रेजी माया, छल और घात दृष्टि में आने लगा क्योंकि हम लोगों को केवल अंग्रेजी माया प्राप्त हुई परन्तु कला-कौशल के विषय में हम लोग भली-भाँति अज्ञान के सागर में निमग्न हुए हैं।"[7] भारतेन्तु ने 23 मार्च 1874 ई० को 'कविवचन सुधा' में अंग्रेजी अर्थतन्त्र को कमजोर बनाने और उसकी शोषण प्रक्रिया को अवरुद्ध करने की गरज से परमात्मा को साक्षी रखते हुए स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की प्रतिज्ञा की। यह उनकी मौलिक सूझ-बूझ और दूरदर्शी दृष्टि का प्रमाण है। इसी सूझ-बूझ का सहारा आगे चलकर महात्मा गांधी ने एक शक्तिशाली अस्त्र के रूप में स्वदेशी आंदोलन के माध्यम से लिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी अपने देश में आधुनिक उद्योग-धन्धों तथा वैज्ञानिक शिक्षा के समर्थक थे। देशी सामन्तवाद और उसके संरक्षक अंग्रेजी साम्राज्यवाद दोनों का वे राष्ट्रीय हित में पुरजोर विरोध करते थे। भारतेन्दु को विदेशी साम्राज्यवाद की घातक भूमि का पूर्ण ज्ञान था। हिन्दुस्तान की गरीबी, जहालत, आर्थिक शोषण और पिछड़ेपन के लिए वे दो टूक शब्दों में अंग्रेजी साम्राज्यवाद को उत्तरदायी मानते थे। "ब्रिटेन में राजसत्ता उद्योगपतियों के हाथ में थी और भारत पर सीधे महारानी विक्टोरिया और उनके पार्लियामेंट

का अधिकार था। हिन्दुस्तान में औद्योगिक क्रांति होने के बदले लाखों आदमी अकाल और दुर्भिक्ष में मर रहे थे। अंग्रेजों की आमदनी का मुख्य जरिया इस देश के किसानों की मेहनत थी। अंग्रेज हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा जमींदार था। वह सारी जमीन को अपनी सम्पत्ति कहता था। वह किसानों को बेदखल कर सकता था और जमींदारों को भी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग के स्वाधीनता प्रेमी लेखक अच्छी तरह समझ गए थे कि अंग्रेजी राज के खात्मे के बिना इस देश की प्रगति असम्भव है। 1870 में भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा' में लार्ड मेयो को लक्ष्य करके जब 'लेवी प्राण लेवी' लेख लिखा तब से हिन्दी में एक नई साम्राज्य विरोधी चेतना का प्रसार आरम्भ हुआ। उन्होंने 6 जुलाई 1874 की 'कविवचन सुधा' में यह विश्वास प्रकट किया कि जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वाधीन हुआ, वैसे ही भारतवर्ष भी स्वाधीनता लाभ कर सकता है। उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की जिसके सदस्य स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की प्रतिज्ञा करते थे।[8]

देश प्रेम से आपूर्ण भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने देशी सामंतवाद और विदेशी साम्राज्यवाद की राष्ट्र विरोधी गतिविधियों को रेखांकित करने के साथ ही रीतिवादी साहित्य के नायक-नायिका भेद, अस्वस्थ श्रृंगारिक रसिकता, अतिशय अलंकरण वृत्ति एवं चमत्कार सृष्टि को भी युग चेतना के अनुकूल न माना। बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त जैसे भारतेन्दु मंडल के सचेत साहित्यकारों ने ब्रजभाषा काव्य की ह्रासोन्मुख साहित्यिक परम्परा का इसलिए प्रबल विरोध किया क्योंकि वह राष्ट्रीय स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली जान पड़ी। सामन्ती आचार-विचार और सामन्ती संस्कारों से जुड़ा साहित्य-दोनों ही इन्हें रास न आया। यद्यपि भारतेन्दु युगीन साहित्य में जहां-तहां राजभक्ति का पुट भी है, कहीं हिन्दुओं के पक्ष तो कहीं मुसलमानों के विपक्ष में ऐसी बातें भी कही गई हैं जो अनुचित लगती हैं। अनेक रचनाओं में रीतिकालीन काव्य परम्परा का भी प्रभाव है। फिर भी उसकी मूलधारा राष्ट्रीय और जनवादी है।........ भारतेन्दु का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढांचे से संतुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है।.........भारतेन्दु द्वारा विदेशी साम्राज्यवादी शोषण का विरोध, हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच मैत्री भाव को प्रतिष्ठित करने का प्रयास तथा हिन्दुस्तान को खेतिहर देश बनाए रखने के बजाय आधुनिक तकनीक और कला-कौशल से परिपूर्ण देखने की चाह यह स्पष्ट करती है कि उनका साहित्य जातीय जागरण का साहित्य है। उस साहित्य ने न केवल अंगरेजी साहित्य वरन् बंगला साहित्य से भी प्रेरणा पाई है। लेकिन उस साहित्य की जड़ें इसी धरती में हैं।[9] भारतेन्दु हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश के पिछड़ेपन को लेकर बहुत क्षुब्ध थे। वे समाज और राष्ट्र की उन्नति से साहित्य के विकास को जोड़कर देखते थे। जन जागरण हेतु उनके द्वारा किए गये विविध प्रयास अपनी विशेष

अहमियत् रखते हैं। ग्राम भाषाओं को हिन्दी की रीढ़ मानते हुए उन्होंने उनके सर्वतोमुखी विकास की ओर इंगित किया, ग्रामगीतों के लिए राष्ट्रीय समस्याओं से जुड़ी हुई वर्ण्य वस्तु को चुनने की उन्होंने प्रेरणा दी। इस तरह भारतेन्दु और उनके सहयोगी साहित्य को शक्तिशाली अस्त्र के रूप में चुनते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन को गति एवं दिशा देने में सफल मनोरथ सिद्ध हुए।

भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य को बहुआयामी बनाया। रीतिकाल की सीमित वर्ण्यवस्तु के स्थान पर समग्र जातीय जीवन को वर्ण्य वस्तु के रूप में चुना। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था जिसमें अनेक विचारधाराएं एवं दृष्टियां समादृत थीं। विरोधी मानसिकता वाले मिश्रबन्धुओं द्वारा भारतेन्दु को बिना किसी विधा के हिन्दी नवरत्नों में रखना उनकी अपरिमित लोकप्रियता का ही प्रमाण है। साहित्यकारों से अधिक सामान्य जनता से उन्हें आदर मिला, संभवतः सामाजिक-सांस्कृतिक राष्ट्रीय क्षेत्रों में उनकी सक्रिय साझेदारी ही इसका कारण है। उनकी रचनात्मक मानसिकता को स्वरूप और आकार प्रदान करने में वैष्णव संस्कारों; रीतिमुक्त काव्यधारा और जनतांत्रिक चेतना की समवेत रूप से महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उनके नाटक, निबन्ध तथा संपादकीय टिप्पणियां उनकी जाग्रत मानसिकता और राष्ट्रीय जीवन में उनकी गहरी दिलचस्पी के प्रमाण हैं। उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भारतीय समाज की विविध समस्याओं पर अपने निर्भीक मन्तव्य प्रकट किए। भारतेन्दु युगीन गद्य में अद्भुत शक्ति और सतेजता है। हिन्दी प्रदीप; ब्राह्मण, हरिश्चन्द्र मैगजीन, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, कविवचनसुधा जैसी पत्र-पत्रिकाएं भारतेन्दु युगीन साहित्यकारों के विराट रचनात्मक दायित्व बोध का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं तथा इनके उदात्त राष्ट्र प्रेम, मानवीय दृष्टिकोण एवं निजत्व को सशक्त ढंग से अभिव्यक्त करती हैं। राष्ट्रीय नवजागरण को गति और दिशा देने में भारतेन्दु युगीन नाटकों, निबन्धों एवं पत्रकारिता का ऐतिहासिक महत्व है।

संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य—अज्ञेय, पृ० 47-48,
2, वही, पृ० 47-48.
3. वही, पृष्ठ 51.
4. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—शिवदान सिंह चौहान, पृ०—57.
5. कविवचन सुधा, 26 जनवरी 1874, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र.
6. „ „ 9 मार्च 1874. „
7. सुधा, 8 फरवरी 1874, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र.
8. परम्परा का मूल्यांकन—डा० रामविलास शर्मा, पृ० 7.
9. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा—डा० रामविलास शर्मा, 4-6.

●

ब्रजभाषा कविताएँ और भारतेन्दुयुगीन उपलब्धियाँ

पूर्णमासी राय

भारतेन्दु एवं भारतेन्दुयुगीन कृतिकारों का ब्रजभाषा विषयक अवदान विशेषतः इस संदर्भ में विचारणीय हो जाता है कि एक ओर वे लोग हिन्दी साहित्य की नवीन चेतना का प्रवर्तन कर रहे थे और दूसरी ओर पुरानी परिपाटी की कविता के साथ भी सम्बन्ध बनाये हुए चल रहे थे। इन लोगों ने ब्रजभाषा की पूर्ववर्ती समस्त काव्य-परंपरा का अनुकरण न कर उसकी निसर्गज मधुरिमा की रक्षा करते हुए उसका परिमार्जन किया और नवीन विषयों का समावेश कर उसकी प्राणवत्ता सिद्ध की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें आधुनिक साहित्य के अंतर्गत पुरानी परिपाटी के रचयिताओं से पृथक् कोटि में स्थान दिया है।[1] भाषा की दृष्टि से आधुनिक युग संक्रान्ति का युग है। खड़ी बोली और ब्रजभाषा के अंतरंग संघर्ष से कृतिकारों में स्वतः द्विधा उत्पन्न हो गयी थी। भारतेन्दु जी ने भी खड़ी बोली में काव्य रचना का प्रयत्न किया, पर उनका निष्कर्ष यही था कि काव्य-भाषा ब्रज ही हो सकती है। उन्होंने लिखा है। "जो हो मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी। इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रज-भाषा में ही उत्तम होती है।"[2] उन्होंने खड़ी बोली (नई भाषा की कविता) में लिखित दोहा[3] उद्धृत कर यह टिप्पणी दी है कि "अब देखिये यह कैसी मोड़ी कविता है। मैंने इसका कारण सोचा कि खड़ी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सबसे बड़ा कारण यह जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घमात्रा होती है इससे कविता अच्छी नहीं बनती।"[4] स्पष्ट है कि आधुनिक युग की नवीन चेतना के समक्ष ब्रजभाषा की स्पष्ट वकालत भारतेन्दु जी जैसे मनीषी ही कर सकते थे। उन्होंने ब्रजभाषा के कवियों का एक मण्डल तैयार किया और समस्या पूर्तियों के द्वारा ब्रजकाव्य में नवीनता का संचार किया।

भारतेन्दु के अवतरण के समय (सन् 1850-1885) तक हिन्दी साहित्य का उत्कृष्टतम साहित्य प्रायः ब्रजभाषा में निर्मित हो चुका था। ब्रजभाषा की व्यापकता का तो इसी से अनुमान होगा कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी तक प्रायः समग्र इतिहास ब्रजभाषा का इतिहास तो है ही उसका प्रसार पश्चिम में गुजरात, पूर्व में बंगाल और दक्षिण के कुछ क्षेत्रों तक रहा है।[5] इस तरह पाँच सौ वर्षों तक यह लगभग संपूर्ण उत्तर भारत की काव्यभाषा के स्पृहणीय गौरव की अधिकारिणी रही है। "19 वीं शताब्दी के पहले हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रधानतया ब्रज साहित्य

का इतिहास है।"[6] हिन्दी के गण्यमान्य विद्वानों की धारणा रही है कि सोलहवीं शती से पहले का प्रामाणिक ब्रजभाषा काव्य नहीं मिलता। पर नवीनतम शोध के क्षेत्र में ब्रजभाषा काव्य की प्राचीनता जयदेव के गीत गोविन्द के समकक्ष सिद्ध हुई है। उनकी मान्यता है कि ब्रजभाषा काव्य की परम्परा काफी पुरानी है। कम से कम बारहवीं शताब्दी तक तो मानना ही पड़ेगा।[7] इस मत के समर्थन में भागवत पर आधृत पुष्पदन्त कवि का महापुराण, 10 वीं शती में हेमचन्द्र द्वारा संकलित अपभ्रंश के कृष्ण परक दोहे, 'प्राकृत पैंगलम्' में कलित कृष्णभक्ति सम्बन्धी पद्य, सन्त कवियों की वाणी, गोपालनायक और बैजू बावरा संगीतज्ञ कवियों की रचनाएँ, विष्णुदास के महाभारत के भाषानुवाद को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः यह सारी सामग्री अपभ्रंश मिश्रित सूर पूर्व ब्रजभाषा का स्वरूप निर्धारण है। काव्योपयोगी भाषा के उत्कृष्ट रूप में उसका स्वरूप सूरदास ही के काव्य में निखर कर सामने आता है। भारतेन्दु के काव्य का प्रारम्भिक उत्स सूर वाङ्मय है। वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने कारण अष्टछाप साहित्य से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा।

ब्रजभाषा साहित्य इतना विशाल और अनेक रूपात्मक है कि इस क्षेत्र में नवीनता एवं मौलिकता का दावा करना दुस्साहस मात्र है। तो भी भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों ने उसमें युगानुकूल चेतना लाकर पूर्ववर्ती धारा से किञ्चित् भिन्नता लाने की चेष्टा की। केवल 'सूरसागर' और 'परमानन्दसागर' में ब्रजलीला की सारी मनोरमता नाना भंगिमाओं में चित्रित हुई कि बाद के कवियों के लिये कुछ बचा ही नहीं। वल्लभ संप्रदाय का सारा ब्रजभाषा काव्य श्रीकृष्ण लीला का ऐसा माधुर्यपरक आख्यान है कि उसके आगे कल्पना की गति अवरुद्ध हो जाती है। अत्याधुनिक शोध के परिणाम स्वरूप वल्लभ[8], निम्बार्क[9], राधावल्लभ[10], हरिदासी[11], चैतन्य संप्रदाय[12] एवं संप्रदायेतर[13] साहित्य प्रभूत परिमाण में आ चुका है कि ब्रजलीला के अतिरिक्त राधाप्रधान नित्याविहार लीला में भी कुछ कहने के लिये शेष नहीं रहा। रामभक्तिधारा के गोस्वामी तुलसीदास ने भी ब्रजभाषा में रचनाएँ प्रस्तुत की। मुसलमान कवियों ने भी यह प्रमाणित किया कि ब्रजभाषा, भारतीय संस्कृति और उस संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को संप्रदायगत संकीर्णता में नहीं घसीटना चाहिए। इनमें जमाल, रज्जब, कादिर, रसखान, मुबारक, रसलीन आदि ने ब्रजभाषा में सहज प्रसन्न शैली में ऐसी रचनाएं कीं कि भारतेन्दु जी को भी कहना पड़ा कि 'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।' इनमें भारतेन्दु बाबू को विशेष प्रभावित किया रसखान ने। इस प्रकार 1400 ई० से 1700 ई० तक ब्रजभाषा का विपुल साहित्य निर्मित हुआ और गेय शैली में प्रायः मुक्तकों का अम्बार लग गया। कुछ कवियों ने कथात्मक लीला काव्यों की रचनाएँ भी कीं।[14]

भक्ति काल के अनन्तर रीतिकाल (सन् 1700-1900) में ब्रजभाषा काव्य की प्रेरणा अलौकिकता से लौकिक धरातल पर उतरी। भक्तिकाल की लोकोत्तर रचनाओं ने लोक जीवन को विस्मृत कर दिया था। जीवन दृष्टि के परिवर्तन के साथ 'रीति' की

प्रधानता हुई। इस दृष्टि से प्रभूत परिमाण में रचनाएँ हुईं। इस काल में दो प्रकार के कवि मिलते हैं, एक वे जो आचार्य भी हैं दूसरे वे जो केवल कवि ही हैं। इनकी कविताएँ दो प्रकार की हुई—रीतियुक्त और रीतिमुक्त। रीतिकाव्य की आचार्य परम्परा ने संस्कृत के शास्त्रों का अवलम्ब लेकर रचनाएँ कीं, पर रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द, ठाकुर, बोधा और आलम आदि ने भारतेन्दु को प्रभावित किया क्योंकि उनमें प्रेम और साक्षात् अनुभूति की प्रेरणा थी। वर्ण्य के क्षेत्र में परिमिति होने के कारण रीतिकाल में जीवन की विविधता न आ सकी। शुक्ल जी ने इसी को लक्ष्य कर कहा "भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुंची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे उस च्युत संस्कृति दोष का निराकरण होता जो ब्रजभाषा काव्य में थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है।"[15] पर भारतेन्दु ने भाषा का आदर्श रूप ठाकुर और घनानन्द में पाया। उनकी ब्रजभाषा अव्यवस्थित होने से बच गयी।

अब विचारणीय यह है कि भारतेन्दु ने ब्रजभाषा के इस विशाल वाङ्मय से क्या लिया और क्या छोड़ा तथा कहाँ नवीनता उत्पन्न की? भारतेन्दु उन महाकवियों में हैं जो अपनी पूर्व परम्परा पर चलते हुये स्वयं अपनी भी एक परम्परा छोड़ जाते है। पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य की प्रायः सभी धाराओं का प्रतिनिधित्व उनके काव्य में मिल जाता है। वीरगाथा काल की झलक 'विजयिनी विजय वैजयंती' तथा विजय वल्लरी' आदि रचनाओं में मिलती है। भक्ति काव्य में वे सूर से विशेष प्रभावित हैं। वे अष्टछाप के कवियों द्वारा आरम्भ की गयी कृष्ण काव्य की अन्तिम महान कड़ी हैं।[16] उनके प्रयत्नों से ब्रजभाषा काव्य का जैसे नव जागरण ही हो उठा। इसी के लिए उन्होंने 'कविवचन सुधा' पत्रिका निकाली और 'कविता वर्द्धिनी' सभा की स्थापना की।

भारतेन्दु के समस्त काव्य को डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इस प्रकार विभाजित किया है—

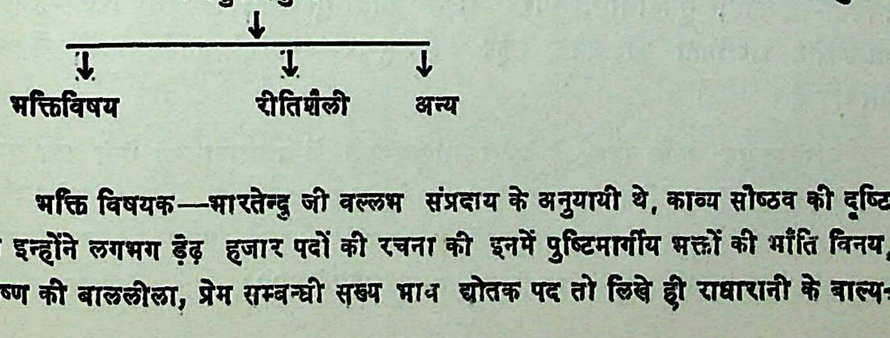

भक्ति विषयक—भारतेन्दु जी वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे, काव्य सौष्ठव की दृष्टि से इन्होंने लगभग डेढ़ हजार पदों की रचना की इनमें पुष्टिमार्गीय भक्तों की भाँति विनय, कृष्ण की बाललीला, प्रेम सम्बन्धी सख्य भाव द्योतक पद तो लिखे ही राधारानी के बाल्य-

काल सम्बन्धी पदों की रचना भी की। राधा-कृष्ण के प्रेम, मान और विरह, उद्धव-गोपी संवाद, विरह की सभी दशाओं, इष्टदेव पर विश्वास, अपनी दीनता-हीनता आदि अनेक विषय भी इन्होंने लिए हैं। इनके बाद जो ग्रन्थ हैं उनमें या तो सांप्रदायिक विषयों का निरूपण है या भक्ति के माहात्म्य का वर्णन। कुछ नाम ये हैं—वैष्णव सर्वस्व', 'वल्लभीय सर्वस्व', भक्तसर्वस्व, भक्त बावनी, वैशाख माहात्म्य, कार्तिक कर्म विधि, मार्गशीर्ष महिमा, माघ स्नान विधि, विनय प्रेम पचासा, श्री सीता वल्लभ स्तोत्र आदि। इन स्तोत्रों से स्पष्ट है कि वे अनन्य वैष्णव थे। ये स्वयं गोस्वामी गिरिधर जी महाराज की सुपुत्री तथा गोपाल मन्दिर की अधिष्ठात्री श्यामा बेटी जी के शिष्य थे। वे युगल मूर्ति के उपासक थे। इस सम्बन्ध में इनकी ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

सरवस रसिक के सुदास दास प्रेमिन के।
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के।।

'मानुष हौं तो वही रसखान..........की भाँति अपनी ब्रज विषयक अनन्य भक्ति इन्होंने यों प्रकट की है—

ब्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामैं सिर भीजै।।
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै।
श्री राधे-राधे मुख यह बर, 'हरीचन्द' को दीजै।।

रीति शैली—भारतेन्दु के काव्य की शृंगार सम्बन्धी कविताएँ कवित्त-सवैयों में हैं। साथ ही कुछ शृंगारिक पद और होलियाँ भी है। इस वर्ग के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं—प्रेम प्रलाप, प्रेम फुलवारी, फूलों का गुच्छा, होली आदि। विहारी के सौ दोहों पर भारतेन्दु ने कुंडलियाँ भी बनाई हैं। इनकी शृंगारिक कविताएँ रीतिकालीन ढाँचे पर रचित हैं। फिर भी दोनों में महान अन्तर हैं, जहाँ रीतिकाल के कवि वाह्य चमत्कार और शब्दाडम्बर के पीछे परेशान दीखते हैं वहाँ भारतेन्दु के कवित्त-सवैये अनुभूति की गंभीरता और सरसता में पगे हैं।

नवोन्मुखी काव्य—भारतेन्दु के काव्य की तृतीय धारा राष्ट्रीयता है, उनमें 'विजयिनी विजय-वैजन्यती', सुमनांजलि, भारत वीणा आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त शृंगार, भक्ति और राष्ट्रीयता की अनेक स्फुट और सुन्दर रचनाएँ उनके नाटकों में भी वर्तमान हैं।

भारतेन्दु एवं उनके मंडल के अनेक साहित्यकारों में ब्रजभाषा की ऐसी प्रवृत्तियाँ लक्षित हुईं जो युगानुप्रेरित थीं। उनके मंडल के प्रमुख कृतिकारों में बाबा सुमेर सिंह साहबजादे, बदरीनारायण उपाध्याय, चौधरी 'प्रेमघन' (1855-1922), प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894), ठाकुर जगमोहन सिंह (1857-1899), पं० अंबिकादत्त व्यास

(1858-1900) रामकृष्ण वर्मा (1859-1906) श्री राधाचरण गोस्वामी (1859-1925), महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी और राधाकृष्ण दास मुख्य हैं। इन लोगों ने ब्रजभाषा में पुराने ढंग की रचनाओं के साथ नवीन विषयों पर भी रचनाएँ की। उस युग की ब्रजभाषा विषयक प्रवृत्तियों को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

(1) ब्रजभाषा में अब तक भक्ति एवं शृंगार की रचनाएँ हो रही थीं, भारतेन्दु और उनके मंडल ने राष्ट्रीयता, देशभक्ति का स्वर फूंका। भारतेन्दु जी के 'भारत वीरत्व', 'विजय वल्लरी', विजयिनी विजय वैजयती' में राजभक्ति और देशभक्ति का पूर्ण संतुलन है। 'प्रेमघन' की मंगलाशा, हार्दिक हर्षादर्श, भारत बधाई आर्याभिनन्दन और सौभाग्य समागम, श्री प्रतापनारायण मिश्र की 'युवराज कुमार स्वागत ते' और 'कांग्रेस की जय' में देशभक्ति की प्रधानता है। श्री राधाचरण गोस्वामी के समय राजभक्ति का लोप नहीं हुआ, पर भारत भक्ति (देशभक्ति) का स्वर प्रबल था। इन्होंने अपनी रचनाओं में शासन की कटु आलोचना की और देश-दुर्दशा का अंकन किया तथा स्वदेश की प्रशंसा की। भारतीय संस्कृति को उबारने की उनकी करुण पुकार अत्यन्त प्रभावशाली रूप में चित्रित हुई है।[17] पं० सुधाकर द्विवेदी में भी देशभक्ति का स्वर था।[18] राधाकृष्ण दास ने वर्तमान दुःख के प्रति हार्दिक सहानुभूति और हिन्दी के प्रतिप्रेम की अभिव्यक्ति अतीत गान के द्वारा की है।

(2) भारतेन्दु युग में नवीन काव्य प्रणालियों की भी खोज की गयी। उन्होंने युग की धारा के अनुकूल राजभक्ति को भी स्वीकार किया। इस प्रकार की उनकी रचना 'अनवरतअंतलीपिका' है। उस युग के प्रायः सभी कवियों में राजभक्ति का स्वर है। भारतेन्दु जी की राजभक्तिपरक रचनाओं में 'सुस्वागत पत्र', 'सुमनोञ्जलि', 'मान सोपायन', मनोमुकुल माला, जातीय संगीत, मुंहदिखावनी आदि हैं। प्रेमघन जी की 'हार्दिक हर्षादर्शी', प्रताप नारायण मिश्र की 'ब्रेडला स्वागत' और 'मैकडोमेल पुष्पांजलि' विजयिवी विलाप और राधाकृष्णदास जी राजभक्ति संबंधी रचनाएँ।

(3) भारतेन्दु युग के कवियों के ब्रजभाषानुराग का परिचय इससे भी मिल जाता कि उन्होंने प्राचीन कवियों के सरस कवित्त सवैयों का संग्रह किया और पुराने दोहाकारों के दोहों पर कुडलियाँ बनाई। भारतेन्दु ने 'सुन्दरी तिलक' नाम से सरस सवैयों का संग्रह तैयार किया। हफीजुल्ला खाँ का हजारा भी इसी युग में संकलित हुआ। भारतेन्दु ने ब्रजभाषा में बिहारी के 84 दोहों पर कुंडलियां लगाईं। अंबिकादत्त व्यास ने संपूर्ण 'बिहारी सतसई' पर कुंडलियां लगाकर 'बिहारी विहार' नाम से संग्रह प्रकाशित कराया। राय कृष्ण दास ने रहीम के दोहों पर 'रहिमन विलास' नाम से कुंडलिया लगाईं। इनके अतिरिक्त भारतेन्दु ने नाभादास के भक्तमाल के ढंग पर 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' नामक ग्रंथ लिखा।

(4) भारतेन्दुयुगीन कृतिकारों ने ब्रजभाषा प्रेम की प्रतिष्ठा कई रूपों में की–ब्रजभाषा की प्रशंसा करके और ब्रजभाषा की रचनाओं के प्रकाशन द्वारा। भारतेन्दु जी का कथन था कि ब्रजभाषा में ही कविता हो सकती है। प्रतापनारायण मिश्र तो ब्रजभाषा के अतिरिक्त खड़ी बोली में चित्तचालक रस की कल्पना भी नहीं कर सकते थे।[19] राधाचरण दास के अनुसार ब्रजभाषा स्वर्गद्वार की सीढ़ी है।[20] इसी ब्रजभाषा प्रेम ने उनके भीतर काव्योद्धार की प्रेरणा भी दी। भारतेन्दु बाबू ने सूरदास की जीवनी भी लिखी और 'सुन्दरी तिलक' की रचना की। रामकृष्ण वर्मा ने भारत जीवन प्रेस से प्राचीन कवियों की अनेक रचनाएँ प्रकाशित कीं। राधाकृष्ण ने सूरसागर, सुजान चरित्र, भक्त नामावली, रास पंचाध्यायी, जगनामा का संपादन किया।

(5) भारतेन्दु बाबू ने समस्यापूर्तियों के द्वारा ब्रजभाषा का काव्य भण्डार भरा। वे आशु कवि थे और समस्यापूर्ति करते थे। इसके अतिरिक्त दूर-दूर के कवि समस्यापूति करके भेजते थे। उन्होंने एक समस्या की कई पूर्तियां की हैं–'राम बिना बेकाम' की चार, 'ग्रीषमैं प्यारे हेमंत बनाइये' की छह, 'क्यों प्यारो फिरत दिवानी सी' की दस और 'कान्ह कान्ह गोहरावति है' की पन्द्रह। प्रतापनारायण मिश्र और अम्बिकादत्त व्यास की समस्या पूर्तियां आकर्षक हैं।

(6) भारतेन्दु के पूर्ववर्ती ब्रजभाषा काव्य में प्रायः पद, कवित्त- सवैये में मुक्तक रचनाएं की जाती थीं। भारतेन्दुयुगीन रचयिताओं ने प्रबन्ध काव्यों एवं कथा काव्यों की रचनाएं की। प्रेमघन ने गोल्डस्मिथ के 'डिजर्टेड विलेज' का 'जीर्ण जनपद' नामक अनुवाद किया था और 'अलौकिक लीला' या 'दुर्दशा दत्तापुर' नामक प्रबन्ध काव्य की रचना की। इसमें ग्रामीण जीवन के चित्र उरेहे गए हैं। यह ग्रन्थ पूर्णरूपेण परंपरामुक्त और स्वच्छन्द है। देहान्त में प्रयुक्त शब्दों के प्रयोग से ग्राम जीवन बरबस नेत्रों के समक्ष आता है।[21]

(7) ब्रजभाषा काव्य का क्षेत्र विस्तार इसी युग में हुआ। बाल विवाह, अनमेल विवाह, गोरी गोरिया, साँवर गोरवा आदि पर कवियों ने रचनाएँ कीं। इन कवियों ने स्वदेशी प्रेम और हिन्दी प्रेम पर कविताएं की।

(8) भाव की दृष्टि से भारतेन्दु युग में ब्रजभाषा की नवीनता आई। इस युग में छन्दों की दृष्टि से भी नवीनता आई। इस युग में दोहा, कवित्त, सवैया, छप्पय, रोला आदि प्राचीन छंद तो प्रचलित ही रहे। लावनी, आल्हा, कजली आदि नए छंद भी प्रचलित हुए। लोकगीतों की ओर कवियों का ध्यान गया, उन्होंने स्वयं भी लोकगीत लिखे।

समग्रतः विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि भारतेन्दुयुग संक्रांति का काल था। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों की ओर लोगों का ध्यान था। अभी खड़ी बोली में

काव्य रचना हो या नहीं, यह विचार चल रहा था। पर ब्रजभाषा की मधुरिमा उन्हें आकृष्ट कर रही थी। भारतेन्दु स्वयं ब्रजभाषा को ही काव्य की। उत्तम भाषा मानते थे। उन्होंने सन् 1881 से खड़ी बोली में रचना शुरू की ब्रजभाषा में नए विषय और नए छंदों का सन्निवेश हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि भक्तिकाल और रीतिकाल की सारी परंपरा को कायम रखते, उसका परिमार्जन करते हुए कवियों ने नवीन विषयों ओर ध्यान खींचा। भारतेन्दु एवं भारतेन्दु मंडल की ब्रजभाषा विषयक रचनाएं स्वयं में विस्तृत शोध की अपेक्षा रखती हैं।

संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास–दसवाँ संस्करण पृ० 580.
2. भारतेन्दु के निबन्ध—डा० केसरी नारायण शुक्ल पृ० 62.
3. भजन करो श्री कृष्ण का, मिल कर के सब लोग।
   सिद्ध होयगा काम और छूटेगा सब सोग॥ वही पृ० 63.
4. भारतेन्दु के निबन्ध—पृ० 63.
5. ब्रजभाषा साहित्य का इतिहास—पृ० 666-710.
6. ब्रजभाषा–पृ० 17—डा० धीरेन्द्र वर्मा.
7. सूरपूर्व ब्रजभाषा और साहित्य–डा० शिवप्रसाद सिंह पृ० 290.
8. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय–डा० दीनदयालु गुप्त.
9. निम्बार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण भक्त हिन्दी कवि—डा० नारायण शर्मा.
10. राधावल्लभ संप्रदाय-सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक.
    श्री हित हरिवंश गोस्वामी—संप्रदाय और साहित्य–श्री ललिता चरण गोस्वामी.
11. स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य—डा० गोपाल दत्त शर्मा.
12. चैतन्यमत और ब्रज साहित्य–श्री प्रभुदयाल मीतल.
13. हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य में मधुर भाव की उपासना—डा० पूर्णमासी राय.
14. मध्यकालीन हिन्दी खण्डकाव्य–डा० सियाराम तिवारी.
15. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० 237.
16. भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवि–डा० किशोरी लाल गुप्त.
17. मैं हाय-हाय दै धाय पुकारौं कोई,
    भारत की डूबी नाव उबारो कोई।
    उड़ गए वेब के बादवान अति भारे,

ऋषिजन रस्सा नहीं रहे खैंचन हारे ।।

—भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवि, पृ० 422.

18. बाप चलाई एक मत । बेटा सहस करोर ।

भारत की गारत किए मतवाले, बरजोर ।। पृ० 426.

19. जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतंत्र भाषा में है जो ब्रजभाषा, बुन्देलखंडी, वैसवारी और अपने ढंग पर लाई गई संस्कृत व फारसी से बन गई है, जिसे चन्द से लेके हरिश्चन्द्र तक प्रायः सभी कवियों ने आदर किया है। उसका सा अमृतमय चित्त चालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके, यह किसी कवि के बाप की मजाल नहीं।" भा० स० कवि, पृ० 390.

20. ब्रजभाषा, भाषा ललित, कलित कृष्ण की केलि ।
या ब्रज मंडल में उठी, ताकी घर घर बेलि ।। वही पृ० 420

21. पीला सबके पगन सीस घोघी कै छतरो
लैकर लाठी चलैं भेंड बाटैं सब पतली ।। पृ० 363.

❂

सच्चे राष्ट्रनेता और जागरूक चिंतक-भारतेन्दु

जया सिंह

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनी लेखक बाबू शिवनन्दन सहाय ने लिखा है—

"महत जनन को जीवनि यह हैं याद दिलावति ।
करन योग हैं हमहुं उत्तमाचरन सिखावति ।।
अरु या जगत तें गमनकाल हमहूँ निज पाछे ।
छाड़ि सकत पद चिह्न समय बालू पर आछे ।।"

इसे और विस्तार देते हुए उन्होंने आगे लिखा है—"बड़े लोगों के सुन्दर चरित्र पाठ करने से हम लोगों को इस बात की चेतावनी होती है कि उन लोगों के समान हम लोग भी अपना आचरण उत्तम बना सकते हैं और संसार से कूच करने के समय इस समय रूपी बालुका पर पदचिह्न छोड़ सकते हैं जिसमें और लोग उसको देखकर चले अर्थात् उसका अनुकरण करें।" वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सारा जीवन कुछ ऐसा ही था। उन्होंने देश, समाज और हिन्दी के लिए जो कुछ भी किया, वह आज हमारे लिए एक आदर्श है। एक सामन्ती परिवार में जन्म लेकर भी वे 'सामन्त नहीं फकीर थे' और सही माने में 'हिन्दी के तकदीर थे'। उनके सम्पूर्ण जीवन पर विचार करने से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि भारतेन्दु को जन्म से जो प्रतिभा मिली थी, वह हिन्दी साहित्य के संस्कार और प्रचार तथा देश की दशा के सुधार के लिए ही मिली थी। राष्ट्रीय भावनाएं इनके मन में इस तरह से कूट-कूट कर भरी थीं कि कभी-कभी ये देश की दशा को सोचकर उन्मत्त का सा आचरण करने लगते थे और एकान्त में बैठकर रोया करते थे। प्रारम्भ से ही इन्होंने सोच और समझ लिया था कि मातृभाषा के उद्धार और पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के बिना देश की उन्नति सम्भव नहीं है। अपने इसी सपने को साकार करने के लिए उन्होंने साहित्य और समाज का सुधार और उसी के द्वारा देश की उन्नति करने का दृढ़ संकल्प अपने मन में लिया। अपने संकल्प के मार्ग में उन्हें कितने ही झंझावातों का सामना करना पड़ा, अपने ही मित्रों द्वारा कई बार अपमानित होना पड़ा, आर्थिक क्षति भी उठानी पड़ी, शारीरिक कष्ट भी हुआ, कभी-कभी मानसिक यातना भी भोगनी पड़ी। परन्तु इन सबके बावजूद भी दृढ़ प्रतिज्ञ भारतेन्दु जी को अपने निश्चय से डिगाने में कोई भी विषमता सफल नहीं हुई।

भारतेन्दु के मन में जहाँ देशोन्नति और हिन्दी की उन्नति के भाव सन्निहित थे, वहीं समाज में व्याप्त दुरूहताओं के प्रति भी उनके मन मे सुधार के भाव अक्षुण्ण रूप से विद्य

मान थे। उन्हें पूरा विश्वास था कि देश की उन्नति समाज की उन्नति से ही संभव है। उन्हें यह भी विश्वास था कि समाज की उन्नति का मूल, धर्म के मूल में ही है क्योंकि देश का तत्कालीन ढांचा धर्म प्रधान था। इसीलिए वे समाज और देश की उन्नति की जिम्मेदारी ब्राह्मणों को मानते थे। देशवासियों की अकर्मण्यता और उत्साहहीनता पर भारतेन्दु की लेखनी समय-समय पर अबाध रूप से चली। बलिया में दिए गए व्याख्यान में उन्होंने कहा था—"यह समय ऐसा है कि मानो उन्नति की घुड़दौड़ हो रही हो। अमेरिकन, अंगरेज, फ्रांसीसी, तुर्की, ताजी, सब सरपट दौड़ जाते हैं, उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। औरों को जाने दीजिए, जापानी टट्टुओं को भी हाँफते दौड़ते देखकर भी लाज नहीं आती। ब्राह्मणों के ही जिम्मे यह था कि वे देश में नाना प्रकार की विद्या और कला फैलावें। अब भी यह लोग चाहें तो हिन्दुस्तान प्रतिदिन कौन कहे प्रतिक्षण बढ़े, पर इन्हीं लोगों को सारे संसार के निकम्मेपन ने घेर रखा है।" इस प्रसंग में भारतेन्दु का मूल अभिप्राय भारतीयों को प्रगति की दौड़ में शामिल करने के लिए उत्तेजित और उत्साहित करना था। उनका विचार था कि उन्नति के लिए हम केवल दूसरों पर ही आश्रित न रहें वरन् अपनी प्राचीन गरिमा का पारायण करें तो हमें अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ सहज ही प्राप्त हो सकेंगी। परस्पर जातिगत और धर्मगत वैमनस्यता और मतभेदों को भुलाकर हमें एकजुट होकर रहना चाहिए। "वैष्णव-शाक्त इत्यादि नाना प्रकार के मत के लोग आपस का बैर छोड़ दें। यह समय इन झगड़ों का नहीं है। हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए जाति में चाहे कोई ऊँचा हो, चाहे नीचा हो, सबका आदर कीजिए। जो जिस योग्य हो, उसको वैसा ही मानिए। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए।"

समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों के विरोध में इन्होंने अपना स्वर ऊँचा किया था। भारतेन्दु के समय बाल विवाह की प्रथा थी। इस प्रथा को ये समाज की उन्नति में बाधक मानते थे। अपने 'भारत दुर्दशा' नाटक में इन्होंने बाल-विवाह के विषय में लिखा है 'बालकपन में ब्याहि पिरीत बल नाशा कियो है" स्त्री-शिक्षा के विषय में भारतेन्दु प्रगतिशील विचारों के थे। उस समय मिस मेरी कारपेन्टर ने स्त्रियों की शिक्षा विषयक जो अभियान चला रखा था, भारतेन्दु ने उसे प्रबल समर्थन दिया। उन दिनों बंगाल, बम्बई आदि कम ही प्रान्तों में लड़कियों की शिक्षा की व्यवस्था थी। वहाँ जो लड़कियां शिक्षा में उत्तीर्ण हुआ करती थीं, ये उनका उत्साहवर्धन करने के लिए उन्हें पुरस्कार आदि भेजकर सम्मानित किया करते थे। कलकत्ता की लड़कियों के लिए भेजे गये पुरस्कार के लिए बंगाल के तत्कालीन डाइरेक्टर महोदय ने इन्हें पत्र द्वारा धन्यवाद भी दिया था। स्त्रियों की शिक्षा के विषय में भारतेन्दु जागरूक तो थे परन्तु केवल गृह-उपयोगी और समाज की दृष्टि से सदनागरिक बनाने के उद्देश्य से दी जाने वाली शिक्षा के ही पक्षपाती थे। उन्होंने लिखा है—"लड़कियों को भी पढ़ाइए किन्तु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जातीं हैं। जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उन्हें शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुलधर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।"

वैवाहिक अवसरों पर किए जाने वाले अपव्यय के ये विरोधी थे। बाबू साहब का विचार था कि ऐसे अवसरों पर कम से कम खर्च किया जाना चाहिए। इस प्रसंग में उन्होंने 1878 ई० में अग्रवालों की एक सभा आयोजित कराकर उसमें एतद्विषयक प्रस्ताव भी पास कराया था। ये विवाह के अवसर पर गाई जाने वाली गाली' के भी विरोधी थे। स्वय अपनी पुत्री के विवाह के समय इन्होंने इस गीत पर रोक लगा दी थी। इस प्रसंग में इनके एक मित्र द्वारा इन्हें लिखे गए पत्र के कुछ अंश द्रष्टव्य है--"मैं आपको इस बात का धन्यवाद देता हूँ कि आपने यह अच्छा प्रबन्ध किया कि विवाह में जो स्त्री बुरा-बुरा गीत गाती थी तिसकी रीति उठा दी। ईश्वर आपको ऐसे ही शुभ कार्यों की ओर रखें।" इन्होंने इस अवसर पर गाने के लिए स्वयं एक 'जेवनार' लिखा जो इस प्रकार है –

'सुन्दर स्याम राम अभिरामहिं गारी का कहि दीजै जू।
अगुन सगुन के अनगुन गुनगन कैसे के गन लीजै जू।
मायापति माया प्रगटावन कहत प्रगट श्रुति चारी।
जो पति पितु सिसु सबमें व्यापत ताहिलगे का गारी।
मातु पिता को होत न निर्णय जाति न जानी जाई।
जाकी जिय जैसी रूचि उपजै तैसिय कहत बनाई।

भारतेन्दु स्त्रियों की प्रत्येक समस्या के प्रति जागरूक थे। विधवा विवाह के तो ये पूर्ण समर्थक थे। 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' में इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि "पुनर्विवाह अवश्य करना। सब शास्त्र की यही आज्ञा है और पुनर्विवाह के न होने से बड़ा नोकसान होता है, ललनागन पुंश्चली हो जाती हैं, जो विचार कर देखिए तो विधवागन का विवाह कर देना उनको नरक से निकाल लेना है और शास्त्र की भी आज्ञा है।" उस समय समाज में नारियों की स्थिति बड़ी ही दयनीय थी। वे इस दयनीयता की स्थिति से भी बराबर चिंतित रहा करते थे और बराबर कहा करते थे कि "नारि नर सम होहिं।"

कलकत्ते में "ब्रह्मसमाज" की स्थापना, समाज में व्याप्त अनेक बुराइयों को दूर करने के सदुद्देश्य को लेकर की गयी थी। परन्तु धीरे-धीरे उसका जो विकृत रूप उभरता आ रहा था, भारतेन्दु उससे बहुत दुखी थे। 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' में उन्होंने ब्रह्म धर्म में प्रचलित मदिरापान पर व्यंग्य करते हुए लिखा—

'मदिरा ही के पान हित हिन्दू धर्महिं छोड़ि।
बहुत लोग ब्राह्मों बनत, निजकुल सों मुख मोड़ि
ब्रांडी को अरू ब्रह्म को पहिले अक्षर एक।
तासों ब्राह्मों धर्म में नामें दोस न एक।।

भारतेन्दु आर्य समाज की मूल उदभावनाओं से सहमत नहीं थे। सम्भवतः मूर्तिपूजा का विरोध इसके मूल में था। 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' में पुरोहित के द्वारा उन्होंने कहलाया है—"वैष्णवों का मत तो जनमत की एक शाखा है और महर्षि दयानन्द स्वामी

ने इसका खूब खण्डन किया है, पर वह देवी की मूर्ति तोड़ने को भी कहते हैं। यह नहीं हो सकता।"

धर्म के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी की प्रगतिशीलता देखते ही बनती है। उनके अनुसार धर्म का खान-पान से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। सच्ची धार्मिक भावनाओं वाला कोई व्यक्ति मांस मदिरा का सेवन करता हुआ भी धर्म परायण रह सकता है। 'वैदिक हिंसा-हिंसा न भवति' में यमराज के सामने जब पुरोहित ने यह तर्क से सिद्ध किया कि गोमांस का सेवन करना और मद्यपान किसी भी प्रकार का दोष नहीं हैं तो भारतेन्दु जी ने यम के मुँह से जो व्यवस्था दिलाई है वह उनकी अपनी धार्मिक उदारता का ही द्योतक है— 'यमराज—मांस मदिरा खाना पीना है तो यों ही खाने में किसने रोका है, धर्म को बीच में क्यों लाता है।" अर्थात् वे धर्म के उच्च अम्लान और विशुद्ध रूप के समर्थक थे। वे जिस वैष्णव धर्म के अनुयायी थे वह धार्मिक सहिष्णुता की भाव भूमि पर आधारित था। जिस धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार कबीर और महात्मा गांधी ने किया, भारतेन्दु उसके पुरस्कर्त्ता थे। अपने समय में सभी धर्मों को प्रेम की डोर में बाँधने वाले भारतेन्दु ही थे। उनके धर्म का आधार श्रद्धा, करूणा, सत्य, प्रेम और अहिंसा था। उनकी यह धार्मिक प्रगतिशीलता युग की सामान्य विचारधारा से बहुत आगे की कड़ी है।

'वेश्यःस्तवराज' में वेश्याओं की संगति से उत्पन्न होने वाले दुर्गुणों की ओर ध्यान आकर्षित कराते हुए उन्होंने 'प्रेमयोगिनी' में लिखा है—

"घर की जोरू लड़के भूखे, बने दास और दासी।
दाल की मण्डी रंडी पूजे, मानों इनकी माँ सी॥"

काशी के समाज का वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है—

'आधी कासी भांड़ भंड़ेरिया बाम्हन और सन्यासी।
आधी कासी रंडी मुण्डी, रांड़ खानगी खासी॥

भारतेन्दु ने मुकदमाबाजी, फैशनपरस्ती, खुशामद, फूट, ईर्ष्या, स्वार्थवृत्ति आदि को समाज के उन्नयन में बाधक माना है। समाज में व्याप्त इन कुरूहताओं का वर्णन और इन पर कर्कश आघात, इनके नाटकों में प्रभूत रूप से मिलते हैं। नाटकों के माध्यमों से इन्होंने समाज की तमाम बुराइयों को सबके सामने रखने का उपक्रम किया है, ताकि लोग उनके कुप्रभाव को समझ सकें और उससे बच सकें। इन्होंने ऐसे जातीय संगीत की भी रचना की जिससे देश और समाज का उत्थान सम्भव था।

भारतेन्दु साहित्य का समग्र रूप से अध्ययन करने पर इनके मन में विद्यमान देश और और समाज को जागृति प्रदान करने की भावना के निदर्शन, हमें पग-पग पर होते हैं। यही कारण है कि हम भारतेन्दु को एक सच्चे राष्ट्रनेता और समाज के एक जागरूक चिंतक के रूप में पाते हैं।

◆

भारतेन्दु की काव्यभाषा-चेतना

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

भारती की वीणा का निर्माण करने वाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र एक अत्यन्त संवेदनप्रवण, सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न सर्जक-साहित्यकार थे। उनकी दार्शनिक चेतना बहुत गहन और समाज-राजनीतिक चेतना अत्यन्त प्रखर थी। संवेदना और भाव के धनी इस साहित्यकार की भाषा-चेतना भी अनन्य थी। एक ओर वे गद्य-भाषा के स्वरूप-निर्धारण में अपनी स्पष्ट भाषा-चेतना को क्रियान्विति देते दीखते हैं, तो दूसरी ओर वे काव्यभाषा के प्रति जातीय संस्कार और लोक-प्रकृति के प्रसार से भरी सूक्ष्म और गहरी भाषा-चेतना लेकर उपस्थित होते हैं। उनकी काव्यभाषा-चेतना को सम्यक् रूप में समझने के लिए उनकी भाषा-चेतना के निम्नलिखित पहलुओं का संज्ञान अपेक्षित है—

1. कविता के लिए आधारभाषा की बुनियादी चेतना
2. हिन्दी प्रदेशों की जातीय संवेदना की भाषा-चेतना
3. उन्मुक्त लोक-संवेदना की भाषा-चेतना
4. काव्यभाषा द्वारा संवेदना को गहन-विस्तृत करने वाली भाषा-चेतना
5. लोक-प्रकृति के अनुरूप खड़ी बोली को काव्यभाषिक रूप प्रदान करने वाली भाषा-चेतना
6. काव्यभाषा-प्रयोग की चमत्कारी चेतना

1. कविता के लिए आधार-भाषा की बुनियादी चेतना :

भारतेन्दु ने अपने काव्य की आधार-भाषा उस निज भाषा को, स्वदेशी भाषा को बनाया था, जिसके लिए उन्होंने संवत्, 1934 की 'हिन्दी वर्धिनी सभा' में अपने काव्यात्मक व्याख्यान के बीच यह मंत्र-घोष किया था—

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।"

उन्होंने संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी जैसी भाषाओं की तुलना में अपने देश की बोल-चाल की भाषा को, उसकी सम्प्रेषणीयता और प्रकार्यात्मकता के कारण स्पष्ट महत्व दिया था—

"सुत सों, तिय सों, मीत सों, भृत्यन सों दिन-रात।
जो भाषा मधि कीजिए निजमन की बहुबात॥
ताकी उन्नति के किये तब विधि मिटत कलेस।
जामैं सहजै दे सको इन सबको उपदेस॥"

यद्यपि उन्होंने संस्कृत-बंगला, गुजराती, खड़ी बोली, उर्दू जैसी आधार भाषाओं में भी कविताएँ लिखी, किन्तु उनके काव्य संवेदन की मुख्य अभिव्यक्ति का आधार ब्रजभाषा ही रही। अंग्रेजी को उन्होंने कहीं भी आधार-भाषा के रूप में ग्रहण नहीं किया, किन्तु उसकी रोमन लिपि के नागरी संयोग से काव्य चमत्कार अवश्य उपस्थिति किया।

भारतेन्दु की दृष्टि में ब्रजभाषा काव्याभिव्यक्ति के लिए जितनी समर्थ थी उतनी 'खड़ी बोली' नहीं। यह सामर्थ्य उसमें एक और परंपरा और संस्कृति का निरंतर संवहन करने के कारण तथा दूसरी ओर लोक-चित्त की संवेदना का सहज आधान करने के कारण आ पायी थी। इसके साथ ही ब्रजभाषा काव्यात्मक प्रयुक्ति (Poetic Register) की समर्थ शक्ति और क्षमता से सम्पन्न थी। तत्कालीन खड़ी बोली हिन्दी में इन विशेषताओं का अभाव था। इसीलिए भारतेन्दु को लगता था कि खड़ी बोली हिन्दी में अच्छी कविताएँ नहीं लिखी जा सकतीं। तभी फ्रेडरिक पिनकौट को लिखे अपने पत्र में उन्होंने यह स्वीकार किया था कि अभी खड़ी बोली द्वारा काव्यभाषा के क्षेत्र में ब्रजभाषा को अंतरित नहीं किया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि अपनी काव्य-भाषा के लिए उन्होंने ब्रजभाषा को बुनियादी आधार-भाषा के रूप में ग्रहण किया था।

2. हिन्दी-प्रदेशों की जातीय संवेदना की भाषा-चेतना :

भारतेन्दु के लिए काव्यभाषा का आदर्श स्वरूप हिन्दी भूमि की परंपरित जातीय संवेदना को संवहन करने वाला स्वरूप था। यह संवेदना उन्हें ब्रजभाषा में प्रकृत रूप में दीखती थी। ब्रजभाषा को अपनी ऐतिहासिकता के साथ-साथ काव्य संवेदनाभिव्यक्ति की ऐतिहासिकता और हिन्दू जन-मानस की ऐतिहासिकता भी प्राप्त थी। उनकी ब्रजभाषा कविताओं में हमें लोक-त्योहार की, लोक-रीति की, 'होली' जैसे जीवंत और हर्षोल्लास-भरे उत्सव की, आह्लाद के अवसर पर गाली गाने की, शरीरांगों पर 'गोदना' गुदाने की, पान चबाने की, समधिन का स्वागत गाने की हिन्दी प्रदेशीय जातीय रीतिनीति से भरी जीवन-प्रकृतिगत संवेदना के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। 'होली' पर अकेले भारतेन्दु ने जितना अधिक लिखा है उतना किसी और कवि ने नहीं लिखा। आह्लाद और उल्लास के इस पर्व को वे अपनी समाज-राजनीतिक दुरवस्था की चेतना से भी अनुप्राणित होकर अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं :—

> "भारत में मची है होरी।
> इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी।
> अपनी-अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुहुं ओरी॥
> दुंद सखि बहुत बढ़ा री॥
> धूर उड़त सोइ अबिर उड़ावत सबको नयन भरो री।
> दीन दसा अंसुअन पिचकारिन सब खिलार भिजयो री॥
> भीजि रहे भूमि लटोरी॥

भई पतझार तरब कहुं नाहीं सोइ बसंत प्रगटो री ।
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै सोई फूली सरसो री ॥
सिसिर को अंत भयो री ।।

....

उठो उठो भैया क्यों हारौ अपुन रूप सुमिरो री ।
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करो री ॥
दीनता दूर धरो री ।।"

भारतेन्दु को अपनी जातीय संवेदना-चेतना की इतनी चिन्ता थी कि उन्होंने लिखा था—"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय होने की आवश्यकता है । इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाशित होते हैं, किन्तु वे जनसाधारण को दृष्टिगोचर नहीं होते । इसके हेतु मैंने सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश में, गाँव-गाँव में, साधारण लोगों में प्रचार कीं जाएँ ।" कहना न होगा कि भारतेन्दु अपनी काव्यवस्तु और काव्य-भाषा—दोनों ही में हिन्दी प्रदेश की जिस जातीय संवेदना का संवहन-अभिव्यंजन कर रहे थे उस ओर बाद के साहित्यकारों तक किसी ने ध्यान नहीं दिया । वे लोग अभिजात संवेदन को ग्रहण करते चले गये । तदनुरूप उनकी काव्य-भाषा भी अभिजात होती गयी । काफी बाद में अकेले डा० रामविलास शर्मा ने हिन्दी प्रदेश की इस जातीय संवेदना और भाषा की जागरूक पहचान की ओर उसे अपने चिन्तनात्मक लेखन में असरदार ढंग से रेखांकित किया ।

3. उन्मुक्त लोक-संवेदना की चेतना :

भारतेन्दु की काव्यभाषा उन्मुक्त लोक-संवेदना की काव्यभाषा है । उनके यहाँ प्रेम की उन्मुक्त लोक-संवेदना प्राप्त होती है । इस लोक संवेदना में कहीं भी श्लीलता-अश्लीलता की रेखा नहीं है । फलतः काव्यभाषा में अश्लीलता से बचने का आग्रह या भय नहीं है । उनके यहाँ तो प्रेम में संकोच की अर्गला को तोड़ने वाली काव्यभाषिक संवेदना प्राप्त होती है । इसीलिए इसका बीज-मंत्र है–'काहे को सकुचात लाल रस भीने हो' अथवा 'सास-नन्द और गुरुजन की भय लाजहिं पाँयन ठेलोंगी ।' उनके यहाँ प्रेम की निर्भीकता और साहसिक अभिव्यक्तियों से भरी काव्यभाषा है—

'जाऊँगी जहँ पिय होरी खेलत, जाऊँगी जगत भय खोय ।
निधरक पिय के अधर पिऊँगी, भेटूंगी भरि भुज दोय ॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की यह काव्यभाषा प्रेम और सौन्दर्य की उपभोगात्मक संवेदना को वाणी प्रदान करने में अनन्य सिद्ध होती है । हिन्दी के प्रसिद्ध कवि-चिंतक 'अज्ञेय' ने प्रेम और सौन्दर्य की जिस उपभोगात्मक संवेदना के लिए जयशंकर प्रसाद की

प्रशस्ति की है, उनसे भी पूर्व और उनसे कई गुना अधिक यह संवेदना भारतेन्दु की काव्य-भाषा में घनीभूत दीखती है—

"वाके नैनन आछें लागैं बिथुरैं सुथरैं बार ।
मोहि कहत छवि निरखि लैन दै, तू मत कर मनुहार ।।"

इसके बावजूद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेम और यौन-विषयक प्रोक्तियाँ अपनी काव्यात्मक अभिव्यंजना में बड़ी कलात्मक और सुगठित रूप में प्रस्तुत होती हैं, जहाँ वे अपनी मर्यादा सुरक्षित रखना भी जानती हैं । बनारस के हिन्दी साहित्यकारों में प्रोक्ति-निरूपण की जो ऐसी मर्यादा पायी जाती है उसके भी अगुआ भारतेन्दु ही प्रतीत होते हैं । चाहे जयशंकर प्रसाद हों या प्रेमचन्द या डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पर यौन-व्यापार के निरूपण में इन सबकी साहित्य-भाषा अत्यंत कलात्मक और सांकेतिक हो जाती है । भारतेन्दु अपनी काव्यभाषा में इन सबका नेतृत्व करते हैं ।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की काव्यभाषा न केवल लोक-संवेदना से समीकृत है, बल्कि लोक की कलात्मक और शिल्पगत भाषा-चेतना से अनुप्रेरित और प्रभावित भी है । पंडित विद्यानिवास मिश्र ने 'भारतीय लोक साहित्य की पहचान' शीर्षक आलेख में लोक-शिल्प का पहला भाषिक कौशल शब्द या शब्द-समूह की पुनरावृत्ति को माना है । उनके अनुसार ऐसे शब्द या तो लोक-परम्परा में गृहीत मांगलिक विशेषणवाची होते हैं या केन्द्रभूत अर्थ के व्यंजक होते हैं । भारतेन्दु की काव्यभाषा में शब्द और शब्द-समूह का ऐसा आवर्तन अर्थ की प्रतिपाद्यात्मकता, स्पष्टता, परम्परा की स्मृति और सामाजिक कारणों से हुई है । उनकी काव्यभाषा लोकशिल्प के इस प्रभाववश अनेक स्थलों पर आवृत्तियों से भरी है । उनकी काव्यभाषा में कहीं 'फूल' जैसे नामिक (Nominal) की अनेकशः आवृत्ति हुई है, तो कहीं 'मगल' जैसे विशेषणक (Adjectival) की और कहीं 'नाचत' जैसे क्रियात्मक (Verbal) की ।

फूल :— "फूल्यो सो दूलह आजु फूल ही को साजै साज
फूल-सी दुलही पाइ फूल्यो—फूल्यो डोलै ।
केसरी बन्यो है बागो मोतिन की कोर लगो
फूल झरैं जब वह मुख बोलै ।।
फूल को सिहरो सीस फूलन की मालकंठ
फूले फूले नयन दोऊ लगे अनमोल ।
हरीचंद बलिहारी निज कर गिरिधारी
कली —सी दुलहिया को घूंघट खोलै ।।"

× × ×

"फूलन को मंदिर रचे फूलन सेज बनाया ।
तामें थापै कृष्ण को फूल—माल पहिराय ।"

मंगल : "मंगल जुगल नहाइ विविध सिंगार बनावत।
मंगल आरसि देखि फूल-माला पहिरावत।।
मंगल गोपी गोपी-वल्लभ भोग लगावत।
मंगल ग्वालिन आइ दूध मथि घैया ध्यावत
मंगल भोजन बहुविधि करत उठि बीरी मुख मैं धरत।
मंगल उगार हरिचन्द लै राजभोग आरति करत।"

नाचत : "नाचत ब्रह्मा शिव अरु शेषा।
नाचत बरून कुबेर सुरेसा।।
नाचत नारद आदि मुनीसा।
नाचत देव कोटि तैंतीसा।।"

उनके यहाँ प्रतिपाद्य शब्द के रूप में 'प्रेम-सरोवर' जैसे सामासिक पद की विविध आवृत्ति हुई है, जिससे इसका अनेकशः बिम्ब-भावन संभव हो पाया है—

"प्रेम सरोवर यह रचत रूचि सों श्री हरिचन्द।
×
प्रेम सरोवर यह अगम यहाँ न आवत कोय।
×
प्रेम सरोवर मैं कोऊ जाहु नहाय बिचारि।
×
प्रेम सरोवर नीर को यह मत जानहु कोय।
×
प्रेम सरोवर नीर है यह मत कीजौ ख्याल।
×
प्रेम सरोवर पंथ में चलिहै कौन प्रवीन।
×
प्रेम सरोवर के लग्यो चम्पावन चहुं ओर।।"

भारतेन्दु की काव्यभाषा में 'कोई' 'कोउ' और 'कहुं' जैसे सार्वनामिक विशेषणक की अनेकशः आवृत्ति हुई है, तो 'इक' जैसे संख्यावाचक विशेषणक और 'फिर' या 'फेरि' जैसे निपात की भी। 'फेरि' का आवर्तन तो उनके यहाँ अत्यंत सर्जनात्मक और साभिप्राय रूप में उपस्थित हो उठा है—

"कूकैं लगी कोइलैं कंदबन पै बैठि फेरि
धोए-धोए पात हिलि-हिलि सरसै लगै।
बोलै लगै दादुर मयूर लगे नाचै फेरि
देखि कै संयोगी जन हिय हरसै लगै।।
हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी
लखि हरिचन्द फेर प्रान तरसै लगै।
फेरि झूमि-झूमि बरषा की रितु आई
फेरि बादर निगोरे झुकि झूमि बरसै लगै।।"

यहाँ यह 'फेरि' शब्द का सर्जनात्मक आवर्तक प्रयोग ही है, जो परिवेशगत कारुणिक स्पृहणीयता को मूर्तिमान कर देता है।

'होली' पर उनके लिखे हुए 'राग होरी विभास' में प्रत्येक पंक्ति के अंत में 'रस भीने हो' की टेक आती है। अन्तावृत्ति का यह उदाहरण लोक-कलामय भाषिक विधान से शतः प्रतिशत प्रभावित है—

"आए कहाँ सों आज प्रात रस-भीने हो।
अति जंभात अल सात लाल रस भीने हो।
किस खेले तुम रैन फाग रस–भीने हो।
कौन को दियो सोहाग लाल रस–भीने हो।
आज अहो बिनही गुलाल रस–भीने हो।
नैन दोउ हैं लाल लाल रस भीने हो।
गांव न मिली गुलाल प्यार रस भीने हो।
जावक लग्यो लिलार लाल रस भीने हो।"

इसी प्रकार लोक-लय और उसकी टेक को सुरक्षित रखने वाली भाषिक कला 'अरे-रे गोरी' की आद्यावृत्ति में भी प्राप्त होती है—

"अरे गुदना रे—गोरी तेरे मुख पै बहुत खुल्यो गुदना रे।
अरे रसिया रे—गोरी वापैं घायल मायल होय रह्यो।
अरे दुपटा रे—गोरी तापैं सुरख अबीरी और फब्यो।
अरे मोहना रे— गोरी तेरे संग फिरै घर-बार तज्यो।"

कहना न होगा कि भारतेन्दु की काव्यभाषा में ऐसे आवर्तन समान्तरता (Parallelism) की सृष्टि करते हैं, लयवत्ता और सांगीतिकता को पुरस्सरता प्रदान करते हैं, जिससे सम्प्रेषणीयता सहज और प्रभावी हो पाती है, साथ ही सर्जनात्मक स्तर पर प्रतिपाद्य को सशक्त रूप में रेखांकित करते हुए साभिप्रायता को भी उजागर करते हैं। आवर्तन का यह स्वरूप उनके यहाँ लोक-शिल्पात्मक भाषिक विधान से प्रभावित रूप में सामने आता है। स्वयं भारतेन्दु का यह अभिमत भी था कि "जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता।"

लोकशिल्प के साथ–साथ भारतेन्दु अपनी काव्यभाषा के लिए लोकशब्दावली के प्रयोग के भी अधिकाधिक आग्रही दीखते हैं—"नज रहा छैला ले नजर लगाये चला जाय।" वे अपनी कविता को, उसमें व्यक्त भाव-संवेदना को जन–मन तक पहुँचाना, संप्रेषित करना चाहते हैं। अपनी इस सोद्देश्यता को विस्तार देने के उद्देश्य से वे लिखते हैं "गीत बहुत छोटे-छोटे छन्दों में साधारण भाषा में बने, वरंच गँवारी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। ऐसे गीतों में रोचक बातें जो स्त्रियों और गँवारों को अच्छी लगें, होनी चाहिए और शृंगार, हास्य आदि रस इसमें मिले रहें, जिसमें इसका प्रचार सहज में हो जाय।"

इसी लोकभाषा के प्रभावी रंग में रंगे होने के कारण भारतेन्दु ने पदावली साहित्य की सृष्टि की, जिसकी काव्यभाषा 'तुम—मैं संस्थिति' (You—Me—Situation) की काव्यभाषा है। इसमें सारे कथन के मूल में 'तुम' और 'मैं' जैसे सर्वनामों की स्थिति है। इन्हीं सर्वनामों को भाषा-वैज्ञानिकों ने Shifter और Proxyword कहकर पुकारा है। लोकरंग में रंजित होने के कारण ये सर्वनाम सामान्यीकरण की अनन्य क्षमता से परिपूर्ण हैं। भारतेन्दु की वर्णनात्मकता भी उनकी काव्यभाषा में 'तुम—मैं' स्थिति में ही उत्तम पुरुष-शैली में व्यक्त होती है—"मैं तो चौंक उठी डफ बाजन सों। सोवत रही अपने आंगन में जागी गारी गाजन सों।।'

4. काव्यभाषा द्वारा संवेदना को गहन-विस्तृत करने वाली भाषा-चेतना :

भारतेन्दु की काव्यभाषा संवेदना—समृद्ध काव्यभाषा तो है ही; पर यह एक ओर दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुत: उनकी संवेदना—समृद्ध काव्यभाषा का आंतरिक संघटन ऐसा है, जो स्वत: हिन्दी (ब्रजभाषा) भाषा की संवेदना के स्वरूप को भी निर्धारित करता है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने जब 'भाषा और संवेदना' पर लिखते हुए यह स्पष्ट किया था कि "भाषा के विकास के माध्यम से संवेदना के विकास को भी देखा जा सकता है या कि भाषा का विकास संवेदना के विकास को भी प्रभावित करता है," तब उनकी यह स्थापना अपनी जगह पर सोलहो आने सही थी। आज वैज्ञानिक रूप में भाषा वैज्ञानिक स्तर पर यह सिद्ध हो चुका है कि 'क्षमता' (कम्पीटेंस) से 'निष्पत्ति' (पफार्मेंस) और पुन: 'निष्पत्ति' से 'क्षमता' संपुष्ट और समृद्ध होती है। एक भाषाभाषी समुदाय को अपनी मातृभाषिक अभिव्यक्ति के लिए उसकी क्षमता (कम्पीटेंस) आरम्भ से ही प्राप्त होती है, यहाँ भाषा-व्यवहार 'क्षमता' से 'निष्पत्ति' की ओर क्रियाशील होता है, किन्तु द्वितीय भाषा का अधिगम प्राप्त करते हुए हम 'क्षमता' से 'निष्पत्ति' की ओर उन्मुख नहीं होते, अपितु 'निष्पत्ति' (पफार्मेंस) से 'क्षमता' (कम्पीटेंस) की ओर आते हैं; 'निष्पत्ति' के आधार पर ही भाषिक 'क्षमता' की प्राप्ति करते हैं, अपनी भाषिक संवेदना का विकास करते हैं। इसी प्रकार संवेदना से भाषा विकसित होती है और विकसित भाषा से संवेदना का क्षेत्र-विस्तार और गहन अनुभावन संभव हो पाता है। काव्यभाषा के रूप में भारतेन्दु की ब्रजभाषा को इस दृष्टि से भी श्रेय और गौरव दिया जाना चाहिए, क्योंकि वह काव्यभाषा को गहराई और विस्तार दोनों प्रदान करती है। प्रेम-संवेदना के क्षेत्र में वह जहाँ ऋजु चित्त की अनेक अनुषंगों वाली गहरी भाषा है, वहीं उसमें लोकचित्त की विस्तृति भी विद्यमान है। जायसी ने जिस प्रकार अवधी को लोक-संवेदना की गहराई और विस्तृति प्रदान की थी भारतेन्दु ने काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा को इसी प्रकार यह गुणवत्ता प्रदान की है। उनकी काव्यभाषा में पौराणिकता, भक्ति-भावमयता, लीलात्मकता, वेदान्त-विरोधिता, शांकर वेदान्तपरकता, वैष्णव-धार्मिकता, धार्मिक सहिष्णुता, उत्सवपरकता, फागमयता, ऋतुप्रभावमयता, समाज-राजनीतिकता, लोकोन्मुखता, ऐहिकता, जीवंतता, हास्यपरकता आदि की वैविध्यपूर्ण स्थितियों में निज को ड़ाल सकने

की समृद्ध संवेदनात्मक क्षमता प्राप्त होती है। यह काव्यभाषा सूर, तुलसी, रसखान, घनानंद, मीरा की संवेदना का पुनस्सृजन करने वाली काव्यभाषा भी है।

5. लोक-प्रकृति के अनुरूप खड़ी बोली को आदर्श काव्यभाषिक रूप प्रदाव करने वाली भाषा–चेतना :

भारतेन्दु ने यद्यपि ब्रजभाषा को अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए बुनियादी आधारभाषा के रूप में ग्रहण किया, "पर उनकी काव्यभाषा-चेतना कभी खड़ी बोली के विरोध में नहीं रही, अपितु खड़ी बोली हिन्दी को उस आदर्श रूप में काव्यभाषा बनाने की रही, जिसमें उसे लोकचित्त के अनुरूप ब्रजभाषा-सी अभिव्यक्ति-क्षमता और सार्थकता प्राप्त हो सके।" वे खड़ी बोली को सहज, सम्प्रेषणीय स्वाभाविक और लचीलापन-भरी, नमनीय काव्यभाषा के रूप में निखारना चाहते थे। खड़ी बोली गद्य का संस्कार तो उन्होंने कर दिया था, पर काव्यात्मक अभिव्यक्ति रूप में उन्हें उसमें वह नमनीय काव्यात्मक क्षमता तब तक प्राप्त नहीं हो पा रही थी, जिसकी वे तलाश कर रहे थे। इस दिशा में उनकी चिंता और सक्रियता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि उन्होंने ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली को मिलाकर उसकी अभिव्यक्ति-क्षमता को समांतर देखने और लाने की चेष्टा की। भाषा विज्ञान के "कूट-अन्तरण" (Code Mixineg) जैसे कौशल का सहारा लेकर उन्होंने ऐसा भाषा-विधान उपस्थित किया, जिसमें ब्रजभाषा कविता के बीच-बीच में खड़ी बोली का प्रयोग किया—

"लाल तिहारे बिरह की लागी अगिन अपार।
सरसै बरसै नीरहूँ, मिटैन झर झंझार॥
–बुझाने से है" बढ़ती आग, यह किसने लगायी है।
बन बाजन पिक बटपरा तकि बिरहिन मन मैन।
कुहो-कुहो कहि-कहि उठे करि–करि रोते नैन॥
–गजब आवाज ने इन जालिमों के जान खायी है।'

दूसरी ओर उन्होंने खड़ी बोली में ऐसी कवितायें भी लिखीं, जो शुद्ध खड़ी बोली में नहीं होकर ब्रजभाषा का प्रभाव लेकर उपस्थित हुईं—

"फागुन खेलैं फाग रंग गावैं मीठी बोली।
चलै रंग की पिचकारी उड़ै अबिर झोली।
देखि मेरे हिय लागी होली॥
भयो काम को जोर दरकि गई जोबन से चोली॥"

यहां 'हिय' और 'भयो' जैसे शब्द-प्रयोग तथा 'दरक' की जगह 'दरकि' का प्रयोग ब्रजभाषा-प्रभाव का स्पष्ट दृष्टांत है, जो खड़ी बोली के भाषिक विधान से यहाँ सहजोड़ीकर रहा है। भारतेन्दु की 'दमामा सुनाई बजाओ, बजाओ' में भी 'कहाँ बीर हो बेगि

धाओ, सुधाओ' में 'वेगि धाओ' और 'सुधाओ' जैसे शब्द-प्रयोग भी ब्रजभाषा-प्रभाव को उजागर करते हैं।

"यह अत्यंत चिन्तनीय तथ्य है कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने काव्यभाषा के रूप में खड़ी बोली के जिस नमनीय स्वरूप को स्थापित करने की दिशा में कुछ आरम्भिक प्रयास किए थे, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसका मूलोच्छेद ही कर दिया।" उन्होंने खड़ी बोली के काव्यभाषिक रूप को एक ओर व्याकरण के शिकंजे में जकड़ दिया, दूसरी ओर शब्द-भंडार की दृष्टि से उसे मुख्यतः संस्कृत पर निर्भर कर दिया तथा तीसरी ओर छन्द की दृष्टि से भी लोक में प्रचलित छन्दों का बहिष्कार कर संस्कृत काव्य के अभिजात छंदों का पुनरावतरण कराया। द्विवेदी युग को कौन कहे, स्वयं छायावादी युग में खड़ी बोली काव्यभाषा को वह स्वरूप प्राप्त न हो सका, जिसके लिए भारतेन्दु चिंतित थे। छायावादी कवियों ने खड़ी बोली काव्यभाषा को कोमलता अवश्य प्रदान की, उसे भरसक नमनीय भी बनाया, पर उसे यह रूप संस्कृत से संबद्ध कर, एक अभिजात मानस के पास ले जाकर प्रदान किया और उसे लोक-विमुख रूप में कृत्रिम बना दिया। वे भी उसे उस स्वाभाविक और लोक-प्रवाही भाषा का रंग नहीं दे सके, जो भारतेन्दु की आँखों में बसा था। "भारतेन्दु की कल्पना की वह खड़ी बोली काव्यभाषा तो बहुत बाद में अपनी सहज सम्प्रेष्यता में 'दिनकर' और 'बच्चन' के यहाँ उपस्थित हुई, अपनी लोकपरकता में धर्मवीर भारतीय के यहाँ स्वरूपित हुई, अपनी लोक लयात्मक नमनीयता में गोपाल सिंह 'नेपाली' के यहाँ उजागर हुई और अपनी जीवंत व्यंग्य-भंगिमा में नागार्जुन और रघुवीर सहाय के यहाँ परिपोषित हुई।

ऐसा नहीं है कि भारतेन्दु संस्कृत नहीं जानते थे। उन्होंने संस्कृत में कविताएँ भी लिखी हैं। 'मधुमुकुल' में संकलित उनकी 'संस्कृत राग बसंत' कविता द्रष्टव्य है—

"हरिरिह बिलसति सखि ऋतुराजे।
मदन महोत्सव वेष विभूषित वल्लभ रमणि समाजे।
स्वावेशवृत्त मत्तीकृत नरलोक–मया पहमारे॥
मुकुलितार्थं मुकुलित पाटलगण शोभितोपतन देशे॥
शकुन पंडरीकृत सुविकाह्वाधित सिद्धार्थक वेशे॥
त्रिविध पवन–पूरित पराग पटलांघमधुप झंकारे।
आम्रमंजरी वेष विभूषित रति सहचरी विहारे।"

अपनी हिन्दी कविता में भी जहां उन्होंने कीर्तन लिखे हैं, वहां संस्कृत शब्दावली के प्रचुर प्रयोग किये हैं—

"जयति राम अभिराम छविधाम
पूर्णकाम श्यामवपु वाम सीता बिहारी।

चन्द कोदंड बल खंड कृत धनुष बल
अनुज सह सहज सुभ रूप धारी ॥
रक्ष कुल अनल बल प्रबल पर्जन्य सम
धन्य निज जन भक्ष रक्षकारी ॥"

पर वे काव्य भाषा के रूप में खड़ी बोली हिन्दी को संस्कृत की तत्सम शब्दावली का संस्कार देना नहीं चाहते थे। वे खड़ी बोली हिन्दी को काव्यभाषिक रूप प्रदान करने का अपना गंभीर दायित्व समझते थे। वे उसे लोक-हृदय की धड़कन से ही संजीवित रखना चाहते थे। उनके द्वारा खड़ी बोली हिन्दी के इस काव्यभाषिक काम्य रूप की आरंभिकता के दर्शन स्वयं उनके द्वारा रचित खड़ी बोली की कुछ कविताओं में देखे जा सकते हैं—

1. "अगहन आया, सबमन भाया पड़ा जोर पाला।
लपटि-लपटि प्रीतम से सोई घर-घर में बाला।
ओढ़कर शाल और दुशाला।
बारह मास पिया बिन खोये रोई-रोइ हारे।
बन-बन, पात-पात करि ढूंढा, मिले नहीं प्यारे।
मेरे प्राणों के रखवारे।"

अथवा

2. "मेरे नयनों का तारा है, मेरा गोविन्द प्यारा है।
वो सूरत उसकी भोली-सी सिर पगिया मठोली सी।
वो बोली में ठठोली-सी बोलि दुख-बान मारा है।
व घूंघट वालियां अलकैं, वे झोंके वालियां पलकैं।
मेरे दिल बीच हलकैं, छुटा घर बार सारा है॥"

अथवा

3. "सांझ-सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जाएंगे यह दिन चार बसेरा है॥
आठ बेर नौबत बज-बजकर तुझको याद दिलाती है।
आंधी चलकर इधर-उधर से तुमको वह समझाती है।
चेत-चेत जिंदगी हवा-सी उड़ी तुम्हारी जाती है।"

कहना न होगा कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उनकी इस काव्यभाषिक संवेदना को नहीं समझा। फलतः खड़ी बोली हिन्दी का काव्यभाषिक विकास भारतेन्दु से सर्वथा विलग एक दूसरी ही पद्धति पर चल निकला।

6. काव्य-भाषा प्रयोग की चमत्कारी चेतना :

भारतेन्दु जहाँ मुख्य तौर पर उपलब्धि-मूलक काव्यभाषा-चेतना से निरंतर अनुप्राणित और सम्प्रेषणीयता की चेतना से अहर्निश अनुप्रेरित थे, वहीं उनमें गौण तौर पर काव्य-

भाषा–प्रयोग की चमत्कारी चेतना भी विद्यमान थी। ऐसे काव्यभाषिक प्रयोग के सहारे उन्होंने चित्रकाव्य की सृष्टि की है। उनके द्वारा किये गये काव्यभाषा के इस प्रयोग को निम्नलिखित तीन रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. वर्णचित्र :

जीवहु Eश अCस बल, हरहुं प्रजन की Pर।
(जीवहुं ईश असीम बल, हरहुं प्रजन की पीर)

2. अंकचित्र :

करि वि४ देख्यो बहुत जग विधु दोष न १,
(करि विचार देख्यो बहु, जग विधु दोष न एक)

3. रंगचित्र :

(   ) दुति करि वैरी छट (   ) मुख मास लाय।
(पीरे दुति करि बैरी छट कारे मुख मास लाय)

निष्कर्ष :

अंततः यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु काव्यभाषा के विषय में संवेदना से अभिव्यक्ति के स्तर तक निरंतर जागरूक थे। लोक और समाज को उन्होंने अपनी काव्यभाषा चेतना के मूल में रखा था। 'कवि वचन सुधा' के मुख पृष्ठ पर प्रकाशित उनके प्रसिद्ध छन्द—

"खल जनन सों सज्जन दुखी जनि होंहि हरिपद रति रहैं।
अपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहैं कर, दुख बहै॥
बुध तजैं मत्सर, नारि नर सम होंहि सब आनन्द लहै।
तजि ग्राम-कविता सुकवि-जन की अमृत-वाणी सब कहै॥".

की 'तजि ग्राम-कविता सुकवि जन की अमृत-वाणी सब कहै' जैसी प्रसिद्ध पंक्ति का गलत आधार लेते हुए किसी को यह भ्रम कभी नहीं होना चाहिए कि उन्होंने ग्राम्य गीत या लोक-कविता के परित्याग की बात की थी। वस्तुतः यहां 'ग्राम कविता' पद की सार्थकता साभिप्रायता ग्राम्य या लोक कविता से नहीं होकर गांव में परोक्ष रूप में की जाने वाली एक-दूसरे की निन्दा-चुगली तथा प्रत्यक्ष में एक-दूसरे को दी जाने वाली उन गालियों से है, जिनका निर्बाध प्रवाह गांव में कवित्व की तरह ही फूटता है। इन सब में 'सुकवि की अमृतवाणी' के विपरीत 'कलह का गरल' भरा होता है। भारतेन्दु अपनी इस पंक्ति में 'ग्राम कविता' से यही लक्ष्यार्थ प्रदान करते हुए इसे त्यागने का परामर्श देते हैं। वास्तव में गांव की भाषा में ग्राम-चित्त को स्पर्श करने वाली जो कविता होती है, भारतेन्दु उसके प्रचार-प्रसार के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने स्पष्ट लिखा था—"ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में बनें। वरंच गँवारी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, अद्धा, चती, होली, सांझी, लंबे, लावनी, जाँते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो और सब देश

की भाषाओं में इसी अनुसार हो, अर्थात् पंजाब में पंजाबी; बुंदेलखण्ड में बुंदेलखंडी, बिहार में बिहारी ऐसे जिन देशों में जिन भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।"

भारतेन्दु की काव्यभाषा का एक और जागरूक पक्ष हिन्दी में पाठक-निर्माण की सक्रियता का भी रहा। इसीलिए 'लक्षणा' और 'व्यंजना' की सर्वत्र उपेक्षा नहीं करते हुए भी वे अपनी काव्यभाषा में 'अभिधा शक्ति' को विस्तार और गहराई प्रदान करने वाले कवि के रूप में उपस्थित होते हैं। पर उनकी काव्य भाषा में जहां कहीं व्यंजना शक्ति आती है वहाँ वह अपने कवि-प्रतिभोत्थित रूप में काव्यगत उत्कर्ष की निर्णायिका बनकर आती है। एक उदाहरण लें—

"खिलि गाँव के नांवधरो सबही चहुंधा लखि चौगुनो चाव करौ।
सब भाँति हमैं बदनाम करौ, करि कोटिन कोटि कुदाँव करौ॥
हरिचन्द जू जीवन को फल पाय चुकी अब लाख उपाय करौ।
हम सोवत हैं प्रिय अंक निसंक, चवाइने आव चवाव करौ।"

यहाँ 'हम सोवत हैं प्रिय अंक निसंक' में यह व्यंजना है कि अब प्रेम की आन्तरिक उपलब्धि नायिका को प्राप्त हो चुकी है, प्रिय ने उसे स्वीकार कर लिया है। फलतः इसके सामने अब सारे बाहरी चवाव आदि का महत्व उसके लिए शून्य हो गया है। उपलब्धि की इसी आन्तरिक शक्ति के आधार पर वह ग्रामवासियों को, अपने समाज को चुनौती देती हुई निश्चिन्त हो जाती है। इस पंक्ति में एक दूसरी व्यंजना भी है कि नायिका को प्राप्त हो चुका और उसे स्वीकार कर चुका उसका प्रिय इतना शक्तिशाली है कि अब किसी प्रकार के चवाव की चिंता उसको नहीं है। उसकी चिन्ता तो इस प्रिय को प्राप्त करने की थी, सो उसे प्राप्त हो चुका है। अब शक्तिशाली प्रिय के प्राप्त होने पर चवाव अपने आप निष्फल और निष्क्रिय हो जाएंगे। इसीलिए चुनौती भी है कि 'चवाइने आव चवाव करौ'।

किसी भी प्रकार की चेतना जब स्वरूपित–सक्रिय होती है तब उसमें कालतत्व (Time Element) स्थल-तत्व (Space Element) और पात्र तत्व (Character Element) के त्रिक् का योगदान होता है। कहना न होगा कि उपर्युक्त विशेषताओं वाली भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द की काव्यभाषा चेतना भी 'कब', 'कहाँ', और 'किस' के इस त्रिक् से संपृक्त होकर ही व्यापारित हुई है, जिसका एक छोर लोकपरक सरलता और सम्प्रेषणीयता की चिन्ता का रहा है, तो दूसरा छोर सर्जनात्मक संवेदनशीलता का। यदि कभी हिन्दी काव्यभाषा का इतिहास लिखा गया, तो भारतेन्दु की काव्यभाषा-चेतना का सही मूल्यांकन हो सकेगा और यह सिद्ध हो पाएगा कि उनमें उस युग के लिए अपेक्षित काव्यभाषा की सही ऐतिहासिक चेतना विद्यमान थी।

◆

भारतेन्दु की नवनिर्माण दृष्टि

राजकुमार गुप्त

भारतेन्दु के साहित्य, युग तथा उनके सौन्दर्यबोध को हृदयंगम करने के लिए हमें उनके युग का सिंहावलोकन करना होगा। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों तथा अन्य आलोचकों ने इस विषय पर पर्याप्त लिखा है। ऐतिहासिक घटनाक्रम के साथ उस युग की आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियों का भी अनुशीलन किया है। आर्थिक अनुशीलन के मूलाधार मैटकाफ, दादाभाई नौरोजी तथा आर० सी० दत्त प्रभृति विद्वान् रहे हैं। उन्हीं के निष्कर्षों के आधार पर इन आलोचकों ने उस युग की स्थिति का विवेचन किया है एवं निष्कर्ष निकाले हैं। इधर उन्नीसवीं शती की आर्थिक स्थिति एवं तज्जन्य बदलाव के सम्बन्ध में असिया सिद्दीकी, ए० सी० बेली, तपनराय चौधुरी, एरिक स्टोक्स, धर्मकुमार, एस० भट्टाचार्य, के० एन० चौधरी आदि अनेक विद्वानों ने इस विषय की गहरी छानबीन की है तथा उनके तथ्य एवं निष्कर्ष भिन्न हैं।

भारतेन्दु के युग को भली प्रकार समझने के लिए हमें 1830 ई० से 1864 ई० तक के समय को पृष्ठभूमि के रूप में देखना होगा। 1865 से 1885 तक के काल को समकालीन मानना होगा। साहित्य आर्थिक स्थिति की प्रतिच्छवि मात्र नहीं है; परन्तु आर्थिक स्थिति सामाजिक संरचना के बदलाव में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। अतः आर्थिक स्थिति और बदलाव का साहित्य पर परोक्ष प्रभाव पड़ता है। आइये कुछ समय के लिए इन तथ्यों से अवगत होलें।

कृषि सम्बन्ध—

सर्वप्रथम उत्तरी भारत के कृषि सम्बन्धों को लेते हैं। इस युग में कृषि सम्बन्धों में भारी बदलाव आया। ब्रिटिश सरकार ने सम्पर्क तहसीलदारों (Contact तहसीलदारों) को मालगुजारी वसूल करने के लिए नियुक्त किया। अनेक जमींदारों ने जमीन पर जबरदस्ती अधिकार कर लिया था। 1821 में देवकी नन्दन सिंह, शिवलाल दुबे, अहमद बख्श यहाँ तक कि बनारस के राजा को गैर कानूनी रूप से हथियायी जमीन छोड़नी पड़ी। बनारस के आस-पास की खाली कराई गयी जमीन को नये लोगों ने खरीदा और पुराने लोगों को ही ठेके पर खेती करने के लिए दे दिया।

कानपुर, इलाहाबाद और बुन्देलखण्ड में सट्टेबाजों का एक नया वर्ग आगे आया। कानपुर में हिन्दू बैंकरों और मुस्लिम अधिकारियों का एक वर्ग था, जिसने अवध या कम्पनी राज्य में पर्याप्त धन इकट्ठा कर लिया था। ये लोग इस धन को मालगुजारी

वसूल करने के अधिकार प्राप्त करने में लगाने की कोशिश कर रहे थे। भूमि की इस सट्टेबाजी के दो कारण संभावित हैं।

प्रथम—

1841 में रोज (Rose) ने कानपुर में लिखा—"इन सट्टेबाजों के पास अधिक पैसा था और ये अधिक मालगुजारी देकर अधिक समय तक घाटे को उठाने को तैयार थे," जिससे किसी प्रकार सम्पत्ति बनी रहे और धन सुरक्षित रहे।

द्वितीय—

हेनरी इलिएट ने 1830 में इलाहाबाद में लिखा—ये नीलामी में जमींदारी के खरीदार गल्ले के व्यापारी थे। इन्हें मालगुजारी में जो थोड़ा-बहुत घाटा होता था, उससे अधिक लाभ अनाज के व्यापार में कमा रहे थे। इनके भण्डार गंगा के किनारे पर थे, जहाँ से नाव अनाज दुसरी जगह आसानी से भेजा जा सकता था।

बुन्देलखण्ड में भी कपास के कारण ये सट्टेबाज जमींदारी के व्यवसाय में आये। पश्चिमी उत्तर प्रदेश की स्थिति भिन्न थी। बरेली और फर्रुखाबाद में सट्टेबाज कृषि क्षेत्र में नहीं आये। 1840 से पूर्व अलीगढ़ जिले में ग्राम प्रधान या मुकद्दम कलक्टर को चुनौती देते थे कि वह चाहे तो उनके गाँव की जमीन को बेच दें। क्योंकि कोई व्यक्ति जमींदारी में पैसा लगाने को तैयार नहीं था। इसी प्रकार भाई-चारा व्यवस्था वाले क्षेत्रों मेरठ या हरियाणा में भी सट्टेबाजों की दाल नहीं गली।

ब्रिटिश पूर्व लगान का आधार ग्रामीण मलिक की देय शक्ति थी। अवध के सम्मेलन से ब्रिटिश मालगुजारी में एक करोड़ की वृद्धि हुई। फिर भी ब्रिटिश सरकार ने लगान में काफी वृद्धि कर दी। इस लगान वृद्धि से नील, गन्ना और गेहूँ पैदा करने की मनोवृत्ति को बल मिला। जब तक आबादी नहीं बढ़ी और बाजारों का विस्तार नहीं हुआ, तब तक अनाज की कीमतें नहीं बढ़ी। सन् 1860 के बाद चाँदी और रुपये के पारस्परिक प्रतिशत में गिरावट आई है चाँदी के मूल्य गिरने से रुपये का एक प्रकार से अवमूल्यन हो गया। नील और गन्ना पैदा करने में दो तत्व और सहायक हुए—आयवृद्धि और कर्ज।

रेल के प्रचलन ने प्रान्तीय सन्तुलन में परिवर्तन कर दिया। ऊपरी दोआब गेहूँ और चीनी का मुख्य निर्यातक बन गया।

पूर्वीभारत—के अन्तर्गत बंगाल, बिहार, उड़ीसा और आसाम का क्षेत्र आता था। राष्ट्रीय धारा के लोगों के अनुसार बढ़ती हुई ग्रामीण गरीबी का मुख्य कारण ब्रिटिश लगान व्यवस्था थी, जैसे अधिक लगान लगाना या नकद लगान लेना तथा ग्रामीण जीवन में गुणात्मक परिवर्तन हुआ था।

दूसरे विचारानुसार ग्रामीण समाज की संरचना में परिवर्तन के प्रमुख कारण हैं—भूमि का निजी स्वामित्व, परजीवी जमींदार वर्ग का उदय, लगान और कर्ज की वृद्धि।

भूमि मूल्यों की वृद्धि का कारण 1855 से खाद्यान्न के मूल्यों में बढ़ोत्तरी थी। बिहार के जमींदारों की लगान प्राप्ति में केवल लगान ही नहीं था, वरन सिंचाई के साधनों में निर्माण एवं अनुरक्षण का व्यय भी सम्मिलित था। नकदी फसलों की वृद्धि के साथ ग्रामीण कर्ज में वृद्धि हुई। नील की खेती प्रलाभकर थी, इसे अंग्रेजों ने लादा था। अफीम की खेती लादी नहीं गई थी। अफीम पैदा करने वाले किसान अपना कुछ हिस्सा अलग से बेचकर अधिक धन कमा लेते थे। अधिक उत्पादन अतः भूमि मूल्य अधिक और जमीन खरीदने की होड़ एक दूसरे से जुड़ी हुई थी।

पश्चिमी भारत—19 वीं शती के मध्य से कृषि में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। 1850 तक, जब मूल्य और उत्पादन दोनों कम थे, तब जमीन के काफी भाग को छोड़ दिया जाता था। इसके बाद नगरों की वृद्धि, यातायात के साधनों में सुधार, अन्न के लिए विस्तृत बाजार प्राप्त हुए तो इसी के साथ लगातार अच्छी फसले हुईं।

1860 से अमेरिकन गृह युद्ध ने कपास की मांग में वृद्धि कर दी। सार्वजनिक निर्माण कार्यों, रेलवे और सिंचाई सुविधाओं की वृद्धि से निर्यात बढ़ा। 1860–70 के दशक में कपास के मूल्य में 13.2% की वृद्धि और कपास के क्षेत्रफल में 17% की वृद्धि हुई। 1875 में कृषि मूल्यों में गिरावट आई। 1880 में रेलवे निर्माण की दूसरी लहर ने कृषि उत्पादन और कृषि निर्यात में वृद्धि की। गुजरात ने गन्ना, तम्बाकू और कपास के उत्पादन में बढोत्तरी प्राप्त की।

इस प्रकार ग्रामीण सम्बन्धों में परिवर्तन अलग-अलग ढंग से हुआ। जहाँ आधारभूत ढाँचा कमजोर था, वहाँ यथास्थिति बनी रही और शोषण की गति प्रबल हुई। जहाँ का आधारभूत ढाँचा भिन्न प्रकार का था वहाँ परिवर्तन, विकास एवं अर्थव्यवस्था की वृद्धि की दिशा अलग रही।

आर्थिक स्थिति—इस युग की आर्थिक स्थिति का कुछ अनुमान उस युग के वाणिज्य तथा आयात निर्यात से हो सकता है। प्रारम्भिक व्यापार तीन प्रकार का था (1) विलास की वस्तुओं का व्यापार (2) भारी-उपभोक्ता वस्तुओं का व्यापार (3) स्थानीय व्यापार। अवध और सिख राज्य तथा अन्य रियासतों की समाप्ति से विलास के वस्तुओं के उपभोक्ता समाप्त प्रायः हो गये। 18वीं शती के मध्यतक वस्तुओं का व्यापार बंजारों और नावों से होता था। 1814 से 1858 के भारतीय निर्यात व्यापार में भारी उतार चढ़ाव के कारणों को बतलाते हुए के० एन० चौधरी कहते हैं Wide physical separation of Markets and stow state of transport and communications, which made difficult to relate foreign prices to domestic ones. आगे चलकर विदेशी मांग के उतार-चढ़ाव के अनुरूप स्थानीय मूल्य बदलते रहे। 1812-13 में निर्यात में कपड़े का अंश 80% था 1835-36 में कपड़े का निर्यात बन्द हो गया। योरोप का वस्त्र बाजार भारत के हाथ से निकल गया। पश्चिमोन्मुख नये आभिजात्य वर्ग तथा कम्पनी

कर्मचारियों में विदेशी बढ़िया कपड़े की माँग बढ़ी। 1861 में बेपर्ड स्मिथ ने गाजीपुर और आजमगढ़ के सर्वेक्षण से इन जिलों में 1|3 से 1/2 भाग तक विदेशी कपड़ा बिकता था।

दूसरी ओर 1885 में पहली कताई मिल बम्बई में लगी। 1867 की मांचेस्टर चेम्बर आफ कार्मस की रिपोर्ट के अनुसार बम्बई में 75% स्थानीय कपड़ा बिक रहा था। भारत विदेशों में ब्रिटेन का प्रतियोगी भी खड़ा हो रहा है। 1870 तक ब्रिटेन का धागे के निर्यात पर एकाधिकारी भारत ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया और 1873 में चीन के बाजार पर धावा मारा और 1880 में ब्रिटेन को वहाँ से खदेड़ दिया। इस प्रकार चीन और जापान भारत के दो प्रभाव बाजार बन गये।

इसका निष्कर्ष यह है कि जिस अंचल ने इस औद्योगिक प्रगति को अपनाया वहाँ उसने आशातीत सफलता प्राप्त की और जिस अंचल ने पुरानी तकनीक का पल्ला पकड़े रखा। वहाँ के उद्योग धन्धे नष्ट हुए।

दूसरा बड़ा उद्योग जूट था। इसमें स्काटलैण्ड की पूँजी लगी थी और उन्हीं की प्रबन्ध-व्यवस्था भी थी। 1880 तक डण्डी की मिलें भारतीय जूट का प्रयोग करती थी 1880 में भारत ने बोरियों का बनाना और निर्यात करना प्रारम्भ कर दिया। 1882-83 में 7 करोड़ 67 लाख बोरियों में से 2 करोड़ 40 लाख अमेरिका, 2 करोड़ 10 लाख आस्ट्रेलिया और 80 लाख खाड़ी के देशों को कुल 5 करोड़ 30 लाख बोरियाँ भारत ने निर्यात की।

1828-40 में भारतीय आयात का 65 से 70% तक ब्रिटिश था और 40% ब्रिटेन को निर्यात होता था। लगभग 40% निर्यात चीन को होता था। इस निर्यात से ब्रिटेन को चीन से आयात में होने वाले घाटे की पूर्ति होती थी। ब्रिटेन ने भारत में अफीम की खेती की। चीन को उसका निर्यात इसीलिए बनाए रखा कि उसका व्यापार सन्तुलन ठीक हो, परन्तु भारत को इससे लाभ हुआ। अफीम की खेती से बड़े भाग में उत्पादन एवं कार्य के अवसर बढ़े।

यातायात

यातायात का प्रमुख साधन नावें थीं। इलाहाबाद से कलकत्ते की 850 मील की दूरी नदी में जल अधिक होने के काल में 20 दिन तथा जल कम होने के काल में 40 से 60 दिन में तय होती थी। वापसी में उसे 4 महीने का समय लगता था। प्रत्येक नाव में 6 से 12 व्यक्ति काम करते थे। लगभग 50 हजार नावें प्रयोग में आती थीं। स्टीमर के प्रयोग में आने से यह दूरी 8 दिन और वापसी में 24 दिन में पूरी होने लगी। 1840 में मिर्जापुर से कलकत्ते तक 2, 226, 356 टन माल तथा मिर्जापुर से दिल्ली तक 1, 000, 000 टन माल भेजा जा रहा था। उनका प्रतिटन/मील भाड़ा इस

प्रकार था :—

1801–1840 बंजारे 36 पैसे, नाव 16 पैसे

1841–1860 गाड़ी 16 पैसे, नाव 6 पैसे और स्टीमर 12 पैसे ।

परन्तु 1853 में रेल प्रारम्भ हुई । 1867 तक भारत के 20 में से 19 प्रमुख नगर रेलमार्ग पर थे । रेल भाड़े की कमी के कारण अन्य यातायात के साधन भारी मात्रा में प्रभावित हुए । अनुमान किया जा सकता है कि 3-4 लाख लोग बुरी तरह प्रभावित हुए होंगे । यहां भी प्रतियोगिता नई और पुरानी तकनीकी की ही थी । 1865 में रेल में 34 हजार व्यक्ति काम करते थे जो 1885 में 4½ लाख हो गये, इसमें 95% भारतीय थें । 1865 में पहला रेलइंजन बाढ़कला में बना ।

इन रेलों के लिए पूंजी ब्रिटिश बाजार से ली गई और भारत सरकार ने 4%आय की गारन्टी दी । इसी प्रकार नहरों के लिए भी पूंजी ब्रिटिश बाजार से जुटाई गई ।

विदेशी व्यापार में अभूतपूर्व वृद्धि के निम्नांकित कारण थे—

1. अमेरिकन गृह युद्ध ने कपास को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में विशिष्ट स्थान दिला दिया ।
2. क्रीमिया युद्ध ने रूस से आने वाली वस्तुओं की रिक्ति की पूर्ति का अवसर प्रदान किया ।
3. रेलों से कम भाड़ा, गति एवं सामान की पहुंच की विश्वसनीयता पैदा की ।
4. रेलों ने भारतीय कृषि उत्पादों यथा, गेहूं, चावल, जूट, चमड़ा, तिलहन और कपास को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतियोगी बनने की क्षमता प्रदान की । भारतीय गेहूं उत्पादन का 13%निर्यात होने लगा ।
5. आन्तरिक मूल्यों में एकरूपता आई।
6. 1869 में स्वेज नहर के खुलने से एक टन गेहूं का कलकत्ता से लदने का भाड़ा (1873) पौण्ड 2–7–6 से घटकर पौण्ड 0–7–6 तक (1897) से पहुंच गया ।

इन परिवर्तनों के प्रभाव—

असिया सिद्दीकी और A. C. Bayly के अनुसार इस व्यापारिक उन्नति का लाभ मूल उत्पादक—कृषक या—कारीगर—को पूरी मात्रा में नहीं मिला ।

सब जगह ब्रिटिश राज्य होने से उत्तर भारत के जो व्यापारी विभिन्न राज्यों की करेन्सियों के बदलने का काम करते थे, उनका व्यापार उच्च हो गया । विदेशी व्यापार करने वाले समृद्ध हुए ।

प्रादेशिक अर्थव्यवस्थाओं में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। 1845 से 1850 तक मिर्जापुर की जनसंख्या में 50% वृद्धि हुई थी। यह व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। बरार की कपास गाड़ियों में मिर्जापुर आती और वहाँ से कलकत्ता जाती थी। अब रेल निकलने से कपास बम्बई जाने लगी और इस नगर और जनपद का ह्रास तीव्र गति से होने लगा।

इसी ह्रास की छाया मिर्जापुरवासी श्री बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन के "जीर्ण जनपद" में देखी जा सकती है।

पश्चिमी प्रदेश की स्थिति अलग थी वहाँ जहाज निर्माण एवं जहाजरानी तथा विदेशी व्यापार का आधारभूत ढाँचा शताब्दियों से मौजूद था। अतः आज से 250 वर्ष ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने अपने जहाज निर्माण का ठेका एक भारतीय गोदी को दिया। नई तकनीक यथा लोहे की नली का विकास होने पर इन कम्पनियों के मालिक स्वयं योरोप गये या अपने कारीगरों को भेजकर नई तकनीक को आत्मसात् कर लिया। दूसरी ओर उत्तर भारत में स्टीमर चलाने लिए ले० फोरबीअस को इग्लैण्ड ट्रेनिंग लेने जाना पड़ा क्योंकि यहां की Hall की नाप जोख करने वाला सामान्य गणितज्ञ भी प्राप्त नहीं था।

उधर बम्बई में पारसी व्यापारियों का तीव्र उत्साही समूह था जो एक प्रकार के नये उद्यमी थे। इसी प्रकार हिन्दू, मुसलमान व्यापारियों को दो प्रकार से विदेशी व्यापार का अनुभव प्राप्त था। या तो विदेशों—केन्टन, जापान, खाड़ी के देश आदि देशों में—उनकी गद्दियां थी या फिर वे विदेशी व्यापारियों के एजेन्ट के रूप में कार्य करने का अनुभव रखते थे। अवसर पाते ही ये वर्ग तीव्र गति से सक्रिय हो गये। अतः व्यापारिक उन्नति का पूरा लाभ उठाने लगे। इसीलिए बम्बई की मिलों में गुजरात से मजदुर नहीं आये। प्रारम्भ में कोंकण के लोग और आगे चलकर उत्तर भारत के लोग मजदूरी करने बम्बई अहमदाबाद पहुंचे।

अवध जैसा क्षेत्र पिछड़ने लगा। यहां के लोग केवल कृषि पर निर्भर होने लगे। यहां की भूमि में सट्टेबाजों का प्रवेश हो गया। अतः जब ब्रिटिश सरकार ने 1869 में शारदा-नहर की योजना बनाई और 1873 में उसे क्रियान्वित करना चाहा तो प्रवन्ध के ताल्लुकेदारों ने इस योजना को रद्द करा दिया। अतः यहाँ सिंचाई के साधनों का विकास नहीं हुआ। उधर पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा अन्य प्रदेशों में नहरों का विकास तज्जन्य कृषि में वृद्धि हुई। चाहे ये नहरें विदेशी पूंजी से ही क्यों न बनीं हो।

पूंजी का स्थानान्तरण एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जबसे जॉन स्टुअर्ट मिल ने पूंजी के स्थानान्तरण का सिद्धांत प्रतिपादित किया है, तब से यह विवाद है। दादाभाई नौरोजी, आर० सी० दत्त जैसे राष्ट्रीय अर्थशास्त्रियों ने निर्यात के Surplus को Money drian माना है। आज value added concept के बाद यह बात सही नहीं है। इसके अनुसार

लागत मूल्य को निर्यात मूल्य में से घटा दिया जाता है, शेष राशि ही निर्यात surplus है। अतः Money drain उस सीमा तक नहीं था। यह सत्य है कि इस काल में ब्रिटेन पौ० 7 M, से पौ० 20 M तक पेंशनों, ब्रिटिश कर्मचारियों की छुट्टियों तथा विदेशी पूंजी की ब्याज तथा गारन्टी के लिए दिया। यह भी सत्य है कि 1873 के बाद योरप के कई देशों ने अपनी करेन्सी को चाँदी के मूल्य से मुक्त कर दिया। अतः चाँदी के गिरते मूल्य से उनकी करेन्सी प्रभावित नहीं हुई। भारत पर इसका अलग प्रभाव पड़ा। भारतीय माल विदेशी बाजार में अधिक आसानी से टिकने लगा।

इस प्रकार अलग-अलग प्रदेश अलग-अलग मात्रा में प्रभावित हुए। अतः उनकी प्रतिक्रियायें भी अलग-अलग हैं। इसीलिए 'इस युग के हिन्दी साहित्य में' अपने-अपने अंचल के अनुरूप विशेष प्रतिध्वनियाँ मिलेंगी। ये प्रतिध्वनियाँ अंचलों, प्रदेशों की हैं या बिगड़ते उभरते वर्गों की हैं या समाज संरचना के परिवर्तन के उथल-पुथल की हैं अथवा नयी तकनीक को ग्रहणकर आत्मसात् करने या तिरस्कृत करने की है।

आइये इस युग परिवर्तन की प्रतिध्वनियाँ/टिप्पणियाँ भारतेन्दु साहित्य तथा युगीन साहित्य में देखें। रेल इस प्रक्रिया का प्रमुख अंग थी। इसके बारे में भारतेन्दु जी ने लिखा—

'रेल चलत केहि भाँति सों कल है काको नाँव।
तोप चलावत किमि सब जारि सकत जो गाँव।"

यह रेल चलन के प्रति उत्सुकता या ज्ञान जिज्ञासा मात्र है। एक अन्य वर्णन देखिए—

"रें रें करके रात के बारह बजे पहुंचे। चार बजे तक सरदी में टपे। पांच बजे रेल फिर चली। घाट पर पहुंचे। वहाँ एक स्टीमर था। दरिद्र स्टीमर, जिसके सेकेण्ड क्लास में सिवा नाम के गुण कोई नहीं। बल्कि जहाँ बैठना भले आदमियों के वास्ते एक शर्म की बात है। खैर वहीं बैठकर पार लगे। वहाँ से तिरहुत की रेल। वाह रे रेल। एक गाड़ी बालू में खड़ी थी, उसी में तारघर और टिकट आफिस। तार दो दो कैंचीदार बाँसों पर। सड़क आधे-औंधे गनेलों पर बालू में राम भरोसे। गाड़ी ऊँचे नीचे पर छकड़ों पर लुड़कती पुड़कती चलती थी। छोटी इतनी कि जी चाहा कि सरस्वती की गुड़िया को देदूँ। सेकेण्ड क्लास महज वाहियात। भद्दा रंग भद्दे काठ, भद्दे लोहे, जगह सोने की कौन कहे बैठने की नहीं। रेल की तारीफ करूँ कि तार की कि स्टेशन मास्टरों।"

यहाँ भी वही भले आदमियों की प्रतिक्रिया है। उसे किसी व्यापक सन्दर्भ में देखने की इच्छा नहीं है।

इसी प्रकार राधाचरण गोस्वामी को 'पूर्णिमा का चन्द्रोदय' "कालरूपी रेल की लालटेन है। गढ़तोड़ तोप का गोला है।" दिखाई देता है। उन्हें रेल काल जैसी प्रतीत होती है।

एक ओर बम्बई में वस्त्र बुना जा रहा था, उस बुनने से मांचेस्टर चेम्बर ऑफ कामर्स चिंतित हो रहा था, तो हिन्दी भाषी प्रदेश की प्रतिक्रिया थी—

‘बस्त बनत केहि भांति सो, कागज केहि विधि होत ।
काहि कवाइद कहत हैं, बांधत किमि जल सोत ।।’

इसी समय पश्चिमी प्रदेश, मद्रास तथा बंगाल के लोग विदेशी व्यापार में तीव्रता से उन्नति कर रहे थे । तब भारतेन्दु जी लिख रहे थे:—

“इत की रूई सींग अरु चरमहि तित लैजाय ।
ताहि स्वच्छ करि वस्तु बहु भेजत इतहि बनाय ।”

इस कविता की पृष्ठभूमि में अमेरिकी गृह युद्ध—(रूई के सम्बन्ध) तथा क्रीमिया युद्ध—(चर्म) का कोई सम्बन्ध परिलक्षित नहीं होता है । ऐसा अनुमान होता है कि उत्तरी भारत ‘बहुवस्तु’ का उपभोक्ता मात्र था । इस अंचल की प्रकृति उस युग की तकनीक तथा मशीनों पर अधिकार जमाने की नहीं थी, बल्कि

“कल के कल बल छलन सों छले इतै के लोग”

कल के बल से अन्य प्रदेश भी ‘छले’ गये थे, परन्तु वे उस ‘कल बल’ को हस्तगत करने के लिये प्रयत्नशील थे । इन सब के प्रति यहां एक जिज्ञासा मिश्रित आश्चर्य का भाव ही अन्तर्निहित दिखाई देता है—

‘उतरत फोटोग्राफ किमि छिनि महं माया रूप ।’

यहां फोटोग्राफ की प्रक्रिया ‘माया रूप’ ही दिखाई दे रही है । यह व्यक्ति संवेदना नहीं है, वरन हिन्दी अंचल की छिपी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति है ।

इससे पूर्व भारतीय जीवन का सन्दर्भ क्षेत्र देशीय या मध्ययुगीन ही था । अब बदल रहा था—

“अंगरेजी रमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुन्तलजूट, मिथ्यारत्नाभरण और विविध वर्णवसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज-निज पतिगण के साथ प्रसन्नवदन इधर-उधर फर-फर कल की पुतली की तरह फिरती हुई दिखाई पड़ती हैं ।………… इससे यह शंका किसी को नहीं हो, मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूं, इन गौरांगी युवती समूह की भांति हमारी कुललक्ष्मी गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें । किन्तु और बातों में जिस भांति अंग्रेजी स्त्रियां सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम काज संभालती हैं………अथवा स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति और विपत्ति को समझती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृह दास्य और गृहकलह में ही नहीं खोती ।” (नील देवी-भूमिका)

एक ओर उन्हें अंग्रेज रमणीगण चलती फिरती कल की पुतली दिखाई देती है, दूसरी ओर उनके कर्म, स्वभाव, आचरण एवं जागरूकता उनके सन्दर्भ बिन्दु हैं, जिन्हें वे अपनाने का आग्रह कर रहे हैं। यदि नारी पढ़ी-लिखी तथा इन गुणों से सम्पन्न होंगी तो समाज में अनेक अव्यक्त शक्तियाँ फूट पड़ेंगीं और समाज की संरचना में भारी परिवर्तन आयेगा। इसलिये वे उन्नति के घोर पक्षपाती हैं। अभिनव राष्ट्रनिर्माण के लिए बाधक तत्वों का निदान करते हुये कहते हैं:—

“इस उन्नति का अवरोधक हमलोगों की वर्तमान कुल परम्परा मात्र है।” (नीलदेवी भूमिका)। अतः

“निज भाषा, निज धरम, निज मान करम ब्योहार।
सबै बढ़ावहु बेगि मिलि कहत पुकार-पुकार।”

परन्तु नई टेक्नोलोजी के आगमन से 'धरम' 'करम' 'मान' और 'ब्योहार में संभावित परिवर्तन को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाते। हिन्दी अंचल की मन स्थिति का सही चित्र निम्न पंक्तियों में है—

“वह दुरंगी का समय था—
आधे पुराने पुरानहि मानें
आधे भये क्रिस्तान हो दुहरंगी,
या तो पदहा को चवा चढ़ायें
कि होइ दयानन्द जांय हो दुहरंगी।”

इस प्रकार उस युग के हिन्दी काव्य को आंचलिक प्रादेशिक/सामाजिक संरचना को उथल-पुथल के परिप्रेक्ष्य में ही देखना चाहिए। नई टेक्नोलोजी को ग्रहण करने को तीव्र-लालसा का प्रभाव परजीवी सट्टेबाज, जमींदारों तथा केवल वस्तु उपभोक्ताओं के बाजार क्षेत्र के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। अन्य प्रदेशों के साहित्य में क्या प्रतिक्रियाएँ या प्रतिध्वनियाँ आईं यह शोध की एक नये दिशा हो सकती है। इसी प्रकार हिन्दी भाषी प्रदेश की समाज संरचना सापेक्ष साहित्य की प्रवृत्तियों को भी परखा जा सकता है।

आज अवसर है कि हम नये तथ्यों एवं निष्कर्षों के आलोक में उस युग पर नये सिरे से विचार कर अपने पूर्व मान्यताओं की समीक्षा करें।

भारतेन्दुयुगीन मलयालम साहित्य

एन० रामन नायर

भारतीय भाषा साहित्यों के इतिहास का परीक्षण-निरीक्षण करने पर साहित्यिक विद्यार्थी के सम्मुख ये दो मुख्य तथ्य विचारार्थ आ जाते हैं–

(1) सभी भारतीय साहित्यों के कई युग और प्रस्थान समान है और (2) प्रत्येक साहित्य का अपना मौलिक प्रस्थान भी प्रस्तुत है। यह एकरूपता और प्रांतीय संस्कृति के कारण मौलिक साहित्यिक विधाओं का रूपायन अत्यंत विचारणीय विषय है, शोध के लिए उपयुक्त है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में वेद-उपनिषद, पुराण, महाभारत और रामायण की विस्तृत परम्परा रही है, रहती आ रही है। ये ग्रंथ समुच्चय भारतीय साहित्यों के लिए नित्य नूतन उपजीव्य प्रदान करते आ रहे हैं। यह संपदा भारतीय चिंतन एवं साहित्यिक वर्चस्व में एकता का कार्य करती है। इस हेतु भक्ति का अजस्र स्रोत सभी भारतीय भाषा साहित्यों में दर्शित होता है, खासकर मध्यकाल में उसका इतना विस्तार दिखाई देता है कि पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी मे उसका उत्कर्ष पारम्य पर पहुंच जाता है। मलयालम तथा हिन्दी भक्ति साहित्य में यह काल खण्ड बिलकुल एक सा है तथा सुवर्ण युग कहलाने योग्य है। भक्ति के पूर्व वीरगाथा के अन्तर्गत शिल्प परम्परा एवं लोक परम्परा भी समानता के अपूर्व तथ्य प्रदान करती है। भक्ति काल के अनन्तर जो शृंगार काल आता है वह भी मलयालम तथा हिन्दी साहित्य में कालीन एवं वैषयिक आधार पर एकरूपता का निदान है। आधुनिक हिन्दी एवं मलयालम साहित्य की गतिविधियों में भी यह अद्भुत समानता रहती है। यहां केवल भारतेन्दु युगीन हिन्दी तथा मलयालम साहित्य के साम्य-वैषम्य तथा उत्कर्षों पर विचार प्रस्तुत करना ही एकमात्र लक्ष्य है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल जी के अनुसार आधुनिक गद्य साहित्य परम्परा का प्रथम उत्थान सं० 1925 से 1950 तक है। मलयालम साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार उल्लूर एस० परमेश्वरय्यर[1] भी मलयालम गद्य का प्रथम उत्थान तिरुवितांकूर के महाराजा आयिल्यं तिरुनाल रामवर्मा (सं० 1932–1980) के समय को मानते हैं। संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य में समान रूप से उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ था। इसलिए अंगरेजी साहित्य में गद्य का विशेष विकास देखकर उन्होंने मलयालम में भी उसका प्रारम्भ करना चाहा। उनका दरबार अनेक पण्डितों से मंडित था। उन पण्डितों में श्री अप्पा दीक्षितर, श्री वेंकट राम शास्त्री, श्री निवासय्यंकार आदि प्रसिद्धि की चोटी पर पहुंचे हुए थे। पद्य साहित्य के उन्नायक कवियों की परम्परा भी चल रही थी। सामान्य जनता तक

ज्ञान की सरिता को पहुंचाने के लिए गद्य साहित्य के विकास की आवश्यकता उन्होंने समझी और स्वयं कुछ गद्य रचनाएं प्रस्तुत करके अपने समय के अनेक विद्वानों को भी गद्य रचना की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने प्रत्येक तालुका में एक-एक मलयालम पाठशाला का प्रारम्भ किया जहां आधुनिक मलयालम गद्य के अध्यापन की सुविधा थी। उसके लिए आवश्यक ग्रंथों के निर्माण के लिए उन्होंने समितियों की नियुक्ति की।

सन् 1868 ई० में (संवत 1925) आयिल्यं तिरूनाल ने गद्य ग्रंथ निर्माण समिति के अध्यक्ष के रूप में श्री केरल वर्मा वलिय कोयित्तंपुरान को नियुक्त किया तो इस ओर विशेष विकास का अवसर आया। आयिल्यं तिरूनाल की दो गद्य रचनाएं—मीनकेतन चरितं और भाषा शाकुन्तलम उल्लेखनीय हैं। यह शाकुन्तलम पूर्णतया कालिदास की कृति का अनुवाद नहीं है। उसमें आधुनिक मलयालम गद्य का बीजावाप हुआ है। आयिल्यं तिरूनाल के बाद महाराजा विशाख तिरूनाल रामवर्मा सिंहासन पर बैठे तो मलयालम गद्य शाखा के पोषण तथा विज्ञान आदि वैविध्यपूर्ण विषयों पर गद्य रचनाओं के निर्माण की ओर उन्होंने लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। श्री विशाख तिरूनाल का समय 1837 ई० से 1885 ई० तक था। वे आयिल्यं तिरूनाल के भाई थे और साहित्यादि कलाओं के प्रेमी तथा अच्छे साहित्यकार थे। स्वभाषा पोषण की ओर इस महाराजा की सतत् दृष्टि गई। सत्य, शिक्षा, परोपकार, शरीर रक्षा आदि अनेक विषयों पर उत्कृष्ट एवं स्तरीय निबन्ध प्रकाशित कर 'एसे' नामक गद्य विद्या को उन्होंने रूपायित किया। आलक्साण्डर, आलफ्रेड, आर्किमिडिस, अरिस्टाटिल, वेलन आदि की जीवनी प्रस्तुत कर जीवनी साहित्य को उन्होंने प्रश्रय दिया। अपने प्रयत्न से 'विद्याविलासिनी' के नाम से एक मासिक पत्रिका 1881 ई० में तिरूवनंतपुरम से प्रकाशित की और साहित्य रचनाओं के प्रकाशन के लिए असुलभ अवसर प्रदान किया। सुघरी उदात्त शैली में वे जगह-जगह जाकर मलयालम में भाषण देते थे और अंग्रेजी से अच्छे ग्रंथों को मलयालम में अनूदित करने के लिए निधि बनाई। वे अच्छे कवि भी थे अनुवादक भी। उनकी भाषा शैली भी अनुकरण के योग्य थी। 1821 ई कोट्टयम में एक मुद्रणालय बेंजमिन वेइली नामक मिशनरी के तत्वावधान में शुरू हुआ जिससे बाइबिल का प्रकाशन तो हुआ साथ ही कई मलयालम ग्रंथों का भी प्रकाशन हुआ। पत्रिका तथा मुद्रण का प्रारम्भ मलयालम गद्य के विकास के लिए अधिक सहायक सिद्ध हुआ। वेइली ने दो कोष भी मलयालम में इंग्लिश तथा इंग्लिश मलयालम कोष प्रकाशित करके भाषा पोषण का रास्ता सुगम किया। यहीं जार्ज मात्तन (1820–1870) ने पादिरी रहते हुए भी मलयालम में विविध विषयों पर ग्रंथ प्रकाशित किए और अनेक उत्तम निबन्धों की रचना की। उन्होंने मलयालम के आधुनिक व्याकरण की भी रचना की। अनेक ईसाई विद्वान इस समय मलयालम गद्य के पोषण में भागभाक हुए।

जर्मन विद्वान डा० हेरमन गुंडर्ट (1814-1894) की ओर से मलयालम साहित्य की जो सेवाएं हुई वे श्लाघनीय हैं। वे बेसल मिशन के प्रवर्तक थे और 1839 में उसकी

शाखा उन्होंने मलबार में तल्लश्शेरी नामक शहर में स्थापित की। अनेक वर्षों के उनके साहित्यिक प्रयत्नों के कारण असंख्य मलयालम गद्य ग्रंथ, व्याकरण ग्रन्थ एवं कोष ग्रन्थों की वे रचना कर सके। 1851 में गुण्डर्ट ने मलयालम का आधुनिक व्याकरण ग्रन्थ तैयार किया जो स्तरीय माना जा सकता है। 1872 में उनका मलयालम अंग्रेजी कोष प्रकाशित हुआ जो भाषा और साहित्य के इतिहास की दृष्टि से श्रेष्ठ है। उनकी मलयालम गद्यशैली उतनी श्रेष्ठ नहीं है तो भी एक परिवर्तन की दीपशिखा लेकर समस्त केरल में गद्य का नवीन प्रकाश फैलाने में वे समर्थ हुए। इसी काल खंड में अनेक विद्वान आधुनिक मलयालम गद्य पद्य के उन्नायकों के रूप में सामने आये। उनमें कोवुण्ण नेडुंगाडी (1831-1889) का व्याकरण, पी गोविन्दपिल्लै (1849-1907) का मलयालम भाषा चरितं इस काल की उल्लेखनीय रचनाएं हैं। स्कूलों के पाठ्यक्रम में रखे जाने योग्य अनेक गद्य पाठमालाएं भी इस समय तैयार हुईं। इसी तरह केरल के अनेक स्थानों में कई पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं जिनके द्वारा आधुनिक साहित्यिक विधाओं का उन्नयन हुआ। यही मलयालम के आधुनिक गद्य साहित्य परम्परा के प्रवर्तन का प्रथम उत्थान काल है जो हिन्दी साहित्य के उस काल के साथ कई मुद्दों में तुलनीय है।

अब हम भारतेन्दु युगीन मलयालम साहित्य की गतिविधियों का परिचय देंगे। वस्तुतः मलयालम साहित्य के इतिहास में इस काल को केरलवर्मा युग माना गया है। श्री केरल वर्मा वलिय कोयित्तंपुरान का समय 1845 ई० से 1915 ई० तक है जो भारतेन्दु के (1964 ई० से 1999 ई० तक) युग का काल खंड है। भारतेन्दु एवं केरल वर्मा का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। भारतेन्दु ने जिस प्रकार हिन्दी गद्य भाषा को परिमार्जित कर उसको मधुर और स्वच्छ रूप दिया उसी तरह केरल वर्मा ने मलयालम गद्य की भाषा को परिमार्जित किया तथा उसे माधुर्य गुण प्रदान किया। सचमुच दोनों अपनी-अपनी भाषा में वर्तमान गद्य के प्रवर्तक हैं। जैसे भारतेन्दु ने खड़ी बोली गद्य को चलता रूप दिया वैसे केरल वर्मा ने भी तमिल मिश्रित मलयालम गद्य को वर्तमान रूप में परिणत किया ?

केरल वर्मा के पहले मलयालम साहित्य तथा भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी साहित्य पुरानी चाल पर चल रहा था। दोनों उसे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए, इसका कारण नई शिक्षा तथा आधुनिक विचारधाराओं का भारतीय समाज में प्रवेश रहा है। इस युग में मलयालम तथा हिन्दी में भक्ति, शृंगार, नीति आदि की पुरानी परम्परा अक्षुण्ण तो रहती है साथ ही गद्य-पद्य की नई विधाएं भी शुरु होती हैं। पद्य में स्वच्छंदतावादी काव्य धारा का प्रकर्ष दोनों साहित्यों में इसी काल में हुआ। इसी तरह हिन्दी मलयालम गद्य में नाटक, उपन्यास, कहानी, जीवनी, आलोचना, निबन्ध आदि के नये प्रयोग भी इसी युग के अन्तर्गत ही शुरू होते हैं। साहित्य को जीवन के साथ समाजापेक्षी बनाने में भारतेन्दु एवं केरल वर्मा ने प्रशंसनीय काम किया। इसी काल में हिन्दी और मलयालम का व्यवहारोपयोगी रूप भी निखरा था।

यह युग मुख्य रूप से गद्यकाल है। इसलिए सर्वप्रथम उस दिशा में हुए विकासक्रम पर हम विचार करेंगे। भारतेंदु और केरल वर्मा ने गद्य भाषा को स्थिर रूप और चलतापन दिया और स्वयं नयी गद्यविधाओं का प्रारंभ करके अपने सहयोगी साहित्यकारों को भी उन विधाओं में रचना करने के लिए प्रेरित किया। केरल वर्मा और भारतेन्दु की भाषा शैली विषयानुकूल और स्पष्ट थी। हिन्दी गद्य के क्षेत्र में भारतेन्दु युग में हास्य-विनोदयुक्त गद्य शैली के अधिकारी पं० प्रताप नारायण मिश्र, चटपटी तीखी चमत्कारपूर्ण भाषा शैली के धनी पं० बालकृष्ण भट्ट, शब्द चयन के मर्मज्ञ ठाकुर जगमोहन सिंह, अनुप्रास प्रधान भाषा शैली में लिखने वाले बदरीनारायण चौधरी आदि लेखक कार्यरत थे वैसे मलयालम में वैविध्यपूर्ण अनेक शैलियों के प्रयोग में समर्थ केरलवर्मा के साथ ललित शैली के उपज्ञाता एवं उच्च समालोचक सी. पी. अच्युत मेनोन (1862-1937) शुद्ध और सिलसिलेदार गद्य रूप लिखने वाले कालीकट के मानविक्रम एट्टन तंपुरान (1845-1915) तथा सरस गद्यकार कटत्तनाट उदय वर्मा तंपुरान (1865-1907) सरल गद्य शैली के प्रवर्तक कुंटूर नारायण मेनोन (1861-1936) कोट्टारलिल शंकुण्णी (1857-1937) चात्तुकुट्टी मन्नाटियार (1857-1905) आधुनिक गद्यकार तथा केरल वर्मा के भागिनेय ए. आर. राजराज वर्मा कोयित्तंपुरान गद्य लेखन में संलग्न थे।

गद्य विधाओं में नाटक का प्रारम्भ भारतेन्दु ने संस्कृत, अंग्रेजी तथा बंगला से नाटक अनूदित करके तथा मौलिक नाटकों की रचना करके किया। इसी तरह केरल वर्मा ने भी कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम का अनुवाद 1881 में केरलीय भाषा शाकुंतलम के शीर्षक से प्रकाशित किया। इस समय तक मलयालम में कथकली नामक नाट्य रूप के प्रति जन-जन का जो विराट आकर्षण था उसके कारण नाटकों का नामोनिशान मिट गया था, उसमें परिवर्तन लाकर मलयालम में नाटक विधा को स्थायी रूप देने तथा रंगमंच के निर्माण एवं विकास करने में भी उनका योगदान उल्लेखनीय है। जैसे भारतेन्दु के नाटक लेखन से प्रभावित होकर हिन्दी में प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, लाला श्रीनिवास दास, पं० केशव राम भट्ट, काशीनाथ खत्री और राधाकृष्णदास नाटक क्षेत्र में आए वैसे मलयालम में भी केरल वर्मा से प्रेरणा पाकर कुंजिकुट्टि तंपुरान, वरूगीस माप्पिला, चात्तुकुट्टी मनाटियार, सी० पी० अच्युत मेनोन, ए० आर० राजराज वर्मा आदि नाटककार हुए। यद्यपि अत्यन्त आधुनिक नाटकों का रूप उस समय दर्शनीय नहीं होता तो भी कूत्त, कथकली ओट्टम तुल्लल आदि मलयालम नाटयरूपों के कारण मलयालम में तथा रासक, रामलीला, नाट्यरासक आदि नाट्य रूपों के कारण हिन्दी में नाटक साहित्य जो मंद पड़ा था तथापि वह इस युग में फिर पनपने लगा। उर्दू में प्रचलित संगीत नाटकों की देखादेखी में हिन्दी में तथा तमिल संगीत नाटकों के अनुकरण में मलयालम में भी संगीत नाटकों की रचना शुरू हुई और उनका अभिनय होने लगा। अनूदित नाटकों की संख्या इस युग में हिन्दी और मलयालम में सीमातीत थी।

अंग्रेजी 'एसे' का रूप अपनाकर निबन्ध विधा के अनेक प्रयोग इस काल में मलयालम और हिन्दी में आए। स्वय भारतेन्दु ने अनेक लेख और निबन्ध प्रकाशित किए। इस ओर पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र आदि की देन सराहनीय है। केरलवर्मा ने कई पाठ्यपुस्तकों की रचना की। प्रथम कक्षा से लेकर तीसरी कक्षा तक के पाठ्य ग्रंथ संकलित करते समय कई गद्य पाठ उन्होंने स्वयं तैयार किये। विज्ञान मंजरी में अनेक विज्ञान सम्बन्धी लेख उन्होंने प्रकाशित किए। उनके निबन्ध उपदेश प्रधान, शिक्षा प्रधान, मनोभाव प्रधान आदि कई विभागों में विभक्त किए जा सकते है। केरल वर्मा के इस मार्ग पर श्री सी. पी. अच्युत मेनोन, ए० आर० राजराज वर्मा, कोयित्तंपुरान, वरूगीस माप्पिलै आदि अनेक लेखक कार्यरत रहे।

भारतेन्दु युग में हिन्दी में तथा केरल वर्मा युग में मलयालम में उपन्यास रचना का भी आरम्भ हुआ। लाला श्री निवासदास, राधाकृष्ण दास, बाल कृष्णभट्ट आदि इस क्षेत्र में स्तुत्य काम करने लगे। स्वयं हरिश्चन्द्र ने बंग भाषा से एक उपन्यास का अनुवाद शुरु किया था। किंतु पूरा नहीं किया था। केरल वर्मा ने भी मलयालम में डच लेखक वोण ली वर्ग ब्रोबर के उपन्यास (1872) अकबर का मलयालम अनुवाद 1882 में प्रकाशित करके मलयालम में आधुनिक उपन्यास विधा का श्री गणेश किया जिस रास्ते में चन्दु मेनोन, सी. वी. रामन पिल्लै आदि महान उपन्यासकारों ने अपने अनेक सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना करके मलयालम साहित्य में इस विधा को उत्कर्ष तक पहुंचाया। मलयालम के चन्दु मेनोन और सी. वी. रामन पिल्लै जैसे उपन्यासकारों से तुलनीय हिन्दी लेखक कई दशकों के बाद ही हिन्दी में हुए। इस समय हिन्दी और मलयालम में अनूदित उपन्यासों का भी तांता बंध गया। जीवन चरित्रों की रचना का भी उपक्रम इस युग में हुआ। स्वयं भारतेन्दु तथा केरल वर्मा ने इस ओर अपने योगदान से साहित्य को समृद्ध किया साथ ही अन्य लेखकों को इस ओर प्रवृत्त भी किया। इसी तरह विविध विषयक पुस्तकों के निर्माण की ओर भी यह युग प्रयास करता रहा। देशों के इतिहास, अर्थशास्त्र, नैतिक धर्म, आरोग्य शास्त्र आदि अनेक विषयों पर केरल वर्मा ने स्वयं ग्रन्थ रचे या दूसरे विद्वानों से तैयार कराये। इसी तरह भारतेन्दु की रचनाएं 'बालाबोधिनी' स्त्री शिक्षा सम्बन्धी और 'काश्मीर कुसुम' इतिहास सम्बन्धी थी। भारतेन्दु युग में हिन्दी में तथा केरल वर्मा युग में मलयालम में अनेक पत्र-पत्रिकाएं निकली। इनके कारण दोनों भाषाओं की गद्य-पद्य शाखाएं अधिक संपुष्ट हुई। यथार्थतः गद्य शाखा के विकास के लिए ये सहायक थी। भारतेन्दु तथा केरल वर्मा इन पत्रिकाओं के प्रकाशन में प्रेरणादायक रहे। स्वयं भारतेन्दु ने 1868 में 'कविवचन सुधा' और 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकाल कर नई सुधरी हुई हिन्दी को रूपायित किया था। उन्ही की मण्डली के विद्वान लेखक ही इन पत्रिकाओं के सम्पादक या उपदेशक थे। इसलिये साहित्य के सर्वतोमुखी विकास के साथ विविध विषयों की रचनाएं भी उन पत्रिकाओं में स्थान लेने लगी। पत्रिकाओं के सुकर प्रसव में कई जल्दी बन्द हुई। कुछ थोड़े दिन चल कर बन्द हुई। कुछ बन्द होने के

बाद भी पुनः प्रकाशित होती रहीं। हिन्दी और मलयालम आलोचना साहित्य तथा पुस्तक समीक्षा का उदय इन्ही पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हुआ। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का नाम यहां न लेकर कुछ मलयालम पत्र पत्रिकाओं का नाम और प्रकाशन वर्ष हिन्दी विद्वानों को दृष्टिपथ में रखकर यहां दिया जाता है।

पत्रिका का नाम	सम्पादक	प्रकाशन स्थान	प्रकाश वर्ष
पश्चिम तारक			1804
संदिष्टवाधी	डब्ल्यु एच. मूर	कोट्टयम	1867
केरल पत्रिका	चेकुलत्तु कुंजिरामन मनोन	कालिकट	1868
सत्यनाद काहलं		तिरुवनन्तपुरम	1889
केरल चन्द्रिका			
केरलमित्रं	वरूगीस माप्पिला	कोचिन	1881
नस्राणी दीपिका		कोट्टयम	1887
मलयालम मनोरमा	वरूगीस माप्पिला	कोट्टयम	1890
भाषा पोषिणी			1892
विदयाविनोदिनी	सी. पी. अच्युत मेनोन	तृश्शूर	1890
जनरंजिनी	उदयवर्मं तुंपुरान	पालक्काट	1891
सुजनानन्दिनी	परवूर केशवनाशान	कोल्लम	1892

भारतेन्दु तथा केरल वर्मा युग की पद्य रचनाओं का भी यहाँ सामान्य विश्लेषण समीचीन होगा। भारतेन्दु जी तो पुरानी काव्य धारा को प्रश्रय देने वाले थे। उन्होंने पद्य के लिए परम्परानुसार ब्रजभाषा को ही चुना। यद्यपि खड़ी बोली में कुछ पद्य रचनाएं प्रस्तुत करने से वे हिचके नहीं, ब्रजभाषा का भी उन्होंने कुछ परिष्कार किया। उसे जनसाधारण की भाषा की ओर ले जाने तथा तोड़-मरोड़ से बचाने का उनका प्रयास स्तुत्य है। उनकी पद्य रचनाओं के विषय भक्ति, नीति और शृंगार परक थे। उनकी काव्य साधना में मौलिकता का अंश कम और परम्परा को बनाये रखने का प्रयत्न अधिक है। फिर भी उनकी कविताओं में देश भक्ति का ऊँचा स्वर मुखरित है। अतीत गौरव गाथा में गर्व करने वाले, भारत की बुरी स्थिति पर क्षोभ भरी वेदना प्रकट करने वाले भारतेन्दु में नव्य भावना एवं स्वच्छंदतावादी काव्य रूप संप्राप्त है। उनके समय के अन्य कवियों में रत्नाकर, प्रेमघन, श्रीधर पाठक, हरिऔध आदि ब्रजभाषा की परम्परा के पुजारी ही रहे। उनमें श्रीधर पाठक और हरिऔध स्वच्छंदतावादी काव्य साधना में बाद में तल्लीन हो जाते हैं। खड़ी बोली काव्य के प्रवर्तक भी हो जाते हैं। मलयालम में केरल वर्मा भी एक सीमा तक पद्य रचना में परम्परा के अनुयायी ही रहे। संस्कृत में कई काव्य ग्रन्थों की रचना कर मलयालम के पूर्व सूरियों की तरह अपनी संस्कृत-रचना धर्मिता एवं पांडित्य को

सिद्ध करने के साथ अनेक मलयालम काव्यों की भी रचना की । मलयालम में कथकली साहित्य का निर्माण प्रत्येक कवि अपना काव्य मानता है । केरल वर्मा ने भी हनुमदुद्भव, ध्रुवचरित, मत्स्य वल्लभ विजय, प्रलम्बवध, परशुरामविजयम् सोमवारव्रतं आदि आट्टकथाएं लिखीं । भारतेन्दु की तरह उनकी भक्तिपरक रचनाएं और स्तोत्र भी प्रसिद्ध है । कुछ लघु रचनाओं में स्वच्छदंतावादी काव्य रूप भी प्रशस्त होता है । उनके युग के अन्य कवियों की रचनाओं का भी यही क्रम रहा । लेकिन उनके भागिनेय ए. आर. राजराज वर्मा ने 'मलयविलास' शीर्षक खण्ड काव्य की रचना करके इसी युग में स्वच्छन्दतावादी काव्य का मलयालम में बीजावाप किया । इस युग का समस्यापूरण और द्वितीयाक्षर प्रास का वाद भी यहां उल्लेखनीय कार्य है ।

भारतेन्दु काशी के एक सम्पन्न वैश्यकुल में पैदा हुए थे । वैसे केरलवर्मा भी सम्पन्न राजकुल में जन्मे थे और तिरुवितांकूर की राणी के साथ विवाह करके सरकार की नीति के अनुसार मलयालम भाषा के विकास में तल्लीन थे । दोनों देश के अन्य स्थानों में यात्रा करके तथा नई शिक्षा से लाभ उठा के अंग्रेजी बंगला आदि में प्राप्त नव्य गद्य विधाओं को अपनी–अपनी भाषाओं में लाने का प्रयास करते हैं । दोनों विद्वानों, साहित्यकारों तथा कवियों को प्रेरणा देते थे और आर्थिक सहायता भी देते थे । एक प्रकार से केरल वर्मा और भारतेन्दु साहित्यिक गतिविधियों के केन्द्र बिंदु थे । भाषा और साहित्य को पुष्ट करने में नयी शिक्षा पद्धति का स्वागत करने में तथा पत्रपत्रिकाओं के प्रकाशन में दोनों ने ऐसा सहयोग दिया कि क्रमशः हिन्दी तथा मलयालम साहित्य का सर्वांगीण उन्मेष हुआ । इसलिए अन्ततः यही कहना पड़ता है कि भारतेन्दु युग तथा केरल वर्मा युग की रचनाधर्मिता के साम्यों की अधिकता को देखकर उनकी तुलना शोधात्मक दृष्टि से प्रलंबित रूप में प्रस्तुत करना अनिवार्य है । इसी तरह अन्य भारतीय भाषा साहित्यों का भी प्रस्तुत युग का ऐसा अध्ययन भी करना चाहिए जिससे भारतीय भाषा साहित्यों की गतिविधियों में जो समान पक्ष हैं उनपर ज्यादा प्रकाश पड़े और उनको निकट लाने की सरणी भी खुले । यही साहित्य के विद्यार्थियों के लिए करणीय है ।

टिप्पणी

1. केरल साहित्य चरितं—जिल्द 4.

—o—

कहानी रह जायेगी

हेमन्त शर्मा

भारतेन्दु अपने समय की बेमिसाल अभिव्यक्ति थे। हिन्दी का शायद ही ऐसा कोई रचनाकार हो जिसने अपने युग की चेतना को इतना धारदार स्वर दिया हो। भारतेन्दु के आविर्भाव के वक्त देश का राजनैतिक क्षितिज आर्थिक धुंधलके और सामाजिक रूढ़ि अंधता से सराबोर था।

भारतेन्दु की सात बरस की मासूम आंखे सन् 1857 के गदर की चश्मदीद गवाह थी और उन आंखों ने जनता की चीख और पीड़ा का कातिलाना दमन को देखा था। साहित्य में यह मध्यकालीन दरबारी संस्कृति का दौर था। हिन्दी गद्य अपनी तंगहाली में 'प्रेम सागर' और 'सिंहासन बत्तीसी' जैसी रचनाओं से ही सन्तोष किए बैठा रहा। साहित्य में श्रृंगार का आधिपत्य था। समाज अपने पुराने गले संस्कारों से बुरी तरह चिपका था। पत्रकारिता में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के अधिकारियों की दखल थी। कम्पनी शासन के तौर तरीके से भ्रष्ट नौकरशाही पैदा हो चुकी थी। करों में अप्रत्याशित बढ़ोत्तरी और जमीन के नये बन्दोबस्त से किसान मजदूर हो गये थे। वे अब जमीन के मालिक नहीं, जोतदार थे। इस राज में किसानों और मजदूरों की क्या दशा थी इसके बाबत भारतेन्दु स्वयं लिखते है 'कपड़ा बनाने वाले, सूत निकालने वाले खेती करने वाले सब भीख मांगते है। खेती करने वालों की दशा है कि लंगोटी लगा तुम्बा हाथ में ले भीख मांगते हैं।" इतना जुल्म कि 'जान ब्राइट' को भी इस काल को "ए हण्ड्रेड यीयर्स ऑफ क्राइम" कहना पड़ा। इसी अनाचार युग के सम्बंध सरजार्ज कार्नवस लीविस ने 'हाउस आफ कामंस' में 12 फरवरी सन् 1858 को कहा था—"मैं पूरे विश्वास के साथ कहता हूँ कि धरती पर आज तक कोई भी सभ्य सरकार इतनी भ्रष्ट, इतनी विश्वासघाती और इतनी लुटेरी नहीं पायी गयी।" कुल मिलाकर घुटनभरा पूरा माहौल गतिरोध का था। भाषा का बुरा हाल था। साहित्य के सामने 'फार्म' का संकट था। अंग्रेजों के आतंक के आगे अपनी बातें कही कैसे जाय, यह एक विचार तलब मुद्दा था।

कहा गया कि अकाल पीड़ितों तक अन्न पहुंचाने के लिए यातायात में रेलों की शुरूआत हुई। पर अंग्रेजों ने रेलों का इस्तेमाल अकाल पीड़ितों तक अन्न पहुंचाने के लिए नहीं वरन् बन्दरगाहों तक कच्चा माल ढोने के लिए किया। इससे उन्हें हमारी कच्ची सम्पदा विदेश भेजने में आसानी हुई। देश के उद्योग और शिल्प को नष्ट करने का

षडयन्त्र शुरू हुआ। भारत को महज कृषि पर निर्भर रहने की विवशता के हाथों सौप दिया गया। जबकि सन् 1840 में 'ही मांटोगोमरी मार्टिन संसदीय जांच समिति' की रिपोर्ट इस खतरे की चेतावनी दे गयी थी—"मैं यह नहीं मानता कि भारत एक कृषि प्रधान देश है। भारत जितना कृषि प्रधान देश है उतना उद्योग प्रधान देश भी है, जो उसे कृषि प्रधान देश की स्थिति तक लाना चाहते हैं। वे सभ्यता के पैमाने पर उसका स्थान नीचे लाने की कोशिश करते हैं।"

यह चेतावनी आज तक हमें झकझोरती है। हम अब अपने को कृषि प्रधान देश मानते हैं। हमें मात्र कृषिकर्म के सहारे छोड़ दिया गया। आकाशी कृपा कर जीवित रहने वाली खेती हमारा साथ न दे सकी। अकाल पर अकाल पड़े। महामारी के हम शिकार हुए।

परिणाम सामने था। टैक्स बढ़ता चला गया। अकाल के बावजूद लगान में बढोत्तरी हुई। अराजकता भरे इस माहौल के विरोध में उठे स्वर को दबाने के लिए सन् 1878 में 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' आया। दूसरी तरफ सामाजिक स्थिति और बदतर हुई। धार्मिक असहिष्णुता बढ़ी। व्यक्ति समुद्र यात्रा के बाद जाति से बाहर होने लगा। विधवा विवाह का वर्जन, बाल विवाह और बेमेल विवाह पारिवारिक सन्तुलन के लिए अभिशाप हुए। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक मतों का प्रचार और उसका खण्डन-मण्डन ही समाने आया।

इस विपत्ति, रूढ़िग्रस्त राजनैतिक और सामाजिक स्थिति वाले देश में एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जिसके पास परम्परा की स्वच्छन्दतावादी दृष्टि हो और इन आपदाओं से लड़ने की क्षमता। बाबू हरिश्चन्द्र का प्रादुर्भाव उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता की पूर्ति थी। उस माहौल में हरिश्चन्द्र ने हिन्दी जगत का नेतृत्व किया। उन्होंने अपने साहित्य में तत्कालीन समाज की पीड़ा, त्रास और बेचैनी को वाणी दी। साहित्य को नये 'फार्म' दिये। कविता को भक्तजनों के बाड़े से निकाल कर उसमें आम आदमी की धड़कन प्रवाहित की है। सच्चे अर्थों में भारतेन्दु बाबू ने अपने साहित्य के जरिए वो हथियार बनाया जिसे पकड़ आने वाली पीढ़ी आजादी की लड़ाई लड़ सकी।

बाबू हरिश्चन्द्र 9 सितम्बर सन् 1850 (भाद्र पद शुक्ला सप्तमी सम्वत् 1907, सोमवार) को काशी के एक प्रतिष्ठित अग्रवाल घराने में पैदा हुए थे। जिस घराने में ये हुए उसने काफी उतार चढ़ाव देखे थे। बाबू हरिश्चन्द्र के पूर्वज हरिणाणा राज्य के हिसार जिले के पास अग्रोहा से आये थे। अग्रोहा अग्रसेन की राजधानी थी। अग्रोहा पर सन् 1762 में शहाबुद्दीन गोरी के हमले से अग्रवाल घराने तितर-बितर हो गये। "कुछ मारवाड़ चले गये। कुछ कलकत्ता की ओर गये और बाकी बचे लोग दिल्ली के आस-पास व्यापार और साहूकारा चलाने लगे"[1] मुगलों के शासन काल में एक मात्र जाति इन्हीं अग्रवालों की

थी जिसने खूब तरक्की की। हरिश्चन्द्र के पूर्वज कलकत्ता चले गये थे। इसी वंश के सेठ बालकृष्ण के पौत्र और सेठ गिरधारी लाल के पुत्र अमीचन्द थे। अमीचन्द ने अपनी सम्पत्ति और बुद्धि का इस्तेमाल बंगाल में अंग्रेजों का पैर जमाने के लिए किया था। इन्होंने देशद्रोह के पैसे से अपनी तिजोरियां भरी थी। इनका व्यापारिक साम्राज्य इतना बढ़ा कि इनका घर एक छोटा राज्य सा बन गया था।

इनके बारे में बाबू बृजरतन दास (भारतेन्दु बाबू के दौहित्र) ने लिखा है कि ये अंग्रेजों के प्रधान सहायक थे और 40 साल से कलकत्ते में व्यापार कर रहे थे। शुरुआत में अपना व्यापार फैलाने में अंग्रेजों ने इनसे बहुत सहायता ली। पर अपना पैर जमा लेने के बाद अंग्रेजों ने अमीचन्द को अलग कर दिया। इसी समय बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ते पर चढ़ाई कर उसे लूट लिया। इसमें अमीचन्द का भी चार लाख रुपया नकद और सामान लुटा।

इस युद्ध में इनके घर-बार जल गये और परिवार के कई स्त्री-पुरुष इस घटना में मारे गये। अंग्रेजों ने दूसरे प्रान्तों से सहयोग ले प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला को मार गिराया और उसकी जगह मीरजाफर को बैठाया। इस षडयन्त्र में अमीचन्द भी शामिल थे। षडयन्त्र सफल होने के बाद खजाने के बंटवारे का समय आया तो अंग्रेजों ने उन्हें धता बता दिया। यह देख अमीचन्द बेहोश हो गये। होश आने पर जब वे क्लाइव से मिलने गये तो क्लाइव ने उन्हें सलाह दी कि वे तीर्थ यात्रा करें। इस घटना के बाद ओर्म की 'मिलिटरी टैन्जैक्शन्स' जिल्द 2 पृष्ठ 182 के अनुसार अमीचन्द मालदा गये और वहां से पागल होकर लौटे। इसी हालत में डेढ़ साल बाद उनकी मौत हो गयी। बकलैण्ड की 'इण्डियन बायोग्राफिकल डिक्शनरी' में इनकी मृत्यु 5 सितम्बर सन् 1758 में दर्ज है।

"उन्हीं का क्या, उस नाटक के सारे नायकों का अन्त इसी तरह अस्वाभाविक स्थिति में ही हुआ। क्लाइव ने आत्महत्या की। मीरजाफर कोढ़ी हो गया। मीर कासिम ने दोनों जगत सेठों को मौत के घाट उतार दिया। जिस व्यक्ति ने सिराजुद्दौला को मारा था वह बिजली गिरने से मर गया।"[2]

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र इसी अमीचन्द की पाँचवीं पीढ़ी में पैदा हुए थे। फिर भी अंग्रेज भारतेन्दु के परिवार पर भरोसा करते थे। सन् 1857 के विद्रोह के समय बनारस रेजीडेन्सी का बहुत सा सामान भारतेन्दु के पिता बाबू गोपाल चन्द्र (उपनाम गिरिधर दास, के पास अंग्रेजों ने सुरक्षा की दृष्टि से रखा था। ऐसे में भारतेन्दु का परिवार अंग्रेजों का कृपापात्र भी था और विश्वास-पात्र भी। बाबू गोपाल चन्द्र साहित्य प्रेमी थे। इन्होंने 13 साल की उम्र में रामायण का अनुवाद किया था। गिरिधर दास उपनाम से इन्होंने लगभग 40 ग्रन्थ लिखे। गोपालचन्द्र जी ठाकुरजी की पूजा के लिए रोज पांच

भजन लिखते थे। इन्होंने अपने यहां दुर्लभ और महत्व की प्राचीन पुस्तकों का एक संग्रह भी रखा था। पुरातत्वविद् राजेन्द्रलाल मित्र इस संग्रहालय को एक लाख रुपए में खरीदना चाहते। पर भारतेन्दु का साहित्य प्रेम पुस्तकालय बेचने को राजी न हुआ। दस साल की उम्र में जब बालक हरिश्चन्द्र का यज्ञोपवीत हो रहा था उसी समय ज्यादा भांग खा लेने से बाबू गोपाल चन्द्र की सत्ताइस साल की अवस्था में मृत्यु हो गयी। मण्डप में ही भारतेन्दु के यज्ञोपवीत के बाद जब सब लोग उठे, उसके पहले ही उनके प्राण शरीर से निकल चुके थे। कविता प्रेम बाबू हरिश्चन्द्र को विरासत में मिला था। तभी तो पांच साल की उम्र में ही अपने पिता के काव्य 'बलराम कथामृत' की रचना के अवसर पर उन्होंने लिखा—

ले ब्यौड़ा ठाढ़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान॥

अद्भुत प्रतिभा के धनी बाबू हरिश्चन्द्र की शिक्षा बचपन में उनके घर ही हुई थी। उन्होंने पण्डित ईश्वरी प्रसाद से संस्कृत और हिन्दी, मौलवी ताज अली से उर्दू, पं० नन्द किशोर से अंग्रेजी, पं० कैलाश नाथ सुकुल से विज्ञान और सुलेख पं० दुर्गादत्त (दत्त कवि) से अमर कोश, पंचतन्त्र और रघुवंश पढ़ा। चौखम्भा स्कूल से हरिश्चन्द्र ने कुछ दिनों तक महाजनी भी पढ़ी। राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' से भी इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। इसी वजह से तमाम असहमतियों के बावजूद वे उनका आदर करते थे। पिता की मृत्यु के बाद हरिश्चन्द्र की व्यवस्थित शिक्षा क्विंस कालेज, वाराणसी में शुरु हुई। लेकिन दस वर्ष के हरिश्चन्द्र चूंकि घर में पुरुषों में सबसे बड़े थे। इसलिए पारिवारिक जिम्मेदारियां और देख भाल में कमी की वजह से इनका स्कूली शिक्षा की ओर से ध्यान कम होता गया।

बालक हरिश्चन्द्र को कविता करने की अद्भुत क्षमता थी। वे प्रकृति से ही कवि थे। ग्यारह साल की उम्र में क्वीन विक्टोरिया के पति प्रिंस एलवर्ट की मृत्यु के समय उन्होंने "स्वर्गवासी श्री अनवरत वर्णन अन्तंलापिका" की रचना की। 'शृंगार रत्नाकर' नाम का एक ग्रन्थ तत्कालीन काशिराज ने सन् 1862 में प्रकाशित कराया। इसके लेखक थे पं० ताराचरण तर्करत्न। तर्करत्न जी ने इस ग्रन्थ में एक जगह लिखा है—

"हरिश्चन्द्रास्तु वात्सल्य संख्य भक्तयानन्दाख्ययधिकं रस चतुष्टयं मन्वते !"

जब यह ग्रन्थ छपा उस समय भारतेन्दु बाबू 12 साल के थे। इतनी छोटी उम्र में उन्होंने नौ रसों के अलावा चार रसों (भक्ति, सख्य, वात्सल्य और आनन्द) की व्याख्या की। 'कविवचन सुधा' जि० 3 नं० 22 शुक्रवार 5 जुलाई, 1872 के अंक में इन रसों की व्याख्या करते हुए भारतेन्दु बाबू ने अपने ही पत्र में सम्पादक के नाम पत्र भी लिखा है।[8]

चाँदी के पालने में झूलने वाला भारतेन्दु का बचपन सामन्ती वातावरण में ही फूला

फैला। 13 साल की उम्र में इनका विवाह काशी के धनाढ्य गुलाब राय की पुत्री मन्नो देवी के साथ हुआ। कहते हैं उनके विवाह में कुएँ में चीनी घोल बारात का स्वागत किया गया था। बारात तीन मील लम्बी थी। ऐसी सम्पन्नता और सामन्ती वृत्ति राष्ट्रीय चेतना को समझने में कहीं भी भारतेन्दु के आड़े नहीं आयी। वैभव की दीवारें उनके समझ को घेर नही पायी। आम आदमी से परिचित होने और देश दर्शन की उनमें लालसा बचपन से ही बनी रही।

उनका अध्ययन केवल पुस्तकीय ज्ञानतक ही सीमित नहीं था। समाज को बहुत दूर तक देखने की उनमें ललक थी। इसी का परिणाम था वे यात्रायें जो उन्होंने रेल के सेकेण्ड क्लास, (फर्स्ट क्लास का टिकट उन दिनों राजाओं, नबाबों और अंग्रेजों के लिए रिजर्व रहता था) से लेकर वैलगाड़ी तक से की थी (पुरी यात्रा में वे रानी गंज से पुरी तक वैलगाड़ी से गये थे) ग्यारह साल की उम्र में ही उन्होंने देशाटन शुरु किया था। चुनार, कानपुर, लखनऊ, सहारनपुर, हरिद्वार, अमृतसर, लाहौर, दिल्ली, आगरा आदि की उन्होंने आँखे खोल यात्रायें की, जनजीवन को करीब से देखा। उनके यात्रा वर्णनों में ऐसा 'हंसमुख' और 'प्रसन्न गद्य' दिखायी देता है जो उनके मौज मस्ती भरे जागरूक व्यक्तित्व का परिचायक है। इन यात्राओं से बावू हरिश्चन्द्र का दूसरे प्रांतों के लेखकों और कवियों से भी सीधा सम्पर्क हुआ। उनकी सैलानी मस्त तवीयत, गहरी मानवता और प्रकृति प्रेम के साथ ही उनके फक्कड़ मिजाज का बनारसी अन्दाज जितना यात्रा वृतांत में दिखायी देता है, उस सीमा तक कविता में नहीं है।

भारतेन्दु अपने समय की जन भावना के प्रतीक बन चुके थे। अंग्रेजों को उनका बिस्तर बँधवाने में भारतेन्दु ने पत्रकारिता को चुना। उन्होंने अपनी पत्रकारिता के माध्यम से वो किया जो बंगाल में राजाराममोहन राय कर रहे थे। 'निज भाषा' से प्रेम और कविता के प्रति रुचि उनमें बचपन से ही थी। सन् 1868 में 'कवि वचन सुधा', मासिक पत्र के आकार में निकला। शुरु में इसमें पुराने कवियों की ही कवितायें छपती थीं। लेखन विधा और सामग्री के बढ़ते दबाव में भारतेन्दु बावू ने पहले इसे पाक्षिक फिर साप्ताहिक कर दिया। जब उन्होंने मासिक पत्र की जरुरत महसूस की तो सन् 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का जन्म हुआ। आठ अंकों बाद ही 'हरिचन्द्र मैगजीन' 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गयी। उस जमाने के महत्वपूर्ण लेख मैगजीन में ही छपा करते थे। यह वही समय था जब 'हिन्दी नये चाल में ढल रही' थी'। सन् 1874 में स्त्री उन्होंने शिक्षा पर आधारित 'बाला बोधिनी' मासिक का प्रकाशन शुरु किया।

दरअसल अपनी सोच को वाणी देने के लिए ही भारतेन्दु बावू ने इन तीन पत्रों का प्रकाशन किया। कहा जाता है कि अपनी धार्मिक भावना से भावित होकर उन्होंने भक्ति की एक मैगजीन निकाली थी। अपने समय की अनेक पत्र पत्रिकाओं के वे प्रेरक थे। उनका सोचना था कि जन जागृति के लिए पत्र पत्रिकायें सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। पर पत्र पत्रिकाओं

की उत्पत्ति के लिए उस युग में मौसम अनुकूल नहीं था। ग्राहक बनाने में हाड़-तोड़ मेहनत करनी पड़ती थी। कोई कहता—'अखबार पढ़ कर सुना जाया कीजिए।' कोई कहता था—'दाम ले लीजिए, पिण्ड छोड़िए। अखबार भेजिए चाहे न भेजिए।' इस माहौल में पत्र निकालना स्वयं में साधना थी। लोगों में पढ़ने की रुचि नहीं थी। खरीदने की इच्छा नहीं थी। जिन्हें इच्छा थी उनके पास पैसा नहीं था। भारतेन्दु ने इन परिस्थितियों का मुकाबला सेवा और समर्पण की भावना से किया, क्योंकि वे जानते थे कि जिन मुद्दों के लिए वे लड़ रहे हैं, ये समाचार पत्र उसकी क़िलेबन्दिया हैं। अब पत्रों की बिक्री का हाल सुनिए। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की सौ प्रतियाँ सरकार खरीदती थी। सरकार उसकी नीतियों से नाराज थी। कोई न कोई बहाना ढूँढ़ ही रही थी कि इसमें 'यती वैश्या संवाद' छपा। सरकार ने उसे अश्लील करार दिया। पत्रिका की सरकारी खरीद बन्द हो गयी। .... उस समय बहुत सी ऐसी भी पत्रिकायें थी जिनकी ग्राहक संख्या दस-बीस से अधिक नहीं थी। "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" जैसी पत्रिका भी 150 से अधिक लोगों के यहाँ नहीं पहुंचती थी।

महान स्वप्नदृष्ट्रा के बहुत से स्वप्न साकार नहीं होते। भारतेन्दु का विधि पत्रिका निकालने का स्वप्न भी साकार नहीं हो सका। न पांच सौ ग्राहक बने और न पत्रिका प्रकाशित हुई फिर भी हिन्दी वांङ्मय को विविध विषयों से भरने की उनकी लालसा बनी रही। उन्होंने बनारस कालेज के गणिताध्यापक पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र से त्रिकोणमिति पर एक पुस्तक लिखवायी थी। भारतेन्दु बाबू का साहित्यिक विषयों के प्रति जितना लगाव था साहित्येतर विषयों में भी उनकी चिंता कम नहीं थी।

वे विज्ञान, इतिहास, पुरातत्व, राजनीति आदि विषयों को हिन्दी में लिखना लिखाना चाहते थे।[4] प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता राजेन्द्र लाल मित्र (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता) के सम्पर्क में आने के बाद हरिश्चन्द्र की पुरातत्व संबंधी खोजों में दिलचस्पी हुई और 1871-72 के बाद भारतेन्दु बाबू ने लगातार इतिहास और पुरातत्व संबंधी शोध "प्रशस्तियाँ" और "दान पत्र" अपनी पत्रिका में प्रकाशित किए।

साहित्य साधना से ज्यादा हरिश्चन्द्र का ध्यान समाजहित साधना पर था। इसलिए उनकी अधिकांश साहित्य साधना समाज-हित साधना का माध्यम बनी। उनकी यही प्रकृति उनके नाटकों के निर्माण के मूल में थी। सामाजिक कुरीतियों और पश्चिमी सभ्यता की भौंड़ी नकल करने वाले उनके नाटकों के विषय बने। सन् 1868 में हरिश्चन्द्र ने एक नाटक 'प्रवास' लिखना शुरु किया था जो बाद में पूरा नहीं हो पाया। हैंलाकि इस नाटक के अब कुछ भी अंश उपलब्ध नहीं हैं। हरिश्चन्द्र 'रत्नावली' नाटक से बहुत प्रभावित थे। पं०देवदत्त के अनुवाद से वे संतुष्ट नहीं थे। इन्होंने इसका स्वयं अनुवाद किया। यह अनुवाद भी उपलब्ध नहीं है। इसकी केवल प्रस्तावना मिलती है। पूरे तौर पर हम 'विद्यासुन्दर' से ही भारतेन्दु

बाबू के नाटकों की शुरुआत मान सकते हैं। जिसे उन्होंने यतीन्द्र नाथ ठाकुर के बंगला नाटक के आधार पर लिखा है।

नाटक एक ऐसी विधा है जिसमें सभी ललित कलाओं का समावेश हो जाता है। इसीलिए उसमें रंजकता और सभी सामाजिक सन्दर्भों को छूने की ताकत होती है। अतीत की गौरव गाथा का साक्षात् दर्शन कराकर वर्तमान उत्पीड़क स्थिति पर उत्तेजना पैदा कराने के लिए नाटक से बढ़कर कोई दूसरी विधा नहीं है। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से बीते गौरव को दिखा एक मरी हुई जाति में प्राण फूंका और दूसरी ओर 'भारत दुर्दशा' की तस्वीर दिखा कुछ करने की ललक पैदा की और वह भी ऐसे समय में जब लोगों को मालूम ही नहीं था कि नाटक किसे कहते हैं। 'सत्य हरिचन्द्र' नाटक में वे लिखते हैं कि ''यहाँ के लोग यह नहीं जानते कि नाटक किस चिड़िया का नाम है।'' इसी से उन्होंने यह बताना आवश्यक समझा कि हमारे यहाँ कैसे-कैसे नाटक थे। उनके इस प्रयत्न ने संस्कृत के अच्छे नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया। 'मुद्राराक्षस' 'रत्नावली', 'धनंजय विजय,' 'पाखण्ड-विडम्बन', संस्कृत से और 'कर्पूर मंजरी' प्राकृत से अनूदित हुए। 'दुर्लभबन्धु' के नाम से शेक्सपीयर के 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का रुपान्तरण उन्होंने प्रस्तुत किया। यतीन्द्रमोहन ठाकुर के नाटक के आधार पर 'विद्यासागर' और भारत माता के आधार पर 'भारत जननी' नाटक लिखा। वे जितने हिन्दी नाटकों के लिए व्यग्र दीखते हैं उतने ही हिन्दी में नाटकों के लिए व्यग्र लगते हैं। यही कारण है कि वे अपने समय के सभी हिन्दी लेखकों को मौलिक नाटक लेखन के साथ-साथ अनुवाद के लिए भी प्रोत्साहित करते रहे। बाबूकृष्णदास, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू कृष्ण वर्मा, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, पण्डित बदरीनाथ चौधरी 'प्रेमघन' आदि ने मौलिक नाटकों के साथ-साथ अनूदित नाटक भी प्रस्तुत किये।

निश्चित रूप से नाटकों के निर्माण में भारतेन्दु बंगला से अधिक प्रभावित जान पड़ते थे। उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'नीलदेवी' पर बंगला के 'नील दर्पण' की छाया स्पष्ट दिखती है। मानसिकता वही है, विद्रोह की ललक भी वही है।

भारतेन्दु का मानना था कि अच्छा से अच्छा साहित्य जो जन साधारण में दृष्टिगोचर नहीं होता, देश के लिए सम्प्रति बेकार है। आम आदमी को छूने वाला साहित्य लिखा जाना चाहिए। लिखना ही पर्याप्त नहीं है उसका प्रचार भी होना चाहिए दरअसल उनकी मानसिकता जनजीवन से अलग-थलग पड़े साहित्य को जनता से जोड़ना चाहती थी।

भारतेन्दु सुदृढ़ और प्रौढ़ साहित्यिक परम्परा से जुड़े व्यक्ति थे। संगीत का अभिजात्य शास्त्रीय स्तर उनकी रुचि में रचा बसा था। फिर भी उन्होंने लोक संगीत की शक्ति और उसकी अनिवार्यता को पहचाना। उन्होंने 'पक्के गाने' सुनने वालों को सलाह दी कि वे लोक धुनों में भी रस लें। उनमें लोक साहित्य को जन जागरण का माध्यम बनाने की छटपटाहट दिखायी देती है। उन्होंने इस साहित्य के प्रचार एवं प्रसार के सम्बन्ध में लिखा है—

"जिन लोगों का ग्रामीणों से सम्बंध है, वे गांव में ऐसी पुस्तक भेज दें। जहाँ कहीं ऐसे गीत सुन उसका अभिनन्दन करें। इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में बनें, वरंच गंवारी भाषा में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हो। कजली, ठुमरी, खेमका, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, सांझी लम्बे लावनी, जांते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो—अर्थात् पंजाब में पजाबी, बुन्देलखण्ड में बुन्देलखण्डी, बिहार में बिहारी—ऐसे देशों में जिस भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बने।'[5]

जन साहित्य लेखन के लिए भारतेन्दु अपने युग के लेखकों को ही नहीं प्रोत्साहित करते, वरन् आगे आने वाली पीढ़ी के लिए भी एक नया आयाम खोलते हैं। पाठकों की तलाश के लिए भी वे प्रयासरत मालूम होते है वे लोक गायकों की बोली ही बनाने के लिए व्याकुल नहीं दिखायी देते। वरन् श्रोताओं की तैयारी की भी चेष्टा करते हैं। उन्हें खुद ऐसा भान हो गया था कि जो हमारी साहित्यिक परम्परा है, वह दमदोड़ रही है। वह आम आदमी के लिए निरर्थक होती जा रही है। इसलिए साहित्य को जनता में जाना चाहिये। क्या ऐसा हो सकेगा ? या जनता के बीच लहरा रही जन-साहित्य की धारा में से नयी ऊर्जा के साथ नयी साहित्यक परम्परा का जन्म होना चाहिए।

परिणामत. भारतेन्दु और भारतेन्दु मंडल के सभी लोगों ने लोक-साहित्य की रचना आरम्भ की। जीवन से अधिक जुड़े होने के कारण लोक-साहित्य में लोक समस्याओं की धारदार अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। यही कारण है कि उस युग की सभी समस्यायें लोकगीतों का विषय बनीं। सामाजिक अन्धरूढ़ियों से लेकर राजनीतिक कुस्थितियों पर इनके माध्यम से निर्मम प्रहार किये गये।

काव्य भाषा के लिए ब्रज भाषा का चमत्कार भारतेन्दु काल तक और उसके बाद भी हिन्दी रचनाकारों पर छाया था। भारतेन्दु ने खड़ी बोली में नई चाल की रचनाएं तो लिखी थीं, पर उन्हें खड़ी बोली में काव्य रचना की सफलता पर खुद विश्वास नहीं था। इसके लिए लगता है, उन्हें प्रोत्साहन भी नहीं मिला।

'भारत मित्र' में प्रकाशनार्थ उन्होंने खड़ी बोली की अपनी कुछ रचनाएं भेजी थी। सितम्बर सन् 1881 के 'भारत मित्र' के अंक में वे छपीं थी। साथ में उनका यह पत्र भी छपा कि "प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है। देखिएगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के आलम्बन करने से इसमें काव्य सौन्दर्य बन सकता है। इस संबंध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जायेगा।"[6]

इस मंतव्य से स्पष्ट है कि वह कविता के लिये साधुभाषा और जन भाषा के हिमायती थे। इस जनभाषा के लिये वे प्रयत्न करने के लिए भी तैयार थे, जबकि कविता के

वावत उन्हें किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। वे आशुकवि थे। जब मौज आयी, कविता हो गयी। घनानन्द की यह उक्ति कि 'लोग है लाग कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।'— भारतेन्दु पर बिलकुल खरी उतरती है।·· भारतेन्दु का निर्माण ही भारतेन्दु की कविता कर रही थी।····· ऐसा व्यक्ति भी साधु भाषा में रचना के लिए व्यग्र था। वस्तुतः भाषा के मामले में भारतेन्दु की अवधारणा काफी साफ थी। वे निज भाषा के विकास के हिमायती थे।

भाषा सोधहु अपनी, होई सबै एकत्र।
पढ़तु पढ़ावहु लिखहु मिलि, छपवावहु कछु पत्र।

सभी भाषा की उन्नति चाहते हुए भी वे उर्दू के कुछ खिलाफ लगते हैं। इसके दो मुख्य कारण—एक तो भाषाई संदर्भ में उनके परम विरोधी शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' का उर्दू के प्रति लगाव, उनसे उनका व्यक्तिगत विरोध उर्दू के दुराव का कारण बना। दूसरे उर्दू भाषी लोगों की साम्प्रदायिकता भी उन्हें उर्दू से दूर खींच ले गयी। यद्यपि वे स्वयं उर्दू में कविताएं लिखते। उनका उपनाम 'रसा' था। 'गुलजारेपुर बहार' नामक उनका एक उर्दू गजलों का संग्रह भी छपा था। इन उर्दू रचनाओं में भी उनकी हार्दिकता और गम्भीरता किस हद तक थी, इसका एक ही उदाहरण काफी है।

तेरी रहमत का उम्मीदवार आया हूँ,
सर ढापे कफन से शर्मसार आया हूँ।
आने न दिया बारे गुनह ने पैदल,
ताबूत में कांधे पर सवार आया हूँ।

वे 'कासिद' नाम का एक उर्दू साप्ताहिक भी निकालना चाहते थे। जिसका मूल्य भी उन्होंने दस रुपया वार्षिक रखा था। पर किसी कारणवश पत्र न निकल सका।

"कविवचनसुधा" में अक्सर कुछ व्यापारिक विज्ञप्तियां भी छपती थीं। जिससे व्यापार की ओर भारतेन्दु बाबू के अस्थायी रुझान का पता भी चलता है। पर वे व्यापार भी अपनी शान के मुताबिक ही करना चाहते थे। 'हरिश्चन्द्र ब्रदर्स' नाम की इस दुकान में जवाहरात, घड़ियां, कैमरे, जादू के खेल, तस्वीरें, पुरातन महत्व की वस्तुएं, बनारसी माल, इत्र, लैवेण्डर आदि मिलते थे। यहां सामान लेने वाले खुशी से आते थे। सामान पसन्द कर ले जाते। मगर उधार और वह भी उधार ऐसा जो दुकान के बाहर जाते ही भुला दिया जाता था। वैसे भी किसी ने अगर यह कहा कि फलां वस्तु उसे बहुत पसन्द है तो वह प्रायः उसे भेंट कर दी जाती थी। यह दुकान बहुत दिव तक नहीं चल पायी।

उन दिनों बनारस के रईस घरानों में यह रिवाज था कि वे कुछ गाने वाली वेश्याओं को अपने यहां रखते। हरिश्चन्द्र का भी कई गायिकाओं और वेश्याओं से सम्बन्ध था। हरिश्चन्द्र की एक रखैल थीं 'माधवी'। ये किन्हीं किसुन सिंह की पुत्री थी और कभी हिन्दू थी। हरिश्चन्द्र से जब इसका सम्पर्क हुआ तो यह मुसलमान वेश्या 'आलीजान' थीं। भारतेन्दु ने उसका शुद्धीकरण कर हिन्दू बना उसका नाम 'माधवी' रखा। वह उसके लिए एक मकान भी खरीदना चाहते थे। पर पैसे का सवाल था। इसी बीच उनके एक परम मित्र ने पैसों के मामले में उन्हें धोखा दे दिया। लाचार हो उन्हें पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' को पत्र लिखना पड़ा। माधवी कवयित्री भी थीं। उसकी कुछ रचनाएं 'मधु मुकुल' और बन्दर सभा' में प्रकाशित है। इसके बाद 'मल्लिका' हरिश्चन्द्र के जीवन में आयी। 'मल्लिका' बंगाली विधवा थी। यह कलकत्ता से आ चौखम्बा में भारतेन्दु बाबू के घर के पास ही खदेरूमल की गली में रहने लगी थी। मल्लिका का साहित्य से लगाव था। उसकी बहुत सी कविताएं 'चन्द्रिका' उपनाम से 'प्रेम तरंग' में छपीं हैं। मल्लिका के बंगला से हिन्दी अनुवाद किये हुए तीन उपन्यास भी मिलते हैं। 'मल्लिका' के प्रति भारतेन्दु का गहरा लगाव था। मेवाड़ यात्रा के दौरान अपने भाई को लिखे एक पत्र में हालांकि 'मल्लिका' के संबन्ध में उन्होंने दो ही तीन वाक्य लिखे हैं पर बड़ी ईमानदारी से उन्होंने उसके वरण को स्वीकारा है। भारतेन्दु के ही अनुसार इस अंतरंग पत्र को लिखने में उन्हें चार दिन लग गये थे। पेन्सिल से लिखे इस पत्र को उन्होंने लगता है कलेजा फाड़कर लिखा। पूरा पत्र उपलब्ध नहीं है। समय की धूल से दबते-दबते लिखावट भी मद्धिम हो गयी है। इस पत्र की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :—

'विदेश से लौटकर हम न आवें तो इस बात का जो हम लिखते हैं ध्यान रखना। ध्यान क्या अपने पर फर्ज समझना पर हम जीते-जागते फिरेंगे चिन्ता न करना केवल संयोग के वश होकर यह लिखा है। यदि ऐसा हो तो दो चार बातों का अवश्य ध्यान रखना। यह तुम जानते हो कि तुम्हारी भाभी की हमें कुछ चिन्ता नहीं, क्योंकि तुम्हारे जैसा देवर जिनका वर्तमान है उसको और क्या चाहिए। दो बात की हमको चिन्ता है। एक कर्ज, दूसरी 'मल्लिका' की रक्षा। थोड़ी सी डिगरी जो बच गयी है, उसे चुका देना और जीवन भर दीनहीन 'मल्लिका' की जिसको हमने धर्मपूर्वक अपनाया है रक्षा करना। कृष्ण की ऊंची शिक्षा संस्कृति, अंग्रेजी और बंगला की है। जो हमारे बाबू जी के ग्रन्थ बेछपे रह जायें वे छापें।"[7]

भारतेन्दु जी का यह पत्र उनकी वसीयत है, उनकी व्यथा कथा है, 'मल्लिका' के प्रति उनके लगाव और आत्मीयता की स्वीकारोक्ति है, और संस्कृत-अंग्रेजी के साथ बंगला के प्रति उनके प्रेम का द्योतक है। मल्लिका के निर्वाह के लिए उन्होंने एक कार्यालय भी बनाया था। इसका नाम था 'मल्लिक चन्द्र एण्ड कम्पनी'। बाद में इस कम्पनी ने भारतेन्दु की कई पुस्तकों का प्रकाशन भी किया था।

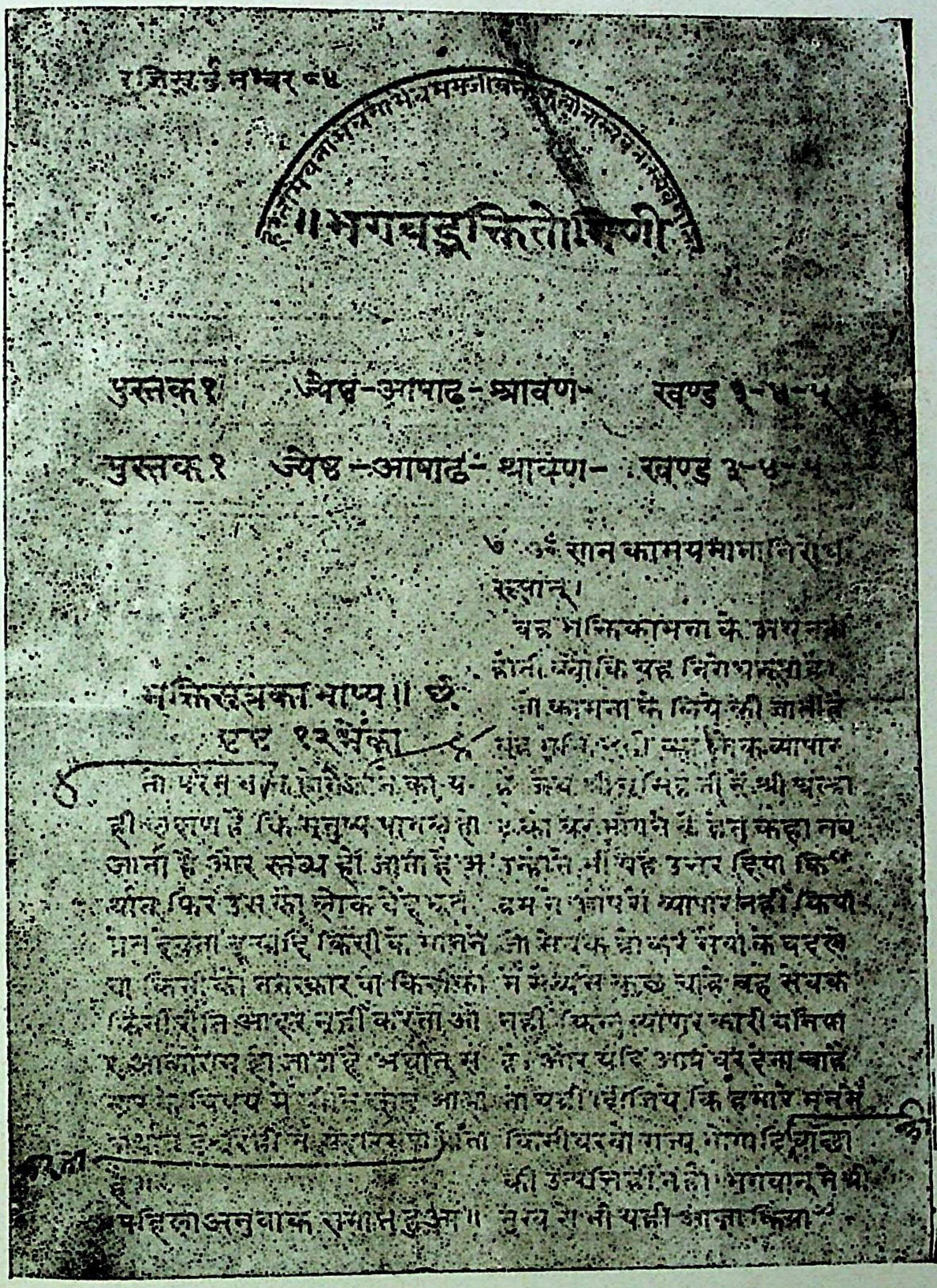

रजिस्टर्ड नम्बर ८५

॥ भगवद्भक्तितोषिणी

पुस्तक १ ज्येष्ठ-आषाढ़-श्रावण- खण्ड ३-४-५

पुस्तक १ ज्येष्ठ-आषाढ़-श्रावण- खण्ड ३-४-५

भक्तिसूत्रका भाष्य ॥ ॐ

पृष्ठ १२ अंक

[illegible] हो जाता है [illegible] ही [illegible] है कि मनुष्य [illegible] जाता है और स्तब्ध हो जाता है अ[illegible] फिर उस को शोक [illegible] किसी के मानने या किसी को नमस्कार या किसी को [illegible] नहीं करता और आत्माराम हो जाता है अर्थात् [illegible] विषय में [illegible] आत्मा [illegible] नहीं [illegible] है [illegible]

पहिला अनुवाक समाप्त हुआ॥

७ ॐ सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।

यह भक्ति कामना के अर्थ नहीं होती। क्योंकि यह निरोधरूपा है [illegible] कामना के लिये की जाती है [illegible] व्यापार [illegible] कहा तब उन्होंने भी यह उत्तर दिया कि हम [illegible] व्यापार नहीं [illegible] चाहे वह [illegible] व्यापार [illegible] है और यदि आप [illegible] देना चाहें तो यही दीजिये कि हमारे मनमें किसी प्रकार [illegible] की उत्पत्ति [illegible] भगवान् ने भी [illegible] यही आज्ञा किया

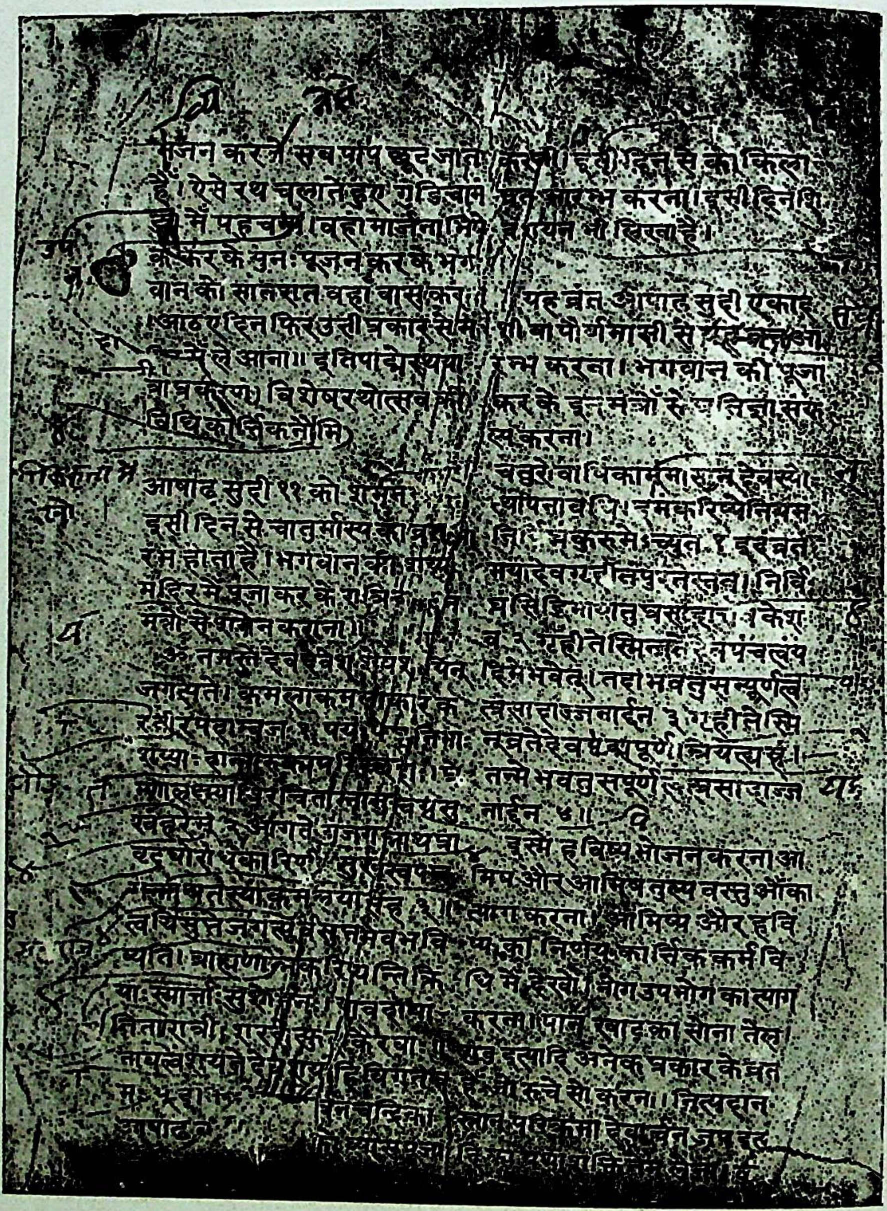

[illegible]जन करने सब पाप छूट जाते हैं। ऐसे रथ चलाते हुए गुडिचाम[illegible] में पहुचना। वहा मालेला मि[illegible] कर के पुनः पूजन कर के भगवान को सात सात वहा वास करा। आठएं दिन फिर उसी प्रकार से म[illegible] में ले आना॥ इति पाद्मे रथयात्रा प्रकरणं। विशेष रथोत्सव की विधि कोर्तिकन्नौमि)

आषाढ सुदी ११ को शयन

इसी दिन से चातुर्मास्य का प्रारम्भ होता है। भगवान की शय्या मंदिर में पूजा कर के रात्रि [illegible] मंत्रों से शयन कराना।

ॐ नमस्ते देवदेवेश शेषपर्यंक[illegible] जगत्पते। कमलाकमलाकारक[illegible] रमेश्वर भुज १ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नमोमते स्याक्रमन्वया सह २॥ त्वयि सुप्ते जगत्सुप्तं सुप्तमेव भविष्यति। ब्राह्मणा[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

करना। इसी दिन से कोकिला व्रत आरम्भ करना। इसी दिन [illegible]ायन भी लिखा है।

यह व्रत आषाढ सुदी एकादशी वा पौर्णमासी से [illegible]रम्भ करना। भगवान की पूजा कर के इन मंत्रों से प्रतिज्ञा संकल्प करना।

चतुरो वार्षिकान्मासान् देवस्योत्थापनावधि। इमं करिष्ये नियमं निर्विघ्नं कुरु मेऽच्युत १ इदं व्रतं मया देव गृहीतं पुरतस्तव। निर्विघ्नं सिद्धिमायातु प्रसन्ने त्वयि केशव २ गृहीतेऽस्मिन्व्रते देव पंचत्वं यदि मे भवेत्। तदा भवतु सम्पूर्णं त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ३ गृहीतेऽस्मिन्व्रते देव यदपूर्णं क्रियेत्त्वया। तन्मे भवतु सम्पूर्णं त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ४॥

इसमें हविष्य भोजन करना आमिष और आमिष तुल्य वस्तुओं का त्याग करना। आमिष और हविष्य का निर्णय कार्तिक कर्म विधि में देखो। भोग उपभोग का त्याग करना। पान खाट का सोना तेल [illegible] इत्यादि अनेक प्रकार के व्रत हैं जो रुचे सो करना। नित्यदान [illegible] प्रदक्षिणा देवार्चन जप इत्यादि [illegible]

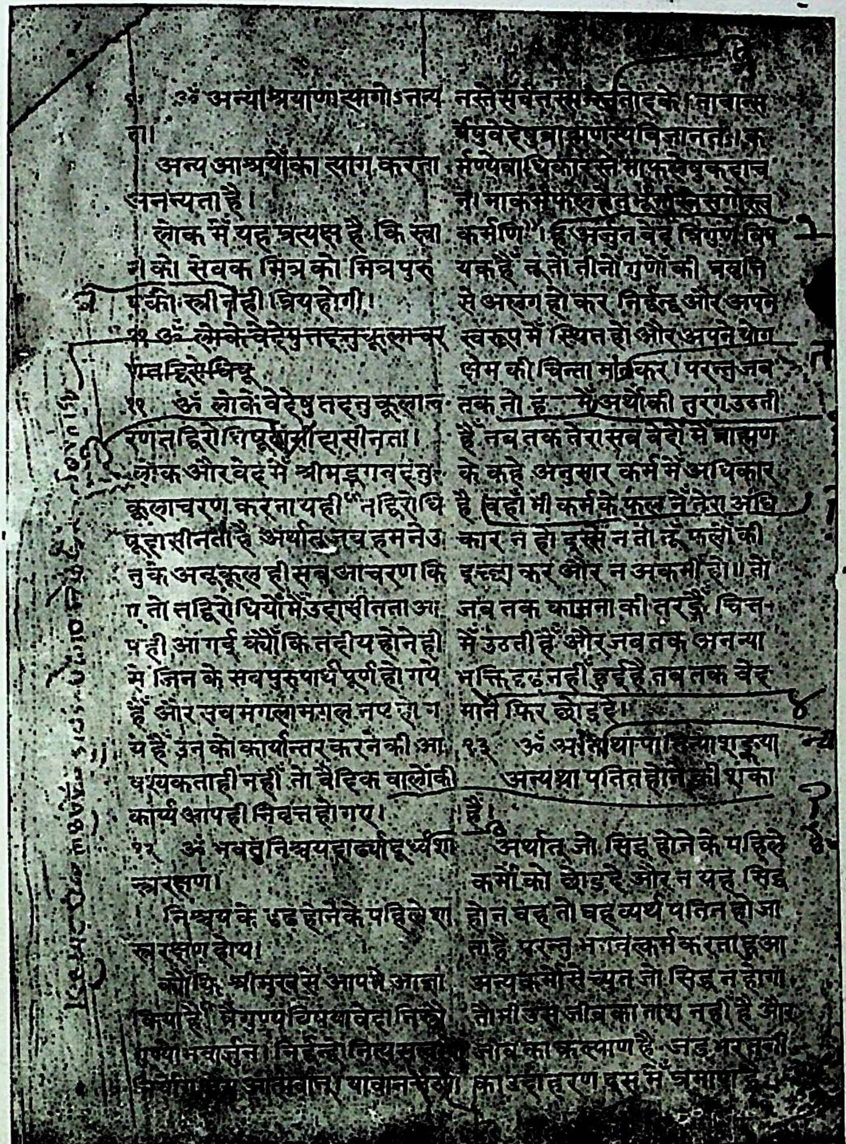

१० ॐ अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता।

अन्य आश्रयों का त्याग करना अनन्यता है।

लोक में यह प्रत्यक्ष है कि स्वामी को सेवक मित्र को मित्र पुरुष की स्त्री नहीं प्रिय होगी।

~~११ ॐ लोकेवेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषू~~

११ ॐ लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता।

लोक और वेद में श्रीमद्भगवदनुकूलाचरण करना यही "तद्विरोधिषूदासीनता" है अर्थात् जब हमने उनके अनुकूल ही सब आचरण किया तो तद्विरोधियों में उदासीनता आपही आ गई क्योंकि तदीय होने ही में जिन के सब पुरुषार्थ पूर्ण हो गये हैं और सब मंगलामंगल नष्ट हो गये हैं उन को कार्यान्तर करने की आवश्यकता ही नहीं तो वैदिक वालों की कार्य आपही निवृत्त हो गए।

१२ ॐ भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणं।

निश्चय के दृढ होने के पहिले शास्त्ररक्षण होय।

क्योंकि श्रीमुख से आपने आज्ञा किया है "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्। यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः। कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि"। हे अर्जुन वेद त्रिगुण विषयक हैं तू तो तीनों गुणों की प्रवृत्ति से असंग हो कर निर्द्वन्द्व और अपने स्वरूप में स्थित हो और अपने योग क्षेम की चिन्ता मत कर। परन्तु जब तक तो हृदय में अर्थों की तरंग उठती है तब तक तेरा सब वेदों में ब्राह्मण के कहे अनुसार कर्म में अधिकार है वहां भी कर्म के फल में तेरा अधिकार न हो इससे न तो तू फलों की इच्छा कर और न अकर्मी हो॥ तो जब तक कामना की तरङ्गें चित्त में उठती हैं और जब तक अनन्या भक्ति दृढ नहीं हुई है तब तक वेद माने फिर छोड़दे।

१३ ॐ अन्यथा पातित्याशङ्कया

अन्यथा पतित होने की शंका है।

अर्थात् जो सिद्ध होने के पहिले कर्मों को छोड़दे और न यह सिद्ध हो न वह तो वह व्यर्थ पतित हो जाता है परन्तु भगवत्कर्म करता हुआ अन्य कर्मों से च्युत जो सिद्ध न होगा तौभी उस जीव का नाश नहीं है और जीव का कल्याण है जड़भरत जी का उदाहरण इस में प्रमाण है।

जनों को लेशित देखकरके जब वह कृपायुक्त होता है तब सर्वसदानन्द रूप बाहर और अन्तः प्रगट कर देता है सर्वानन्दमय को भी उसके कृपा का आनन्द दुर्लभ है परन्तु हृदय में बैठा हुआ जब अपने गुणों को सुनता है तो अपने कृपानन्द से लोगों को भिगो देता है। इस हेतु और सब बखेड़ा छोड़कर सदानन्द पर निरुद्ध लोगों को उसका गुण सदा माना चाहिए उससे सच्चिदानन्द का आपसे आप प्रागट्य होता है अर्थात् नियम की जो सब परित्याग करके उसका भजन करेंगे उनको वह निरुद्ध करके परमानन्द दान करे ही गा. यही उसकी प्रतिज्ञा भी है. "कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति । तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। इससे उसके वाक्य पर विश्वास रखकर निरूद्ध होना चाहिए ।

निरोध छः प्रकार का है अर्थात् छः प्रकार की भावना ईश्वर में करने से मनुष्य निरुद्ध होता है यथा प्रथम "भीतिभावनिरोध" अर्थात् संसार के दुःखों से भयभीत होकर ईश्वर में अवलम्बन करना । दूसरा 'स्वामिभावनिरोध" अर्थात् ईश्वर को ससार का स्वामी मानकर दासभाव से निरुद्ध होना । तीसरा "सर्वभावनिरोध" अर्थात् ईश्वर को "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सर्वदुर्लभः" इस वाक्य के अनुसार छोटे बड़े चेतन अचेतन सबको ईश्वर मानकर नमस्कार करना और सब स्थान पर उसी को देखना वा स्वामी माता पिता मित्र सब भाव से ईश्वर ही का भजन करना । चौथा "सख्यभाव निरोध" अर्थात् ईश्वर को सखा मानकर निरुद्ध होना । पांचवां "वात्सल्यभाव निरोध" अर्थात् श्रीनन्दयशोदादिक व्रज के बड़े गोप-गोपियों के वा इनके सदृश और किसी के भाव समान ईश्वर में पुत्रवत्स्नेह करना छठा "कान्तभावनिरोध" अर्थात् ईश्वर को अपना परम प्यारा मानकर निरुद्ध होना । इन छः निरोधों में पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर अधिक है ।

८. ॐ निरोधस्तु लोकवेदव्यापारसन्यासः ।।

निरोध तो लोक वेद व्यापार को त्याग करना है ।

इस सूत्र में निरुद्ध होने का स्वरूप कहते हैं कि लोक और वेद के व्यापार का छोड़ देना ही निरोध है ।

९. ॐ तस्मै अनन्यता तद्विरोधषूदासीनता च ।

और उसमें अनन्यतो और उसके विरोधियों पर उदासीनता भी निरोध है अर्थात् बिना अनन्यता हुए निरोध की सिद्धि नहीं होती ।।

१०. ॐ अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ।।

अन्य आश्रयों का त्याग करना अनन्यता है ।

लोक में यह प्रत्यक्ष है कि स्वामी के सेवक मित्र को मित्र पुरुष की स्त्री ही प्रिय होगी ।

११. ऊं लोकवेदेषु तदनुकूलाचरणां तद्विरोधिषूदासीनता ।

लोक और वेद में श्रीमद्भगवदनुकूलाचरण करना यही "तद्विरोधषुदासीनता" है अर्थात् जब हमने उनके अनुकूल ही सब आचरण किए तो तद्विरोधियों में उदासीनता आप ही आ गई क्योंकि तदीय होने ही से खिनधि सब पुरुषार्थ पूर्ण हो गये हैं और सब मंगलामंगल नष्ट हो गये हैं, उनको कार्यान्तर करने की आवश्यकता ही नहीं तो वैदिक वालों के कार्य आपही निवृत्त हो गए ।

१२. ऊं भवतु निश्चयदाढ्र्यादूर्ध्वंशास्त्ररक्षणं ।

क्योंकि श्रीमुख से आपने आज्ञा किया है "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । निर्द्वन्दो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् । यावानर्थ उपादानस्ते सर्वतसम्पन्लुतोदके । तावान सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूमां ते संगोस्त्वकर्मणि । हे अर्जुन, वेद त्रिगुण विषयक है, तू तो तीनों गुणों की प्रवृत्ति से अलग होकर निर्द्वन्द और अपने स्वरूप में स्थित हो और अपने योगक्षेत्र की चिन्ता मत कर । परन्तु जब तक तो हममें अर्थों की तरंग उठती है तब तक तेरा सब वेदों में ब्राह्मण के कहे अनुसार कर्म में अधिकार है वहां भी कर्म के फल में तेरा अधिकार न हो इससे न तो तूं फलों की इच्छा कर और न ही अकर्मी हो ।। तो जब तक कामना की तरंगे चित्त में उठती हैं और जब तक अनन्या भक्ति दृढ़ नहीं हुई है तब तक वेद माने फिर छोड़ दे ।

टिप्पणी:—श्लोक 11 के प्रूफ में भारतेन्दु ने अपनी लिपि में कुछ टिप्पणी लिखी है जो हाशिये में अंकित है ।

भारतेन्दु वाङ्मय की मूलचेतना

सूर्यनारायण द्विवेदी

1. अभिनव हिन्दी साहित्य के आकार लेने के क्षणों में ही भारतेन्दु का उदय निश्चित ही एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में स्वीकार की जानी चाहिए, जिसने अपने शीतल स्निग्ध और व्यापक आलोक से इस साहित्य की नई दिशा में पदसंचार के लिए नयी राह एवं नई चाह दी। इससे पूर्व के हिन्दी साहित्य की लम्बी परम्परा के विविध युगीन वाङ्मय की महत्ता एवं गुणमयता में सन्देह न होने पर भी अग्रगमन की नई दिशाओं का अनुसंधान जब रुकने की स्थिति में आ गया था, भारतेन्दु के अवतरण ने उसे चेतना की समसामयिक एवं दूरगामी परिणति वाले उद्देश्य एवं उपयोगिता से जोड़कर अप्रतिम भूमिका निभायी जो न केवल आशंसनीय अपितु अग्रिम पंक्ति की अभिनव प्रतिभाओं के लिए अनुकरणीय भी बन सकी। यह अब सर्वविदित है कि भारतेन्दु से पूर्व की हिन्दी रचनाओं ने कालक्रम से आई राष्ट्रीय चेतनागत जड़ता, रूढ़िवादिता, गतानुगतिकता, परम्परा निर्वाहमात्रता, उदरपूर्तिमय प्रयत्नसाध्यता से इस प्रकार अपने को जोड़ लिया था कि उसके द्वारा वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय चेतना की सर्वथा अविरुद्ध और परस्पर सम्बद्ध उपयोगिता की साहित्य से रही सही आशा भी धूमिल होने लगी थी। जो लोग कभी-कभी कहीं-कहीं कुछ छिटपुट ढंग से अपनी बातें कहना भी चाहते, उनका कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगत होता नहीं दीख पड़ता था। कारण था—समवेत प्रयास की वेगवती एवं अकपट भावना का अभाव। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में वही एक ऐसी बात देखने को मिली, जिसमें भारतीय जन चेतना की वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय चिन्ता को पग-पग पर उजागर करने अकलुष संवेदना थी। यही कारण है वे सन्धियुगीन अभिनव हिन्दी साहित्य की वेला में अत्यन्त अल्पकाल में ही पूरे हिन्दी आकाश में छा गए।

2. भारतेन्दु को लम्बी आयु नहीं मिली, किन्तु सुदीर्घगामी सत्संकल्प का उनमें निश्चित ही सद्भाव था—"मुहूर्तं ज्वलितुं श्रेयः नच धूमायितुं चिरम्" अर्थात "एक क्षण के लिए पूरी आभा में प्रज्वलित होना श्रेष्ठ है, लम्बी आयु तक धुंधुंवाते रहने से क्या लाभ ?" महाभारत के विदुलोपाख्यान की इस उक्ति के अनुसार ही भारतेन्दु का जीवन काल अल्प किन्तु महत्त्वशील भूमिका का आस्पद बना। यह वह समय था जब विदेशीय शक्तियों के षडयंत्र, देशीय अन्तः कलह, सांस्कृतिक मूल्यों की अवमानना से निःसत्व होता हुआ राष्ट्र एक ऐसी भाषा, एक ऐसे साहित्य, एक ऐसी व्यापक एवं स्वाधीन चेतना किरण की तलाश में लगा था जो दिग्भ्रान्त राष्ट्र, समाज, संस्कृति, रीति-नीति, अध्यात्म एवं

वैयक्तिक चेतना को उदात्त, नमनीय, समयानुकूल और अवधानबद्ध सहजता का नया आयाम दे सके; जो उसके मानसिक बौद्धिक, चित्तीय आकाश की धूमिलता की परतों को चीरकर नवीन-नवीन, संवेद्य भूमिका पर उतार सके; जो उसे जीवन के यथार्थ से जोड़कर उसकी कुण्ठित भ्रमित, स्तब्ध राष्ट्रीय चेतना में नये प्राणों का संचार कर सके एवं जो संघटित स्तर पर यह सब कुछ ऐसे ढंग से कर सके कि विदेशीय शक्तियों के कपट जाल से बचते हुए नई चेतना की लौ को दरबारी संस्कृति से हटाकर जन-जन तक पहुंचा सके। भारतेन्दु ने निश्चित ही ऐसी ही दिशा में अपने प्रयासों के माध्यम से अग्रगमन किया।

3. विश्वतोमुखी एवं उदात्त साधना तभी सफल होती है जब उसका आस्पद स्वयं ऐसे पावन, सहज, उदात्त एवं अकलुषित संस्कारों से मंडित हो, अन्यथा यशो लालसा और धनलिप्सा से जुड़ने वाले मन एवं मस्तिष्क से किसी महद् उद्देश्य की उपलब्धि की लालसा की आशा नहीं की जानी चाहिए। क्योंकि व कहीं न कहीं अपनी ऊनता ऐसे क्षणों में प्रकट करती है कि उसके प्रयास की कलई खुले बिना नहीं रहती। भारतेन्दु ने संयोग वश ऐसे संस्कार पाये, जिन्होंने उन्हें पुरातन एवं नवीन, स्थूल एवं सूक्ष्म, धर्म एवं अधर्म; भावना एवं कर्तव्य, उच्चता एवं अवच्चता; आदर्श एवं यथार्थ; व्यक्ति एवं समाज; समाज एवं राष्ट्र के विविध स्तरों की वास्तविकता के प्रति सावधान किया एवं उन प्रलोभनों के प्रति भी जो मनुष्य की चेतना को धूमिल बनाते हैं। वैष्णव परिवार में पलने के कारण अपेक्षित चारित्रिक पावनता, भेदराहित्य, नमनीयता, निष्कपटता, आध्यात्मिक सहिष्णुता, समभाव, परदुःख कातरता, स्वसुख वाच्छा रहितता, स्वाधीन चिन्तन आदि मानवीय गुणों ने उन्हें अपना आश्रय बनाया। यही कारण था कि छोटी अवस्था में ही वे देश में चलने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, राजनैतिक एव आध्यात्मिक तूफान की गति का अवगमन करने में समर्थ हुए। उन्हें यह समझते देर न लगी कि देश में अब तक की पनपी व्यवस्था का ढांचा जो आभिजात्य क्रम में ऊपर से अनुशासित था, किंकर्तव्य विमूढ़ स्थिति में पहुंच गया है। वास्तव में जीर्णशीर्ण पुरातन से नवीनता, समयानुकूल अवधानबद्धता की आशा व्यर्थ है यह उनसे छिपा न रहा। अतएव उनकी दृष्टि में सामान्य जन में कहीं गहराई में सोई चेतना को जागृत करने के सिवा राष्ट्र को नवीन परिवेश के अनुरूप में लाना उन्हें संभव न लगा। और यह भी कि उनकी चेतना को झकझोर कर उठाते हुए उसमें बैठी परतों के प्रति जनचेतना को ऐसे रूप में सजग करता है कि विदेशी मक्कारों की कपट वृत्ति जब तक सजग न हो जनचेतना तक बातें पहुंचा दी जाएँ। इसके लिए अपेक्षित साहित्य और साहित्य के लिए जनभाषा की आवश्यकता को भी उन्होंने महसूस किया। यही कारण था कि भारतेन्दु को नई चेतना को नये साहित्य के माध्यम से नई भाषा के आन्दोलन से भी जुड़ना पड़ा। यह काम उन्होंने सबसे पहले प्रारम्भ किया एवं राजा लक्ष्मण सिंह एवं राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की भाषा नीति के बीच का पथ अनुसरण करते हुए सामान्य बोल चाल की भाषा को ही, जैसी वह लोक जीवन में प्रचलित थी, अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना। और उसे ही निजभाषा कहते हुए सभी प्रकार की उन्नतियों का मूल

घोषित किया। घोषणा अप्रत्याशित न होकर जन चेतना की अपनी आवाज थी जो भारतेन्दु जैसे जन नेता की वाणी में ऊपर आयी और राष्ट्र की कल्याण चिन्ता से संबद्ध दूसरे सभी जननेताओं की अविलम्ब स्वीकृति पाई।

4. उदात्त उद्देश्य की केन्द्रीय चेतना जितनी महत्वपूर्ण होगी, उसके व्यापक होने में उतनी ही शीघ्रता होगी। भारतेन्दु की उदात्त साधना का केन्द्र क्या था, उनके वाङ्मय के आधार पर उनके सम्पूर्ण प्रयासों की धुरी का पता पावा सरल होगा। भारतेन्दु ने अपनी बात जन-जन तक पहुंचाने की लालसा से वाङ्मय की जिन विविध विधाओं की सहायता ली वे थीं—नाटक, नाट्याभिनय, पत्रकारिता एवं निवन्ध। "आपबीती" एक अधूरी रचना कदाचित् अपनी जीवनी लिखने का उपक्रम था। नाटकों में प्रहसन[1], नाटक[2], भाण[3], नाट्य रासक[4], नाट्यगीत,[5], गीति रूपक[6] और नाटिकाओं[7] का एक उत्तरोत्तर विकसित परिष्कृत होता हुआ क्रम है। इसके अतिरिक्त संस्कृत और अंग्रेजी[12] से अनूदित नाटक[8], रूपक[9], व्यायोग[10], सट्टक[11] भी उनके द्वारा हिन्दी के माध्यम से सामने आए। कृतियों की लम्बी परम्परा से स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने अपने लघु किन्तु अत्यन्त व्यस्त जीवन को संपूर्ण शक्ति से राष्ट्र को अर्पित करने का महान संकल्प लिया और उसी के अनुरूप श्रम भी किया। अट्ठारह वर्ष की अल्प अवस्था सन् 1868 से लगातार जीवन के अन्तिम क्षणों का राष्ट्र के लिए इतनी निष्ठा से समर्पण भाव विरलों में ही संभव है जिन्होंने राष्ट्र कल्याण चिन्ता में जीवन के अमूल्य क्षणों की भारतेन्दु की भाँति आहुति दी। वाङ्मय सृजन, अभिनय, पत्रकारिता एवं सीधा जनसम्पर्क इन चारों दिशाओं में उनके प्रयत्नों ने उनके जीवन काल में ही उन्हें विशिष्ट महत्व का अधिकारी बनाया। नाटक, निबन्ध, पत्रकारिता के द्वारा जहाँ वे भाषा के माध्यम से जनचेतना का बहुमान पाते थे, वहीं नाट्याभिनय के द्वारा जनता से सीधे जुड़ने का अवसर भी निकाल लेते। अतएव उनके विचार एवं कार्य साथ-साथ चलकर उद्देश्य की प्राप्ति के प्रति उनकी निष्ठा के लिए जनता में सहज आस्था जागृत हो पायी। यही कारण था कि "भारतेन्दु" जैसी दुर्लभ उपाधि से जनलोक ने उन्हें स्वतः स्फूर्त भावनावश मण्डित किया।

5. कहना कठिन है कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को जनता की आस्था से जोड़ने पर यह महत्त्वपूर्ण कार्य सबसे अधिक उनके नाटकों ने, नाट्याभिनय ने, या फिर पत्रकारिता ने किया। वास्तव में वे इन सबकी सहायता से समयानुसार साथ-साथ ही जुड़ते थे। उनके नाटक लिखे ही इसलिए जाते थे कि वे जन-सामान्य के बीच अपेक्षित प्रभाव सृष्टि करें। अतएव नाटक एवं नाट्यभिनय परस्पर गलबाँही देकर चलते प्रभाव अचूक होता। उनमें युग की पीड़ा, समाज की दशा, देश की गिरती टूटती तस्वीर, भावनाओं की कुचलन, घुटन, विवशता, पर भीतर से उफनती आह की ऊष्मा होती। जो किसी टीस की तरह सीधे जनलोक को बेधती, चीरती, उन्हें अपनी अवस्था एवं अपने दायित्व एवं उत्तर दायित्व के प्रति जागृत करती। अचूक व्यंग्य, पीड़ा भरी हँसी उभारते हुए सजग होने का गुप्त संकेत देते। अतीत की महान् सांस्कृतिक विरासत की याद दिलाते। पूर्वजों के द्वारा अर्पित-

महान् त्याग, बलिदान का स्मरण कराकर पुनः पुनः उद्बुद्ध करते कि उठो, जागो, कर्तव्य में जुटो, प्रभाव छोड़ो, बड़ा विकट क्षण है। सच ही तो विदेशी शक्तियों के दमन चक्र का शिकार प्रथम स्वाधीनता संग्राम की विफलता ने जिस रूप में झकझोर दिया था, वह घाव भरा न था जब भारतेन्दु ने होश सम्हाला, उन परमोदार महापुरुषों के दमन की पीड़ा एवं उनके महदुद्देश्य का विदेशीय मक्कारों द्वारा खुला मजाक सह्य वस्तु नहीं था, पर सावधानी, शक्ति संचयन एवं जन जागरण का योजनाबद्ध रूप से संचालन भी कुशल एवं अनुशासित जन-नेता के द्वारा ही संभव था। यह कार्य अशेष राष्ट्र की जाग्रत चेतना ने तत्काल प्रारम्भ कर दिया—सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में सीमित किन्तु सतर्क रूप में सम्हाल लिया गया। उत्तर भारत का यह उत्तरदायित्व यहाँ के साहित्यिक महापुरुषों द्वारा अपने ऊपर लिया गया। भारतेन्दु उनमें सबसे आगे थे।

6. उन्नीसवीं शती के षष्ठ दशक का वह काल विशेष अत्यन्त आघातित भारत के लिए जहाँ एक ओर अन्तः पीड़ा, आत्मसंघर्ष, आत्मविश्लेषण एवं आत्मनिर्णय का काव्य था, वहीं नवजागरण की दिशा में पद संचार का भी। काव्यानुरूप उन क्षणों में ऐसे स्वतः स्फूर्त महापुरुषों एवं स्वतः स्फूर्त संघटनों संस्थाओं का प्रत्येक प्रान्त में उदय हुआ। क्योंकि कि आघात सारे राष्ट्र की चेतना पर सीधा हुआ था और पूरा देश विदेशी मक्कारों एवं देशीय दलालों द्वारा इस तरह राष्ट्रीय भावना को जिस रूप में "गदर" का नाम देकर उनकी स्वाधीनता की भावना को कुचलने का नीच प्रयत्न शुरू किया था, उसकी भारतीय चेतना के बीच इसके सिवा और प्रतिक्रिया हो ही क्या सकती थी। अतएव उसी कुचली, खण्डहरीकृत, ध्वस्त नींव पर नवीन जागरण का अभिनव प्रयास शुरू हुआ। अतीत के द्वारा समर्पित अमूल्य विरासतों, संस्कारों, भावात्मक एकता की कड़ियों का सम्बल तो था ही नव प्रभात की लालसा में पराधीनता की निशीथ की कालिमा को चीर फेंकने का भगीरथ प्रयत्न चल पड़ा। भारतेन्दु उत्तर भारतीय नवजागरण अभियान के सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र बने। समान विचारों वाले साहित्य स्रष्टाओं की चुनी पंक्ति तैयार होते देर न लगी। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० बद्रीनारायण प्रेमघन, पं० अम्बिकादत्त व्यास, जैसी अनेक प्रज्ञाओं ने भारतेन्दु के महान् उद्देश्य को पहचाना एवं अविलम्ब तथा योजनाबद्ध रूप में नव जागृति की दिशा में प्रस्थान किया। यह नवजागरूक पंक्ति स्वतः स्फूर्त भावना से आ जुड़ी थी—निस्वार्थ, निष्कलुष, निष्पक्ष, निर्भीक, सतत् जागरूक, सत्य के प्रति आस्थाशील, राष्ट्रीय भावना से प्रतिपद ओतप्रोत एव जनलोक के प्रति समर्पित भावना से ओतप्रोत, जिनके उद्देश्य समान थे, जिनकी अभिव्यक्ति का माध्यम समान था। जिनकी चेतना समष्टि कल्याण से समन्वित थी।

7. नव जागरण का प्रकाश एवं प्रभाव इतना व्यापक एवं अचूक था कि सारे भारत में उसकी ललक के साफ-साफ लक्षण दीख पड़े। उत्तर भारतीय प्रज्ञाओं का नेतृत्व भारतेन्दु मण्डल ने मुख्य रूप से सम्हाला। भारतेन्दु को केवल भाव, विचार, शैली,

शिल्प, विषय एवं साहित्यिक दिशाओं में ही नवीनता लाने का भार व वहन करना था अपितु उस भाषा को भी गढ़ना एवं प्रचलन में लाना था जो जन सामान्य में प्रयुक्त एवं आदृत हो, जिसका जन-जन विना किसी कठिनाई के अवगमन कर पाएं जिसमें दिया संदेश कुटिल भाषा चक्र की चक्रिलता में आकर प्रेषक की भावनाओं को कुछ का कुछ रूप में न पहुंचाए। भारतेन्दु एवं उनके मण्डल ने इसीलिए ऐसी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जिसमें जनता तक रचनाकार की बात को पूरी क्षमता से प्रेषित करने की शक्ति थी, सहजता थी; कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन (हरिश्चन्द्र चन्द्रिका) एवं बालबोधिनी जैसी उनके द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं में तो वह रूप मिलता ही उनकी साहित्यिक कृतियों में भी भाषा की वह सहजता सुरक्षित मिली। भाषा के साथ ही शैली का भी अटूट नाता होता है। भारतेन्दु के द्वारा अपनायी जाने वाली दो[18] प्रकार की शैलियों का आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य का इतिहास में उल्लेख किया है वे हैं—

(i) "भावावेश शैली प्रायः वाक्य बहुत छोटे-छोटे होते और पदावली सरल बोल-चाल की होती"

(ii) तथ्य निरूपण शैली जहाँ चिन्तन के लिए अवकाश होता भाषा कुछ अधिक साधु और गम्भीर तथा वाक्य कुछ बड़े पर अन्वय जटिल नहीं। इस प्रकार भाषा एवं शैली में नवीनता का संचार कर सबसे पहले अभिव्यक्ति के माध्यम को नयी दिशा दी।

8. भाषा के माध्यम से जो अभिव्यक्ति पथ पर लाया जाना था वह अधिक महत्वपूर्ण था, अर्थात् सम्प्रेष्य भाव एवं विचारों का समयानुकूल प्रवाह। भारतेन्दु ने यहाँ और अधिक कान्तिदर्शिता का परिचय दिया। वे प्राचीनता की विरासत को गंवाना पसन्द नहीं करते थे। पर नवीन चेतना के प्रति सजग भी थे। भारतेन्दु की इस प्रवृत्ति ने एक ओर तो उन्हें प्राचीन संस्कारों की महनीयता से जोड़े रक्खा जहां से लम्बा सांस्कृतिक सन्दर्भ उनका अपना धन लगता दूसरी ओर समसामयिक परिस्थितियों, उनके समाज, राष्ट्र एवं व्यक्ति पर पड़ने वाले राजनीतिक, नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वैयक्तिक प्रभावों की अत्यन्त जटिल होती हुई परम्परा थी जो राष्ट्र के भविष्य पर अपनी काली छाया डाल रही थी। भारतेन्दु ने स्वय एवं अपने परिमण्डल के साथ उनका उद्घाटन एवं जन-जन तक संप्रेषण आवश्यक समझा। उनकी कृतियां, उनके पत्र, उनके अभिनय इस दिशा की ही कड़ी थे।

9. पुरातनता का व्यामोह आदमी को नवीनता के प्रति असहिष्णु बनाता देखा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु में अपनी पुरानी सांस्कृतिक सम्पदा, धर्म जाति, एवं समाज के प्रति भी वह आदरभाव कम न था पर काल क्रम से आई रूढ़ियों, अन्धः विश्वासों, अन्धपरम्पराओं के प्रति भी वे उतने आस्थाशील न थे। यही कारण है कि उनकी कृतियों में—एक प्रकार की सजगता है जो जीर्ण शीर्ण पुरातन की केंचुल को चीरफाड़कर;

फेंकना चाहती है। यह उसमें से उतना ही ग्रहण करना चाहती है जो देशकाल के अनुसार जीवन्त रह सकी हो। इसके लिए उन्होंने समाज में आई खामियों की ओर तो सीधे एवं स्पष्ट संकेत किए ही जिन्होंने देश एवं समाज को इस दुर्गतिक स्थिति तक पहुँचा दिया साथ ही भक्ति के क्षेत्र को उन्होंने नहीं छोड़ा जिसके पथ के वे बहुत ही आस्थाशील पथिक थे। एक ओर माधुर्य भाव की विह्वल उपासना एवं दूसरी ओर उसमें आये पाखण्डों के मार्ग पर प्रहार यह उनके 'चन्द्रावली' एवं 'प्रेमजोगिनी' में देखा जा सकता है। भारतेन्दु की इस प्रवृत्ति से स्पष्ट है कि वे विवेक के प्रकाश में पुरातनता का उतना ही परिग्रहीत करना आवश्यक समझते थे जो राष्ट्र को जीवन्तता एवं गतिमयता से जोड़ सके। दूसरी ओर वे आधुनिकता से उतनी ही सीमा तक जुड़ना पसन्द करते थे, जो देश की महान् उपलब्धियों को मजाक न बना दे। नील देवी में पाश्चात्य आधुनिकता की मखौल उड़ाने वाला प्रसंग इसके लिए देखा जा सकता है, जहाँ वे पाश्चात्य स्त्रियों की वेशभुषा, निर्लज्जता की ओर संकेत करते हैं। वास्तव में आधुनिकता से जुड़ने का उनका उद्देश्य था—भारतीय समाज को परिष्कार, आवश्यक परिवर्तन, समीचीन नवविकसित भावों विचारों संस्कारों का परिग्रहण, अनावश्यक रूढ़ियों का त्याग, नैतिकता से पाखण्ड मिश्रण का परित्याग, बौद्धिक दिशायें, विवेक का काव्यानुरूप संचार, राजनीतिक क्षेत्र में अपेक्षित सजगता एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में अधिक सतर्कता को बढ़ावा देना। भारतेन्दु की रचनाओं ने अपनी सीमा में यह सब किया और इसके लिए जिस साहित्य को उन्होंने माध्यम बनाया उस साहित्य को भी पुराने हिन्दी साहित्य की परिपाटी से हटाकर नव विकसित गद्य पद्यात्मक विविध स्वरूपों से जोड़ दिया, जो मात्र पद्य तक ही सीमित था।

10. भारत की पुरानी विरासत को परिष्कार परिवर्तन के आधार पर बचाने के पीछे भारतेन्दु की विशिष्ट लालसा के पीछे एक महान् कारण था—उसमें निहित मानव समाज की लम्बे अर्से से आकलित होती हुई मानवीय मूल्यों की तिलतिल कर जुटी मूल्यवान परम्परा जो उपेक्षा का शिकार होकर पूरे भावी मानव समाज को न केवल अपने भीतर संजोये महत्त्वपूर्ण से वंचित करती, अपितु अब तक के अर्जित मानव दाय का अतापता देने वाली पूरी शृंखला ही ध्वस्त हो जाती। भारतेन्दु इस तथ्य से अवगत थे। वे मानव मूल्य निःसंदेह दूसरे राष्ट्रों में भी किसी न किसी रूप में धर्म, समाज, संस्कृति का आश्रय लेकर जीवित हैं किन्तु उनमें वह समग्रता, व्यापकता, सूक्ष्मता, वैज्ञानिकता, भाव प्रवणता, नमनीयता; प्रतिपद विवेक एवं सौशील्य दुर्लभ है, जो ही भारतीय पुरातन की अपनी धरोहर है जिसे अनन्त काल से महान् विभूतियों ने प्रज्ञा के प्रकाश में अर्जित किया था एवं कल्याण कर समझ कर मनुष्य की अध्यात्म चेतना से जोड़कर मानव जीवन का आवश्यक अंग कहकर संस्कार रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। भारतेन्दु ने उसके बीच कुरीतियों रूढ़ियों, अन्ध परम्पराओं पर प्रहार अवश्य किया पर उसकी अच्छाइयों के प्रति उनमें पक्षपात अवश्य था—जो कालिदास के अनुसार अनुचित नहीं था—"भवन्ति भव्येषु हि पक्षपातः।" वहीं दूसरी ओर नव जाग्रति के नाम पर पश्चिम से आई हर हवा की

लहर का सम्मान उनकी दृष्टि में देश के लिए न हितकर था और न स्वीकार योग्य ही। कारण स्पष्ट है, वहाँ से जो कुछ आयातित हो रहा था, एक तो उसमें भारतीय जनचेतना ज्ञान विज्ञान, इतिहास, सामाजिक भावना, संस्कृति एवं अध्यात्म की घोर उपेक्षा एवं अवहेलना का भाव निहित था और दूसरे उसमें निहित आदर्शों में वह ऊँचाई न थी, जो अपनी अत्यन्त उपेक्षित जीर्णशीर्ण, रूढ़िग्रत, स्थिति में भी भारतीय संस्कृति में सुरक्षित थी। भारतेन्दु की दृष्टि में वहाँ से आई लहर में जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रूप में संग्रहणीय था, वह था—भौतिक विज्ञान की उपलब्धियाँ, अपने राष्ट्र के प्रति सम्मान भाव, कर्तव्य प्रति निष्ठा, उद्देश्य के प्रति समर्पित भावना, साहित्य में प्रचलित नवीन विधाओं की शृंखला, राष्ट्र के जागरण के लिए आवश्यक प्रयत्न की क्षमता के प्रति सजगता और अपने राष्ट्र की महत्तम धरोहर के प्रति आदर भाव, सम्पूर्ण विश्व में पहुँचाने के प्रति प्रयत्न। भारतेन्दु ने इनमें से प्रत्येक को यथा संभव ध्यान में रक्खा। नव जागरण से उनका उद्देश्य विवेक के प्रकाश में अपेक्षा के अनुरूप आवश्यक परिग्रहण एवं अनावश्यक का त्याग था इसीलिए प्राचीन, नवीन, भारतीय पाश्चात्य, आदर्श, यथार्थ, भौतिकता अध्यात्म, भाव विचार; सबमें से उन्होंने अपनी राष्ट्रीय चेतना के परिस्कार परिवर्द्धन, परिवर्तन एवं उन्नयन के लिए नि संकोच लिया। हाँ इतना अवश्य ध्यान रक्खा कि ये इस देश की मानसिकता के अनुरूप हों। यह उन्होंने भाषा, शैली, विषय, विचार भाव, साहित्य साधना सामाजिक उद्बोधन, ज्ञान विज्ञान विवेचन सभी क्षेत्रों में सुविचारित रूप में स्वीकारा किन्तु सुविचारित रमणीय रूप में।

11. भावना का उद्दाम वेग मानवीय चेतना में जो शक्ति संचारित करता है उसके पीछे वह सम्पूर्ण कारण होता है, जो उस वेग का आवश्यकतानुरूप प्रेरित, उद्दीप्त एवं पोषित करता है। वह कारण यदि लचर हो स्वभावतः कुछ समय बाद वेग की गति धीमी पड़ जाती है। भारतेन्दु के समय भारतीय राष्ट्र की जो दुर्दशा सामने आई वह न तो यहाँ के जन-सामान्य के लिए दुर्बल कारण था और न सामन्ती परिवेश में पले आभिजात्य एवं इतर जनों के लिए। अतएव उस काल विशेष की भारतीय जन चेतना की भावधारा में अपेक्षित उद्दामता प्रबल कारणवती थी। इसीलिए उस समय का रचनाकार उसे सहजता से पकड़ एवं अपनी अभिव्यक्ति का आस्पद बना सकता था। भारतेन्दु जैसे सचेत रचनाकार से ऐसी ही आशा भी की जा सकती थी, जो व्यक्ति स्तर पर ही नहीं अपितु सामाजिक एवं राष्ट्रीयस्तर पर उस सकारण वेग को सम्पूर्ण राष्ट्रीय चेतना से जोड़ देना आवश्यक समझता था। भारतेन्दु का अशेष वाङ्मय इस चिन्ता से ओत-प्रोत मिलेगा। भारत दुर्दशा, भारत जननी, हो या ‘‘विषस्य विषममौषधम्’’ ऐसी सारी रचनाओं का संवेदनात्मक स्वर एक सा है। उसमें राष्ट्र पर गुजरी एवं गुजरने वाली पीड़ा, सामाजिक स्थिति, चारित्रिक पतन, देश दुर्दशा, सांस्कृतिक पतन एवं विदेशी मक्कारों के प्रतिगूढ़ आक्रोश दृष्टिगत होगा। यहाँ तक कि विदेशीय शक्ति द्वारा अपने देश को दी गई व्यवस्था के पीछे भी चिन्ता की वह गूढ पीड़ा साफ झलकती है। इस प्रकार भारतेन्दु वाङ्मय की

मूल चिन्ता हैं देशीय स्वाधीनता, सांस्कृतिक पुनरुत्थान, भारतीय समाज का सुधार गठन, उपेक्षितों का उन्नयन एवं मानव में प्रेम की पावन ज्योति के प्रति आस्था का नवजागरण।

12. भारतेन्दु के वाङ्मय से सीधा सम्पर्क होने पर उपर्युक्त बातें प्रथम दृष्ट्या ही सामने आ जाती है जो पाठक को उनके उद्देश्य का स्पष्ट परिचय देती है। न वहाँ कुटिलता और न तो दुराव छिपाव ही। हाँ, एक बात अवश्य है—उनकी ऐसी भी कृतियाँ हैं, जहाँ सामाजिक एवं राष्ट्रीय चित्ता से ऊपर उठकर मानवीय चेतना के गहन स्तरों को छूने की लालसा सामने आती है। अर्थात् ईश्वरीय चेतना से जीव के प्रणय सम्पर्क की आकुलता यह आकुलता यद्यपि पात्रों के माध्यम से सामने लायी जाती है किन्तु वहाँ के संवाद भारतेन्दु के कोमल-कोमल, तरल-तरल एवं आकुल-व्याकुल हृदय लालसा की सफ सूचना देते हैं। कहना न होगा वहाँ भारतेन्दु वैयक्तिक स्तर पर अपनी स्वयं की मानसिक पीड़ा से सीधे जुड़ते हैं जो पात्रों की वाणी में इस रूप में प्रकट होकर उनकी वैयक्तिक रूचि को तो इंगित करती ही है समष्टि चेतना के प्रति पूर्ण वैष्णव वृत्ति की ओर भी संकेत करती है। सच पूछा जाय तो भारतेन्दु का वैष्णव भाव ही वह केन्द्रित्य सत्त्व है जिसने उनमें मानव मात्र की कल्याण चिन्ता के प्रति सजग किया। वैष्णव का अर्थ परदुःख कातर होता है। विष्णु का अर्थ व्यापक है और उस व्यापक समष्टि चेतना का कण-कण एवं क्षण में व्यापकत्य बतलाता जाता है। ऐसी समष्टि चेतना के प्रति श्रद्धा रखने वाले विश्व मात्र को वैष्णवी विभूति मानकर उसके प्रति अपनी सेवाएँ समर्पित करता है। फिर यह सेवा भावना से हर स्तर उसे विश्व भर के प्राणियों के प्रति संवेदना एवं सहानुभूति से जोड़ती है। या फिर समष्टि चेतना के सभी हैं अतएव अपनी सेवायें समष्टि चेतना प्रसन्न होगी, जिसकी प्रसन्नता से सारा कुछ स्पृहणीय बनेगा। इस प्रकार की भावना को श्री चन्द्रावली एवं प्रेमयोगिनी में देखा जा सकता है, जहाँ समष्टि चित्त के प्रति संकोच स्वमुख वाञ्छा रहित परदुःख कातरता मिलता हैं और सबको मिलता है सबको अपना मानने एवं बना लेने की प्रेरणा। यह प्रेरणा जहाँ एक ओर रचनाकार की चेतना को अपूर्व आह्लादवृत्ति से जोड़ती है वहीं उसमें वह उदात्तत्ता भी भरती है जिसके कारण उसका हृदय उदार, उसकी प्रज्ञा विवेकनी, उसकी कल्पना लोक कल्याणवती, उसकी इन्द्रियाँ अकुलष एवं उसके कार्य लोक के अभ्युदय एवं निःश्रेयस सिद्धि की ओर जाते हैं। भारतेन्दु साहित्य में निश्चित ही वह ऊँचाई उनकी इसी समष्टि चेतना के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव से आई–जिसके कारण भारतीय जन मानस की पराधीनता की पीड़ा, सांस्कृतिक उपेक्षा की घुटन, विदेशी शक्तियों के दमन से उत्पन्न उदासी, संसार परिस्थिति की प्रचण्डता से जनित कुण्ठा की सारी कहानी भारतेन्दु के वाङ्मय में सीधे एवं निर्भीक एवं निश्छल रूप में उतरी और उतरी भारत जनता की वेदना के दूरीकरण की लालसा। जिसमें उनका निश्छल राष्ट्रप्रेम, समाज चिन्ता। महान् सांस्कृतिक उत्तरदायित्व के प्रति गहरा लगाव बिना किसी ननुनच के प्रकट हुआ।

समष्टि चेतना के प्रति पूर्ण समर्पण भाव से मिली उदात्तता ही वह विन्दु है, जिसने हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु वनाया। उन्हे दुर्लभ गुणों से जोड़ा और उनके वाङ्मय को विस्मयावत—वैशिष्ठ्य से मंडित किया। भारतेन्दु में निहित उदारता, राष्ट्रीय प्रेमभावना, अप्रतिभ भावकुता परकर्तव्य के प्रति अनुरूप निष्ठा, व्यवहार पटुता, निःस्वार्थता एवं महापुरुषता का गुण वास्तव में उस वैष्णव का ही प्रसाद है। मनुष्य मात्र के प्रति उदार भाव के कारण यद्यपि वे शत्रुमित्र भाव से परे एवं निरपेक्ष वृत्ति के थे किन्तु भारत के प्रति उनका विशेष भाव भारतीय संस्कृति में निहित वैशिष्टयों के कारण था अन्यथा वे वाहर से आयी जातियों, उनके धर्मों, उनकी संस्कृतियों के प्रति अनुदार न थे। भारतीय संस्कृति के प्रति लगाव का कारण जैसा पहले कहा गया उसमें निहित एवं अनन्त काल से समाहित मानवीय मूल्यों के महत्व के कारण था जिनमें न केवल मानव जाति के पथ-प्रदर्शन की अपूर्व क्षमता है अपितु उसकी आत्यन्तिक कल्याण सिद्धि तक पहुँचाने की भी। इस प्रकार स्तब्ध, क्षुब्ध, समस्त, आघातित, पीड़ित राष्ट्र की समग्र चिन्ता को अपनी सीमा में वहन करने वाला भारतेन्दु वाङ्मय भारतीयों की समसामयिक वाणी में अमृत वाङ्मय के रूप में युगों तक स्मरण किया जायेगा।

सन्दर्भ

1. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1880 ई०), अंधेर नगरी (1881)
2. सत्य हरिश्चन्द्र.
3. विषस्य विषमौषधम् (1876).
4. भारत दुर्दशा (1880).
5. भारत जननी (1877).
6. सती प्रताप (1883), प्रवास (1868), नव मल्लिका, रत्नावली, मृच्छकटिक, नील देवी (1881 ई०).
7. श्रीचन्द्रावली (1776), प्रेम योगिनी, (1875).
8. विद्या सुन्दर (1868), मुद्राराक्षस, (1878).
9. पाषंड विडम्बन (1872).
10. धनंजय विजय (1873).
11. कर्पूर मंजरी.
12. दुर्लभ वन्धु (1881) मर्चेण्ट आफ वेनिस का अनुवाद.
13. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 441.

●

भारतेन्दु का विश्वपरिवेश

मोहन लाल तिवारी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अवतरण सन् 1850 में ऐतिहासिक संक्रमण काल में हुआ एवं उनका पर्यवसान भी पैंतीस वर्ष बाद सन् 1885 में लगभग उसी परिवेश में हुआ। दिल्ली से बची खुची मुगल सत्ता सन् 858 ई० में सदा के लिए समाप्त हो गई थी और एक पूरा भारत एक शासन और लगभग एक राजनीति में कश्मीर से केरल तथा बिलोचिस्तान से बर्मा (1852 तक लगभग तीन चौथाई) तक कम्पनी सरकार के आधिपत्य में समाहित हो गया। सामन्ती युग के उत्पीड़न और शोषण से निर्मित तथा युद्धरत सामन्ती विकास के शोषणपरक रास्ते पर रेंग रहे भारत ने 1853 ई० में प्रथम रेल निर्माण के साथ उपनिवेशवादियों, साम्राज्यवादियों द्वारा आरोपित पश्चिमी ढंग के पूंजीवादी विकास ने नये औपनिवेशिक दासतापूर्ण मार्ग पर कदम बढ़ाया। बीस करोड़ भारतीय जनता को नेतृत्व प्रदान करने वाला न तो कोई पुराना शासक बच रहा और न कोई राजनेता। ऐसे युग में, साहित्य में पुनरुत्थान, नवजागरण तथा जनवाद की त्रिवेणी प्रवहमान करने की अपार क्षमता लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वाराणसी में उत्पन्न हुए

इतिहास के विशेषज्ञ लंदन विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर स्टेनले लेनपूल ने भारतीय इतिहास के विकास के एक सार्वभौम नियम का उल्लेख करते हुए लिखा है कि भारतीय इतिहास के पूरे दौर में एक ही नियम दिखाई पड़ता है कि हर बड़ा छोटे को लूटता है और राजा सबको। सदियों से परस्पर लूट, युद्ध और मार-काट तथा जनता की वितृष्णा के कारण एवं नादिरशाह और अहमद शाह के हमलों के कारण भारत की सिख, मुस्लिम, मराठा शक्तियाँ इतनी जर्जर हो गयी थी कि यूरप के उपनिवेश वादियों का सामना करने की उनमें शक्ति नहीं रह गयी थी। दूसरी ओर उनमें से किसी में विज्ञान शिक्षा, उद्योग, व्यापार, अनुसंधान, विदेशी सम्पर्क, नव निर्माण पर कोई ध्यान नहीं दिया। अत: पतन के गर्त में से निकलने की कोई सम्भावना नहीं रह गई थी। भारतीय जीवन के नव निर्माण पर या सेना के नव संगठन तथा हथियारों के आधुनिकीकरण पर यूरोपवासियों ने ही ध्यान दिया और वे ही विभिन्न देशी शासकों की सेना की ट्रेनिंग भी देते थे, सेनापतित्व करते थे तथा आवश्यक होने पर विदेशी सेना से ही आपूर्ति कर सहायता करते थे। बदले में चाँदी काटते थे।

औद्योगिक क्रांति के आरम्भिक दौर में 1760 ई० में भारत आये कम्पनी के एक कर्मचारी विलियम बोल्ट्स ने बंगाल के बुनकरों का हाल इस प्रकार लिखा है कि—

'कम्पनी के गुमाश्ते बुनकरों से जवरजस्ती वांड भरवाते कि वे निर्धारित मूल्य पर निश्चित मात्रा में तथा निश्चित समय के अन्दर वस्त्र तैयार करके कम्पनी को देंगे। बुनकरों की सहमति या असहमति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। गुमाश्ते जिस कागज पर चाहते बुनकरों से वलपूर्वक हस्ताक्षर करा लेते और कुछ अग्रिम धन न लेता तो स्थिति यहाँ तक पहुंच गयी थी कि बुनकर अग्रिम धन न लेता तो गुमाश्ते उसकी कमर में रुपये बाँध देते और कोड़े मारकर उसे घर भगा देते। इन बुनकरों का पूरा पता कम्पनी के रजिस्टर में दर्ज रहता। गुमाश्ते उन्हें जहाँ चाहते ले जाते और गुलामों की तरह व्यवहार करते। तैयार माल गोदाम लाया जाता और गुमाश्ते की इच्छा के अनुरूप मूल्य तैं किया जाता या जांचकर्ता और गुमाश्ते मिलकर मूल्य तै करते, जो वास्तविक मूल्य से सामान्यत: पन्द्रह प्रतिशत से 40 प्रतिशत कम होता। बुनकर के सामने यह सब स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रहता।"

इतिहास में पंजाब अनेक बार लूटा गया था, पर उसकी आर्थिक प्रणाली और उत्पादन पद्धति छिन्न-भिन्न नहीं हो पाती थी। फलस्वरूप आक्रामकों के वापस जाने अथवा यहाँ बस जाने के बाद स्थिति सामान्य हो जाती और पुन: सम्पदा दिखाई पड़ने लगती, पर अंग्रेजों ने बंगाल या अन्य क्षेत्रों को लूटा ही नहीं, वहाँ की आर्थिक प्रणाली तथा उत्पादन पद्धति को पूर्ववत छिन्न भिन्न भी कर दिया। फलस्वरूप बंगाल जैसे क्षेत्र पुन: कभी नहीं पनप पाये। यही कारण है बंगाल या अन्य क्षेत्र जहाँ अंग्रेज सबसे पहले पहुंचे आज भी देश में सबसे अधिक पिछड़े हैं और सदा का लूटा हुआ पंजाव, जहां वे सबसे बाद में (1849) पहुंचे, आज भी सभी प्रान्तों से अधिक समृद्ध है।

1750 से 1850 ई० के बीच यूरोपीय वैज्ञानिक औद्योगिक क्रांन्ति ने भारत को बरबादी की ओर भी सरल कर दिया। यहाँ के फूटपरस्त, चरित्रहीन और आदर्शच्युत सैकड़ों शासकों ने इसके लिए पहले से जमीन तैयार कर दी थी। पं० नेहरू ने इस युग की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "मशीनी क्रान्ति के नतीजे से सारी दुनिया में पूंजीवादी सभ्यता फैल गयी और यूरप का दबदबा हर जगह कायम हो गया। इसलिए इस सदी को साम्राज्यवाद की सदी भी कह सकते हैं, लेकिन यह नया साम्राज्यवादी युग रोम और चीन, भारत और अरब, तुर्क ओर मंगोलों की पुरानी साम्राज्यशाही से बहुत अलग ढंग का था। यह तो नये ढंग का साम्राज्य था जो कच्चे माल और हाट बाजार का भूखा था। नया साम्राज्यवाद नए उद्योगवाद का बच्चा था। कहा जाता था कि "झंडे के पीछे-पीछे बाजार चलता है और अक्सर करके बाइबिल के पीछे-पीछे झंडा चल रहा था। मजहब, विज्ञान, स्वदेश प्रेम सभी को एक ही उद्देश्य के लिए भ्रष्ट किया जा रहा था, दुनिया की ज्यादा कमजोर और उद्योगों के मैदान में ज्यादा पिछड़ी हुई जातियों का शोषण करना ताकि बड़ी-बड़ी मशीनों के स्वामी और उद्योग धन्धों के सरदार मालदार होते चले जाएँ। सत्य और प्रेम के नाम का दुहाई देने वाला देसाई मिशनरी अक्सर साम्राज्यवाद की चौकी

का काम करता था और अगर कहीं उसका कुछ विगड़ ज ता, तो उसका देश इसी को वहाँ की जमीन हड़पने का और जबर्दस्ती रियायतें एँठने का बहाना बना लेता था।" (विश्व इतिहास की झलक, पृष्ट 56)।

1890 तक भारत में एक सुलभ श्रम बाजार भी बन गया था। कंगाल, अकाल के मारे और ऋणग्रस्त तथा अपनी पैतृक जमीन समर्पित करने वाले किसान तथा बरबाद, उजाड़े हुए एवं अग्रिम कर्ज में डूबे दस्तकार नये उद्योग या बाजारों में अपने को बेचने के लिए उमड़ पड़े। इनकी आपूर्ति अंग्रेज स्वामियों के लिए इस देश में ही उपयोगी नहीं सिद्ध हुई बल्कि मारीशस, सूरीनाम, फिजी, अफ्रीका जैसे अन्य उपनिवेशों में भी इन्हें भेजकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का आर्थिक, सामाजिक नवनिर्माण किया गया। कृषि के क्षेत्र में नई जमींदारी ताल्लुकेदारी (आला मालिक) ईमानदारी, जागीरदारी और माल्गुजार पद्धति ने किसानों को तबाह कर दिया। अंग्रेजों के संरक्षण में भारतीय प्रभुओं ने अंग्रेजों से बढ़कर जुलम किया। सन् 1881 में कार्लमार्क्स ने भारतेन्दु के जीवन काल के भारत की स्थिति का एक चित्र प्रस्तुत किया है—"हर समय अंग्रेज भारतीयों से लगानों, रेल के लाभांश-जिन रेलों से भारतीयों को कोई लाभ नहीं पहुंचता—सैनिक तथा असैनिक कर्मचारियों की पेंशनों, अफगानिस्तान को लड़ाई तथा अन्य लड़ाइयों के खर्चों इत्यादि के रूप में भारी धन वसूल करते हैं। इस धन के बदले में भारतीयों को कुछ भी प्राप्त नहीं होता था। यह उस धन से अलग है, जिससे अंग्रेज भारत के अन्दर हर वर्ष अपनी जेबें भरते हैं। इस सम्बन्ध में पहले प्रकार की वस्तु के मूल्य का भी उल्लेख करना पर्याप्त होगा जिसे हर साल भारतीयों को भेंट स्वरूप इंगलैंड में भेजना पड़ता है। कुल मिलाकर यह धन कृषि और उद्योग में काम करने वाले छः करोड़ भारतीयों की कुछ आय से अधिक है। यह तो खून चूसने वाली बात है। यह तो हृदय विदारक बात है। भारत में एक के बाद एक दुर्भिक्ष पड़ रहे हैं और उनके विस्तार के बारे में यूरप वाले अभी तक अनुमान भी लगा सकते।"—(उपनिवेशवाद के बारे में, मास्को प्रकाशन, पृ० 391)।

इन्हीं दिनों यूरप में तेजी से औद्योगिक क्रान्ति का दौर पूरा किया गया। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली और संयुक्त राज्य अमेरिका 19 वीं शती के अन्त तक पूर्णतः विकसित पूंजीवादी–साम्राज्यवादी देश बन गये थे। हर क्षेत्र में त्वरित कार्य करने के लिए यंत्रों का आविष्कार और विकास कार्य बढ़ता गया। यूरप के देश अपनी सुविधा तथा शक्ति के अनुसार विश्व के विभिन्न देशों को हस्तगत करने के लिए संलग्न थे। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप इतिहास में एक परिवर्तन यह हुआ कि राजघरानों की सीमा टूट गयी और नए-नए धनी और पूँजीपति सांसद, प्रशासक, राज्यपाल, सेनापति, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति के रूप में सत्तासीन होने लगे और यह पूरा वुर्जुआ वर्ग ही शासक बनने के लिए हर देश में अग्रसर हुआ।

उन्नीसवी सदी के छठें दशक तक मजदूरों को सोलह से अठारह घण्टे तक कार्य करना पड़ता था। कारखानों की अमानवीय परिवेशों की स्थिति अलग है। मजदूर आन्दोलन आरम्भ हो चुके थे, पर अभी उसमें राजनीतिक चेतना नहीं थी। श्रमिकों को अपने शोषण के वास्तविक कारणों का भी पता नहीं था। श्रमिक असंतोष ने विश्व में नये ढंग के श्रमिक आन्दोलन को जन्म दिया। फलस्वरूप सबसे पहले इंग्लैंड में नैड लड ने लड़ी आंदोलन, चार्टिस्टों ने पचास लाख श्रमिकों के हस्ताक्षर से मांग पूर्ति का आंदोलन चलाया। कोई सफलता नहीं मिली। फ्रांस के श्रमिक भी आंदोलन पर उतर आये थे। जर्मनी में राष्ट्रवाद का उन्माद चढ़ाव पर था। इसी बीच यूरप के क्षितिज पर कार्लमार्क्स (1818-1883) और फ्रेडरिक ऐंगेल्स (1820-1895) का उदय हुआ। इन दोनों महापुरुषों ने वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर विश्व श्रमिक वर्ग के सामने सत्ता पर अधिकार करने तथा विश्व व्यवस्था को बदलने का महान लक्ष्य निर्धारित किया। 1847 में इस निमित्त उन्होंने साम्यवादी संघ—कम्युनिस्ट लीग—की स्थापना की और 1848 में "मेनिफेस्टो ऑफ दि कम्युनिस्टपार्टी" (साम्यवादी घोषणापत्र) प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार श्रमिक वर्ग के शासन और वर्गहीन समाज की स्थापना का महान लक्ष्य निर्धारित किया गया। 1848 और उसके बाद के वर्ष यूरप में क्रांतियों, प्रतिक्रान्तियों, दमन तथा श्रमिकों के अभियान के वर्ष माने जाते हैं, जिसकी चरम परिणति 1871 में पेरिस कम्यून की स्थापना और तीन महीने के अन्दर उसके विनाश में होती है। पेरिस पर श्रमिकों ने आधिपत्य स्थापित किया, किन्तु फ्रांस और जर्मनी के पूंजीपति शासकों ने मिलकर उसे कुचल दिया, क्योंकि श्रमिकों ने अपने वर्ग शत्रु को कुचलने में लापरवाही की।

इंग्लैंड और फ्रांस की देखा देखी सशक्त आस्ट्रिया समाज में भी श्रमिक आन्दोलन फैल गया। आस्ट्रिया से प्रेरित होकर इटली के श्रमिकों किसानों ने भी आन्दोलन का मार्ग अपनाया। स्पेन, स्विटजरलैंड, वेल्जियम, पोलैंड में भी क्रान्तिकारी लहर फैल गई। यह श्रमिक आंदोलन बहुत शीघ्र शिथिल भी हो गया, क्योंकि वे संगठित नहीं थे और उनके सामने सत्ता प्राप्ति का लक्ष्य नहीं था। 1853 के क्रीमिया युद्ध में इंग्लैंड फ्रांस-तुर्की के सम्मुख रूस की हार हो गई। जार के कमजोर होने से रूस मे भी श्रमिक आंदोलन उग्र हो गया, फलस्वरूप अलेक्सांदर द्वितीय ने कई सुधार किए। 1869 में मिश्र ने स्वेज नहर का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ईरान में 1848 में बाबी आंदोलन में श्रमिक किसान शामिल हुए, पर सामंतों और मुल्लाओं ने अंततः उसे कुचल दिया। शेष मुस्लिम जगत अभी खलीफा और सुल्तानों के प्रभाव में पड़ा था, जिन पर धीरे-धीरे यूरप की शक्तियों का आधिपत्य स्थापित होता जा रहा था।

चीन में भी देशी सामंतवाद के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हो गया था। अफीम युद्ध में चीन की पराजय के बाद वहाँ इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका के पैर जम गए। 'दिव्य शासन समाज' के नारे के अन्तर्गत चलाया गया किसानों का आन्दोलन अंततः 1865 में

कुचल दिया गया। 1854 में अमेरिकी दबाव के आगे झुककर जापान ने भी चीन की तरह अमेरिका को मुँह माँगा अधिकार दे दिया, जिसके विरुद्ध किसानों और श्रमिकों ने तीव्र आन्दोलन चलाया और 1878 में अमेरिकी चंगुल से जापान को मुक्त कर आधुनिक राष्ट्र बनाया।

1861 ई० में अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने दासप्रथा को प्रतिबंधित कर नीग्रोजनों का क्रय-विक्रय समाप्त कर दिया और मानव की मुक्ति में एक बड़ा योगदान किया। तब भी अमेरिका में पूँजीवाद के व्यापक विकास से रेडइंडियन का सर्वनाश कर दिया गया तथा अप्रवासी अफ्रीकी, चीनी, जापानी, दक्षिण अमेरिकी श्रमिकों से अत्यन्त अमानवीय स्थिति में घनघोर काम लिया गया। प्रतिक्रिया में श्रमिक वर्ग उग्र हो उठा। 1 मई, 1886 को शिकागो में 8 घण्टे के कार्य आन्दोलन को लेकर चलाए आन्दोलन में गोली चलाई गई। खुन से लथपथ श्रमिकों के वस्त्रों का प्रदर्शन किया गया। यहीं से श्रमिक वर्ग को लाल झण्डा मिला।

यूरप में शांति खरीदने के लिए वहाँ की सरकारें अब श्रमिकों से समझौता करने पर उतर आई। साम्राज्यवादी लूट में श्रमिक वर्ग को साझीदार बनाया गया। वहाँ के श्रमिक भी सज्जन बनकर सरकारपरस्त होने लगे। लूट में बंटवारा का सिद्धान्त स्वीकार किया गया और श्रमिक आंदोलन को ठंडा कर दिया गया। इस दौर में पश्चिम यूरप में उग्र राष्ट्रवाद का उन्माद फैल गया। परस्पर घृणा फैलने लगी। श्रमिकों में भी राष्ट्रवाद की भावना जाग गई। इसी दौर में युद्धवन्दी तथा अधिनायकवादी हीगेल, फिख्टे, फायरावख जैसे नए किस्म के उग्रवादी विचारक पैदा हुए। उदारतत्वों का हर जगह दमन होने लगा। सैन्यवाद ने जोर पकड़ा। नेपोलियन की क्रूरता वापस आ गई। प्रथम विश्वयुद्ध की तैयारी 19वीं शती में ही शुरू हो गई थी।

डार्विन की पुस्तक 'प्रजातियों का उद्भव' (ओरिजन ऑफ स्पेसीज) 1859 में प्रकाशित हुई। उसके अनुसार सृष्टि में नैसर्गिक वरण का सिद्धांत चलता है, जिसके कारण कितनी जातियाँ मिट गई। कितनी नई विकसित हो गई। प्रकृति में शक्तिशाली की विजय (सर्वाइवल ऑफ दि फिटेस्ट) की विकास प्रक्रिया चलती है। उस समय तक इसाईयों का विश्वास था कि सृष्टि की उत्पत्ति ईसा में 4004 वर्ष पहले हुई थी। अपनी दूसरी पुस्तक 'मनुष्य का वंशक्रम' (दि डीसेंट ऑफ् मैन) में डार्विन ने सिद्ध किया कि मनुष्य और कुछ वंदर जातियों के पूर्वज संभवतः एक ही थे। नैसर्गिक वरण के सिद्धान्त से गोरी जाति की प्रभुता सिद्ध करने का अच्छा आधार यूरपवासियों को मिला और सिद्धान्त बनाया गया—गोरे लोग विश्व पर शासन करने के लिए पैदा हुए हैं (ह्वाइटमेन ऑर बार्न टु रूल)। प्रसिद्ध भौतिकवादी वैज्ञानिक हैकल ने अपनी 'विश्व प्रपंच' (रिडल्स ऑफ् दि यूनिवर्स) में व्यक्तिवादी सिद्धान्तों तथा निजी क्षमता के आधार पर विकास के सिद्धांतों का समर्थन किया, जिससे यूरप में अहस्तक्षेप (लेसेजफेयर के घातक सिद्धान्त और युद्धवाद का प्रसार हुआ और पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद को खुलकर खेलने का आधार मिला।

यद्यपि 1830 में राबर्ट ओवेन ने आर्थिक विषमता को मिटाकर समाजवाद स्थापित करने का सिद्धांत प्रस्तुत किया था, तथापि समाजवाद को मुख्य शक्ति कार्लमार्क्स से मिली, जिसने लिखा—'संसार के मजदूरों एक हो जाओ। तुम्हें खोने के लिए दासता की बेड़ियाँ हैं और पाने के लिए संसार।' 1864 में इसे कार्यान्वित करने के लिये उसने श्रमिकों का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया। ऐंगेल्स ने 1889 में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया। धीरे-धीरे यूरप में वैज्ञानिक समाजवाद का प्रसार होने लगा। जिस समय यूरप में मार्क्सवाद अपना पैर जमा रहा था, उन दिनों भारत में रानी विक्टोरिया की जय जयकार की जा रही थी। 1885 में स्थापित कांग्रेस के अधिवेशनों में महात्मागांधी द्वारा बागडोर संभालने तक अंग्रेज रानी या राजा की प्रशास्ति में व्यवस्थित रूप से प्रस्ताव पारित किए जाते थे।

उन दिनों पश्चिम का साहित्य जन-जीवन की अभिव्यक्ति कर नए समाज की रचना की ओर उन्मुख हो रहा था। पद्माकर के साथ 1832 ई० में मृत जर्मन महाकवि गेटे की कीर्ति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुवाद करने के कारण यूरप और भारत में फैल गई। हीगेल से भिन्न गेटे ने एक श्रेष्ठ, सुन्दर और सुखद विश्व के निर्माण की सशक्त रचनाएँ लिखीं। शिलर नामक दूसरा जर्मन कवि संगठित और श्रेष्ठ राष्ट्रीय जीवन का गायक था। जर्मनी में एक के बाद एक श्रेष्ठ दार्शनिक भी हुए यथा—इम्मैन्युएल कांट, हीगेल, फिख्टे, फायरबाख, कार्लमार्क्स, ऐंगेल्स इत्यादि। रूसी महाकवि पुश्किन का भी यही समय है। तालस्ताय की रचनाएँ भी 19 वीं शती के अन्त में विश्व के सम्मुख आ चुकी थीं। फ्रांसीसी कवि विक्टर यूगो (ह्यूगो) की मृत्यु भारतेन्दु के साथ 1885 में हुई थी। फ्रांस में इसे साहित्य का देवता माना गया। आरम्भ में यह सम्राटवादी और निरंकुशतावादी था, किन्तु 1871 में फ्रांस में स्थापित 'पेरिस कम्यून' का समर्थक बन बैठा। राजा लुई नेपोलियन ने 1848 में सत्ता हड़पने के बाद इसे गणतंत्रवादी होने के आरोप में देश से निष्कासित कर दिया। जीवन के अन्त में युगो वैज्ञानिक समाजवादी बन गया। महान यथार्थवादी फ्रेंच उपन्यासकार आरें द बालजेक का भी यही समय है। उसने अपनी पुस्तकमाला का नाम 'मानवता की कामदी' (ल कामेदी ह्यूमेन) रखा, जिसमें उसने फ्रांस के तत्कालीन जीवन का प्रतिबिंब दिखाया है। वह यथार्थवादी और समाजवादी माना जाता है।

अंग्रेजी साहित्य में उन्नीसवीं सदी का आरम्भ तीन महाकवियों के साथ होता है यथा कीट्स, शेली, बायरन। तीनों अल्पायु में ही कालकवलित हुए। रोमांटिसिज्म के ये ही जनक थे, जिसका सौ साल बाद हिंदी छायावाद पर पूरा प्रभाव पड़ा। शेली की कुछ कविताएं बड़ी शक्तिशाली मानी जाती हैं यथा इस्लाम का विद्रोह (रेवल्ट ऑफ इस्लाम), नास्तिकता की अपेक्षा (दि नेसेसिटी ऑफ एथीज्म), अराजकता का अवगुंठन (दि मास्क ऑफ एनार्की) आदि। वह परम्परा और आभिजात्यवाद का विरोधी था। 26 वर्ष की उम्र में कीट्स की मृत्यु तपेदिक की बीमारी के कारण 1821 ई० में हुई। 1822 में शेली की मृत्यु समुद्र में डूबने से हुई। एक समय था जब दोनों युवा कवियों ने विश्व

साहित्य को प्रभावित किया। 'अराजकता के अवगुंठन कविता में शेली ने पूंजीवादी साम्राज्यवादी सभ्यता में निर्धन पीड़ित श्रमिकों की वेदना और उत्पीड़न का चित्र प्रस्तुत किया है।

यही दासता है,
करते रहो कठिन श्रम, पाकर वेतन अल्प
केवल उतना, बस उतना
अटके रहें 'तुम्हारे तन में' प्राण तुम्हारे,
कारागृह के बन्दी सा
अत्याचारी के हित बन श्रमजीवी।

बायरन ने भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता और आभिजात्यवाद के विरोध में श्रेष्ठ रचनाएं लिखीं। आर्थिक मुक्ति के लिये बायरन ने कुछ नहीं लिखा। प्रकृति के उपासक श्रेष्ठ कवि वर्ड्सवर्थ की मृत्यु भारतेन्दु के जन्म सन् 1850 में हुई। वाल्टर स्काट, थैकरे और चार्ल्स-डिकेन्स (1812-1870) इस युग के श्रेष्ठ उपन्यासकार थे। डिकेन्स यथार्थवादी और समाजवादी था। प्रेमचन्द उससे बहुत प्रभावित थे। विलियम मॉरिस (1834-1896) आरम्भ में स्वच्छंदतावादी और आदर्शवादी था। पुनर्जागरण का विरोधी था। कम से कम उसने कला का सम्बन्ध दिन प्रतिदिन के जीवन से जोड़ा। जीवन के अन्तिम चरण में वह प्रतिबद्ध समाजवादी बन गया। अंग्रेजी साहित्य में यह समय विक्टोरिया युग के नाम से जाना जाता है। वह राष्ट्रीय अहंकार का युग था, तब भी रस्किन, थैकरे, डिकेन्स, जार्ज इलियट, बर्नार्डशा (1856-1950) जैसे रचनाकारों की कृतियों में सामान्य जन प्रतिष्ठित होता है, जिनकी मुख्य प्रवृत्ति समाजवाद से किसी न किसी रूप में प्रभावित है। इसी बीच में एडवर्ड फिट्जेराल्ड (1809-83) ने उमर खय्याम की रुबाइयों का अनुवाद किया।

उधर अमेरिका के कुछ साहित्यकार भी अपने देश के लुटेरे, अपराधी, अथाह धन जमा करने वाले पूंजीपतियों से बड़े खिन्न थे। वांडरबिल्ड, राकफेलर, मार्गन, गूल्ड, फोर्ड आदि महान अमेरिकी धनकुबेरों ने मानवता की भरपूर हत्या कर ऐसी ही लूट खसोट से अपार धन इकट्ठा किया था। उस काल के कतिपय श्रेष्ठ अमेरिकी रचनाकारों यथा मार्कट्वेन (1835-1910), जैक लंडन (1876-1916), ओ हेनरी (1862-1910) आदि ने उस पूंजीवादी समाज की हिंसा, छल, अपराध, लूट तथा अंधी प्रतियोगिता का भरपूर पर्दाफाश किया है तथा जनता की वेदना को वाणी दी है।

भारतेन्दु युग में गद्य-पद्य के अनेक रचनाकार हिंदी में हुए, किन्तु यथार्थ धरातल पर खड़े होकर साहित्य को मौलिक ढंग से जनजीवन की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति भारतेन्दु ने ही बनाया। यद्यपि कार्लमार्क्स का कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो (1848), अमेरिका में दास प्रथा की समाप्ति (1861), प्रथम कम्युनिस्ट इंटरनेशनल (1864), और पेरिस कम्यून (1871) का सुखद अनुभव उन्हें प्रभावित न कर सका तथापि यथार्थवादी और सामान्य जन सापेक्ष साहित्य को उन्होंने ही रूप दिया और नेतृत्व भी प्रदान किया।

भारतेन्दु-गीतिः

शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी

भारतभूषणभूतो भूमाभावं गतः कोऽपि
दिव्यहरिश्चन्द्रोऽसौ जयतितरां भारतेन्दुरिह ॥ १ ॥

मान्यानामपि मान्यो नित्यं प्रणयी वदान्यानाम् ।
यशसा धवलितविश्वो सारस्वतकोश इव दीप्तः ॥२॥

अयमस्ति शेमुषीभिर्भरितः साहित्य-निर्माता ।
भामाशाहप्रतिमो वित्तेशानां नवोन्मेषः ॥३॥

सर्वस्मिन्संसारे सुविस्तृताऽस्ते यदीयसत्कीर्तिः ।
तं सर्वगुणैर्वन्द्यं भारतचन्द्रं नमस्कुर्मः ॥४॥

वाराणसी यदीये निवासकाले सुविख्याता ।
पुरा हरिश्चन्द्रकथां पुनरपि संस्मरति सत्यतां-याताम् ॥५॥

हिन्दीभाषा नूनं यस्योत्साहैर्नवोन्मेषैः ।
साहित्यमानदण्डं नूतनमद्यापि धारयति ॥६॥

काशीयं दृष्टवती सततमुदारैर्मनोभावैः ।
तस्य हरिश्चन्द्रस्य प्रखरतमां कार्यपरिपाटीम् ॥७॥

नित्यनवैरुत्साहैः संवलितोऽभूद् हरिश्चन्द्रः ।
सारस्वत सेवायां सन्नद्धो जागरूकश्च ॥८॥

एतादृशैः सुपुत्रैर्वसुन्धरा धन्यतां याता ।
नूतनमेकं युगमिव पुरस्कृतं भारतेन्दुना किमपि ॥९॥

यस्यावदातचित्तं युगे युगे नूतनं भाति ।
तं सारस्वतवैभवभरितं नित्यं नमस्कुर्मः ॥१०॥

नूतनमेकं युगमिव प्रादुर्भूतं तदीयरचनाभिः ।
साहित्यगगनमध्ये सत्यं चन्द्रो हरिश्चन्द्रः ॥११॥

मानेनोन्नतकायो सेवाकार्ये विगतमायः ।
सर्वस्वीकृतहिन्दीसेवासंसारसच्छायः ॥१२॥

हिन्दीसेवागौरवमतुलं यो धारयामास ।
तं सारस्वतसुषमामण्डितरूपं जगन्नमते ॥१३॥

यस्य प्रकृष्टभाषा सर्वं रोमाञ्चितं कुरुते ।
सहृदयहृदयस्पन्दनमसमं रेखाङ्कितं कुरुते ॥१४॥

लेखनशैली काचित् समद्भुताङ्गीकृता तेन ।
व्यंग्यैस्तथा विनोदैर्वशीकृतः सर्वलोकोऽयम् ॥१५॥

कालः कश्चन तादृश आसीद् देशस्य विपरीतः ।
सा देशभक्तिधाराऽत्यन्तं कठिना च कण्टकैः पूर्णा ॥१६॥

राष्ट्रस्याहो भाग्यात् हृदये साम्राज्यमातन्वन् ।
विपरीतेऽप्यथ काले सोऽयं वीरः समुत्पन्नः ॥१७॥

तस्मिन्क्रूरे काले आंग्लानां सर्वभावेन ।
जड़ताप्रपूरितेऽप्यथ जागृत आसीद् हरिश्चन्द्रः ॥१८॥

दैन्यं न वा पलायनमभीष्टमासीद् वरेण्यस्य ।
वैभवपूर्णा चासीत् काचित् तस्यैव परिपाटी ॥१९॥

संपूर्णमपि समाजं पूर्णसमुत्साहयोगेन ।
गौरवपूर्णं स्थानं दापितवान् श्रीहरिश्चन्द्रः ॥२०॥

सर्वेषामाराध्या मंगलमूला च मातृभाषेयम् ।
नित्यं नव नव भावैरापूर्णा वा कथं न स्यात् ॥२१॥

निजभाषोन्नतिरेवोन्नतिमूलं सर्वदेशस्य ।
भाषाजननी मध्ये विभेदलेशोऽपि लोपितस्तेन ॥२२॥

सत्यशिवसुन्दराणां संगमभूतानि काव्यानि ।
सहृदयहृदयविहारीण्यारचितानीति को न जानीते ॥२३॥

नव-रसमय भणितीनां नाना सत्प्रेरणा प्रसूतानाम् ।
सागर इवाऽप्रमेयः सत्यमयं भारतेन्दुरेवाऽसीत् ॥२४॥

यैर्नैकदाचिद् दृष्टस्तैरनुभूतः सदा निकटे ।
असमं मित्रमिवास्ते भारतवर्षे हरिश्चन्द्रः ॥२५॥

निजभाषासेवार्थं समाजरक्षा विधानार्थम् ।
प्रतिभाप्रभाप्रकृष्टं रचितं सन्मित्रमण्डलं तेन ॥२६॥

स्वीयं विपुलं तादृशमैश्वर्यं राष्ट्रसेवार्थम् ।
हिन्दीसेवाकार्ये निखिलं नूनं समर्पितं तेन ॥२७
गरलं निपीय नूनं सुधावितरणं समाजमध्ये यत् ।
श्रीविश्वनाथचरितं तन्नूनं भारतेन्दुनाऽधिकृतम् ॥२८॥

राष्ट्रस्वतन्त्रतायाः कृते यदान्दोलनं जातम् ।
तन्मूले ये पुरुषास्तेष्वसमोऽयं हरिश्चन्द्रः ॥२९॥
देशस्य राष्ट्रभाषां गुणगणनमितां समृद्धिसंपूर्णाम् ।
नित्य नवीनोत्साहैरारचितां यः प्रपूजयामास ॥३०॥

देशस्य मङ्गलानां संस्कर्ता जागरूकोऽयम् ।
संस्कारैरापूर्णः प्रियो वदान्यो हरिश्चन्द्रः ॥३१॥
आंग्लानां गुणभागान् स्वीकृतवान् यः समुन्नतये ।
भाषापत्रप्रकटनकार्यं तूर्णं समारब्धम् ॥३२॥

वाराणसी प्रकाशाद् दिव्यहरिश्चन्द्रचन्द्रिकामकाम् ।
सत्पत्रिकां सुतामिव स्वीयां संवर्धयामास ॥३३॥
पुनरपि भव्यं पत्रं स्वीयहरिश्चन्द्रमैगजीनाख्यम् ।
सम्यक् प्रकाश्य नूनं नव्यां धारां प्रवाहितवान् ॥३४॥

एतादृशलोकोत्तरगुणप्रकर्षेषु संलग्नः ।
स्वल्पेऽप्यायुषि सम्यग् लोकोत्तरतां प्रसाधितवान् ॥३५॥

सामाजिकसत्कार्येष्वसमोऽयं जागरूकः सन् ।
लेखन भाषणकार्यैरुत्साहं वर्धयामास ॥३६॥

बलियानगरे भाषणमनेन यद्दत्तमद्यापि ।
तत्प्रेरणां प्रकुरुते पठितं पठितं पुनः पुनः पठितम् ॥३७॥

सर्वस्मिन्नपि देशे विद्वांसो लेखका नूनम्।
ग्रन्थैर्महाप्रबन्धैर्गायन्त्येतस्य गुणगणान् भक्त्या ॥३८॥

एतस्यैव निकामं हृद्यं तन्नाट्यसाहित्यम्।
अभिनेतॄणामभिनयकार्येष्वाधारतां यातम् ॥३९॥

मुद्राराक्षसनाटकविरचनवेला समुल्लसितः।
दिव्यं विशाखदत्तं नूनमसौ धारयामास ॥४०॥

शतशो मञ्चितमेतन्नाट्यं देशस्य मञ्चेषु।
चाणक्यस्य सफलतां राष्ट्राधारां प्रकाशयति ॥४१॥

व्यंग्यैरापूर्णं तन्नाटकमन्धेरनगरीति।
दृष्टं यदैव नु तदा विनोदलहरीं प्रसारयति ॥४२॥

अन्यन्नाटकमेकं भारतदेशस्य दुर्दशाख्यं यत्।
तद् दृष्ट्वा च पठित्वाऽन्दोलितमेवास्ति सहृदयं हृदयम् ॥४३॥

एवं विश्वचैतन्यैरापूर्णं नाट्यसाहित्यम्।
श्री भारतेन्दुहृदयं संसारे संप्रकाशयामास ॥४४॥

छन्दोमयसंसारे विचरन् काव्यानि दिव्यानि।
संरचयन् संसारं रसपरिपूर्णं सुसाधितवान् ॥४५॥

प्राचीनं साहित्यं विचारयन् नव्यभावेषु।
जनजनहृदयस्पन्दनशैलीमसमां प्रसाधितवान् ॥४६॥

भक्तौ नवमाधुर्यं हासोल्लासो विनोदचातुर्यम्।
नूतनतासौभाग्यं सर्वं श्रीभारतेन्दुलेखनी धत्ते ॥४७॥

देशस्य विकासार्थं स्वतन्त्रताऽवाप्तये नित्यम्।
नव नव भावोन्मेषं प्रकटीकुरुतेऽस्य लेखनी दिव्या ॥४८॥

नानानिबन्धमाला सत्यं सत्प्रेरणा पुञ्जा।
विज्ञानोन्मेषाणां प्रभाप्रभावेण सन्दीप्ता ॥४९॥

यात्रा विवरणवर्णनमेतेनैव प्रकाममादिष्टम्।
साहित्य-सबलधारामग्रे नव्यां प्रवाहयामास ॥५०॥

श्रीभारतेन्दुरसमः सेनानी सत्यसन्धोऽसौ।
सर्वैर्विदां वरेण्यैः सम्पूज्यो माननीयश्च ॥५१॥

●

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

—केदारनाथ कोमल

बसंत
हिन्दी साहित्य के
रंगों के
उमंगों के
निबंध—नाटक—कहानी के
भाषा की चढ़ती जवानी के
तन के
मन के—
तुम्हारी सुगंध के
रूप अनन्त

सौ साल बाद भी
घर में
देश में
विदेश में
संसार में
राष्ट्रीय भाषा के प्यार में
कीर्ति-ध्वज लहराती है जैसे
झूमता मादक पवन
दिग दिगंत

बसंत, तुम
हिन्दी साहित्य के…

भारतेन्दु-प्रशस्ति*

—जगदीश गुप्त

मेघ दुरे बिथुरी अलकावली में,
नभ नैनन तैं नियरान्यो ।

खोइ मयूखैं गयीं मुसुकानि मैं,
बानी मैं आनि पियूख लुभान्यो ।

माधवी-मल्लिका सौं मिलि अंक,
कलंक हू मोहक है महकान्यो ।

चाँदनी प्रानन पूरी रही,
हरिचंद के हिय मैं चंद समान्यो ।।

नाम बीच आन्यो, उपनाम मैं समान्यो चंद,
चंद ही प्रतीक जाकी कीरति अमंद को ।

जाको मन मान्यो ब्रजचंद चाहि, प्रानन मैं–
जाके फहरान्यो पटपीत नंद-नंद को ।

बिपथ बिलोकि ताहि, रोकि के हिरन-रथ,
सहज सहारो गहि, किरन-कमंद को ।

दै गयो सुधा की रस-धार बसुधा मैं आइ,
लै गयो कलंक हरि चंद, हरिचंद को ।

---

*'चंद हरिचंद' शीर्षक से प्रकाशित ''छंद भारती'' से ।

भारतेन्दु के नाम एक पाती

भानुशंकर मेहता

सिद्धीश्री
सर्वोपमा जोग
आधुनिक हिन्दी के जनक
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को
अकिंचन का प्रणाम पहुँचे ।

आगे बबुआ साहब,
समाचार ई है
कि देश आजाद हो गया
कोरे कागद पर आप की प्रिय भाषा
गुन आगरी, नागरी, आरजबानी,
सब उन्नति को मूल
'राष्ट्र भाषा' लिखी गयी
पर उसकी कुर्सी पर काला साहब बैठा
आज भी अंगरेजी में हुकूमत करता है,
उसका लड़का पब्लिक स्कूल में
अंग्रेजी माध्यम से पढ़ता है,
अतः कल भी वह राज करेगा
और कलुआ का बेटा
कल भी झाड़ू मारेगा, मैला साफ करेगा ।
मतलब यह कि उन्नति की
हिलत डुलत चलत गाड़ी आवे-चल चल
चल कहे गाड़ीवान, चाबुकहते पोंछ ऐंठ,
भारत सम बैल तऊ तनिक नहि धावै ।
छोड़त नहीं कबहू लीक,
भार वहत, दुखहि सहत
केवल मुस खाई तुष्ट धर्म तऊ कहावै ।
बबुआ साहेब,
वइसने दुर्दशा हौ भारत क !
कोई नहीं कहता, आप की तरह
“सब मिलकर एक चित्त हो,
विद्या की उन्नति करो,
कला सीखो”
भारत दुर्दैव का तांडव जारी है
सूखा, बाढ़, प्रदूषण,
दुर्घटना, आतंकवाद
दंगा, फसाद,
दुराहार, कुपोषण
और ताहू पर कछु और
अज्ञान-अंधविश्वास
संकीर्ण विचार
जाति-भाषा-प्रांतवाद
अकारण धार्मिक उन्माद
सब के सब गण दुर्दैव के
स्मगलर चोर बजारिये
लूट खसोट रहे हैं देश को—
सुरक्षा खतरे में है !
चरित्र चूल्हे में पड़ा है-
अनुशासन हीनता का बोल बाला है
आचार्य अचरज भरे ताकते हैं
गुरू गोरू की तरह दुहे जाते हैं
आज के हरिश्चन्द्र
सत्य के परम शत्रु
दान देना दूर
आन के धन से घर भर लेने की
जुगत भिड़ाते हैं

वह दोहा आप का फिर से लिखा है
"सत्य विरक्त परम कठोर, जनद्रोही,
अधकर, दुखद्वंद
निज हित प्रियजन हनन, हाय अशिव
अकवि आज के हरिचंद ।

बबुआ साहेब,
का कहें
सत्य को न्याय मंदिर में
उल्टा लटकाया गया है
और उसकी जय
त्रिमूर्ति शेर के पाँवों तले
पड़ी कराहती है !
सत्य परीक्षा लेने वाले
विश्वामित्र
अब भागे फिरते हैं
परीक्षार्थी चाकू पिस्तौल लिए
फिरते हैं ।
हिंसा आज अहिंसा कहलाती है
भैंस भी अब लाठी लेकर आती है !

का बताये बबुआ साहेब
भारी मुसीबत आन पड़ी है—
नरक के द्वार बंद कर देने पड़े हैं
पापियों की भीड़ इतनी अधिक हो
गयी है--
हारकर बैठे हैं यमराज
पापों की लम्बी सूची देखकर
चित्रगुप्त घबराये हैं
धरती पर नित नये उपद्रव होते है
बढ़ते जाते कीट पतंगों से
आस्थाहीन मानवों के अंबार
शीघ्र ही खड़े रहने को भी
जगह न मिल पायेगी—
कहते है अगली सदी में
आबादी इतनी बढ़ जायगी ।
आपही वहाँ से कुछ करिये न् !

बबुआ साहेब,
आप के युग में, एक मसीहा जन्मा था
सत्य अहिंसा का व्रत धारण कर
वह सत्य का आग्रह करता था
मानव-मानव में भेदभाव हरता था
वह चरखा धारी था
वह खद्दर का पुजारी था
गुलाम देश को उसने पुनः जगाया था
'जागो जागो रे भाई' गीत तुम्हारा
गाया था
युद्ध उसने नया चलाया था
उसके आगे बम गोला गोली
बेकार हो गयी थी
उसके आगे नत
गोरों की जुल्मी सरकार हो गयी थी,
भारत छोड़ भागा वह व्यापारी
नवस्वतंत्रता का नया विहान जगा था-
उधर युवकों ने देश की बलि वेदी पर
अपने प्राणों का बलिदान किया था—
नेता सुभाष ने आजाद हिंद फौज का
निर्माण किया था,
भारत में स्वतंत्रता का पहला झंडा
उसने ही गाड़ा था ।
फिर………
मत रोना प्यारे हरिचन्द
काल चक्र निर्मम होता है—
आजादी की आतुरता में
हमने देश-माता के टुकड़े कर डाले
स्वजन रक्त से हरे भरे खेत रंग डाले
अपने ही देश में बने शरणार्थी
हा दुर्दैव ने कैसे कैसे पाप कराये—

इस शाप भूमि पर
उस 'सत्य-अहिंसा' के व्रतधारी को
राष्ट्र पिता कह कर
हमने गोली मार दी
उसके सर्वोदय को सलीब पर सजाया।
'हे राम' वह चल गया–
और
हम उस बलिदानी के मंत्र भूल गये
कुर्सी के हित ठनी लड़ाई
घिरी प्रबल वोट की माया–
क्षीण विकल हुई जनता
फूली नेता की काया।
जैसे दिन-रात हुआ करते हैं
जैसे आँधी-पानी उत्पात हुआ करते हैं–
वैसे ही कभी घर में बरतन ठनके
कभी बाहर से अंधड़ आया
मित्रों ने द्रोह किया
भाई ने भाई को छूरा मारा
बदली नीयत पड़ोसी की
हमको 'धोतीवाला' कहकर ललकारा
बार बार रक्त से
बलिवेदी का अभिषेक हुआ
सिद्ध हुआ अभी भारती रक्त लाल है
सिद्ध हुआ अभी जीते माँ के लाल हैं।
पर भूख, अकाल, रोग, शोक
लोभ मोह मद मत्सर के
कटक अभी जो हैं
लालच लिप्सा के, विषय वासना के
हाथ बहुत बढ़े हैं
कब जाने इनसे होगा छुटकारा?
जिन देश धर्म की रक्षा का
दायित्व घना था
वे मंदिर में किले बनाने लगे
पूजा के बदले हत्या और नफरत के
देश को खंड खंड करने के
कुटिल राग जगाने लगे
'माता' की हत्या से हाथ रंग लिये
'शक्ति' का महिषासुर ने फिर
अपमान किया
चतुर्दिक विरोध विद्वेष के तूफ़ान उठे
देश गया चूल्हे में
स्वारथ के हाथ सिके।

लेकिन बबुआ साहब --
नहीं हम तूफानों से घबराये
दुर्दैव से हार न हमने मानी
हमने पिछड़े देशों का नेतृत्व किया
पंचशील- सहअस्तित्व का मंत्र दिया
परमाणु प्रलय के विरुद्ध
विश्वमत का सैन्य तैयार किया–
हमने तूफानी सरिताएँ बांधी
उद्योगों का नूतन संसार रचा
शांति अग्रदूत बने
हमने जग को पहला गणतन्त्र दिया
प्रजा को उसका जन्म सिद्ध अधिकार
दिया
अब नहीं रहे देश में राजे महाराजे
अब नहीं रहा प्रजा का उत्पीड़न
विषस्य विषमौधम् का प्रयोग हुआ
जनता पर जनता का शासन है
जय जवान-जय किसान
प्रगति पर बढ़ता हिन्दुस्तान।

और तुम्हारी काशी,
अविनाशी,
बबुआ तुम जैसी छोड़ गये
अब भी वैसी है
आज भी मैली गली भरी कतवारन

आज भी नल से बदबू उबला करती है
कुत्ते भूंका करते, सड़क सांड सो वासी
अब भी वही उपद्रव बंदर का
अब भी जनता की नोचा नाची
अब भी परदेसी कहते हैं
देखी तुमरी काशी भैया,
देखी तुमरी कासी
कदम-कदम पर घूस का बाजार गरम
मंहगाई छूती आसमानों को
रूप दिखावत सरबस लूटें
गुण-अमला और पूलिस
बमगोला गोली छूटे
कपट कटारी जिय में हूलिस
गंगा मैया की मैली कर डाली
देव मन्दिरों को ऐसी तैसी कर डाली
नशा छानकर फूंक तमासा देखे
लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे
बेबिसवासी
देखी तुमरी कासी लोगों,
देखी तुमरी कासी
ओ आरजवानी के आरज अभिमानी
ओ औघड़ नगरी के औघड़दानी
लौट के फिर आओ
नगरी नगरी के हित आओ
एक फिर से देश को समझाने
"निज भाषा उन्नति है, सब उन्नत को
मूल" आओ,
नयी राह दिखलाने आओ
अमा बीत गयी, ओ इन्दु
भारत गगन से चंद्रिका बरसने आओ
नेह नवनीर भर
ओ घन अपूरब आओ
एक बार फिर आओ ।

कासी तुम्हें बुलाती
हिंदी तुम्हें बुलाती
माँ भारती तुम्हें बुलाती
ओ अवतारी फिर आओ ।

◆

संपर्क सूत्र—

○ केसरी कुमार
1—राजेन्द्र नगर; पटना।

○ राम विनोद सिंह
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया।

○ कुमुद प्रभा श्रीवास्तव
रीडर, महिला महाविद्यालय,
का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

○ राजेन्द्र कुमार वर्मा
रीडर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

○ वचनदेव कुमार
प्रो० एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
रांची विश्वविद्यालय, रांची।

○ महेन्द्र नाथ दूबे
रीडर, हिन्दी विभाग,
क० म० मुं० संस्थान, आगरा।

○ जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
रीडर, हिंदी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

○ परमानंद श्रीवास्तव
रीडर, हिंदी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

○ इन्दु बाली
प्राचार्या, सरकारी कालिज
मोहाली (पंजाब)।

○ इंदिरा जोशी
प्रो० एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

○ राममूर्ति त्रिपाठी
प्रो० एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

○ विजेन्द्र नारायण सिंह
प्रो० एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

○ मैथिली प्रसाद भारद्वाज
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

○ उदयभानु सिंह
149, वैशाली,
प्रीतमपुरा, दिल्ली।

○ सूर्य प्रकाश दीक्षित
प्रो० एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

○ नजीर मुहम्मद
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

○ कुँवर पाल सिंह
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

○ तपेश्वर नाथ
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

० विजय बहादुर सिंह
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

० रामकली सर्राफ
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

० सरला शुक्ल
भू० पू० अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

० विष्णुकांत शास्त्री
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता।

० सुधाकर सिंह
हिन्दी विभाग
का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

० विष्णुदत्त राकेश
प्रो० एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

० योगेन्द्र प्रताप सिंह
रीडर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

० सियाराम तिवारी
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
विश्वभारती, शांतिनिकेतन।

० नर्वदेश्वर राय
प्राध्यापक, हिंदी विभाग
का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

० भोलाशंकर व्यास
भू० पू० प्रोफेसर, हिंदी विभाग
का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

० धीरेन्द्र नाथ सिंह
उप संपादक, 'आज' दैनिक
कवीर चौरा वाराणसी।

० रामचन्द्र तिवारी
सरस्वती सदन, वेतियाहाता
गोरखपुर।

० त्रिलोचन पांडेय
प्रो० एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जवलपुर।

० आनन्द नारायण पांडेय
शोध सहायक, हिन्दी विभाग
का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

० पृथ्वीपाल पांडेय
प्राध्यापक, हिन्दी
हरिश्चन्द्र स्नातकोत्तर म०वि०, वाराणसी

० ओम अवस्थी
रीडर, हिन्दी विभाग
गुरुनानक विश्वविद्यालय, अमृतसर।

० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी
रिसर्च सांइटिस्ट, हिन्दी विभाग
का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

० संतराम वैश्य
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

० मंगला प्रसाद
हिन्दी विभाग
का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

० जर्नादन उपाध्याय
प्राध्यापक,
संस्कृत विद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय,
का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

॰ श्रीनिवास पांडेय
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
का॰ हि॰ वि॰ वि॰, वाराणसी।

॰ राजीव सिंह
निराला निवेश, रथयात्रा
वाराणसी।

॰ अरुण कुमार
शोधछात्र, हिन्दी विभाग
का॰ हि॰ वि॰ वि॰, वाराणसी।

॰ महेन्द्र नाथ राय
रीडर, हिन्दी विभाग
का॰ हि॰ वि॰ वि॰, वाराणसी।

॰ पूर्णमासी राय
प्रो॰ एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया।

॰ जया सिंह
प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग
युवराजदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय
लखीमपुर।

॰ पाण्डेय शशि भूषण 'शीतांशु'
प्रो॰, हिन्दी विभाग, टीचर्स फ्लैट-12
गुरुनानक देव वि॰वि॰ कैम्पस, अमृतसर।

॰ राजकुमार गुप्त
प्रो॰ एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
कुमायूं विश्वविद्यालय, नैनीताल।

॰ एन॰ रामन नायर
प्रो॰ एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
कोचीन विश्वविद्यालय, कोचीन।

॰ हेमंत शर्मा
शोधछात्र, हिन्दी विभाग
का॰ हि॰ वि॰ वि॰, वाराणसी

॰ गिरीश चन्द्र चौधरी
भारतेन्दु भवन
चौखम्भा, वाराणसी।

॰ सूर्यनारायण द्विवेदी
रीडर हिन्दी विभाग
का॰ हि॰ वि॰ वि॰, वाराणसी।

॰ मोहन लाल तिवारी
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
का॰ हि॰ वि॰ वि॰, वाराणसी

॰ शिव दत्त शर्मा चतुर्वेदी
रीडर, संस्कृत विद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय
का॰ हि॰ वि॰ वि॰, वाराणसी।

॰ जगदीश गुप्त
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

॰ भानुशंकर मेहता
महमूरगंज, वाराणसी।

॰ केदार नाथ कोमल
ई-97 सरोजिनी नगर
नई दिल्ली 110023

●

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।
3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनिकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Sanskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches.
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country : and
4. To promote buildind up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.

मुद्रक : सीमा प्रेस, ईश्वरगंगी, वाराणसी। फोन : 52092